हिंदी-शब्दसागर

अर्थात्

हिंदी भाषा का एक बृहत् कोश

[आठवाँ खण्ड]



संपादक

श्यामसुंदरदास बी० ए०

सहायक संपादक

रामचंद्र शुक्ल रामचंद्र वर्म्मा



प्रकाशक

काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा

१९२९

गणपति कृष्ण गुर्जर द्वारा श्रीलक्ष्मीनारायण प्रेस, काशी में मुद्रित ।

डाकव्यय अतिरिक्त



हिंदी-शब्दसागर के संपादक

भूमिका

किसी जाति के जीवन में उसके द्वारा प्रयुक्त शब्दों का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार इन प्रयुक्त शब्दों का आगम अथवा लोप तथा वाच्य, लक्ष्य एवं द्योत्य भावों में परिवर्तन होता रहता है। अतएव और सामग्री के अभाव में इन शब्दों के द्वारा किसी जाति के जीवन की भिन्न भिन्न स्थितियों का इतिहास उपस्थित किया जा सकता है। इसी आधार पर आर्य जाति का प्राचीनतम इतिहास प्रस्तुत किया गया है और ज्यों ज्यों सामग्री उपलब्ध होती जा रही है, त्यों त्यों यह इतिहास ठीक किया जा रहा है। इस अवस्था में यह बात स्पष्ट समझ में आ सकती है कि जातीय जीवन में शब्दों का स्थान कितने महत्व का है। जातीय साहित्य को रक्षित करने तथा उसके भविष्य को सुचारु और समुज्वल बनाने के अतिरिक्त वह किसी भाषा की सम्पन्नता या शब्द-बहुलता का सूचक और उस भाषा के साहित्य का अध्ययन करनेवालों का सब से बड़ा सहायक भी होता है। विशेषतः अन्य भाषा-भाषियों और विदेशियों के लिये तो उसका और भी अधिक उपयोग होता है। इन सब दृष्टियों से शब्द-कोश किसी भाषा के साहित्य की मूल्यवान् संपत्ति और उस भाषा के भांडार का सब से बड़ा निदर्शक होता है।

जब अँगरेजों का भारतवर्ष के साथ घनिष्ठ संबंध स्थापित होने लगा, तब नवागंतुक अँगरेजों को इस देश की भाषाएँ जानने की विशेष आवश्यकता पड़ने लगी; और फलतः वे देश भाषाओं के कोश, अपने सुभीते के लिये, बनाने लगे। इस प्रकार इस देश में आधुनिक ढंग के और अकारादि क्रम से बननेवाले शब्द कोशों की रचना का सूत्रपात हुआ। कदाचित् देश भाषाओं में से सब से पहले हिंदी (जिसे उस समय अँगरेज लोग हिंदुस्तानी कहा करते थे) के दो शब्द-कोश श्रीयुक्त जे० फर्गुसन नामक एक सज्जन ने प्रस्तुत किए थे, जो रोमन अक्षरों में सन् १७७३ में लंदन में छपे थे। इनमें से एक हिंदुस्तानी अँगरेजी का और दूसरा अँगरेजी-हिंदुस्तानी का था। इसी प्रकार का एक कोश सन् १७९० में मदरास में छपा था जो श्रीयुक्त हेनरी हेरिस के प्रयत्न का फल था। सन् १८०८में जोसफ टेलर और विलियम हंटर के सम्मिलित उद्योग से कलकत्ते में एक हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश प्रकाशित हुआ था। इसके उपरांत १८१० में एडिनबरा में श्रीयुक्त जे० बी० गिलक्राइस्ट का और सन् १८१७ में लंदन में श्रीयुक्त जे० शेक्सपियर का एक अँगरेजी-हिंदुस्तानी और एक हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश निकला था, जिसके पीछे से तीन संस्करण हुए थे। इनमें से अंतिम संस्करण बहुत कुछ परिवर्द्धित था। परंतु ये सभी कोश रोमन अक्षरों में थे और इनका व्यवहार या अँगरेज या अँगरेजी पढ़े लिखे लोग ही कर सकते थे। हिंदी भाषा या देवनागरी अक्षरों में जो सब से पहला कोश प्रकाशित हुआ था, वह पादरी एम० टी० एडम ने तैयार किया था। इसका नाम "हिंदी कोश" था और यह सन् १८२९ में कलकत्ते से प्रकाशित हुआ था। तब से ऐसे शब्द-कोश निरंतर बनने लगे जिनमें या तो हिंदी शब्दों के अर्थ अँगरेजी में और या अँगरेजी शब्दों के अर्थ हिंदी में होते थे। इन कोशकारों में श्रीयुक्त एम० डब्ल्यू० फैलन का नाम विशेष रूप से उल्लेख करने योग्य है; क्योंकि इन्होंने साधारण बोलचाल के छोटे बड़े कई कोश बनाने के अतिरिक्त, कानून और व्यापार आदि के पारिभाषिक शब्दों के भी कुछ कोश बनाए थे। परंतु इनका जो हिंदुस्तानी-अँगरेजी कोश था, उसमें यद्यपि अधिकांश शब्द हिंदी के ही थे, परंतु फिर भी अरबी फ़ारसी के शब्दों की कमी नहीं थी; और कदाचित् फारसी के अदालती लिपि होने के कारण

ही उसमें शब्द फारसी लिपि में, अर्थ अँगरेजी में और उदाहरण रोमन में दिए गए थे। सन् १८८४ में लंदन में श्रीयुक्त जे० टी० प्लाट्स का जो कोश छपा था, वह भी बहुत अच्छा था और उसमें भी हिंदी तथा उर्दू शब्दों के अर्थ अँगरेजी भाषा में दिए गए थे। सन् १८७३ में मु० राधेलाल जी का शब्द-कोश गया से प्रकाशित हुआ था जिसके लिये उन्हें सरकार से यथेष्ट पुरस्कार भी मिला था। श्रीयुक्त पादरी जे० डी० बेट ने पहले सन् १८७५ में काशी से एक हिंदी कोश प्रकाशित किया था, जिसमें हिंदी के शब्दों के अर्थ अँगरेजी में दिए गए थे। इसी समय के लगभग काशी से कलकत्ता स्कूल बुक सोसायटी का हिंदी कोश प्रकाशित हुआ था जिसमें हिंदी के शब्दों के अर्थ हिंदी में ही थे बेट के कोश के भी पीछे से दो और संशोधित तथा परिवर्द्धित संस्करण प्रकाशित हुए थे। सन् १८७५ में ही पेरिस मे एक कोश का कुछ अंश प्रकाशित हुआ था जिसमें हिंदी या हिंदुस्तानी शब्दों के अर्थ फ्रांसीसी भाषा में दिए गए थे। सन् १८८० में लखनऊ से सैयद जामिन अली जलाल का गुलशने-फैज़ नामक एक कोश प्रकाशित हुआ था, जो था तो फारसी लिपि में ही, परंतु शब्द उसमें अधिकांश हिंदी के थे। सन् १८८७ में तीन महत्व के कोश प्रकाशित हुए थे, जिनमें सब से अधिक महत्व का कोश मिरज़ा शाहज़ादा कैसर-बख्त का बनाया हुआ था। इसका नाम "कैसर-कोश" था और यह इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था। दूसरा कोश श्रीयुक्त मधुसूदन पंडित का बनाया हुआ था जिसका नाम मधुसूदन निघंटु था और जो लाहौर से प्रकाशित हुआ था। तीसरा कोश श्रीयुक्त मुन्नीलाल का था जो दानापुर में छपा था और जिसमें अँगरेजी शब्दों के अर्थ हिंदी में दिए गए थे। सन् १८८१ और १८९५ के बीच में पादरी टी० क्रेवन के बनाए हुए कई कोश प्रकाशित हुए थे जो प्रायः स्कूलों के विद्यार्थियों के काम के थे। १८९२ में बाँकीपुर से श्रीयुक्त बाबा बैजूदास का विवेक कोश निकला था। इसके उपरांत गौरीनागरी कोश, हिंदी कोश, मंगल कोश, श्रीधर कोश आदि छोटे छोटे और भी कई कोश निकले थे, जिनमें हिंदी शब्दों के अर्थ हिंदी में ही दिए गए थे। इनके अतिरिक्त कहावतों और मुहावरों आदि के जो कोश निकले थे, वे अलग हैं।

इस बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही मानों हिंदी के भाग्य ने पलटा खाया और हिंदी का प्रचार धीरे धीरे बढ़ने लगा। उसमें निकलनेवाले सामयिक पत्रों तथा पुस्तकों की संख्या भी बढ़ने लगी और पढ़नेवालों की संख्या में भी उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी। तात्पर्य यह कि दिन पर दिन लोग हिंदी साहित्य की ओर प्रवृत्त होने लगे और हिंदी पुस्तकें चाव से पढ़ने लगे। लोगों में प्राचीन काव्यों आदि को पढ़ने की उत्कंठा भी बढ़ने लगी। उस समय हिंदी के हितैषियों को हिंदी भाषा का एक ऐसा वृहत् कोश तैयार करने की आवश्यकता जान पड़ने लगी जिसमें हिंदी के पुराने पद्य और नए गद्य दोनों में व्यवहृत होनेवाले समस्त शब्दों का समावेश हो, क्योंकि ऐसे कोश के बिना आगे चलकर हिंदी के प्रचार में कुछ बाधा पहुँचने की आशंका थी।

काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने जितने बड़े बड़े और उपयोगी काम किए हैं, जिस प्रकार प्रायः उन सबका सूत्रपात या विचार सभा के जन्म के समय, उसके प्रथम वर्ष में हुआ था, उसी प्रकार हिंदी के वृहत् कोश बनाने का सूत्रपात नहीं तो कम से कम विचार भी उसी प्रथम वर्ष में हुआ था। हिंदी में सर्वांगपूर्ण और वृहत् कोश का अभाव सभा के संचालकों को १८९३ ई० में ही खटका था और उन्होंने एक उत्तम कोश बनाने के विचार से आर्थिक सहायता के लिये दरभंगा नरेश महाराज सर लक्ष्मीश्वर सिंह जी से प्रार्थना की थी। महाराज ने भी शिशु सभा के उद्देश्य की सराहना करते हुए १२५) उसकी सहायता के लिये भेजे थे और उसके साथ सहानुभूति प्रकट की थी। इसके अतिरिक्त आपने कोश का कार्य्य आरंभ करने के लिये भी सभा से कहा था और यह भी आशा दिलाई थी कि आवश्यकता पड़ने पर वे सभा को और भी आर्थिक सहायता देंगे। इस प्रकार सभा ने नौ सज्जनों की एक उपसमिति इस संबंध में विचार करने के लिये नियुक्त की; पर उपसमिति ने निश्चय किया

कि इस कार्य्य के लिये बड़े बड़े विद्वानों की सहायता की आवश्यकता होगी और इसके लिये कम से कम दो वर्ष तक २५०) मासिक का व्यय होगा। सभा ने इस संबंध में फिर श्रीमान् दरभंगा नरेश को लिखा था, परंतु अनेक कारणों से उस समय कोश का कार्य्य आरंभ नहीं हो सका। अतः सभा ने निश्चय किया कि जब तक कोश के लिये यथेष्ट धन एकत्र न हो तथा दूसरे आवश्यक प्रबंध न हो जायँ, तब तक उसके लिये आवश्यक सामग्री ही एकत्र की जाय। तदनुसार उसने सामग्री एकत्र करने का कार्य्य भी आरंभ कर दिया।

सन् १६०४ में सभा को पता लगा कि कलकत्ते की हिंदी साहित्य-सभा ने हिंदी भाषा का एक बहुत बड़ा कोश बनाना निश्चित किया है और उसने इस संबंध में कुछ कार्य्य भी आरंभ कर दिया है। सभा का उद्देश्य केवल यही था कि हिंदी में एक बहुत बड़ा शब्द-कोश तैयार हो जाय; स्वयं उसका श्रेय प्राप्त करने का उसका कोई विचार नहीं था। अतः सभा ने जब देखा कि कलकत्ते की साहित्य सभा कोश बनवाने का प्रयत्न कर ही रही है, तब उसने बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक निश्चय किया कि अपनी सारी संचित सामग्री साहित्य सभा को दे दी जाय और यथासाध्य सब प्रकार से उसकी सहायता की जाय। प्रायः तीन वर्ष तक सभा इसी आसरे में थी कि साहित्य सभा कोश तैयार करे। परंतु कोश तैयार करने का जो यश स्वयं प्राप्त करने की उसकी कोई विशेष इच्छा न थी, विधाता वह यश उसी को देना चाहता था। जब सभा ने देखा कि साहित्य सभा की ओर से कोश की तैयारी का कोई प्रबंध नहीं हो रहा है, तब उसने इस काम को स्वयं अपने ही हाथ में लेना निश्चित किया। जब सभा के संचालकों ने आपस में इस विषय की सब बातें पक्की कर ली, तब २३ अगस्त १६०७ को सभा के परम हितैषी और उत्साही सदस्य श्रीयुक्त रेवरेंड ई० ग्रीव्स ने सभा की प्रबंधकारिणी समिति में यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि हिंदी के एक बृहत् और सर्वांगपूर्ण कोश बनाने का भार सभा अपने ऊपर ले; और साथ ही यह भी बतलाया कि यह कार्य्य किस प्रणाली से किया जाय। सभा ने मि० ग्रीव्स के प्रस्ताव पर विचार करके इस विषय में उचित परामर्श देने के लिये निम्नलिखित सज्जनों की एक उपसमिति नियत कर दी—रेवरेंड ई० ग्रीव्स, महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए०, बाबू गोविंददास, बाबू इंद्रनारायण सिंह एम० ए०, लाला छोटेलाल, मुंशी संकटाप्रसाद, पंडित माधवप्रसाद पाठक और मैं।

इस उपसमिति के कई अधिवेशन हुए जिनमें सब बातों पर पूरा पूरा विचार किया गया। अंत में ६ नवंबर १६०७ को इस उपसमिति ने अपनी रिपोर्ट दी जिसमें सभा को परामर्श दिया गया कि सभा हिंदी भाषा के दो बड़े कोश बनवावे जिनमें से एक में तो हिंदी शब्दों के अर्थ हिंदी में ही रहें और दूसरे में हिंदी शब्दों के अर्थ अँगरेजी में हों। आजकल हिंदी भाषा में गद्य तथा पद्य में जितने शब्द प्रचलित हैं, उन सबका इन कोशों में समावेश हो, उनकी व्युत्पत्ति दी जाय और उनके भिन्न भिन्न अर्थ यथासाध्य उदाहरणों सहित दिए जायँ। उपसमिति ने हिंदी भाषा के गद्य तथा पद्य के प्रायः दो सौ अच्छे अच्छे ग्रंथों की एक सूची भी तैयार कर दी थी और कहा था कि इनमें से सब शब्दों का अर्थ सहित संग्रह कर लिया जाय; कोश की तैयारी का प्रबंध करने के लिये एक स्थायी समिति बना दी जाय और कोश के संपादन तथा उसकी छपाई आदि का सब प्रबंध करने के लिये एक संपादक नियुक्त कर दिया जाय।

समिति ने यह भी निश्चित किया कि कोश के संबंध में आवश्यक प्रबंध करने के लिये महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी, लाला छोटेलाल, रेवरेंड ई० ग्रीव्स, बाबू इंद्रनारायण सिंह एम० ए०, बाबू गोविंददास, पंडित माधवप्रसाद पाठक और पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए० की प्रबंध-कर्तृ समिति बना दी जाय, और उसके मंत्रित्व का भार मुझे दिया जाय। समिति का प्रस्ताव था कि उस प्रबंधकर्तृ-समिति को अधिकार दिया जाय कि वह आवश्यकतानुसार अन्य

सज्जनों को भी अपने में सम्मिलित कर ले। इस कोश के संबंध में प्रबंध कर्तृ-समिति को सम्मति और सहायता देने के लिये एक और बड़ी समिति बनाई जाने की सम्मति भी दी गई जिसमें हिंदी के समस्त बड़े बड़े विद्वान् और प्रेमी सम्मिलित हों। उस समय यह अनुमान किया गया था कि इस काम में लगभग ३००००) का व्यय होगा जिसके लिये सभा को सरकार तथा राजा महाराजाओं से प्रार्थना करने का परामर्श दिया गया।

सभा की प्रबंधकारिणी समिति ने उपसमिति की ये बातें मान लीं और तदनुसार कार्य्य भी आरंभ कर दिया। शब्द-संग्रह के लिये उपसमिति ने जो पुस्तकें बतलाई थीं, उनमें से शब्द संग्रह का कार्य्य भी आरंभ हो गया और धन के लिये अपील भी हुई जिससे पहले ही वर्ष २३३२) के वचन मिले, जिसमें से १६०२) नगद भी सभा को प्राप्त हो गए। इसमें से सबसे पहले १०००) स्वर्गीय माननीय सर सुंदरलाल सी० आई० ई० ने भेजे थे। सत्य तो यह है कि यदि प्रार्थना करते ही उक्त महानुभाव तुरंत १०००) न भेज देते तो सभा का कभी इतना उत्साह न बढ़ता और बहुत संभव था कि कोश का काम और कुछ समय के लिये टल जाता। परंतु सर सुंदरलाल से १०००) पाते ही सभा का उत्साह बहुत अधिक बढ़ गया और उसने और भी तत्परता से कार्य्य करना आरंभ किया। उसी समय श्रीमान् महाराज ग्वालियर ने भी १०००) देने का वचन दिया। इसके अतिरिक्त और भी अनेक छोटी मोटी रकमों के वचन मिले। तात्पर्य यह कि सभा को पूर्ण विश्वास हो गया कि अब कोश तैयार हो जायगा।

इस कोश के सहायतार्थ सभा को समय समय पर निम्नलिखित गवर्मेंटों, महाराजों तथा अन्य सज्जनों से सहायता प्राप्त हुई—

संयुक्त प्रदेश की गवर्मेंट	१३०००)
भारत गवर्मेंट	५०००)
मध्यप्रदेश की गवर्मेंट	१०००)
श्रीमान् महाराज साहब नेपाल	२०००)
" स्वर्गवासी महाराज साहब रीवाँ	१८००)
" महाराज साहब छत्रपुर	१५००)
" महाराज साहब बीकानेर	१५००)
" महाराजाधिराज बर्दवान	१५००)
" महाराज साहब अलवर	१०००)
" स्वर्गवासी महाराज साहब ग्वालियर	१०००)
" स्वर्गवासी महाराजा साहब काश्मीर	१०००)
" महाराज साहब काशी	१०००)
डाक्टर सर सुंदरलाल	१०००)
स्वर्गवासी राजा साहब भिनगा	१०००)
कुंअर राजेंद्रसिंह	१०००)
श्रीमान् महाराज साहब भावनगर	५००)
" महाराज साहब इंदौर	५००)
" स्वर्गवासी राजा साहब गिद्धौर	५००)
डाक्टर सर जार्ज ग्रियर्सन	१५०)

इनके अतिरिक्त और बहुत से महानुभावों से १००) अथवा उससे कम की सहायता प्राप्त हुई।

शब्द संग्रह करने के लिये जो पुस्तकें चुनी गई थीं, उन पुस्तकों को सभासदों में बाँट कर उनसे शब्द-संग्रह कराने का सभा का विचार था। बहुत से उत्साही सभासदों ने पुस्तकें तो मँगवा लीं, पर कार्य्य कुछ भी न किया। बहुतों ने तो महीनों पुस्तकें अपने पास रख कर अंत में ज्यों की त्यों लौटा दीं और कुछ लोगों ने पुस्तकें भी हजम कर लीं। थोड़े से लोगों ने शब्द-संग्रह का काम किया था, पर उनमें भी संतोषजनक काम इने गिने सज्जनों का ही था। इसमें व्यर्थ बहुत सा समय नष्ट हो गया, पर धन की यथेष्ट सहायता सभा को मिलती जाती थी, अतः दूसरे वर्ष सभा ने विवश होकर निश्चित किया कि शब्द-संग्रह का काम वेतन देकर कुछ लोगों से कराया जाय। तदनुसार प्रायः १६-१७ आदमी शब्द-संग्रह के काम के लिये नियुक्त कर दिए गए और एक निश्चित प्रणाली पर शब्द-संग्रह का काम होने लगा।

आरंभ में कोश के सहायक संपादक पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन और बाबू अमीरसिंह के अतिरिक्त बाबू जगन्मोहन वर्मा, बाबू

रामचंद्र वर्म्मा, पंडित वासुदेव मिश्र, पंडित वचनेश मिश्र, पंडित व्रजभूषण ओझा, श्रीयुक्त वेणी कवि आदि अनेक सज्जन भी इस शब्द संग्रह के काम में सम्मिलित थे। शब्द-संग्रह के लिये सभा केवल पुस्तकों पर ही निर्भर नहीं रही। कोश में पुस्तकों के शब्दों के अतिरिक्त और भी अनेक ऐसे शब्दों की आवश्यकता थी जो नित्य की बोलचाल के, पारिभाषिक अथवा ऐसे विषयों के शब्द थे जिन पर हिंदी में पुस्तकें नहीं थीं। अतः सभा ने मुंशी रामलगनलाल नामक एक सज्जन को शहर में घूम घूम कर अहीरों, कहारों, लोहारों, सोनारों, चमारों, तमोलियों, तेलियों, जोलाहों, भालू और बंदर नचानेवालों, कूँचेबंदों, धुनियों, गाड़ीवानों, कुश्तीबाजों, कसेरों, राजगीरों, छापेखानेवालों, महाजनों, बजाजों, दलालों, जुआरियों, महावतों, पंसारियों, साईसों आदि के पारिभाषिक शब्द तथा गहनों, कपड़ों, अनाजों, पेड़ों, बरतनों, देवताओं, गृहस्थी की चीजों, पकानों, मिठाइयों, विवाह आदि की रस्मों, तरकारियों, सागों, फलों, घासों, खेलों और उनके साधनों, आदि आदि के नाम एकत्र करने के लिये नियुक्त किया। पुस्तकों के शब्द संग्रह के साथ साथ यह काम भी प्रायः दो वर्ष तक चलता रहा। इस संबंध में यह कह देना आवश्यक जान पड़ता है कि मुंशी रामलगनलाल का इस संबंध का शब्द संग्रह बहुत संतोष-जनक था। इसके अतिरिक्त सभा ने बाबू रामचंद्र वर्म्मा को समस्त भारत के पशुओं, पक्षियों, मछलियों, फूलों और पेड़ों आदि के नाम एकत्र करने के लिये कलकत्ते भेजा था जिन्होंने प्रायः ढाई मास तक वहाँ रहकर इंपीरियल लाइब्रेरी से फ्लोरा और फॉना आफ बृटिश इंडिया सीरिज की समस्त पुस्तकों में से नाम और विवरण आदि एकत्र किए थे। हिंदी भाषा में व्यवहृत होनेवाले अँगरेजी, फारसी, अरबी तथा तुर्की आदि भाषाओं के शब्दों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों की जीवनियों, प्राचीन स्थानों तथा कहावतों आदि के संग्रह का भी बहुत अच्छा प्रबंध किया गया था। पुरानी हिंदी तथा डिंगल और बुंदेलखंडी आदि भाषाओं के शब्दों का भी अच्छा संग्रह किया गया था। इसमें सभा का मुख्य उद्देश्य यह था कि जहाँ तक हो सके, कोश में हिंदी भाषा में व्यवहृत होने या हो सकनेवाले अधिक से अधिक शब्द आ जायँ और यथासाध्य कोई आवश्यक बात या शब्द छूटने न पावे। इसी विचार से सभा ने अँगरेजी, फारसी, अर्बी और तुर्की आदि शब्दों, पौराणिक तथा ऐतिहासिक व्यक्तियों और स्थानों के नामों आदि की एक बड़ी सूची भी प्रकाशित कराके घटाने बढ़ाने के लिये हिंदी के बड़े बड़े विद्वानों के पास भेजी थी।

दो ही वर्ष में सभा को अनेक बड़े बड़े राजा महाराजाओं तथा प्रांतीय और भारतीय सरकारों से कोश के सहायतार्थ बड़ी बड़ी रकमें भी मिलीं, जिससे सभा तथा हिंदी प्रेमियों को कोश के तैयार होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं रह गया और सभा बड़े उत्साह से कोश का काम कराने लगी। आरंभ में सभा ने यह निश्चय नहीं किया था कि कोश का संपादक कौन बनाया जाय, पर दूसरे वर्ष सभा ने मुझे कोश का प्रधान संपादक बनाना निश्चित किया। मैंने भी सभा की आज्ञा शिरोधार्य्य करके यह भार अपने ऊपर ले लिया।

सन् १९१० के आरंभ में शब्द-संग्रह का कार्य्य समाप्त हो गया। जिन स्लिपों पर शब्द लिखे गए थे, उनकी संख्या अनुमानतः १० लाख थी, जिनमें से आशा की गई थी कि प्रायः १ लाख शब्द निकलेंगे; और प्रायः यही बात अंत में हुई भी। जब शब्द-संग्रह का काम हो चुका, तब स्लिपें अक्षर क्रम से लगाई जाने लगीं। पहले वे स्वरों और व्यंजनों के विचार से अलग अलग की गईं और तब स्वरों के प्रत्येक अक्षर तथा व्यंजनों के प्रत्येक वर्ग की स्लिपें अलग अलग की गईं। जब स्वरों की स्लिपें अक्षर क्रम से लग गईं, तब व्यंजनों के वर्गों के अक्षर अलग अलग किए गए और प्रत्येक अक्षर की स्लिपें क्रम से लगाई गईं। यह कार्य्य प्रायः एक वर्ष तक चलता रहा।

जिस समय कोश के संपादन का भार मुझे दिया गया था, उसी समय सभा ने यह निश्चित कर दिया था कि

पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित रामचंद्र शुक्ल, लाला भगवानदीन तथा बाबू अमीर सिंह कोश के सहायक संपादक बनाए जाँय, और ये लोग कोश के संपादन में मेरी सहायता करें। अक्टूबर १९०९ में मेरी नियुक्ति काश्मीर राज्य में हो गई जिसके कारण मुझे काशी छोड़ कर काश्मीर जाना आवश्यक हुआ। उस समय मैंने सभा से प्रार्थना की कि इतनी दूर से कोश का संपादन सुचारु रूप से न हो सकेगा। अतः सभा मेरे स्थान पर किसी और सज्जन को कोश का संपादक नियुक्त करे। परंतु सभा ने यही निश्चय किया कि कोश का कार्यालय भी मेरे साथ आगे चलकर काश्मीर भेज दिया जाय और वहीं कोश का संपादन हो। उस समय तक स्लिप अक्षर क्रम से लग चुकी थीं और संपादन का कार्य अच्छी तरह आरंभ हो सकता था। अतः १५ मार्च १९१० को काशी में कोश का कार्यालय बंद कर दिया गया और निश्चय हुआ कि चारों सहायक संपादक जंबू पहुँच कर १ अप्रैल १९१० से वहीं कोश के संपादन का कार्य आरंभ करें। तदनुसार पंडित रामचंद्र शुक्ल, और बाबू अमीरसिंह तो यथासमय जंबू पहुँच गए, पर पंडित बालकृष्ण भट्ट तथा लाला भगवानदीन ने एक एक मास का समय माँगा। दुर्भाग्यवश बाबू अमीरसिंह के जंबू पहुँचने के चार पाँच दिन बाद ही काशी में उनकी स्त्री का देहांत हो गया जिससे उन्हें थोड़े दिनों के लिये फिर काशी लौट आना पड़ा। उस बीच में अकेले पंडित रामचंद्र शुक्ल ही संपादन कार्य्य करते रहे। मई के आरंभ में पंडित बालकृष्ण भट्ट और बाबू अमीरसिंह जंबू पहुँचे और संपादन कार्य्य करने लगे। पर लाला भगवानदीन कई बार प्रतिज्ञा करके भी जंबू न पहुँच सके, अतः सहायक संपादक के पद से उनका संबंध छूट गया। शेष तीनों सहायक संपादक महाशय उत्तमतापूर्वक संपादन कार्य्य करते रहे। कोश के विषय में सम्मति लेने के लिये आरंभ में जो कोश कमेटी बनी थी, वह १ मई १९१० को अनावश्यक समझ कर तोड़ दी गई।

कोश का संपादन आरंभ हो चुका था और शीघ्र ही उसकी छपाई का प्रबंध करना आवश्यक था; अतः सभा ने कई बड़े बड़े प्रेसों से कोश की छपाई के नमूने मँगाए। अंत में प्रयाग के सुप्रसिद्ध इंडियन प्रेस को कोश की छपाई का भार दिया गया। इस कार्य्य के लिये आरंभिक प्रबंध करने के लिए उक्त प्रेस को २०००) पेशगी दे दिए गए और लिखा पढ़ी करके छपाई के संबंध की सब बातें तै कर ली गईं।

अप्रैल १९१० से सितंबर १९१० तक तो जंबू में कोश के संपादन का कार्य्य बहुत उत्तमतापूर्वक और निर्विघ्न होता रहा, पर पीछे इसमें एक विघ्न पड़ा। पंडित बालकृष्ण भट्ट जंबू में दुर्घटनावश सीढ़ी पर से गिर पड़े और उनकी एक टाँग टूट गई, जिसके कारण अक्तूबर १९१० में उन्हें छुट्टी लेकर प्रयाग चले आना पड़ा। नवंबर में बाबू अमीरसिंह भी बीमार हो जाने के कारण छुट्टी लेकर काशी चले आए और दो मास तक यहीं बीमार पड़े रहे। संपादन कार्य्य करने के लिये जंबू में फिर अकेले पंडित रामचंद्र शुक्ल बच रहे। जब अनेक प्रयत्न करने पर भी जंबू में सहायक संपादकों की संख्या पूरी न हो सकी, तब विवश होकर १५ दिसंबर १९१० को कोश का कार्यालय जंबू से काशी भेज दिया गया। कोश विभाग के काशी आ जाने पर जनवरी १९११ से बाबू अमीरसिंह भी स्वस्थ होकर उसमें सम्मिलित हो गए और बाबू जगन्मोहन वर्म्मा भी सहायक संपादक के पद पर नियुक्त कर दिए गए। दूसरे मास फरवरी में बाबू गंगाप्रसाद गुप्त भी कोश के सहायक संपादक बनाए गए। जंबू में तो पहले सब सहायक संपादक अलग अलग शब्दों का संपादन करते थे और तब सब लोग एक साथ मिलकर संपादित शब्दों को दोहराते थे। परंतु बाबू गंगाप्रसाद गुप्त के आ जाने पर दो दो सहायक संपादक अलग अलग मिल कर संपादन करने लगे। नवंबर १९११ में जब बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ने अपने पद से इस्तीफा दे दिया, तब पंडित बालकृष्ण भट्ट पुनः प्रयाग से बुला लिए गए और जनवरी १९१२ में लाला भगवानदीन भी पुनः इस विभाग में सम्मिलित कर लिए गए तथा मार्च १९१२ से सब

सहायक संपादक संपादन के कार्य्य के लिये तीन भागों में विभक्त कर दिए गए। इस प्रकार कार्य्य की गति पहले की अपेक्षा बढ़ तो गई, पर फिर भी उसमें उतनी वृद्धि नहीं हुई जितनी वांछित थी। जब मई सन् १९१० में 'अ', 'आ', 'इ', और 'ई' का संपादन हो चुका, तब उसकी कापी प्रेस में भेज दी गई और उसकी छपाई में हाथ लगा दिया गया। उस समय तक मैं भी काश्मीर से लौट कर काशी आ गया था जिससे कार्य्य निरीक्षण और व्यवस्था का अधिक सुभीता हो गया।

१९१३ में संपादन शैली में कुछ और परिवर्त्तन किया गया। पंडित बालकृष्ण भट्ट, बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, लाला भगवानदीन तथा बाबू अमीरसिंह अलग अलग संपादन कार्य्य पर नियुक्त कर दिए गए। सब संपादकों की लेखशैली आदि एक ही प्रकार की नहीं हो सकती थी, अतः सब की संपादित स्लिपों को दोहरा कर एक मेल करने के कार्य्य पर पंडित रामचंद्र शुक्ल नियुक्त किए गए और उनकी सहायता के लिये बाबू रामचंद्र वर्म्मा रखे गए। उस समय यह व्यवस्था थी कि दिन भर तो सब सहायक संपादक अलग अलग संपादन कार्य्य किया करते थे और पंडित रामचंद्र शुक्ल पहले की संपादित की हुई स्लिपों को दोहराया करते थे, और संध्या को ४ बजे तक से ५ बजे तक सब संपादक मिल कर एक साथ बैठते थे और पंडित रामचंद्र शुक्ल की दोहराई हुई स्लिपों को सुनते तथा आवश्यकता पड़ने पर उसमें परिवर्त्तन आदि करते थे। इस प्रकार कार्य्य भी अधिक होता था और प्रत्येक शब्द के संबंध में प्रत्येक सहायक संपादक को सम्मति भी मिल जाती थी।

मई १९१२ में छपाई का कार्य्य आरंभ हुआ था और एक ही वर्ष के अंदर ९६—९६ पृष्ठों की चार संख्याएँ छप कर प्रकाशित हो गईं, जिनमें ८९६६ शब्द थे। सर्वसाधारण में इन प्रकाशित संख्याओं का बहुत अच्छा आदर हुआ। सर जार्ज ग्रियर्सन, डाक्टर रुडाल्फ हार्नेली, प्रोफेसर सिलवान लेवी, रेवरेंड ई० ग्रीव्स, पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, महामहोपाध्याय डाक्टर गंगानाथ झा, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी, मिस्टर रमेशचन्द्र दत्त, पंडित श्यामबिहारी मिश्र आदि अनेक बड़े बड़े विद्वानों, पंडितों तथा हिंदी प्रेमियों ने प्रकाशित अंकों की बहुत कुछ प्रशंसा की और अँगरेजी दैनिक लीडर तथा हिंदी साप्ताहिक हिंदी बंगवासी आदि समाचार-पत्रों ने भी समय समय पर उन अंकों की अच्छी प्रशंसात्मक आलोचना की। ग्राहक संख्या भी दिन पर दिन बहुत ही संतोषजनक रूप में बढ़ने लगी।

इस अवसर पर एक बात और कह देना आवश्यक जान पड़ता है। जिस समय मैं पहले काश्मीर जाने लगा था, उस समय पहले यही निश्चय हुआ था कि कोश विभाग काशी में ही रहे और मेरी अनुपस्थिति में स्वर्गवासी पंडित केशवदेव शास्त्री कोश विभाग का निरीक्षण करें। परंतु मेरी अनुपस्थिति में पंडित केशवदेव शास्त्री तथा कोश के सहायक संपादकों में कुछ अनबन हो गई, जिसने आगे चल कर और भी विलक्षण रूप धारण किया। उस समय संपादक लोग प्रबंधकारिणी समिति के अनेक सदस्यों तथा कर्मचारियों से बहुत रुष्ट और असंतुष्ट हो गए थे। कई मास तक यह झगड़ा भीषण रूप से चलता रहा और अनेक समाचार-पत्रों में उसके संबंध में कड़ी टिप्पणियाँ निकलती रहीं। सभा के कुछ सदस्य तथा बाहरी सज्जन कोश की व्यवस्था और कार्य्य-प्रणाली आदि पर भी अनेक प्रकार के आक्षेप करने लगे; और कुछ सज्जनों ने तो छिपे छिपे ही यहाँ तक उद्योग किया कि अब तक कोश के कार्य्य में जो कुछ व्यय हुआ है, वह सब सभा को देकर कोश की सारी सामग्री उससे ले ली जाय और स्वतंत्र रूप से उसके संपादन तथा प्रकाशन आदि की व्यवस्था की जाय। यह विचार यहाँ तक पक्का हो गया था कि एक स्वनामधन्य हिंदी-विद्वान् से संपादक होने के लिये पत्र-व्यवहार तक किया गया था। साथ ही मुझे उस काम से विरत करने के लिये मुझ पर प्रत्यक्ष और प्रच्छन्न रीति से अनेक प्रकार के अनुचित आक्षेप तथा दोषारोपण किए गए थे। इस आंदोलन में व्यक्तिगत भाव अधिक था। पर थोड़े ही दिनों में यह अप्रिय और हानिकारक आंदोलन ठंढा पड़ गया और फिर सब

कार्य्य सुचारु रूप से पूर्ववत् चलने लगा। "श्रेयांसि बहुविघ्नानि," के अनुसार इस बड़े काम में भी समय समय पर अनेक विघ्न उपस्थित हुए; पर ईश्वर की कृपा से उनके कारण इस कार्य में कुछ हानि नहीं पहुँची।

सन् १९१३ में कोश का काम अच्छी तरह चल निकला। वह बराबर नियमित रूप से संपादित होने लगा और संख्याएँ बराबर छप कर प्रकाशित होने लगीं। बीच बीच में आवश्यकतानुसार संपादन कार्य्य में कुछ परिवर्तन भी होता रहा। इसी बीच में पंडित बालकृष्ण भट्ट, जो इस वृद्धावस्था में भी बड़े उत्साह के साथ कोश संपादन के कार्य्य में लगे हुए थे, अपनी दिन पर दिन बढ़ती हुई अशक्तता के कारण अभाग्यवश नवंबर १९१३ में कोश के कार्य से अलग होकर प्रयाग चले गए और वहीं थोड़े दिनों बाद उनका देहांत हो गया। उस समय बाबू रामचंद्र वर्म्मा उनके स्थान पर कोश के सहायक संपादक बना दिए गए और कार्य्यक्रम में फिर कुछ परिवर्तन की आवश्यकता पड़ी। निश्चित हुआ कि बाबू जगमोहन वर्म्मा, लाला भगवान दीन तथा बाबू अमीरसिंह आगे के शब्दों का अलग अलग संपादन करें और पंडित रामचंद्र शुक्ल तथा बाबू रामचंद्र वर्म्मा संपादित किए हुए शब्दों को अलग अलग दोहरा कर एक मेल करें। इस क्रम में यह सुभीता हुआ कि आगे का संपादन भी अच्छी तरह होने लगा और संपादित शब्द भी ठीक तरह से दोहराए जाने लगे; और दोनों ही कार्य्यों की गति में भी यथेष्ट वृद्धि हो गई। इस प्रकार १९१७ तक बराबर काम चलता रहा और कोश की १५ संख्याएँ छप कर प्रकाशित हो गई तथा ग्राहक संख्या में बहुत कुछ वृद्धि हो गई। इस बीच में और कोई विशेष उल्लेख योग्य बात नहीं हुई।

१९१८ के आरंभ में तीन सहायक संपादकों ने "ला" तक संपादन कर डाला और दो सहायक संपादकों ने "बि" तक के शब्द दोहरा डाले। उस समय कई महीनों से कोश की बहुत कापी तैयार रहने पर भी अनेक कारणों से उसका कोई अंक छपकर प्रकाशित न हो सका जिसके कारण आय रुकी हुई थी। कोश विभाग का व्यय बहुत अधिक था और कोश के संपादन का कार्य्य प्रायः समाप्ति पर था; अतः कोश-विभाग का व्यय कम करने की इच्छा से विचार हुआ कि अप्रैल १९१८ से कोश का व्यय कुछ घटा दिया जाय। तदनुसार बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, लाला भगवान दीन और बाबू अमीरसिंह त्यागपत्र देकर अपने अपने पद से अलग हो गए। कोश-विभाग में केवल दो सहायक संपादक पंडित रामचंद्र शुक्ल और बाबू रामचंद्र वर्म्मा तथा स्लिपों का क्रम लगानेवाले और साफ़ कापी लिखनेवाले एक लेखक पंडित व्रजभूषण ओझा रह गए। इस समय आगे के शब्दों का संपादन रोक दिया गया और केवल पुराने संपादित शब्द ही दोहराए जाने लगे। पर जब आगे चल कर दोहराने योग्य स्लिपें प्रायः समाप्त हो चलीं, और आगे नए शब्दों के संपादन की आवश्यकता प्रतीत हुई, तब संपादन कार्य के लिये बाबू कालिकाप्रसाद नियुक्त किए गए जो कई वर्षों तक अच्छा काम करके और अंत में त्यागपत्र देकर अन्यत्र चले गए। परंतु स्लिपों को दोहराने का कार्य पूर्ववत् प्रचलित रहा।

सन् १९२४ में कोश के संबंध में एक हानिकारक दुर्घटना हो गई थी। आरंभ में शब्द-संग्रह के लिये जो स्लिपें तैयार हुई थीं, उनके २२ बंडल कोश कार्यालय से चोरी चले गए। उनमें "विब्बोक" से "शं" तक की और "शय" से "सही" तक की स्लिपें थीं। इसमें कुछ दोहराई हुई पुरानी स्लिपें भी थीं जो छप चुकी थीं। इन स्लिपों के निकल जाने से तो कोई विशेष हानि नहीं हुई, क्योंकि सब छप चुकी थीं। परंतु शब्द संग्रहवाली स्लिपों के चोरी जाने से अवश्य ही बहुत बड़ी हानि हुई। इनके स्थान पर फिर से कोशों आदि से शब्द एकत्र करने पड़े। यह शब्द-संग्रह अपेक्षाकृत थोड़ा और अधूरा हुआ और इसमें स्वभावतः ठेठ हिंदी या कविता आदि के उतने शब्द नहीं आ सके जितने आने चाहिए थे, और न प्राचीन काव्य ग्रंथों आदि के उदाहरण ही सम्मिलित हुए। फिर भी जहाँ तक हो सका, इस त्रुटि की पूर्ति करने का उद्योग किया गया और परिशिष्ट में बहुत से छूटे हुए शब्द आ भी गए हैं।

सन् १९२५ में कार्य शीघ्र समाप्त करने के लिये कोश विभाग में दो नए सहायक अस्थायी रूप से नियुक्त किए गए—एक तो कोश के भूतपूर्व संपादक बाबू जगन्मोहन वर्मा के सुपुत्र बाबू सत्यजीवन वर्मा एम० ए० और दूसरे पंडित अयोध्यानाथ शर्मा एम० ए० । यद्यपि ये सज्जन कोश विभाग में प्रायः एक ही वर्ष रहे थे, परंतु फिर भी इनसे कोश का कार्य शीघ्र समाप्त करने में और विशेषतः व, श, ष तथा स के शब्दों के संपादन में अच्छी सहायता मिली। जब ये दोनों सज्जन सभा से संबंध त्याग कर चले गए तब संपादन कार्य के लिये श्रीयुक्त पंडित वासुदेव मिश्र, जो आरंभ में भी कोश विभाग में शब्द संग्रह का काम कर चुके थे और जो इधर बहुत दिनों तक कलकत्ते के दैनिक भारतमित्र तथा साप्ताहिक श्रीकृष्ण संदेश के सहायक संपादक रह चुके थे, कोश-विभाग में सहायक संपादक के पद पर नियुक्त कर लिए गए। इनकी नियुक्ति से संपादन कार्य्य बहुत ही सुगम हो गया और वह बहुत शीघ्रता से अग्रसर होने लगा। अंत में इस प्रकार सन् १९२७ ई० में कोश का संपादन आदि समाप्त हुआ।

इतने बड़े शब्द-कोश में बहुत से शब्दों का अनेक कारणों से छूट जाना बहुत ही स्वाभाविक था। एक तो यों ही सब शब्दों का संग्रह करना बड़ा कठिन काम है, तिसपर एक जीवित भाषा में नए शब्दों का आगम निरंतर होता रहता है। यदि किसी समय समस्त शब्दों का संग्रह किसी उपाय से कर भी लिया जाय और उनके अर्थ आदि भी लिख लिए जांय, पर जब तक यह संग्रह छपकर प्रकाशित हो सकेगा तब तक और नए शब्द भाषा में सम्मिलित हो जायँगे। इस विचार से तो किसी जीवित भाषा का शब्द-कोश कभी भी पूर्ण नहीं माना जा सकता। इन कठिनाइयों के अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि हिंदी भाषा के इतने बड़े कोश को तैयार करने का इतना बड़ा आयोजन यह पहला ही हुआ है। अतएव इसमें अनेक त्रुटियों का रह जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। फिर भी इस कोश की समाप्ति में प्रायः २० वर्ष लगे। इस बीच में समय समय पर बहुत से ऐसे नए शब्दों का पता लगता था जो शब्द-सागर में नहीं मिलते थे। इसके अतिरिक्त देश की राजनीतिक प्रगति आदि के कारण बहुत से नए शब्द भी प्रचलित हो गए थे जो पहले किसी प्रकार संगृहीत ही नहीं हो सकते थे। साथ ही कुछ शब्द ऐसे भी थे जो शब्द-सागर में छप तो गए थे, परंतु उनके कुछ अर्थ पीछे से मालूम हुए थे। अतः यह आवश्यक समझा गया कि इन छूटे हुए या नव प्रचलित शब्दों और छूटे हुए अर्थों का अलग संग्रह करके परिशिष्ट रूप में दे दिया जाय। तदनुसार प्रायः एक वर्ष के परिश्रम में ये शब्द और अर्थ भी प्रस्तुत करके परिशिष्ट रूप में दे दिए गए हैं। आजकल समाचार पत्रों आदि या बोलचाल में जो बहुत से राजनीतिक शब्द प्रचलित हो गए हैं, वे भी इसमें दे दिए गए हैं। सारांश यह कि इसके संपादकों ने अपनी ओर से कोई बात इस कोश को सर्वांगपूर्ण बनाने में उठा नहीं रखी है। इसमें जो दोष अभाव या त्रुटियाँ हैं उनका ज्ञान जितना इसके संपादकों को है उतना कदाचित् दूसरे किसी को होना कठिन है, पर ये बातें असावधानी से अथवा जानबूझ कर नहीं होने पाई हैं। अनुभव भी मनुष्य को बहुत कुछ सिखाता है। इसके संपादकों ने भी इस कार्य को करके बहुत कुछ सीखा है और वे अपनी कृति के अभावों से पूर्णतया अभिज्ञ हैं।

कदाचित् यहाँ पर यह कहना अनुचित न होगा कि भारतवर्ष की किसी वर्तमान देशभाषा में उसके एक वृहत् कोश के तैयार कराने का इतना बड़ा और व्यवस्थित आयोजन दूसरा अब तक नहीं हुआ है। जिस ढंग पर यह कोश प्रस्तुत करने का विचार किया गया था, उसके लिये बहुत अधिक परिश्रम तथा विचार-पूर्वक कार्य करने की आवश्यकता थी। साथ ही इस बात की भी बहुत बड़ी आवश्यकता थी कि जो सामग्री एकत्र की गई है, उसका किस ढँग से उपयोग किया जाय और भिन्न भिन्न भावों के सूचक अर्थ आदि किस प्रकार किए जायँ क्योंकि अभी तक हिंदी, उर्दू, बँगला, मराठी या गुजराती आदि किसी देशीभाषा में आधुनिक

वैज्ञानिक ढंग पर कोई शब्द-कोश प्रस्तुत नहीं हुआ था। अब तक जितने कोश बने थे, उन सब में वह पुराना ढंग काम में लाया गया था और एक शब्द के अनेक पर्य्याय ही एकत्र करके रख दिए गए थे। किसी शब्द का ठीक ठीक भाव बतलाने का कोई प्रयत्न नहीं किया गया था। परंतु विचारवान् पाठक समझ सकते हैं कि केवल पर्य्याय से ही किसी शब्द का ठीक ठीक भाव या अभिप्राय समझ में नहीं आ सकता, और कभी कभी तो कोई पर्य्याय अर्थ के संबंध में जिज्ञासु को भी और भ्रम में डाल देता है। इसी लिये शब्दसागर के संपादकों को एक ऐसे नए क्षेत्र में काम करना पड़ा था, जिसमें अभी तक कोई काम हुआ ही नहीं था। वे प्रत्येक शब्द को लेते थे, उसकी व्युत्पत्ति ढूँढ़ते थे; और तब एक या दो वाक्यों में उसका भाव स्पष्ट करते थे; और यदि यह शब्द वस्तु वाचक होता था, तो उस वस्तु का यथासाध्य पूरा पूरा विवरण देते थे; और तब उसके कुछ उपयुक्त पर्य्याय देते थे। इसके उपरांत उस शब्द से प्रकट होनेवाले अन्यान्य भाव या अर्थ, उत्तरोत्तर विकास के क्रम से, देते थे। उन्हें इस बात का बहुत ध्यान रखना पड़ता था कि एक अर्थ का सूचक पर्य्याय दूसरे अर्थ के अंतर्गत न चला जाय। जहाँ आवश्यकता होती थी, वहाँ एक ही तरह के अर्थ देनेवाले दो शब्दों का अंतर भी भली भाँति स्पष्ट कर दिया जाता था। उदाहरण के लिये "टँगना" और "लटकना" इन दोनों शब्दों को लिजिए। शब्दसागर में इन दोनों के अर्थों का अंतर इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—'टँगना' और 'लटकना' इन दोनों के मूल भाव में अंतर है। 'टँगना' शब्द में ऊँचे आधार पर टिकने या अड़ने का भाव प्रधान है और 'लटकना' शब्द में ऊपर से नीचे तक फैले रहने या हिलने डोलने का।"

इसी प्रकार दर्शन, ज्यौतिष, वैद्यक, वास्तुविद्या आदि अनेक विषयों के पारिभाषिक शब्दों के भी पूरे पूरे विवरण दिए गए हैं। प्राचीन हिंदी काव्यों में मिलनेवाले ऐसे बहुत से शब्द इसमें आए हैं जो पहले कभी किसी कोश में नहीं आए थे। यही कारण है कि हिंदी-प्रेमियों तथा पाठकों ने आरंभ में ही इसे एक बहुमूल्य रत्न की भाँति अपनाया और इसका आदर किया। प्राचीन हिंदी काव्यों का पढ़ना और पढ़ाना, एक ऐसे कोश के अभाव में, प्रायः असंभव था। इस कोश ने इसकी पूर्त्ति करके वह अभाव बिल्कुल दूर कर दिया। पर यहाँ यह भी निवेदन कर देना आवश्यक जान पड़ता है कि अब भी इस में कुछ शब्द अवश्य इस लिए छूटे हुए होंगे कि हिंदी के अधिकांश छपे हुए काव्यों में न तो पाठ ही शुद्ध मिलता है और न शब्दों के रूप ही शुद्ध मिलते हैं।

इन सब बातों से पाठकों ने भली भाँति समझ लिया होगा कि इस कोश में जो कुछ प्रयत्न किया गया है, बिल्कुल नए ढंग का है। इस प्रयत्न में इसके संपादकों को कहाँ तक सफलता हुई है, इसका निर्णय विद्वान् पाठक ही कर सकते हैं। परंतु संपादकों के लिये यही बात विशेष संतोष और आनंद की है कि आरंभ से अनेक बड़े बड़े विद्वानों जैसे, सर जार्ज ग्रियर्सन, डाक्टर हार्नली, प्रो० सिल्वन लेवी, डा० गंगानाथ झा आदि ने इसकी बहुत अधिक प्रशंसा की है। इसकी उपयोगिता का यह एक बहुत बड़ा प्रमाण है। कदाचित् यहाँ पर यह कह देना भी अनुपयुक्त न होगा कि कुछ लोगों ने किसी किसी जाति अथवा व्यक्ति विषयक विवरण पर आपत्तियाँ की हैं। मुझे इस संबंध में केवल इतना ही कहना है कि हमारा उद्देश्य किसी जाति को ऊँची या नीची बनाना न रहा है और न हो सकता है। इस संबंध में न हम शास्त्रीय व्यवस्था देना चाहते थे और न उसके अधिकारी थे। जो सामग्री हमको मिल सकी उसके आधार पर हमने विवरण लिखे। उसमें भूल होना या कुछ छूट जाना कोई असंभव बात नहीं है। इसी प्रकार जीवनी के संबंध में मतभेद या भूल हो सकती है। इसके कारण यदि किसी का हृदय दुखा हो या किसी प्रकार का क्षोभ हुआ हो तो उसके लिये हम दुःखी हैं और क्षमा के प्रार्थी हैं। संशोधित संस्करण में ये त्रुटियाँ दूर की जायँगी।

इस प्रकार यह बृहत् आयोजन २० वर्ष के निरंतर उद्योग परिश्रम और अध्यवसाय के अनंतर समाप्त हुआ

है। इसमें सब मिलाकर ९३११५ शब्दों के अर्थ तथा विवरण दिए गए हैं और आरंभ में हिंदी भाषा और साहित्य के विकास का इतिहास भी दे दिया गया है। इस समस्त कार्य्य में सभा का अब तक १०२७३५।) ८३ व्यय हुआ है, जिसमें छपाई आदि का भी व्यय सम्मिलित है। इस कोश की सर्वप्रियता और उपयोगिता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण (यदि किसी प्रमाण की आवश्यकता है) हो सकता है कि कोश समाप्त भी नहीं हुआ और इसके पहले ही इसके खंडों को दो दो और तीन तीन बेर छापना पड़ा है और इस समय इस कोश के समस्त खंड प्राप्य नहीं हैं। इसकी उपयोगिता का दूसरा बड़ा भारी प्रमाण यह है कि अभी यह ग्रंथ समाप्त भी नहीं हुआ था वरन यों कहना चाहिए कि अभी इसका थोड़ा ही अंश छपा था जब कि इससे चोरी करना आरंभ हो गया था और यह काम अब तक चला जा रहा है। पर असल और नकल में जो भेद संसार में होता है वही यहाँ भी दीख पड़ता है। यदि इस संबंध में कुछ कहा जा सकता है तो वह केवल इतना ही है कि इन महाशयों ने चोरी पकड़े जाने के भय से इस कोश के नाम का उल्लेख करना भी अनुचित समझा है।

जो कुछ ऊपर लिखा जा चुका है, उससे स्पष्ट है कि इस कोश के कार्य में आरंभ से लेकर अंत तक पंडित रामचंद्र शुक्ल का संबंध रहा है, और उन्होंने इसके लिये जो कुछ किया है, वह विशेष रूप से उल्लिखित होने योग्य है। यदि यह कहा जाय कि शब्द सागर की उपयोगिता और सर्वांगपूर्णता का अधिकांश श्रेय पंडित रामचंद्र शुक्ल को प्राप्त है, तो इसमें कोई अत्युक्ति न होगी। एक प्रकार से यह उन्हीं के परिश्रम, विद्वत्ता और विचार-शीलता का फल है। इतिहास, दर्शन, भाषा-विज्ञान, व्याकरण, साहित्य आदि के सभी विषयों का समीचीन विवेचन प्रायः उन्हीं का किया हुआ है। यदि शुक्ल जी सरीखे विद्वान् की सहायता न प्राप्त होती तो केवल एक या दो सहायक संपादकों की सहायता से यह कोश प्रस्तुत करना असंभव ही होता। शब्दों को दोहरा कर छपने के योग्य ठीक करने का भार पहले उन्हीं पर था। फिर आगे चलकर थोड़े दिनों बाद उनके सुयोग्य साथी बाबू रामचंद्र वर्मा ने भी इस काम में उनका पूरा पूरा हाथ बँटाया और इसी लिये इस कोश को प्रस्तुत करने वालों में दूसरा मुख्य स्थान बाबू रामचंद्र वर्मा को प्राप्त है। कोश के साथ उनका संबंध भी प्रायः आदि से अंत तक रहा है और उनके सहयोग तथा सहायता से कार्य्य के समाप्त करने में बहुत अधिक सुगमता हुई है। आरंभ में उन्होंने इसके लिये सामग्री आदि एकत्र करने में बहुत अधिक परिश्रम किया था, और तदुपरांत वे इसके निर्माण और संपादित की हुई स्लिपों को दोहराने के काम में पूर्ण अध्यवसाय और शक्ति से सम्मिलित हुए। उनमें प्रत्येक बात को बहुत शीघ्र समझ लेने की अच्छी शक्ति है, भाषा पर उनका पूरा अधिकार है और वे ठीक तरह से काम करने का ढंग जानते हैं; और उनके इन गुणों से इस कोश के प्रस्तुत करने में बहुत अधिक सहायता मिली है। इसकी छपाई की व्यवस्था और प्रूफ आदि देखने का भार भी प्रायः उन्हीं पर था। इस प्रकार इस विशाल कार्य के संपादन का उन्हें भी पूरा पूरा श्रेय प्राप्त है और इसके लिये मैं उक्त दोनों सज्जनों को शुद्ध हृदय से धन्यवाद देता हूँ। इनके अतिरिक्त स्वर्गीय पंडित बालकृष्ण भट्ट, स्वर्गीय बाबू जगन्मोहन वर्म्मा, स्वर्गीय बाबू अमीर सिंह तथा लाला भगवानदीन जी को भी मैं बिना धन्यवाद दिए नहीं रह सकता। उन्होंने इस कोश के संपादन में बहुत कुछ काम किया है और उनके उद्योग तथा परिश्रम से इस कोश के प्रस्तुत करने में बहुत सहायता मिली है। जिन लोगों ने आरंभ में शब्द संग्रह आदि या और कामों में किसी प्रकार से मेरी सहायता की है वे भी धन्यवाद के पात्र हैं।

इनके अतिरिक्त अन्य विद्वानों, सहायकों तथा दानी महानुभावों के प्रति भी मैं अपनी तथा सभा की कृतज्ञता प्रकट करता हूँ जिन्होंने किसी न किसी रूप में इस कार्य्य को अग्रसर तथा सुसंपन्न करने में सहायता की है, यहाँ तक कि जिन्होंने इसकी त्रुटियों को दिखाया है उनके भी हम कृतज्ञ हैं, क्योंकि उनकी कृपा से हमें अधिक सचेत और सावधान हो कर काम करना

पड़ा है। ईश्वर की परम कृपा है कि अनेक विघ्न बाधाओं के समय समय पर उपस्थित होते हुए भी यह कार्य आज समाप्त होगया। कदाचित् यह कहना कुछ अत्युक्ति न समझा जायगा कि इसकी समाप्ति पर जितना आनंद और संतोष मुझको हुआ है उतना दूसरे किसी को होना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। काशी नागरी-प्रचारिणी सभा अपने इस उद्योग की सफलता पर अपने को कृतकृत्य मान कर अभिमान कर सकती है।

काशी
२१-१-१६२६.

श्यामसुंदर दास
प्रधान संपादक।

प्रस्तावना

हिंदी भाषा का विकास

विषय प्रवेश

संसार में जितनी भाषाएँ हैं, उन सबका इतिहास बड़ा ही मनोरंजक तथा चित्ताकर्षक है। परंतु जो भाषाएँ जितनी ही प्राचीन होती हैं और जिन्होंने अपने जीवन में जितने उलट फेर देखे होते हैं, वे उतनी ही अधिक मनोहर और चित्ताकर्षक होती हैं। इस विचार से भारतीय भाषाओं का इतिहास बहुत कुछ मनोरंजक और मनोहर है। भारतवर्ष ने आज तक कितने परिवर्तन देखे हैं, यह इतिहास-प्रेमियों से छिपा नहीं है। राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिवर्तनों का प्रभाव किसी जाति की स्थिति ही पर नहीं पड़ता, अपितु उसकी भाषा पर भी बहुत कुछ पड़ता है। भिन्न भिन्न जातियों का संसर्ग होने पर परस्पर भावों और उन भावों के द्योतक शब्दों का आदान प्रदान होता है, तथा शब्दों के उच्चारण में भी कुछ कुछ विकार हो जाता है। इसी कारण के वशीभूत होकर भाषाओं के रूप में परिवर्तन हो जाता है और साथ ही उनमें नए नए शब्द भी आ जाते हैं। इस अवस्था में यदि वृद्ध भारत की भाषाओं के आरंभ की अवस्था से लेकर वर्तमान अवस्था तक में आकाश पाताल का अंतर हो जाय, तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अब यदि हम इस परिवर्तन का तथ्य जान सकें, तो हमारे लिये यह कितना मनोरंजक होगा, यह सहज ही ध्यान में आ सकता है। साथ ही भाषा अपना आवरण हटाकर अपने वास्तविक रूप का प्रदर्शन उसी को कराती है, जो उसके अंग प्रत्यंग से परिचित होने का अधिकारी है। इस प्रकार का अधिकार उसी को प्राप्त होता है जिसने उसके विकास का क्रम भली भाँति देखा है।

भाषाओं में निरंतर परिवर्तन होता रहता है जो उनके इतिहास को और भी जटिल, पर साथ ही मनोहर, बना देता है। भाषाओं के विकास की साधारणतः दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—एक वियोगावस्था और दूसरी संयोगावस्था। वियोगावस्था में सब शब्द अपने अपने वास्तविक या आरंभिक रूप में अलग अलग रहते हैं, और प्रायः वाक्यों में उनके आसत्ति, योग्यता, आकांक्षा अथवा स्वराघात से उनका पारस्परिक संबंध प्रकट होता है। क्रमशः परिवर्तन होते होते कुछ शब्द तो अपने आरंभिक रूप में रह जाते हैं और कुछ परिवर्तित होकर प्रत्यय, विभक्ति आदि का काम देने लगते हैं। फिर ये प्रत्यय आदि घिस घिसाकर मूल शब्द के साथ ऐसे मिल जाते हैं कि उनका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह जाता। अर्थात् जो शब्द पहले स्वतंत्र रहकर वाचक थे, वे अब संक्षिप्त तथा विकृत रूप धारण करके द्योतक मात्र रह जाते हैं। इस प्रकार भाषाएँ वियोगावस्था से संयोगावस्था में आ जाती हैं। पर जैसे जातियों की स्थिति में परिवर्तन होता रहता है, वैसे ही भाषाएँ भी एक अवस्था से दूसरी अवस्था में जाती रहती हैं। हमारा विषय भाषाओं का विवरण उपस्थित

करना नहीं है, हमें तो केवल इस बात पर विचार करना है कि हमारी हिंदी भाषा का कैसे विकास हुआ है। अतएव पहले हम भारतीय भाषाओं का प्राचीन अवस्था से लेकर अब तक का संक्षिप्त इतिहास देकर तब मुख्य विषय पर आवेंगे।

प्राचीन आर्यों की भाषाएँ—वैदिक, संस्कृत

प्राचीन आर्यों की भाषा का वास्तविक रूप क्या था, इसका पता लगना बहुत कठिन है। उस प्राचीन भाषा की कोई पुस्तक या लेख आदि नहीं मिलते। आर्य जाति की सबसे प्राचीन पुस्तक, जो इस समय प्राप्त है, ऋग्वेद है। इसकी ऋचाओं की रचना भिन्न भिन्न समयों और भिन्न भिन्न स्थानों में हुई है। किसी में कंधार में बसनेवाले आर्य-समूह के राजा दिवोदास का उल्लेख है, तो किसी में सिंधु नद के किनारे बसे हुए आर्यों के राजा सुदास का। अतएव वेदों में दिवोदास तथा सुदास के समयों के बने हुए मंत्रों का समावेश है। साथ ही कुछ मंत्र कंधार में रचे गए, कुछ सिंधु के किनारे, और कुछ यमुना-तटों पर। पीछे से जब सब मंत्रों का संपादन करके उनका क्रम लगाया गया, तब रचना-काल और रचना स्थान का ध्यान रखकर यह कार्य नहीं किया गया। यदि उस समय इन दोनों बातों का ध्यान रखा जाता तो हम अत्यंत सुगमता से प्राचीन-तम भाषा का नमूना उपस्थित कर सकते। फिर भी ध्यान देने से मंत्रों की भाषा में विभेद देख पड़ता है। इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन समय में जब आर्य सप्त-सिंधु प्रदेश में थे, तभी उनकी बोल चाल की भाषा ने कुछ कुछ साहित्यिक रूप धारण कर लिया था, पर तो भी उसमें अनेक भेद बने रहे। वेदों के संपादन-काल में मंत्रों का भाषा-विभेद बहुत कुछ दूर किया गया। तिस पर भी यह स्पष्ट है कि वेदों की भाषा पर उस समय की कुछ प्रांतीय अथवा देश-भाषाओं का पूरा पूरा प्रभाव पड़ा था। केवल अनेक व्यक्तियों के अनेक प्रकार के उच्चारणों के कारण ही यह भेद नहीं हुआ था, अपितु देशी या अन्यान्य शब्दों का संमिश्रण भी इसका एक प्रधान कारण था।

ज्यों ज्यों आर्यगण अपने आदिम स्थान से फैलने लगे और तत्कालीन अनार्यों से संपर्क बढ़ाने लगे, त्यों त्यों भाषा भी विशुद्ध न रह कर मिश्रित होने लगी। विभिन्न स्थानों के आर्य विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। कोई क्षुद्रक (छोटा) कहता था तो कोई क्षुल्लक। "तुम दोनों" के लिए कोई 'युवा' बोलते थे, कोई "युवं" और कोई केवल "वां"। पश्चात् पश्चा, युष्मासु युष्मे, देवाः देवासः, श्रवणा श्रोणा, अवद्योतयति अवज्योतयति, देवैः देवेभिः आदि आदि अनेक रूप बोले जाते थे। कुछ लोग विभक्ति न लगाकर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे (यथा परमे व्योमन्) तो कुछ शब्द के ही अंग भंग करने पर सन्नद्ध थे। "आत्मना" का "त्मना" इसका अच्छा निदर्शन है। कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप में बोलता तो दूसरा दूसरे रूप में। एक "ड" भिन्न भिन्न स्थलों में ल, ळ, ढ, ल्ह, सभी बोला जाता। यों ही अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं। इस प्रकार जब विषमता उत्पन्न हुई और एक स्थल के आर्यों को अन्य स्थल के अधिवासी अपने ही सजातियों की बोली समझने में कठिनता होने लगी, तब उन लोगों ने मिलकर अपनी भाषा में व्यवस्था करने का उद्योग किया। प्रांतीयता का मोह छोड़कर सार्वदेशिक, सर्वबोध्य और अधिक प्रचलित शब्द ही टकसाली माने गए। भाषा प्रादेशिक से राष्ट्रीय बन गई। अपनी अपनी डफली अपना अपना राग बंद हुआ। सभी कम से कम साहित्यिक और सार्वजनिक व्यवहारों में टकसाली भाषा का प्रयोग करने लगे, इसलिये भाषा भी मँज सँवरकर संस्कृत (=शुद्ध) हो गई। जो स्थान आजकल हमारी हिंदी को प्राप्त है, एवं प्राकृत-काल में जो महाराष्ट्री को प्राप्त था, वही स्थान उस समय संस्कृत का था। आर्याधिष्ठित सभी प्रदेशों में यह बोली और समझी जाती थी। जो लोग इसे नहीं बोल सकते थे, वे समझ अवश्य लेते थे। आज भी खड़ी बोली बोलनेवाले नागरिक और अपनी ठेठ हिंदी का ठाठ दिखानेवाले देहाती के संवाद में वही झुटपुटी झलक रहती है। अतः जो लोग यह कहते हैं कि संस्कृत कभी बोलचाल की भाषा थी ही नहीं, वह तो केवल ब्राह्मणों की गढ़ी, यज्ञ में बोली जानेवाली

पाधा पुरोहितों की बोली—क्या ठठोली—थी, उनको इसपर विचार करना चाहिए। पाणिनि मुनि ने शब्दानुशासन किया है, शब्दशासन नहीं। शब्दों पर शासन करते हैं—वक्ता, लेखक और कवि। वैयाकरण बेचारा तो उन्हीं के राज्य में रहकर केवल लेखा लिया करता है। इसलिये पाणिनि ने जो अपने व्याकरण में खेती पाती, लेन देन, वणिज, व्यापार, चुंगी, झरी, कर पोत, लुहारी, सुनारी, बढ़ईगिरी, ढोल ढमका, चिड़िया चुनमुन, फूल-पत्ती, नाप जोख आदि आदि के अतिरिक्त पूर्वी उत्तरी प्रयोग, मुहाविरे बोलचाल आदि लिखे हैं, कात्यायन तथा पतंजलि ने जो अनेक व्यवहार-साक्षिक सूक्ष्म विवेचन किए है, वे उनके मन के मनसूबे नहीं, किंतु गंभीर गवेषणा सारवान् सर्वेक्षण, व्यापक विचार और उस व्याकरण-पटुता के परिणाम हैं जो अभी अभी थोड़े ही दिन हुए अंग्रेजी जैसी समृद्ध राजभाषा में फलीभूत हुए हैं। पहले संस्कृत शब्द विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता था। "संस्कृता वाक्"* ठीक उसी भाषा को कहते थे जिसे उर्दू वाले "शुस्ता ज़ुबान" या अंग्रेजी दाँ 'Refined Speech' कहते है। प्रत्येक भाषा यदि वह व्यवहारक्षम, शिष्टप्रयुक्त और व्यापक है तो समय पाकर संस्कृत बन जाती है। हमारी आज की हिंदी यदि संस्कृत कही जाय तो कोई अनुचित नहीं। पीछे जैसे "उर्दू हिंदी" से केवल "उर्दू" रह गई, वैसे ही "संस्कृत वाक्" से केवल संस्कृत शब्द ही उस विशिष्ट भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा। सुंदर, व्यापक और सर्वगम्य होने के कारण साहित्य-रचना इसी में होने लगी; एवं उसका तात्कालिक रूप आदर्श मानकर व्यवस्था अक्षुण्ण रखने के लिये पाणिनि आदि वैयाकरणों ने नियम बनाए। इस प्रकार साहित्यकारों की कृति और वैयाकरणों की व्याकृति से संस्कृत परिष्कृत होकर बहुत दिनों तक अखंड राज्य करती रही।

सब दिन बराबर नहीं जाते। संस्कृत सर्व-गुण-संपन्न थी सही, पर धीरे धीरे उसका चलन कम होने लगा। वह राष्ट्रीय से सांप्रदायिक हो चली। इसके कई कारण थे। एक तो वह सर्व-साधारण की भाषा न होने के कारण प्रयोक्ता के मुख अथवा लेखनी से प्रत्येक भाव की अभिव्यक्ति के लिये अबुद्धि पूर्व न निकलकर उसकी अभिज्ञता की अपेक्षा रखती थी। दूसरे, इसके प्रयोगकर्ता आर्यजन किसी एक प्रदेश में ही अवरुद्ध न होकर उत्तरोत्तर अपना विस्तार करते, अन्य भाषा-भाषियों से संपर्क बढ़ाते तथा नित्य नए भावों और उनके अभिव्यंजक साधनों का आदान प्रदान करते जाते थे। तीसरा और सबसे प्रधान कारण धार्मिक विप्लव था। महावीर स्वामी और बुद्धदेव ने प्रांतीय बोलियों में ही अपना धर्मोपदेश आरंभ किया। साधारण जनता पर इसका अत्यधिक प्रभाव पड़ा। उनके बहुत से अनुयायी हो गए। उनका धर्म भी भिन्न हो गया, भाषा भी भिन्न हुई। इस प्रकार इन दो धर्म-संस्थापकों का आश्रय पाकर प्रांतीय बोलियाँ भी चमक उठीं और संस्कृत से बराबरी का दावा करने लगीं। उधर वैदिक धर्मानुयायी और अधिक दृढ़ता से अपनी भाषा की रक्षा करने लगे। इसका फल यह हुआ कि संस्कृत एक संप्रदाय की भाषा बन गई।

हम पहले कह चुके हैं कि वेदों की भाषा कुछ कुछ व्यवस्थित होने पर भी उतनी स्थिर और अपरिवर्तनशील न थी जितनी उसकी कन्या संस्कृत, पूर्वोक्त कारणों के अनुसार, बन गई। अपनी योग्यता से उसने अमरवाणी का पद तो पाया, पर आगे कोई न होने के कारण उसकी वह अमरता एक प्रकार का भार हो गई। उधर उसकी दूसरी बहन जो रानी न बनकर प्रजापक्ष के हितचिंतन में निरत थी, जो केवल आर्यों के अवरोध में न रहकर अन्य अनार्य रमणियों से भी स्वतंत्रतापूर्वक मिलती जुलती थी, संतानवती हुई। उसका वंश बराबर चलता आ रहा है। संतानवती होने के कारण उसने अपनी माता से समय समय पर जो संपत्ति प्राप्त की, वह निःसंतान संस्कृत को न मिल सकी। यदि रूपक का परदा हटा कर सीधे शब्दों में कहें तो बात यह हुई कि वेदकालीन कथित

---

* यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम्।
रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥
वा० रा०, सुं० ३०।१८।

भाषा से ही संस्कृत भी उत्पन्न हुई और अनार्यों के संपर्क का सहकार पाकर अन्य प्रांतीय बोलियाँ भी विकसित हुईं। संस्कृत ने केवल चुने हुए प्रचुरप्रयुक्त व्यवस्थित व्यापक शब्दों से ही अपना भांडार भरा, पर औरों ने वैदिक भाषा की प्रकृति-स्वच्छंदता को भरपेट अपनाया। यही उनके प्राकृत (स्वाभाविक या अकृत्रिम) कहलाने का कारण है, यही उनमें वैदिक भाषा की उन विशेषताओं के उपलब्ध होने का रहस्य है जो संस्कृत में कहीं देख नहीं पड़ती। वैदिक भाषा की विशेषताएँ संस्कृत में न मिलकर प्राकृतों में ही उपलब्ध होती हैं। इस विषय में थोड़े से उदाहरणों का निर्देश करना अप्रासगिक न होगा।

प्राकृत में व्यंजनांत शब्द का प्रायः प्रयोग नहीं होता। संस्कृत के व्यंजनांत शब्द का अंतिम व्यंजन प्राकृत में लुप्त हो जाता है। जैसे—संस्कृत के 'तावत्' 'स्यात्' "कर्मन्" प्राकृत में क्रमशः 'ताव' 'सिया' 'कम्मा' हो जायँगे। प्राकृत में यह निरपवाद है। अब वैदिक भाषा लीजिए। उसमें दोनों प्रकार के प्रयोग मिलते हैं। कर्मणः कर्मणा आदि भी और देवकर्मेभिः (ऋ० १०। १३०। १) भी; पश्चात् (अथ० ४। १०। ३) भी और पश्चा (अथ० १०। ४। ११।, शत० ब्रा० १। १। २। ५) भी; (प्राकृत में इसी से 'पच्छा' और हिंदी में 'पाछ' या 'पाछा' निकलता है) युष्मान् (ऋ० १। १६१। १४, तै० सं० १। १। ५) भी और युष्मा (वा० सं० १। १३। १, श० ब्रा० १। २। ६) भी; उच्चात् के स्थान में उच्चा (तै० सं० २। ३। १४) और नीचात् के स्थान में नीचा (तै० सं० १। २। १४) भी। पर संस्कृत में इस प्रकार व्यजन का लोप नहीं होता। 'पश्चार्ध' शब्द का प्रयोग देखकर कात्यायन को एक नया वार्तिक कहना पड़ा। प्राकृत में संयुक्त वर्णों में से एक का लोप कर पूर्ववर्ती ह्रस्व स्वर को दीर्घ कर दिया करते हैं। जैसे—कर्तव्य=कातव्व, निश्वास = नीसास, दुहरि = दूहार, (हिंदी-घर्म=घाम, चर्म=चाम, दुर्लभ=दूलह, भिल्ल=भील, शुष्क=सूखा, मुद्ग=मूँग, निम्ब=नीम, इत्यादि)। वैदिक भाषा में भी ऐसा होता है—दुर्दभ=दूडभ, (वा० सं० ३। ३६, ऋ० ४। ६। ८) दुर्णाश=दूणाश (शु० य० प्रातिशा० ३। ४३।)। स्वरभक्ति का प्रयोग दोनों भाषाओं में प्रचुरता से होता है। प्राकृत—क्लिन्न=कलिन्न, स्व=सुव, हिंदी-मिश्र=मिसिर, धर्म=धरम, गुप्त=गुपुत, ग्लास=गिलास; वैदिक—तन्वः= तनुवः (तैत्ति० आर० ७। २२। १), स्वः=सुवः (तैत्ति० आर० ६। २। ७) स्वर्गः=सुवर्गः (तैत्ति० सं० ४। २। ३, मैत्र० ब्रा० १। १। १), रात्र्या=रात्रिया, सहस्र्यः=सहस्रियः इत्यादि। दोनों ही में पदगत किसी वर्ण का लोप करके उसे फिर संकुचित कर देते हैं। प्राकृत—राजकुल=राउल (मि० पु० हिं० राउर), कालायस=कालास इत्यादि; वैदिक—शतक्रतवः=शतक्रत्वः, पशवे=पश्वे, निविविशिरे= निविविश्रे, इत्यादि। शौरसेनी प्राकृत में अकारांत शब्द प्रथमा के एकवचन में ओकारांत हो जाता है। जैसे देवः= देवो, सः=सो, इत्यादि। वैदिक भाषा में भी ऐसा प्रयोग दुर्लभ नहीं। सः चित्=सो चित् (ऋ० १। १६। १), संवत्सरः अजायत=संवत्सरो अजायत इत्यादि। इस बात की पुष्टि में और भी बहुत से उदाहरण दिए जा सकते हैं कि प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं। यद्यपि लोगों ने समय समय पर प्राकृत को नियमित और बद्ध करने का प्रयत्न किया, तथापि बोलचाल की उस भाषा का प्रवाह ज्यों का त्यों चलता रहा, उसमें कोई रुकावट न हो सकी। यही 'प्राकृत' अथवा बोल चाल की आर्य-भाषा क्रमशः आधुनिक भारतीय देश भाषाओं के रूपों में प्रकट हुई।

जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, आरंभ से ही जन साधारण की बोलचाल की भाषा प्राकृत थी। बोलचाल की भाषा के प्राचीन रूप के ही आधार पर वेद मंत्रों की रचना हुई थी और उसका प्रचार ब्राह्मण ग्रंथों तथा सूत्र ग्रंथों तक में रहा। पीछे से वह परिमार्जित होकर संस्कृत रूप में प्रयुक्त होने लगी। बोलचाल की भाषा का अस्तित्व नष्ट नहीं हुआ, वह भी बनी रही; पर इस समय हमें उसके प्राचीनतम उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। उसका सबसे प्राचीन रूप जो इस समय हमें प्राप्त है, वह अशोक के लेखों तथा प्राचीन बौद्ध और जैन ग्रंथों में है। उसी को हम प्राकृत का प्रथम रूप मानने के लिये बाध्य

होते हैं। उस रूप को 'पाली' नाम दिया गया है। यह नाम भाषा के साहित्यारूढ़ होने के पीछे का है। पहले त्रिपिटक की मूल पंक्तियों के लिये इसका प्रयोग होता था। है भी यह पंक्ति शब्द से ही निकला हुआ। 'पंक्ति' से 'पंत्ति' और 'पत्ती' (दे० धेनुपत्ती, विदग्धमाधव पृ०१८) पत्ती से पट्टी, (इसका प्रयोग कतार के अर्थ में अब भी होता है) पट्टी से पाटी और उससे पाली। इस पाली को तंत्ति, मागधी या मागधी निरुक्ति भी कहते थे। पर यह मागधी अर्वाचीन मागधी से बहुत भिन्न थी। यही उस समय बोलचाल की भाषा थी। बुद्धदेव यही बोलते थे। बौद्ध इसी को आदि भाषा मानते और बड़े गर्व से पढ़ा करते हैं—

'सा मागधी मूलभाषा नरायायादिकप्पिका।
ब्राह्मणों च स्सुतालापा संबुद्धा चापि भासिरे॥'

'आदि कल्प में उत्पन्न मनुष्यगण, ब्रह्मगण, संबुद्धगण एवं वे व्यक्तिगण जिन्होंने कभी कोई शब्दालाप नही सुना, जिसके द्वारा भाव प्रकाशन किया करते थे वही मागधी भाषा मूल भाषा है।' वैदिक भाषा में नहीं किंतु इसी भाषा में बुद्धदेव अपना धर्मचक्र प्रवर्तन करना चाहते थे, इस संबंध में विनयपिटक में एक कहानी है। उसमें लिखा है— अमेल और उतेकुल नाम के दो ब्राह्मण भ्राता भिक्षु थे। उन्होंने एक दिन बुद्धदेव से निवेदन किया कि भगवन् ! इस समय भिन्न भिन्न नाम गोत्र और जाति-कुल के प्रव्रजित अपनी अपनी भाषा में कहकर आपके वचन दूषित कर रहे हैं। हम उन्हें छंद (=वेदभाषा=संस्कृत) में परिवर्तित करना चाहते हैं। बुद्धदेव ने उनका तिरस्कार कर कहा–"भिक्षुओ ! बुद्ध-वचन को छंद में कभी परिणत न करना। जो करेगा, वह दुष्कृत का अपराधी होगा। हे भिक्षुगण ! बुद्धवचन को अपनी ही भाषा में ग्रहण करने की मैं अनुज्ञा करता हूँ।" "अपनी भाषा" से बुद्धघोष ने यहाँ मागधी भाषा ली है। इससे प्रतीत होता है कि बुद्धदेव जान बूझकर संस्कृत का वर्जन करना चाहते थे और अपना धर्म देशभाषा ही के द्वारा फैलाना चाहते थे। उसके अनंतर मध्य काल की प्राकृत और अंत में उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश का समय आता है। इसी उत्तर काल की प्राकृत या अपभ्रंश के अनतर् आधुनिक देश भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ है।

जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, पहली प्राकृत या पाली के उदाहरण हमें प्राचीन बौद्ध ग्रंथों तथा शिलालेखों में मिलते है। शिलालेखों में अशोक के लेख बड़े महत्व के हैं। ये खरोष्ठी और ब्राह्मी दो लिपियों में लिखे हुए मिलते हैं। शहबाजगढ़ी और मानसेरा के लेख तो खरोष्ठी में लिखे हुए हैं और शेष सब ब्राह्मी लिपि में हैं। इन सब लेखों का विवेचन करने पर यह स्पष्ट प्रकट होता है कि अशोक के समय में कम से कम चार बोलियाँ प्रचलित थीं। उनमें से सबसे मुख्य मगध की पाली थी, जिसमें पहले पहल ये लेख लिखे गए होंगे, और उन्हीं के आधार पर गिरनार, जौगढ़ तथा मानसेरा के लेख प्रस्तुत किए गए होंगे। यद्यपि एक ओर शहबाजगढ़ी और गिरनार के लेखों की भाषा में और दूसरी ओर मानसेरा, धौली, जौगढ़ आदि के लेखों की भाषा में बहुत कुछ समानता देख पड़ती है, और इसी समानता के आधार पर कुछ विद्वानों ने यह माना है कि अशोक के समय की पाली दो मुख्य भागों में विभक्त हो सकती है, तथापि इनमें विभिन्नता भी कम नहीं है। अतएव इन्हें एक ही कहना ठीक नहीं।

पहली प्राकृत या पाली

पाली के अनंतर हमें साहित्यिक प्राकृत के दर्शन होते हैं। इसके चार मुख्य भेद माने गए हैं—महाराष्ट्री, शौरसेनी, मागधी और अर्द्ध-मागधी। इनमें से महाराष्ट्री सब से प्रधान मानी गई है। प्राकृत के वैयाकरणों ने महाराष्ट्री के विषय में विशेष रूप से लिखा है; और दूसरी प्राकृतों के विशेष नियम देकर यही लिख दिया है कि शेष सब बातें महाराष्ट्री के समान हैं। प्राकृत का अधिकांश साहित्य भी महाराष्ट्री में ही लिखा मिलता है। एक प्रकार से महाराष्ट्री उस समय राष्ट्र भर की भाषा थी; इसलिये महाराष्ट्र शब्द समस्त राष्ट्र का बोधक भी माना जा सकता है। शौरसेनी मध्य देश की प्राकृत है और शूरसेन देश (आधुनिक व्रज मंडल) में इसका प्रचार होने के कारण

दूसरी प्राकृत

यह शौरसेनी कहलाई। मध्य देश में ही साहित्यिक संस्कृत का अभ्युदय हुआ था, और यहीं की बोलचाल की भाषा से साहित्य की शौरसेनी प्राकृत का जन्म हुआ। अतएव यह अनिवार्य था कि इस प्राकृत पर संस्कृत का सब से अधिक प्रभाव पड़ता। इसी कारण शौरसेनी प्राकृत और संस्कृत में बहुत समानता देख पड़ती है। मागधी का प्रचार मगध (आधुनिक बिहार) में था।

प्राचीन काल में कुरु पंचाल तथा पश्चिम के अन्य लोग कोशल (अवध), काशी (बनारस के चारों ओर), विदेह (उत्तर बिहार) और मगध तथा अंग (दक्षिण बिहार) वालों को प्राच्य कहते थे। अब भी दिल्ली मेरठ आदि के रहनेवाले इधरवालों को पूर्बिया और यहाँ की भाषा को पूरबी हिंदी कहा करते हैं। इन्हीं प्राच्यों की प्राच्या भाषा का विकास दो रूपों में हुआ। एक पश्चिम प्राच्या, दूसरी पूर्व प्राच्या। पश्चिम प्राच्या का अपने समय में बड़ा प्रचार था, पर पूर्व प्राच्या एक विभाग मात्र की भाषा थी। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार हम पश्चिम प्राच्या को अर्ध-मागधी और पूर्व प्राच्या को मागधी कह सकते हैं। यह प्राचीन अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी, अतः बुद्धदेव की यही मातृ-भाषा थी। इसी से मिलती जुलती भारतवर्ष के पूर्व-खंडवासी आर्यों की भाषा थी जिसमें महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव ने धर्मोपदेश किया था और जिसका उस समय के राजकुल तथा राजशासन में प्रयोग होता था। मध्य तथा पूर्व देशों में उपलभ्यमान अशोक सम्राट् के शिलालेखों में प्रयुक्त उसके राजकुल की भाषा में भी इसकी बहुत सी विशेषताएँ पाई जाती हैं। उस समय राजभाषा होने के कारण इसका प्रभाव आज कल अंग्रेजी की तरह प्रायः समस्त भारतीय भाषाओं पर था। इसी से इस अर्ध-मागधी की छाप गिरनार, शहबाजगढ़ी तथा मानसेरा के लेखों पर भी काफी पाई जाती है। पिपरहवा का पात्र-लेख, सोहगौरा का शिलालेख तथा अशोक की पूर्वीय धर्मलिपियाँ एवं मध्य-एशिया में प्राप्त बौद्ध संस्कृत नाटक के लुप्तावशिष्ट अंश-इसके प्राचीनतम प्रयोगस्थल हैं। जैनों के "समवायंग" में लिखा है कि महावीर स्वामी ने अर्ध-मागधी में धर्मोपदेश किया और वह भाषा प्रयोग में आते आते सभी आर्य, अनार्य, द्विपद, चतुष्पद, मृग, पशु, पक्षी, कीट, पतंग के हित, कल्याण तथा सुख के लिये परिवर्त्तित होती गई। अर्थात् इसी मूल भाषा से प्राणिमात्र की भाषा का जन्म हुआ। जान पड़ता है कि महावीर स्वामी ने इस भाषा को सर्व-बोध्य बनाने के लिये तत्काल प्रचलित अन्य भाषाओं के सुप्रसिद्ध शब्दों का भी इसमें यथेष्ट सन्निवेश किया, जैसे कि आज कल के रमते साधु लोग भी धर्मोपदेश में ऐसी ही खिचड़ी भाषा का प्रयोग किया करते हैं। ऊपर के अर्थवाद का रहस्य तथा अर्ध-मागधी नाम का अभिप्राय यही है। मागधी तो थी ही, अन्य भाषाओं के मेल से वह पूरी मागधी न रही, अर्ध-मागधी हो गई। इसी अर्ध-मागधी से अर्ध-मागधी अपभ्रंश और उससे आज कल की पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी, बघेली तथा छत्तीसगढ़ी निकली हैं।

अर्ध-मागधी कोशल में बोली जाती थी और कोशल शूरसेन तथा मगध के बीच में पड़ता है। अतः यह अनुमान हो सकता है कि वह शौरसेनी और मागधी के मिश्रण से बनी होगी; पर वास्तव में यह बात नहीं है। अनेक अंशों में वह मागधी और महाराष्ट्री प्राकृतों से मिलती है और कुछ अंशों में उसका इनसे विभेद भी है, पर शौरसेनी से उसका बहुत विभेद है। क्रमदीश्वर ने संक्षिप्तसार (५।९८) में स्पष्ट ही लिखा है—"महाराष्ट्री मिश्रार्ध मागधी" अर्थात महाराष्ट्री के मेल से अर्धमागधी हुई। आधुनिक देश-भाषाओं के विचार से पश्चिमी हिंदी और बिहारी के बीच की भाषा पूर्वी हिंदी है और उसमें दोनों के अंश वर्त्तमान हैं। आधुनिक भाषाओं के विवेचन के आधार पर अंतरंग, बहिरंग और मध्यवर्ती भाषाओं के ये तीन समूह नियत किए गए हैं। यदि हम अर्ध मागधी को मध्यवर्ती भाषाओं की स्थानापन्न मान लें, तो प्राकृत काल की भाषाओं का विभाग इस प्रकार होगा—

बहिरंग प्राकृत—महाराष्ट्री और मागधी।

मध्यवर्ती प्राकृत—अर्ध-मागधी।

अंतरंग प्राकृत—शौरसेनी।

अनेक विद्वानों ने पैशाची भाषाओं को भी प्राकृतों में गिना है। वररुचि ने प्राकृतों के अंतर्गत चार भाषाएँ गिनाई हैं—महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी। हेमचंद्र ने केवल तीन प्रकार की प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—आर्ष अर्थात् अर्धमागधी, चूलिका-पैशाचिका और अपभ्रंश। दूसरी भाषा का दूसरा नाम भूतभाषा भी है, जो गुणाढ्य की 'बड्डकथा' (बृहत्कथा) से अमर हो गई है, पर यह ग्रंथ इस समय नहीं मिलता। हाँ, दो काश्मीरी पंडितों, क्षेमेंद्र और सोमदेव के किए हुए इसके संस्कृत अनुवाद अवश्य मिलते हैं। काश्मीर का उत्तरी प्रांत पिशाच या पिशाश (कच्चा मांस खानेवाला) देश कहलाता था, और कश्मीर ही में बृहत्कथा का अनुवाद मिलने के कारण पैशाची भाषा वहीं की भाषा मानी जाती है। कुछ लोग इसे पश्चिम-उत्तर प्रदेश की और कुछ राजपूताना और मध्य भारत की भाषा भी मानते है। किंतु प्राचीन ग्रंथों में पिशाच के नाम से कई देश गिनाए गए हैं—

पैशाची प्राकृत

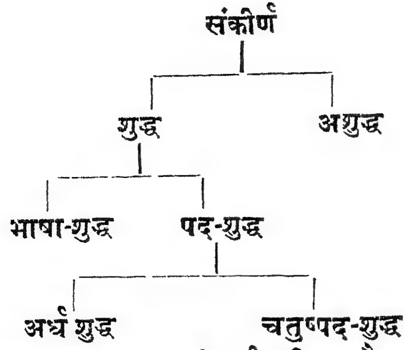
> पाण्ड्य केकय बाह्लीक सिंह नेपाल कुन्तलाः
> सुदेष्ण-बोट-गन्धार-हैव कन्नोजनास्तथा ।
> एते पिशाच देशाःस्युस्तद्देश्यस्तद्गुणोभवेत् ॥

इसमें कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक न हो सकी। मार्कंडेय ने अपने व्याकरण 'प्राकृतसर्वस्व' में पैशाची के जो नियम लिखे हैं, उनमें से एक है—"पञ्चस्वाद्ययावितरयोः"। इसका अर्थ है—पाँचो वर्गों में तृतीय और चतुर्थ वर्णों के स्थान में प्रथम और द्वितीय वर्ण होते हैं। इसका प्रवृत्ति पंजाबी भाषा में देख पड़ती है। उसमें साधारणतः लोग भाई का पाई, अध्यापक का हत्तापक, घर का कर, धन्य का तन्न या इससे कुछ मिलता जुलता उच्चारण करते हैं। उसमें एक और नियम "युक्त विकर्षो बहुलम् (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) भी देख पड़ता है। कसट, सनान, परस, पतनी आदि उदाहरण पजाबी में दुर्लभ नहीं। इससे जान पड़ता है कि चाहे पैशाची पंजाब की भाषा न भी रही हो, पर उसका प्रभाव अवश्य पंजाबी पर पड़ा है।

राजशेखर ने, जो विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी के मध्य भाग में था, अपनी काव्यमीमांसा में एक पुराना श्लोक उद्धृत किया है जिसमें उस समय की भाषाओं का स्थल-निर्देश है—गौड़ (बंगाल) आदि संस्कृत में स्थित हैं, लाट (गुजरात) देशियों की रुचि प्राकृत में परिमित है, मरूभूमि, टक्क (टाँक, दक्षिण पश्चिमी पंजाब) और भादानक (संभवतः यह राजपूताना का कोई प्रांत था) के वासी भूत भाषा की सेवा करते है, जो कवि मध्य देश (कन्नौज, अंतर्वेद, पंचाल आदि) में रहता है, वह सर्व भाषाओं में स्थित है। इससे उस समय किस भाषा का कहाँ अधिक प्रचार था, इसका पता चल जाता है। मार्कंडेय और रामशर्मा ने अपने व्याकरणों में इस भाषा का विशेष रूप से उल्लेख किया है। डाक्टर ग्रियर्सन ने अपने एक लेख में रामशर्मा के प्राकृत-कल्पतरु के उस अंश का विशेष रूप से वर्णन किया है, जिसमें पैशाची भाषा का विवरण है। उस लेख में बतलाया गया है कि रामशर्मा के अनुसार पैशाची या पैशाचिका भाषा के दो मुख्य भेद हैं—एक शुद्ध और दूसरा संकीर्ण। पहली तो शुद्ध पैशाची, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट होता है, और दूसरी मिश्र पैशाची है। पहली के सात और दूसरी के चार उपभेद गिनाए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) कैकेय पैशाचिका,
(२) शौरसेनी पैशाचिका,
(३) पांचाल पैशाचिका,
(४) गौड़ पैशाचिका,
(५) मागध पैशाचिका,
(६) व्राचड़ पैशाचिका
(७) सूक्ष्म भेद पैशाचिका।

संकीर्ण पैशाचिका पहले दो प्रकार की कही गई है—शुद्ध और अशुद्ध, फिर शुद्ध के दो उपभेद किए गए हैं—एक भाषा-शुद्ध और दूसरी पद-शुद्ध। पद-शुद्ध पैशाचिका के पुनः दो भेद किए गए हैं—अर्ध-शुद्ध और चतुष्पद शुद्ध। संक्षेप में इस पैशाचिका के भेद और उपभेद इस प्रकार हैं—



ऊपर हम प्राकृत की पूर्वकालिक और मध्य-कालिक अवस्थाओं का विवेचन कर चुके हैं। यह एक निर्विवाद सिद्धांत है कि बोलचाल की भाषा में जितना शीघ्र परिवर्त्तन होता है, उतना शीघ्र साहित्य की भाषा में नहीं होता। जब प्राकृत ने साहित्य में पूर्णतया प्रवेश पा लिया और वह शिष्ट लोगों के पठन पाठन तथा ग्रंथ-निर्माण की भाषा हो गई, तब बोलचाल की भाषा अपनी स्वतंत्र धारा में बहती हुई जन-समुदाय के पारस्परिक भाव-विनिमय में सहायता देती रही। इसी बोलचाल की भाषा को वैयाकरणों ने 'अपभ्रंश' नाम दिया है। भामह और दंडी के उल्लेख तथा वल्लभी के राजा धरसेन के शिलालेख से पता लगता है कि ईसा की छठी शताब्दी में 'अपभ्रंश' नाम की भाषा में कुछ न कुछ साहित्यिक रचना होने लगी थी। यों तो ईसा की दूसरी या तीसरी शताब्दी में लिखित पउमचरिअ नामक प्राकृत ग्रंथ में भी अपभ्रंश के कुछ लक्षण मिलते हैं; पर और पोषक प्रमाण न मिलने के कारण विद्वान् 'अपभ्रंश' की इतनी प्राचीनता नहीं स्वीकार करते। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीय' त्रोटक में विक्षिप्त पुरूरवा की उक्ति में छंद और रूप दोनों के विचार से कुछ कुछ अपभ्रंश की छाया देख पड़ती है और इसलिये अपभ्रंश का काल और भी दो सौ वर्ष पहले चला जाता है; पर उसमें अपभ्रंश के अत्यंत साधारण लक्षण—जैसे, पदांतर्गत 'म' के स्थान में 'वँ' और स्वार्थिक प्रत्यय-इल्ल-अल्ल तथा 'ड' न मिलने के कारण उसे भी जाकोबी आदि बहुत से विद्वान् पाठांतर या प्रक्षिप्त मानते हैं। जो कुछ हो, पर यह कहने में कोई संकोच नहीं कि अपभ्रंश के बीज ईसा की दूसरी शताब्दी में प्रचलित प्राकृत मे अवश्य विद्यमान थे।

अपभ्रंश

आरंभ में अपभ्रंश शब्द किसी भाषा के लिये नहीं प्रयुक्त होता था। साक्षर लोग निरक्षरों की भाषा के शब्दों को अपभ्रंश, अपशब्द या उपभाषा कहा करते थे। पतंजलि मुनि ने अपभ्रंश शब्द का प्रयोग महाभाष्य में इस प्रकार किया है—भूयांसोऽपशब्दाः अल्पीयांसः शब्दाः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशः। तद्यथा। गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशः। अर्थात् अपशब्द बहुत हैं और शब्द थोड़े हैं। एक एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश पाए जाते हैं; जैसे—गो शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अपभ्रंश हैं। यहाँ अपभ्रंश शब्द से पतंजलि उन शब्दों का ग्रहण करते हैं जो उनके समय में संस्कृत के बदले स्थान स्थान पर बोले जाते थे। ऊपर के अवतरण में जिन अपभ्रंशों का उल्लेख है, उनमें 'गावी' बँगला में गाभी के रूप में और 'गोणी' पाली से होता हुआ सिंधी में ज्यों का त्यों अब तक प्रचलित है। शेष शब्दों का पता अन्वेषकों को लगाना चाहिए। आर्य अपने शब्दों की विशुद्धता के कट्टर पक्षपाती थे। वे पहले अपशब्द ही के लिये म्लेच्छ शब्द का प्रयोग करते थे। पतंजलि ने लिखा है—न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। अर्थात् म्लेच्छन = अपभाषण न करना चाहिए, क्योंकि अपशब्द ही म्लेछ है। अमर ने इसी धातु से उत्पन्न म्लिष्ट शब्द का अर्थ 'अविस्पष्ट' किया है। इससे यह बात सिद्ध होती है कि आर्य शुद्ध उच्चारण करके अपनी भाषा की रक्षा का बड़ा प्रयत्न करते थे; और जो लोग उनके शब्दों का ठीक उच्चारण न कर सकते थे, उन्हें और उनके द्वारा उच्चरित शब्दों को म्लेच्छ कहते थे। म्लेच्छ शब्द उस समय आज कल की भाँति घृणा वा निंदाव्यंजक नहीं था।

अस्तु; जब मध्यवर्ती भाषाओं (पाली, शौरसेनी, तथा अन्य प्राकृतों) का रूप स्थिर होकर साहित्य में अवरुद्ध हो गया एवं संस्कृत के समान शिष्टों के प्रयोग में वह आने लगा, तब साधारण जनता ने फिर प्रचलित तथा प्रादेशिक रूपों को अपनाना आरंभ कर दिया। भारत के

पश्चिम और पश्चिमोत्तर प्रदेशों में उकारान्त संज्ञा शब्द तथा अन्य नए रूप, जो पाँचवीं या छठी शताब्दी में प्रयुक्त नहीं होते थे, प्रचुरता से काम में लाए जाने लगे; और पूर्व-निर्धारित प्राकृतों से भेद करने के लिये इस नवीन लक्षणवती भाषा का नाम अपभ्रष्ट या अपभ्रंश पड़ गया। पहले तो साक्षर इसका आदर नहीं करते थे, पर पीछे इसका भी मान हुआ और इसमें भी प्रचुरता से साहित्य-रचना होने लगी। आज कल जैसे खड़ी बोली की कविता जब छाया की माया में पड़कर दुर्बोध हो चली है, तब साधारण जन अपना मनोरंजन आल्हा, बिरहा, लुरकी, लचारी, चाँचर, रसिया अथवा भैरो की कजली से कर रहे हैं और जैसे इनका प्रचार कहीं ग्राम्यगीतों के संग्रह के रूप में और कहीं भैरो-संप्रदाय के रूप में बढ़ रहा है, ठीक वही दशा उस समय अपभ्रंश की भी थी। हेमचंद्र ने प्राचीन तथा प्रचुरप्रयुक्त पदावली का अनुसरण कर साहित्य में प्रतिष्ठित इस भाषा का व्याकरण भी लिख डाला। इस प्रकार अपभ्रंश, नाटकों की प्राकृतों और आधुनिक भाषाओं के मध्य में वर्त्तमान, सर्वमान्य भाषा हो गई।

गुजरात, राजपूताना तथा मध्यदेश (दोआब) में बोली जानेवाली भाषाओं में ही अपभ्रंश के चिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। दसवीं और परवर्ती शताब्दियों में मध्य-देश की शौरसेनी अपभ्रंश एक प्रकार से समस्त उत्तरापथ की साहित्यिक भाषा रही। मध्य देश तथा गंगा की तराई में प्रतिष्ठित राजपूतों के राज्य तथा उनकी शक्ति ही इसका मूल कारण थी। गुजरात के जैनों ने भी इसकी बड़ी उन्नति की। यह प्रायः एक प्रकार की खिचड़ी भाषा हो गई थी। प्राकृतसर्वस्व में मार्कंडेय ने तीन प्रकार की अपभ्रंशों का निश्चय किया है। पहली नागर अपभ्रंश जो प्रायः राजस्थानी-गुजराती की मूलभूत उन बोलियों पर आश्रित है जिनमें प्रचुरता से शौरसेनी का भी मेल पाया जाता था। दूसरी ब्राचड़ जो सिंध में प्रचलित थी; और तीसरी उपनागर, नागर और ब्राचड़ भाषाओं का मिश्रण थी जिसका प्रचार पश्चिमी राज-पूताने तथा दक्षिणी पंजाब में था। कुछ विद्वानों का यह भी मत है कि जितने प्रकार की प्राकृत थी, उतने ही प्रकार की अपभ्रंश भी थी और देश-भेद के कारण ही उसके भेद उपभेद भी हुए थे। पर उनके उदाहरण नहीं मिलते। पूर्व में अशोक के अनंतर वहाँ की प्रादेशिक भाषा की कुछ भी उन्नति नहीं हुई। कम से कम मागधी की तो नहीं ही हुई। यह एक बहुत ही हीन भाषा मानी जाती थी, जैसा नाटकों में नीच पात्रों के लिये इसके प्रयोग का निर्देश बतलाता है। अर्धमागधी और मागधी के प्रदेशों में भी शौरसेनी ही साहित्य के लिये उपयुक्त समझी जाती थी। अपभ्रंश काल के भी पूरब के कविजन अपनी प्रांतीय विभाषा का प्रयोग न कर शौरसेनी अपभ्रंश ही का प्रयोग करते थे। यह परं-परा बहुत दिनों तक चली। दसवीं से तेरहवीं शताब्दी तक की पुरानी बँगला कविताओं में भी इसी शौरसेनी अपभ्रंश का प्रयोग होता रहा। मिथिला के विद्यापति (१४५० वि०) ने मैथिली के साथ साथ "अवहट्ट" या "अपभ्रष्ट" में भी कविता की। यह 'अवहट्ट' शौरसेनी अपभ्रंश का ही अर्वाचीन रूप था। इधर व्रज भाषा को भी उसी अपभ्रंश की विरासत मिली थी, जिसे अब खड़ी बोलीवाले छीनना चाहते हैं। इस प्रकार यह अपभ्रंश उस समय के समस्त आर्यों की राष्ट्र भाषा थी, जो गुजरात और पश्चिमी पंजाब से लेकर बंगाल तक प्रचलित थी।

पुरानी हिंदी

आगे चलकर प्राकृत की भाँति अपभ्रंश भी व्याकरण के नियमों से जकड़ दी गई और केवल साहित्य में व्यवहृत होने लगी। पर उसका स्वाभाविक प्रवाह चलता रहा। क्रमशः वह भाषा एक ऐसे रूप को पहुँची जो कुछ अंशों में तो हमारी आधुनिक भाषाओं से मिलता है और कुछ अंशों में अपभ्रंश से। आधुनिक हिंदी भाषा और शौरसेनी अपभ्रंश के मध्य की अवस्था कभी कभी 'अवहट्ट' कही गई है। 'प्राकृतपैंगल' में उदाहरण रूप से सन्निविष्ट कविताएँ इसी "अवहट्ट" भाषा में हैं। इसी अवहट्ट को पिंगल भी कहते हैं और राजपूताने के भाट अपनी डिंगल के अतिरिक्त इस पिंगल में भी कविता करते रहे हैं। कुछ

विद्वानों ने इसे 'पुरानी हिंदी' नाम भी दिया है। यद्यपि इसका ठीक ठीक निर्णय करना कठिन है कि इस अपभ्रंश का कब अंत होता है और पुरानी हिंदी का कहाँ से आरंभ होता है, तथापि बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग अपभ्रंश के अस्त और आधुनिक भाषाओं के उदय का काल यथाकथंचित् माना जा सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि पहले मूल भाषा से वैदिक संस्कृत की उत्पत्ति हुई और फिर उसने कट छँट या सुधर कर साहित्यिक रूप धारण किया; पर साथ ही वह बोल-चाल की भाषा भी बनी रही। प्राचीन काल की बोल-चाल की भाषा पहली प्राकृत कहलाई। आगे चलकर वह दूसरी प्राकृत के रूप में परिवर्त्तित हुई, जिसकी तीन अवस्थाओं का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। जब इन भिन्न भिन्न अवस्थाओं की प्राकृतें भी वैयाकरणों के अधिकार में आकर साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब अंत में इस मध्य प्राकृत से तीसरी प्राकृत या अपभ्रंश का उदय हुआ। जब इसमें भी साहित्य की रचना आरंभ हुई, तब बोल-चाल की भाषा से आधुनिक देश-भाषाओं का आरंभ हुआ। ये आधुनिक देश भाषाएँ भी अब क्रमशः साहित्य का रूप धारण करती जाती हैं। इस इतिहास का यहाँ तक विवेचन करके यह कहना पड़ता है कि बोल-चाल की भाषा तथा साहित्य की भाषा में जब विशेष अंतर होने लगता है, तब वे भिन्न भिन्न मार्गों पर लग जाती हैं और उनका पृथक् पृथक् विकास होने लगता है।

आर्यों के सप्तसिंधु में बस जाने के उपरांत उनके वहाँ रहते समय ही उनकी भाषा ने वह रूप धारण किया था, जिसे आजकल लोग प्राचीन संस्कृत कहते हैं। पर उस समय भी उसके कई प्रांतीय भेद और उपभेद थे। आजकल भारतवर्ष में जितनी आर्य भाषाएँ बोली जाती हैं, उन सबकी उत्पत्ति उन्हीं प्रांतीय भेदों और उपभेदों से हुई है। हमारे प्राचीन धर्म-ग्रंथों में जो संस्कृत भाषा मिलती है, उसका विकास भी उन्हीं भेदों से हुआ था।

अंतरंग और बहिरंग भाषाएँ

जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, आधुनिक भारतीय भाषाओं के विवेचन से सिद्ध होता है कि कुछ भाषाएँ तो पूर्वगत आर्यों की भाषाओं से संबंध रखती हैं, जो इस समय भी मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं, और कुछ परागत आर्यों की भाषाओं से संबद्ध हैं। इस आधार पर हार्नले और ग्रियर्सन ने भारत की आधुनिक भाषाओं के दो मुख्य विभाग किए हैं। उनमें से एक विभाग की भाषाएँ तो उन प्रदेशों में बोली जाती हैं जो इस मध्य देश के अंतर्गत हैं; और दूसरे विभाग की भाषाएँ उन प्रदेशों के चारों ओर के देशों में अर्थात् काश्मीर, पश्चिमी पंजाब, सिंध, महाराष्ट्र, मध्य भारत, उड़ीसा, बिहार, बंगाल तथा आसाम में बोली जाती हैं। एक गुजरात प्रदेश ही ऐसा है, जिसमें बोली जानेवाली भाषा का संबंध बहिरंग भाषाओं से नहीं, वरन् अंतरंग भाषाओं से है; और इसका कारण कदाचित् यही है कि किसी समय इस गुजरात प्रदेश पर मथुरावालों ने विजय प्राप्त की थी और मथुरा नगरी उसी मध्य देश के अंतर्गत है।

दोनों भाषाओं में भेद

इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं में कई ऐसे प्रत्यक्ष अंतर और विरोध हैं, जिनसे इन दोनों का पार्थक्य स्पष्ट प्रकट होता है। पहले तो दोनों के उच्चारण में एक विशेष अंतर है। अंतरंग भाषाओं में बहुधा "स" का ठीक उच्चारण होता है; पर बहिरंग भाषाओं के भाषी शुद्ध दंत्य "स" का उतना स्पष्ट उच्चारण नहीं कर सकते। वे उसका उच्चारण कुछ कुछ तालव्य "श" अथवा मूर्द्धन्य "ष" के समान करते हैं। ईरानी शाखा की फारसी आदि भाषाओं में बहुत प्राचीन काल से "स" के स्थान में "ह" कर देने की प्रवृत्ति देखने में आती है; जैसे, सप्त के स्थान में हफ्त। यही बात बहिरंग भाषाओं में भी पाई जाती है। पंजाबी और सिंधी में "कोस" का "कोह" हो जाता है। इधर बँगला तथा मराठी में दंत्य "स" के स्थान में प्रायः "श" बोला जाता है। पूर्वी बंगाल तथा आसाम में वही "च" और "स" के बीच का एक नया उच्चारण हो जाता है; और पश्चिमी सीमा-प्रांत तथा काश्मीर आदि में वही शुद्ध "ह" हो जाता है। दोनों विभागों की संज्ञाओं के रूपों में भी एक

विशेष अंतर देखने में आता है। अंतरंग भाषाओं के प्रायः सभी मूल प्रत्यय नष्ट हो गए हैं और उनका काम विभक्तियों से लिया जाता है, जो शब्दों के साथ जोड़ी जाती हैं; जैसे का, को, से, ने आदि। पर बहिरंग भाषाएँ इनकी अपेक्षा कुछ अधिक विकसित हैं।

भाषा विज्ञान का सिद्धांत है कि भाषाएँ पहले वियोगावस्था में रहती हैं; और तब क्रमशः विकसित होते होते संयोगावस्था में आती हैं। प्रायः सभी अंतरंग भाषाएँ इस समय वियोगावस्था या विच्छेदावस्था में हैं; पर बहिरंग भाषाएँ विकसित होते होते संयोगात्मक हो गई हैं। बहिरंग भाषाओं और अंतरंग भषाओं में एक और अंतर यह है कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उनका पुरुष और वचन मालूम हो जाता है; पर अंतरंग भाषाओं में सभी पुरुषों में उन क्रियाओं का रूप एक सा रहता है। हिंदी में "मैं गया" "वह गया" और "तू गया" सब में "गया" समान है; पर मराठी में "गेलों" से ही "मैं गया" का बोध होता है; और "गेला" से "वह गया" का। बँगला का "मारिलाम्" शब्द भी यही सूचित करता है कि उसका कर्त्ता उत्तम पुरुष है। तात्पर्य यह कि बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम भी अंतर्भुक्त होता है; पर अंतरंग भाषाओं में यह बात नहीं पाई जाती।

पर इस मत का अब खंडन होने लगा है और दोनों प्रकार की भाषाओं के भेद के जो कारण ऊपर दिखाए गए हैं, वे अन्यथा-सिद्ध हैं, जैसे 'स' का 'ह' हो जाना केवल बहिरंग भाषा का ही लक्षण नहीं है, किंतु अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमी हिंदी में भी ऐसा ही होता है। इसके तस्य-तस्स-तास=ताह=ता (ताको, ताहि इत्यादि), करिष्यति – करिस्सदि – करिसइ – करिहइ – करिहै एवं केसरी से केहरि आदि बहुत से उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार बहिरंग मानी जानेवाली भाषाओं में भी—'स' का प्रयोग पाया जाता है; जैसे—राजस्थानी (जयपुरी)-करसी, पश्चिमी पंजाबी-करेसी इत्यादि। इसी प्रकार संख्या-वाचकों में 'स' का 'ह' प्रायः सभी मध्यकालीन तथा आधुनिक आर्य भाषाओं में पाया जाता है। यथा पश्चिमी हिंदी में—ग्यारह, बारह, चौहत्तर इत्यादि; एवं बहिरंग भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं में सर्वनाम का अंतर्भुक्त होना और अंतरंग भाषाओं में ऐसा न होना जो बड़ा भारी भेदक माना गया है, वह भी एक प्रकार से दुर्बल हो है। उस विषय का थोड़ासा दिग्दर्शन यहाँ कराया जाता है। मध्यकालीन आर्य भाषाओं (पाली, प्राकृत आदि) से तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का लोप हो चला था। सकर्मक क्रियाओं का भूतकाल भूतकालवाची धातुज विशेषणों की सहायता से बनाया जाने लगा था। कर्म इन धातुज विशेषणों का विशेष्य होता था और कर्त्ता में करण की विभक्ति लगाई जाती थी। सकर्मक क्रियाओं के भूतकाल में इस प्रकार का कर्मणि-प्रयोग प्रायः सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने अपनी अपनी मूलभूत अपभ्रंशों से प्राप्त किया है। यह कर्मणि-प्रयोग बहिरंग मानीजाने वाली पश्चिमी और दक्षिणी अर्थात् पश्चिमी पंजाबी, सिंधी, गुजराती, राजस्थानी और मराठी में जिस प्रकार प्रचलित है उसी प्रकार अंतरंग मानी जानेवाली पश्चिमो हिंदी में भी है। हाँ, पूर्वी हिंदी तथा मागधी की सुताओं ने अवश्य इसका पूर्ण रूप से परित्याग कर कर्तरि-प्रयोग ही को अपनाया है। इनमें भी उन्हीं धातुज विशेषणों के रूपों में पुरुषबोधक प्रत्यय लगाकर तीनों पुरुषों के पृथक् पृथक् रूप बना लिए जाते हैं। पश्चिमी पंजाबी और सिंधी में इस प्रकार के प्रत्यय तो लगाते हैं, पर उनमें कर्मणि-प्रयोग की पद्धति ज्यों की त्यों अक्षुण्ण है। यह इसलिये प्रतीत होता है कि क्रिया-बोधक धातुज के लिंग और वचन कर्म ही के अनुसार बदलते हैं। इन भाषाओं में इस प्रकार के प्रत्यय लगाने का कारण यह जान पड़ता है कि इनमें सप्रत्यय कर्त्ता का प्रयोग नहीं होता, अपितु उसका केवल विकारी अप्रत्यय रूप काम में लाया जाता है। अतः पुरुषबोधन के लिये तादृश प्रत्यय लगा देना सप्रयोजन समझा जाता है। इस विषय में इनकी पड़ोसी ईरानी भाषाओं का भी कुछ न कुछ हाथ है। मिलाइए फारसी-कर्दम् (मैंने किया), पश्तो-कूडम्। चाहे जैसे हो, पश्चिमी हिंदी और पश्चिमी पंजाबी आदि में सांसिद्धिक साधर्म्य अवश्य है। अब यदि इन भाषाओं का भेद कर सकते हैं

तो यों कर सकते है कि पूर्वी भाषाएँ कर्त्तरि-प्रयोग-प्रधान और पश्चिमी कर्मणि-प्रयोग-प्रधान होती हैं।

पश्चिमी भाषाएँ

(कर्मणि-प्रयोग)

पश्चिमी हिंदी—मैंने पोथी पढ़ी।
गुजराती—में पोथी बाँची।
मराठी—मीं पोथी वाचिली
सिंधी—(मूँ) पोथी पढ़ी-मे
लहँदा—(मैं) पोथी पढ़ी-म्

(यहाँ में, मीं, मूं, मैं सभी 'मया' से निकले हुए करण विभक्त्यंत रूप है। 'मैंने' में करण की दोहरी विभक्ति लगी है।)

पूर्वी भाषाएँ

(कर्त्तरि-प्रयोग)

पूर्वी हिंदी—मैं पोथी पढ़ेउँ
भोजपुरिया—हम पोथी पढ़लीं
मैथिली—हम पोथी पढ़लहुँ
बँगला—आमि पुथी पोड़िलाम्
(मुइ पुथी पोड़िली—लुम्)
उड़िया—आम्भे पोथि पोढ़िलुँ (मुँ पोथि पोढ़िली)

विचार करने की बात है कि इस प्रकार भेद रहते हुए बँगला आदि पूर्वी भाषाओं को सिंधी, पश्चिमी पंजाबी आदि के साथ नाथकर सब को बहिरंग मान लेना कहाँ तक ठीक है। एवं अंतरंग और बहिरंग भेद का प्रयोजक आर्यों का भारतवर्ष में अनुमित पूर्वागमन और परागमन भी असंदिग्ध नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसके विरुद्ध आर्यों का पहले ही से सप्तसिंधु में निवास करना एक प्रकार से प्रमाणित हो चला है। अस्तु; यह विषय अभी बहुत कुछ विवादग्रस्त है। कोई पक्ष अभी तक सर्वमान्य नहीं हुआ है। इस अवस्था में आधुनिक आर्य भाषाओं के अंतरंग और बहिरंग विभेदों को ही मानकर हम आगे बढ़ते हैं।

भाषाओं का वर्गीकरण

अंतरंग भाषाओं के दो मुख्य विभाग हैं - एक पश्चिमी और दूसरा उत्तरी। पश्चिमी विभाग में पश्चिमी हिंदी, राजस्थानी, गुजराती और पंजाबी ये चार भाषाएँ हैं; और उत्तरी विभाग में पश्चिमी पहाड़ी, मध्य पहाड़ी और पूर्वी पहाड़ी ये तीन भाषाएँ हैं। बहिरंग भाषाओं के तीन मुख्य विभाग हैं—उत्तर पश्चिमी, दक्षिणी और पूर्वी। इनमें से उत्तर-पश्चिमी विभाग में काश्मीरी, कोहिस्तानी, पश्चिमी पंजाबी और सिंधी ये चार भाषाएँ है। दक्षिणी विभाग में केवल एक मराठी भाषा है; और पूर्वी विभाग में उड़िया, बिहारी, बँगला और आसामी ये चार भाषाएँ हैं। जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, इन अंतरंग और बहिरंग भाषाओं के बीच में एक और विभाग है, जो मध्यवर्ती कहलाता है और जिसमें पूर्वी हिंदी है। इस मध्यवर्ती विभाग में अंतरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं और बहिरंग भाषाओं की भी कुछ बातें हैं। यहाँ हम इनमें से केवल पश्चिमी हिंदी, बिहारी और पूर्वी हिंदी के संबंध की कुछ मुख्य मुख्य बातें पहले दे देना चाहते हैं।

पश्चिमी हिंदी

पश्चिमी हिंदी पश्चिम में पंजाब के सरहिंद नामक स्थान से पूर्व में प्रयाग तक बोली जाती है। उत्तर में इसका विस्तार हिमालय की तराई तक और दक्षिण में बुंदेलखंड और मध्य प्रदेश के कुछ उत्तरी भागों तक है। इसकी हिंदी या हिंदुस्तानी, व्रज भाषा, कन्नौजी, बुंदेली आदि कई मुख्य बोलियाँ हैं, जिनमें दक्षिण-पूर्वी पंजाब की बाँगड़ू और पूर्वी राजपूताने की कुछ बोलियाँ भी सम्मिलित की जा सकती हैं। आधुनिक हिंदी की इन बोलियों के संबंध में पूरा विवेचन आगे चलकर किया जायगा।

शुद्ध हिंदी भाषा दिल्ली और मेरठ के आस पास के प्रांतों में बोली जाती है और यही प्रायः सारे उत्तरी भारत की साहित्य की भी भाषा है। हिंदी और उर्दू का समस्त आधुनिक साहित्य इसी हिंदुस्तानी या शुद्ध हिंदी बोली में है। रुहेलखंड में पहुँचकर यही भाषा कन्नौजी का रूप धारण कर लेती है, अंबाले से आगे बढ़ने पर पंजाबी हो

जाती है और गुड़गाँव के दक्षिण पूर्व में व्रज भाषा बन जाती है। यहाँ हम यह भी बतला देना चाहते हैं कि इस भाषा का यह हिंदुस्तानी नाम अँगरेजों का रखा हुआ है; इसका शुद्ध भारतीय नाम हिंदी ही है। उर्दू या रेखता और दक्खिनी आदि इसके वही रूपांतर हैं, जो इसमें संस्कृत शब्दों की न्यूनता और अरबी तथा फारसी शब्दों की अधिकता करने से प्राप्त होते हैं। उत्तरी भारत के मुसलमानों ने इसे अपनाने के लिये उर्दू या रेखता नाम दे दिया है और दक्षिणी भारत के मुसलमान इसे दक्खिनी कहते हैं। पर है ये सब शुद्ध हिंदी के ही रूपांतर मात्र। कुछ लोग स्वयं "हिंदी" शब्द को फारसी बतलाते हैं और कहते हैं कि इसमें हिंद शब्द के अंत में जो "ई" है, वह फारसी की "याए निस्बती" (संबंध सूचक य या ई) है। ऐसी दशा में प्रश्न हो सकता है कि फिर अवधी, बिहारी और मराठी आदि में जो ई है वह कैसी है? दूसरे इस अर्थ का बोधक ई प्रत्यय पाली में भी लगता है। जैसे—अप्पमत्ता अयं गंधो यायं तगरचंदनी (धम्मपद ४।५६)। अतः यह कहना कि यह फारसी का प्रत्यय है ठीक नहीं है। यह विषय हमारे प्रस्तुत प्रसंग से कुछ बाहर है, इसलिये इसे हम यहीं छोड़ देते हैं। यहाँ हम केवल इतना ही कहना पर्याप्त समझते हैं कि यह हमारी भाषा है और इस समय सारे भारत की राष्ट्रभाषा हो रही है।

इटावा, मथुरा और आगरा आदि व्रज भाषा के प्रधान क्षेत्र है। यह ग्वालियर के उत्तर-पश्चिमी विभाग और भरतपुर तथा काँकरोली में भी बोली जाती है। अधिक पश्चिम अथवा दक्षिण जाने पर यही राजस्थानी का रूप धारण कर लेती है। इस भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से है। इसका प्राचीन प्रसिद्ध साहित्य अवधी के साहित्य से भी अधिक और बढ़ा चढ़ा है; और उत्तर भारत के इधर चार पाँच सौ वर्षों के अधिकांश कवियों ने इसी भाषा में कविताएँ की हैं। उनमें से सूर, तुलसी, बिहारी आदि अनेक ऐसे कवि भी हो गए हैं, जिन्होंने अपनी कविताओं के कारण ही बहुत दूर दूर तक ख्याति प्राप्त कर ली है और जो इसी कारण अमर हो गए हैं।

कन्नौजी भाषा का विस्तार इटावे और प्रयाग के बीच के प्रदेश में है। यह हरदोई और उन्नाव के भी कुछ विभागों में बोली जाती है। इसे व्रज भाषा का ही एक विकृत रूप समझना चाहिए। इसका साहित्य प्रायः नहीं के समान है; क्योंकि इसके अधिकांश भाषियों ने व्रज भाषा में ही कविता की है। यह भाषा कुछ जल्दी जल्दी नष्ट होती हुई दिखाई देती है; क्योंकि इधर थोड़े दिनों के अंदर ही इसके अनेक प्रयोग नष्ट हो गए हैं। अब अन्यान्य अनेक प्रांतीय बोलियों की भाँति यह भी शुद्ध हिंदी या हिंदुस्तानी का रूप धारण कर रही है।

बुंदेलखंड और उसके आस पास जालौन, झाँसी, हमीरपुर, और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में बुँदेली बोली जाती है, पर बाँदे की बोली बुँदेली नहीं, बघेली है। पन्ना के महाराज छत्रसाल के समय से बुँदेली में भी कुछ साहित्य पाया जाता है। इस प्रकार व्रज भाषा, कन्नौजी और बुँदेली का आपस में बहुत संबंध है।

पंजाब के दक्षिण-पूर्व में जो भाषा बोली जाती है, उसके कई स्थानिक नाम हैं। हिसार और झींद के आस पास के हरियाना प्रांत की बोली "हरियानी" कहलाती है; और रोहतक, दिल्ली तथा करनाल की भाषा हिंदी मानी जाती है। इसके भाषी मुख्यतः जाट हैं, इसलिये इसे जाटू भी कहते हैं। जिस प्रांत में यह बोली जाती है, उसका नाम बाँगड़ है, इसलिये इसे बाँगड़ू भी कहते हैं। इसका यही नाम कुछ अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इसे पश्चिमी हिंदी, पंजाबी और मारवाड़ी का मिश्रण कहना चाहिए; और इसके चारों ओर येही तीनों भाषाएँ बोली भी जाती हैं।

बिहारी भाषा

सारे बिहार प्रदेश और उसके आस पास संयुक्त-प्रदेश, छोटा नागपुर और बंगाल में कुछ दूर तक बिहारी भाषा बोली जाती है। यद्यपि बँगला और उड़िया की भाँति बिहारी भाषा भी मागध अपभ्रंश से ही निकली है, तथापि अनेक कारणों से इसकी गणना हिंदी में होती है और ठीक होती है। इस भाषा का हिंदी के अंतर्गत माना जाना इसलिये ठीक है कि बँगला, आसामी और

उड़िया आदि की भाँति इसमें "स' का उच्चारण "श" नहीं होता, बल्कि शुद्ध "स' होता है; पर बिहारी या कैथी लिपि में लिखा अब तक "श" ही जाता है, "स' अथवा "ष" के लिये उसमें कोई चिह्न ही नहीं है। इसके अतिरिक्त इसकी बहुत सी बातें पूर्वी हिंदी से बहुत अधिक मिलती जुलती हैं। पहले जिन स्थानों में मागध अपभ्रंश बोली जाती थी, अब ठीक उन्हीं स्थानों में उससे उत्पन्न बिहारी भाषा बोली जाती है। बिहारी भाषा में मैथिली, मगही और भोजपुरी तीन बोलियाँ हैं। मिथिला या तिरहुत और उसके आस पास के कुछ स्थानों में मैथिली बोली जाती है, पर उसका विशुद्ध रूप दरभंगे में पाया जाता है। इस भाषा के प्राचीन कवियों में विद्यापति ठाकुर बहुत हो प्रसिद्ध और श्रेष्ठ कवि हो गए हैं, जिनकी कविता का अब तक बहुत आदर होता है। इस कविता का अधिकांश सभी बातों में प्रायः हिंदी ही है। दक्षिणी बिहार और हजारीबाग की भाषा मगही कहलाती है। प्राचीन काल में यही प्रदेश मगध कहलाता था। इस भाषा में कोई साहित्य नहीं है। भोजपुरी बोली शाहाबाद और उसके चारों ओर दूर दूर तक पश्चिमी बिहार, पूर्वी संयुक्त प्रांत, पालामऊ, राँची, आजमगढ़ आदि स्थानों या उनके कुछ अंशों में थोड़े बहुत परिवर्तित रूपों में बोली जाती है। इस बोली के तीन उपविभाग किए जा सकते हैं—शुद्ध भोजपुरी, पश्चिमी भोजपुरी और नागपुरिया। संयुक्त प्रांतवालों ने पश्चिमी भोजपुरी का नाम "पूर्बी" रख छोड़ा है, जो बहुत ही उपयुक्त और सुंदर है। पर कभी कभी इस "पूर्बी" से ऐसी भाषाओं का भी बोध होता है, जिनका भोजपुरी से कुछ सबंध ही नहीं है।

मैथिली और मगही में परस्पर कुछ विशेष सबंध है; और भोजपुरी इन दोनों से अलग है। मैथिली बोली में "अ" का उच्चारण प्रायः "ओ" का सा और बंगालियों के "अ" के उच्चारण से बहुत कुछ मिलता हुआ होता है। मगही के उच्चारण में यह बात उतनी अधिक नहीं है, और भोजपुरी में तो बिलकुल नहीं है। मैथिली और मगही में मध्यम पुरुष के लिये आदर-सूचक शब्द "अपने" है; पर भोजपुरी में उसके लिये "रौरे" शब्द का व्यवहार होता है। मैथिली और मगही में क्रियाओं के रूप बनाने के जो नियम हैं, वे बहुत ही जटिल हैं; पर भोजपुरी के ये नियम अपेक्षाकृत सरल हैं। इन तीनों बोलियों के विकास और उन्नति के संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि मैथिली और मगही बोली बोलनेवाले लोग पुरानी लकीर के फकीर हैं और वे सहसा कोई नई बात ग्रहण नहीं करते। पर भोजपुरी के बोलनेवाले उद्यमी और क्रियाशील होते हैं और अपने आपको परिस्थिति के अनुकूल बना लेना जानते हैं। अतः इन भाषाओं में परस्पर जो कुछ अंतर है, वह भी इसी अंतर के अनुसार है। मैथिली भाषा मिथिला-अक्षरों में लिखी जाती है, जो बँगला अक्षरों से बहुत कुछ मिलते जुलते हैं। शेष बिहार में बिहारी अथवा कैथी लिपि का प्रयोग होता है, जो बहुत कुछ देवनागरी के ही समान होती है; पर शीर्ष रेखा के अभाव के कारण वह गुजराती अक्षरों से भी बहुत कुछ मिल जाती है।

पूर्वी हिंदी

अब हम अंतरंग और बहिरंग भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा हिंदी को लेते हैं। यह भाषा अर्धमागधी से निकली है और अवध, बघेलखंड, बुंदेलखंड, छोटा नागपुर तथा मध्य प्रदेश के कुछ भागों में बोली जाती है। इसमें अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी ये तीन बोलियाँ सम्मिलित हैं। बघेली और अवधी में परस्पर बहुत थोड़ा अंतर है; पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ने के कारण छत्तीसगढ़ी इन दोनों से बहुत भिन्न जान पड़ती है। पर फिर भी अवधी के साथ उनका घनिष्ठ संबंध देखने में आता है। अवधी-बघेली बोली संयुक्त प्रांत के पूर्व बुंदेलखंड, बघेलखंड, और जबलपुर तथा मंडला आदि जिलों में बोली जाती है। फतहपुर और बाँदे के बीच में जहाँ यमुना नदी बहती है, उसके उत्तर में और इलाहाबाद जिले की दक्षिणी सीमा तक अवधी बोली का प्रचार है और उसके दक्षिण के प्रांतों में बघेली का। छत्तीसगढ़ और उसके आस पास उदयपुर, कोरिया और सरगुजा आदि रियासतों में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। तात्पर्य यह कि उत्तर में

नेपाल की तराई से लेकर दक्षिण में बस्तर रियासत तक पूर्वी हिंदी का प्रचार है। पर इसका जितना अधिक विस्तार उत्तर-दक्षिण है, उतना अधिक पूर्व-पश्चिम नहीं है।

पूर्वी हिंदी इसलिये अंतरंग और बहिरंग भाषाओं की मध्यवर्ती भाषा कही जाती है कि इसमें कुछ कुछ बातें दोनों प्रकार की भाषाओं की पाई जाती हैं। इसमें संज्ञाओं और सर्वनामों के रूप प्रायः उसी प्रकार बनते हैं, जिस प्रकार बहिरंग वर्ग की पूर्वी भाषाओं में बनते हैं। क्रियाओं के रूप बनाने में कुछ तो अंतरंग भाषाओं में की पश्चिमी हिंदी का और कुछ बहिरंग भाषाओं में की बिहारी भाषा का ढंग लिया जाता है। पश्चिमी हिंदी में कहते है—"उसने मारा"। जैसा कि हम पहले कह आए हैं, अंतरंग भाषाओं में भूतकालिक क्रिया का रूप सभी पुरुषों में एक सा होता है; पर बहिरंग भाषाओं में उसके रूप में उसका पुरुष भी अंतर्हित होता है। इसी नियम के अनुसार बिहारी में—"उसने मारा" के लिये—"मरलस" कहेंगे। इसमे अंत का "स" उसके पुरुष का द्योतक है, जिससे उसका अर्थ होता है—"उसने मारा"। बहिरंग भाषाओं की दूसरी विशेषता यह है कि उनकी क्रियाओं के अंत में ल या ला होता है, जो इस बिहारी "मरलस" में स्पष्ट है। पर पूर्वी हिंदी में यह विशेषता है कि उसमें यह ल तो नहीं होता, किन्तु पुरुष का बोधक स होता है। पूर्वी हिंदी में कहते हैं—"मारिस"। इसी प्रकार पश्चिमी हिंदी में कहेंगे—"उसने दिया"। बिहारी में कहा जायगा—"देहलस", और पूर्वी हिंदी में उसका रूप होगा—"दिहिस"। इन सब में "स" "वह" का बोधक है। तात्पर्य यह कि जिस प्रकार किसी समय अर्धमागधी मध्यवर्ती भाषा थी, उसी प्रकार उसकी स्थानापन्न यह पूर्वी हिंदी भी मध्यवर्ती भाषा है।

धातु-भेद

ऊपर हम इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि किस प्रकार वैदिक प्राकृत से भिन्न भिन्न प्राकृतों का विकास हुआ और इनके साहित्यिक रूप धारण करने पर अपभ्रंशों का कैसे उदय हुआ; तथा जब ये अपभ्रंश भाषाएँ भी साहित्यिक रूप धारण करने लगीं, तब आधुनिक देश-भाषाओं की कैसे उत्पत्ति हुई। हिंदी के संबंध में विचार करने के समय यह स्मरण रखना चाहिए कि इसका उदय क्रमशः शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों तथा शौरसेनी और अर्धमागधी अपभ्रंशों से हुआ है। अतएव जब हम हिंदी के शब्दों की उत्पत्ति तथा उसके व्याकरण के किसी अंग पर विचार करते हैं, तब हमें यह जान लेना आवश्यक होता है कि प्राकृतों या अपभ्रंशों में उन शब्दों के क्या रूप या व्याकरण के उस अंग की क्या व्यवस्था होती है। हमारे यहाँ अत्यंत प्राचीन काल में शब्दों की उत्पत्ति के विषय में बहुत कुछ विवेचन हुआ है। यास्क ने अपने निरुक्त में इस बात पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया है कि शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से हुई है। यास्क का कहना था कि सब शब्द धातु-मूलक हैं; और धातु वे क्रियावाचक शब्द हैं जिनमें प्रत्यय आदि लगाकर धातुज शब्द बनाए जाते हैं। इस सिद्धांत के विरुद्ध यह कहा गया कि सब शब्द धातु-मूलक नहीं हैं; क्योंकि यदि सब शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मान ली जाय, तो "अश्" धातु से, जिसका अर्थ 'चलना' है, अश्व शब्द बनकर सब चलनेवाले जीवों के लिये प्रयुक्त होना चाहिए; पर ऐसा नहीं होता। इसका उत्तर यास्क ने यह दिया है कि जब एक क्रिया के कारण एक पदार्थ का नाम पड़ जाता है, तब वही क्रिया करनेवाले दूसरे पदार्थों का वही नाम नहीं पड़ता। फिर किसी पदार्थ का कोई मुख्य गुण लेकर ही उस पदार्थ का नाम रखा जाता है, उसके सब गुणों का विचार नहीं किया जाता। इसी मत का अनुकरण पाणिनि ने भी किया है और इस समय सब भाषाओं के संबंध में यही मत माना भी जाता है। संस्कृत में १७०८ धातु हैं जिनके तीन मुख्य विभाग हैं—

(क) प्रथम प्रकार के धातु (१) या तो एक स्वर के बने होते हैं, जैसे 'इ', (२) या एक स्वर और एक व्यंजन से, जैसे "अद्"; (३) अथवा एक व्यंजन और एक स्वर से, जैसे "दा"। किसी भाषा के इतिहास में इस प्रकार के धातु, जिन्हें हम मूल धातु कह सकते हैं,

सबसे प्रधान होते हैं; पर विकासोन्मुख विचारों और भावों को व्यंजित करने में इनकी शक्ति साधारणतः बहुत अस्पष्ट होती है। इसलिये क्रमशः इनका स्थान दूसरे प्रकार के धातु और दूसरे प्रकार के धातुओं का स्थान तीसरे प्रकार के धातु ग्रहण कर लेते हैं।

(ख) दूसरे प्रकार के धातु एक व्यंजन, एक स्वर और एक व्यंजन से बने होते है; जैसे 'तुद्'। आर्य भाषाओं में इस श्रेणी के धातुओं का अंतिम व्यंजन प्रायः बदलकर अनेक अन्य धातुओं की सृष्टि करता है। जैसे, तुप्, तुभ्, तुज्, तुद्, तुर्, तुह्, तुस्। इन सब धातुओं के अर्थ में मूल भाव एक ही है, पर विचारों और भावों के सूक्ष्म भेद प्रदर्शित करने के लिये इन धातुओं के अंतिम व्यंजन का परिवर्तन करके शब्दों की शक्ति की व्यापकता का उपाय किया गया है।

(ग) तीसरी श्रेणी के धातुओं के चार उपभेद होते हैं, जो इस प्रकार बनते हैं—

(१) व्यंजन, व्यंजन और स्वर; जैसे "प्लु"।

(२) स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "अर्द्"।

(३) व्यंजन, व्यंजन, स्वर और व्यंजन; जैसे "स्पश्"

(४) व्यंजन, व्यंजन, स्वर, व्यंजन और व्यंजन; जैसे "स्पन्द्"।

इस श्रेणी के धातुओं में यह विशेषता होती है कि दो व्यंजनों में से एक अंतस्थ, अनुनासिक या ऊष्म होता है और उसमें विपर्यय होकर अनेक धातु बन जाते हैं, जो भावों या विचारों के सूक्ष्म भेद व्यंजित करने में सहायक होते है।

इस प्रकार धातुओं से संस्कृत के शब्द-भांडार की श्रीवृद्धि हुई है। प्रोफेसर मैक्समूलर का अनुमान है कि यदि विचार और परिश्रम किया जाय, तो संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार १७०८ से घट कर प्रायः ५०० धातुओं पर अवलंबित हो जाय।

इन्हीं धातुओं से संस्कृत का समस्त शब्द-भांडार बनता है। संस्कृत शब्दों में से अनेक शब्द हमारी हिंदी में मिल गए हैं। ऐसे शब्दों को, जो सीधे संस्कृत से हमारी भाषा में आए हैं, तत्सम शब्द कहते हैं। हमारी आजकल की भाषा में ऐसे शब्दों का समावेश दिनों दिन बढ़ता जाता है। भाषा की उन्नति के लिये यह एक प्रकार से आवश्यक और अनिवार्य भी है। ये तत्सम शब्द अधिकतर संस्कृत के प्रातिपदिक रूप में लिए जाते हैं; जैसे, देव, फल; और कुछ संस्कृत की प्रथमा के एकवचन के रूप में हिंदी में सम्मिलित होकर प्रयुक्त होते हैं और उसके व्याकरण के अनुशासन में आते हैं। जैसे—राजा, पिता, दाता, नदी आदि।

शब्द भेद

इनके अतिरिक्त हिंदी में ऐसे शब्दों की बड़ी भारी संख्या है जो सीधे प्राकृत से आए हैं अथवा जो प्राकृत से होते हुए संस्कृत से निकले हैं। इनको तद्भव कहते हैं। जैसे—साँप, काज, बच्चा आदि। इस प्रकार के शब्दों में यह विचार करना आवश्यक नहीं है कि वे संस्कृत से प्राकृत में आए हुए तद्भव शब्द हैं अथवा प्राकृतों के ही तत्सम शब्द। हमारे लिये तो इतना ही जान लेना आवश्यक है कि ये शब्द प्राकृत से हिंदी में आए हैं।

तीसरे प्रकार के शब्द वे हैं जिन्हें अर्ध-तत्सम कहते हैं। इनके अंतर्गत वे सब संस्कृत शब्द आते हैं जिनका प्राकृत भाषियों द्वारा युक्त विकर्ष (संयुक्त वर्णों का विश्लेषण) या प्रतिभासमान वर्ण-विकार होते होते भिन्न रूप हो गया है। जैसे अगिन, बच्छ, अच्छर, किरपा आदि।

इन तीनों प्रकार के शब्दों की भिन्नता समझने के लिये एक दो उदाहरण दे देना आवश्यक है। संस्कृत का "आज्ञा" शब्द हिंदी में ज्यों का त्यों आया है, अतएव यह तत्सम हुआ। इसका अर्ध-तत्सम रूप आग्याँ हुआ। प्राकृत में इसका रूप "आणा" होता है जिससे हिंदी का 'आन' शब्द निकला है। इसी प्रकार "राजा" शब्द तत्सम है और 'राय' या 'राव' उसका तद्भव रूप है। इन तीनों प्रकार के अर्थात् तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव शब्द हिंदी में मिलते हैं; परंतु सब शब्दों के तीनों रूप नहीं मिलते। क्रियापद और सर्वनाम प्रायः तद्भव हैं, परंतु संज्ञा शब्द तत्सम, अर्ध-तत्सम और तद्भव तीनों प्रकार के मिलते हैं। इन तीनों प्रकार के शब्दों के कुछ

और उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

तत्सम	*अर्ध-तत्सम*	*तद्भव*
वत्स	बच्छ	बच्चा
स्वामी		साईं
कर्ण		कान
कार्य	कारज	काज
पक्ष		पंख, पाख
वायु		बयार
अक्षर	अच्छर	अक्खर, आखर
रात्रि	रात	
सर्व		सब
दैव	दई	

कुछ शब्द ऐसे भी मिलते हैं जिनकी व्युत्पत्ति का कोई पता ही नहीं चलता। संभव है कि भाषा-विज्ञान की अधिक चर्चा होने तथा शब्दों की व्युत्पत्ति की अधिक खोज होने पर इनके मूल आधार का भी पता चल जाय। ऐसे शब्दों को 'देशज' कहते हैं। जैसे, तेंदुआ, खिड़की, (खडक्किका—काद० टीका?) घूआ, ठेस इत्यादि। पर इस समय तक तो इन शब्दों का देशज माना जाना अल्पज्ञता का ही सूचक है।

हिंदी भाषा में एक और प्रकार के शब्द पाए जाते हैं जो किसी पदार्थ की वास्तविक या कल्पित ध्वनि पर बने हैं और जिन्हें 'अनुकरण' शब्द कहते हैं, जैसे—खटखटाना, चटचटाना, फड़फड़ाना, धमकाना इत्यादि। संसार की सब भाषाओं में ऐसे शब्द पाए जाते हैं। इसी अनुकरण सिद्धांत पर मनुष्यों की भाषा का विकास हुआ है। इनके अतिरिक्त हिंदी में बहुत से ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है जिन्हें कहने को तो तत्सम कहते हैं, पर वे तत्सम नहीं हैं। इनमें से कुछ शब्द तो बहुत दिनों से चले आते हैं; जैसे—श्राप, प्रण, क्षत्राणी, सिंचन, अभिलाषा, सृजन, मनोकामना आदि; और अधिक आजकल अल्प-संस्कृतज्ञों के गढ़े हुए चल रहे हैं; जैसे—राष्ट्रीय, जागृत, पौर्वात्य, उन्नायक आदि आदि। इन्हें चाहें तो तत्समाभास कह सकते हैं।

कुछ ऐसे शब्द भी हैं जिन्हें न तत्सम कह सकते हैं, न तद्भव और न देशज। जैसे, संस्कृत 'मातृष्वसा' से प्रसिद्ध स्त्रीत्व-व्यंजक 'ई' प्रत्यय लगाकर जो 'मौसी' शब्द बना है वह न तत्सम है, न तद्भव और न देशज। ऐसे शब्दों को अर्धतद्भव कहें तो कह सकते हैं। किंतु अब तक विद्वानों ने इन्हें कोई नाम नहीं दिया है। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो या तो दो भाषाओं के शब्दों के समास से, जैसे—'कौंसिल निर्वाचन', 'सबूट-पादप्रहार', 'अमन-सभा', 'जगन्नाथ-बख्श', 'राम-चीज़' आदि आदि; या विजातीय प्रकृति अथवा प्रत्यय के योग से; जैसे—उजड्डुता, रसदार अकाट्य, गुरुडम, लाटत्व आदि बनते हैं। दो भाषाओं से बने होने के कारण यदि इन्हें 'द्विज' कह दिया जाय तो, आशा है, किसी को बुरा न लगेगा।

कभी कभी किसी शब्द का प्रकार, सादृश्य या संबंध बोधन करने के लिये आंशिक आवृत्ति कर दी जाती है। जैसे, लोटा ओटा अर्थात् लोटा और तत्सदृश अन्य वस्तुएँ। इस प्रकार की प्रकारार्थक द्विरुक्ति आधुनिक आर्यभाषा एवं द्रविड़ भाषाओं में ही देखी जाती है। जैसे-हिंदी—घोड़ा-ओड़ा; बँगला—घोड़ा-टोड़ा; मैथिली—घोड़ा-तोड़ा; गुजराती—घोड़ो-बोड़ो; मराठी—घोड़ा-बोड़ा; सिंहली—अश्वया-बश्वया; तामिल—कुदिरइ-किदिरइ; कन्नड़ी—कुदिरे-गिदिरे; तेलुगु—गुर्रमु-गिर्रमु। इसी प्रकार, हिंदी—जल-वल, या जल-ओल अर्थात् जल जलपान; बँगला—जोल्-टोल्; मराठी—जल-बिल; तामिल—तण्णीर-किण्णीर; कनड़ी—नीरु-गीरु आदि। हिंदी में इस प्रकार के प्रतिध्वनि शब्दों की सृष्टि पर बहुत कुछ द्रविड़ भाषाओं का प्रभाव समझना चाहिए।

तत्सम और तद्भव शब्दों के रूप-विभेद के कारण प्रायः उनके अर्थ में भी विभेद हो गया है। विशेषता यह देखने में आती है कि तत्सम शब्द कभी सामान्य अर्थ में प्रयुक्त होता है, पर उसी का तद्भव रूप विशेष अर्थ देता है; जैसे—गर्भिणी और गाभिन; स्थान और थान। कभी तत्सम शब्द से महत्त्व का भाव प्रकट किया जाता है और उसी के तद्भव रूप से लघुता का, जैसे—देखना और दर्शन। यह भी देखने में आता है कि कभी कभी एक ही द्व्यर्थक शब्द के तत्सम और तद्भव रूपों में भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं; जैसे—'वंश' शब्द के तत्सम रूप का अर्थ कुटुंब और तद्भव रूप बाँस का अर्थ तृण विशेष ही

लिया जाता है। एक ही शब्द नानार्थक कैसे हो जाता है अथवा एक ही प्रकार के भाव का द्योतन करने के लिये अनेक पर्यायों की कैसे सृष्टि होती है, या किसी एक पर्याय की अवयवार्थ-बोधकता अन्य पर्याय को, चाहे उसका अवयवार्थ कुछ और ही हो, कैसे प्राप्त हो जाती है, (जैसे—भोगी साँप को भी कहते हैं और भोग करनेवाले विलासी को भी। साँप का पर्याय-वाचक भुजंग शब्द वेश्या का उपभोग करनेवाले विलासी के लिये प्रयुक्त होता है, यद्यपि भुजंग का अवयवार्थ है टेढ़ी चाल चलने वाला।) इत्यादि अनेक बातों की स्वतंत्र विवेचना होनी चाहिए। पर इस प्रसंग को हम यहाँ नहीं छेड़ना चाहते।

आधुनिक हिंदी में तद्भव शब्दों से क्रियापद बनते हैं; पर तत्सम शब्दों से क्रियापद नहीं बनते। उनमें 'करना' या 'होना' जोड़कर उनके क्रियापद रूप बनाए जाते हैं; जैसे 'देखना' और 'दर्शन करना' या 'दर्शन होना'। पुरानी कविता में तत्सम शब्दों से क्रियापद बनाए गए हैं और उनका प्रयोग भी बहुत कुछ हुआ है। आजकल कुछ क्रियापद तत्सम शब्दों से बनकर प्रयोग में आने लगे हैं; जैसे 'दर्शाना'। ज्यों ज्यों खड़ी बोली में कविता का प्रचार बढ़ेगा, त्यों त्यों उसमें ऐसे क्रियापदों की संख्या भी बढ़ेगी। भाषा की व्यंजक शक्ति बढ़ाने और उसके संक्षेप में भाव प्रकट करने में समर्थ होने के लिये ऐसे नामधातुओं की संख्या में वृद्धि होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

इस प्रकार हम हिंदी के शब्द-भांडार का विश्लेषण करके इस सिद्धांत पर पहुँचते हैं कि इसमें (१) संस्कृत या प्राकृत भाषाओं से आगत शब्दों, (२) देशज शब्दों तथा (३) अनुकरण शब्दों के अतिरिक्त (४) तत्समाभास (५) अर्द्धतद्भव, (६) द्विज और (७) प्रतिध्वनि शब्द भी पाए जाते हैं।

विदेशी प्रभाव

हमारी भाषा पर भारतवर्ष की अन्यान्य भाषाओं तथा विदेशियों की भाषाओं का भी कम प्रभाव नहीं पड़ा है। द्रविड़ भाषाओं के बहुत से शब्द संस्कृत और प्राकृतों में मिल गए हैं और उनमें से होते हुए हमारी भाषा में आ गए हैं। टवर्गी अक्षरों के विषय में बहुतों का यह कहना है कि इनका आगमन संस्कृत और प्राकृत में तथा उनसे हमारी भाषा में द्रविड़ भाषाओं के प्रभाव के कारण हुआ है। डाक्टर ग्रियर्सन की सम्मति है कि द्रविड़ भाषाओं के केवल शब्द ही हमारी भाषा में नहीं मिल गए हैं, वरन् उनके व्याकरण का भी उस पर प्रभाव पड़ा है। वे कहते हैं कि हिंदी की कुछ विभक्तियाँ भी द्रविड़ भाषाओं की विभक्तियों के अनुरूप बनाई गई हैं; जैसे-कर्म और संप्रदान कारकों की विभक्ति यों तो संस्कृत के "कृते" से निकलकर "कहुँ" होती हुई 'को' हो गई है। पर द्रविड़ भाषाओं में इन्हीं दोनों कारकों की विभिक्ति 'कु' है। विभक्तियों के विषय में हम आगे चलकर विशेष रूप से विचार करेंगे। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि हिंदी विभक्ति 'को' की द्रविड़ विभक्ति 'कु' से बहुत कुछ समानता है; पर इससे यह सिद्धांत नहीं निकल सकता कि वह द्रविड़ भाषाओं से हिंदी में आई। डाक्टर ग्रियर्सन ने भी यह सिद्धांत नहीं माना है। उनके कहने का तात्पर्य इतना ही है कि द्रविड़ विभक्तियों की अनुरूपता हमारी विभक्तियों के जिस रूप में पाई गई, वही रूप अधिक ग्राह्य समझा गया। मिस्टर केलाग का कहना है कि टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले अधिकांश शब्द द्रविड़ भाषा के हैं और प्राकृतों से हिंदी में आए हैं। उन्होंने हिसाब लगाकर बताया है कि प्रेमसागर के टवर्ग के अक्षरों से आरंभ होनेवाले ८६ शब्दों में से २१ संस्कृत के तत्सम और ६८ प्राकृत के तद्भव हैं; और 'क' से आरंभ होनेवाले १२८ शब्दों में से २१ तद्भव और १०७ तत्सम हैं। इससे वे यह सिद्धांत निकालते हैं कि भारतवर्ष के आदिम द्रविड़ निवासियों की भाषाओं का जो प्रभाव आधुनिक भाषाओं पर पड़ा है, वह प्राकृतों के द्वारा पड़ा है।

अब कई आधुनिक आर्य-भाषाओं के भी शब्द हिंदी में मिलने लगे हैं; जैसे–मराठी के लागू, चालू, बाजू; गुजराती के लोहनी, कुनबी, हड़ताल आदि और बँगला के प्राणपण, चूड़ांत, भद्र लोग, गल्प, नितांत, सुविधा आदि। इसी प्रकार कुछ अनार्य भाषाओं के शब्द भी

मिले हैं, जैसे—तामिल पिल्लई से पिल्ला, शुळुट्टु से चुरूट; तिब्बती-चुंगी; चीनी-चाय; मलय-साबू इत्यादि।

हिंदी के शब्द-भांडार पर मुसलमानों और अँग्रेजों की भाषाओं का भी कुछ कम प्रभाव नहीं पड़ा है। मुसलमानों की भाषाएँ फारसी, अरबी और तुर्की मानी जाती हैं। इन तीनों भाषाओं के शब्दों का प्रयोग मुसलमानों द्वारा अधिक होने के कारण तथा मुसलमानों का उत्तरी भारत पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ने के कारण ये शब्द हमारी बोलचाल की भाषा में बहुत अधिकता से मिल गए हैं और इसी कारण साहित्य की भाषा में भी इनका प्रयोग चल पड़ा है। पर यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इनमें से अधिकांश शब्दों का रूपात्मक विकास होकर हमारी भाषा में आगम हुआ है। यह एक साधारण सिद्धांत है कि ग्राह्य भाषा का विजातीय उच्चारण ग्राहक भाषा के निकटतम सजातीय उच्चारण के अनुकूल हो जाता है। इसी सिद्धांत के अनुसार मुसलमानी शब्दों का भी हिंदी में रूपांतर हुआ है। ये परिवर्तन हम संक्षेप में नीचे देते हैं—

(१) ط और ت हिंदी में त हो जाते हैं; जैसे طلب का तलब और تکرار का तकरार।

(२) ث ص और س हिंदी में स हो जाते हैं; जैसे ثابت का साबित, سائیس का साईस, صاحب का साहिब या साहब। ش का प्रायः श हो जाता है, यद्यपि बोलचाल की भाषा में वह भी प्रायः स ही रहता है।

(३) ذ ز ض ظ सब हिंदी में ज हो जाते हैं; जैसे ذرہ का जरा, زمین का जमीन, ضامن का जामिन, ظاہر का जाहिर। कहीं कहीं अंतिम ذ द में भी परिवर्तित होता है; जैसे کاغذ का कागद।

(४) ح और ہ हिंदी में ह हो जाते हैं; जैसे حال का हाल, ہر का हर। शब्दों के अंत में आया हुआ ہ जो प्रायः विसर्ग के समान उच्चरित होता है, हिंदी में आ में परिवर्तित हो जाता है; जैसे شبہ का शुभा, پردہ का पर्दा या परदा, مردہ का मुर्दा या मुरदा, پیادہ का प्यादा।

(५) ق خ और غ हिंदी में क्रमशः क, ख और ग हो जाते हैं; जैसे قول का कौल, حق का हक, خاک का खाक, غم का गम, غلام का गुलाम, غریب का गरीब।

(६) ف हिन्दी में फ हो जाता है; जैसे فائدہ का फायदा, فکر का फिकर, شریف का शरीफ। इस अक्षर के विदेशी उच्चारण का प्रभाव कुछ अधिक व्यापक जान पड़ता है। यद्यपि यह प्रायः फ हो जाता है, पर बोलचाल में इसने अपना प्रभाव कुछ कुछ बना रखा है; और कहीं कहीं तो शुद्ध संस्कृत शब्दों के फ का भी लोग धोखे से ف के समान उच्चारण कर बैठते हैं; जैसे फूल को फूल न कह कर फ़ूल और फिर को फिर न कह कर फ़िर कहते हैं। प्रायः गुजरातियों के उच्चारण में यह दोष अधिक पाया जाता है।

(७) ع और و का कभी कभी लोप हो जाता है। जब ع शब्द के बीच में आता है, तब उसका लोप होकर उसके पूर्व का अर्धोच्चरित अ दीर्घ हो जाता है; जैसे— معلوم का मालूम, موافق का माफिक।

ये सब उदाहरण भाषा के रूप-विकास के भिन्न भिन्न भेदों के अंतर्गत आते हैं। मुसलमानी भाषाओं से आए हुए शब्दों में आगम, विपर्यय और लोप संबंधी भेद भी प्रत्यक्ष देख पड़ते हैं; जैसे मर्द से मरद, फिक्र से फिकर, अमानत से अनामत।

इन भाषाओं से आए हुए कुछ शब्दों का यदि यहाँ निर्देश कर दिया जाय तो अनुचित न होगा। सुभीते के लिये इनके विभाग कर दिए जायँ तो और अच्छा हो।

राजकाज, लड़ाई, आखेट आदि के—

अमीर, उमरा, खानदान, खिताब, खयाल, खास, तख्त, ताज, दरबार, दौलत, नकीब, नवाब, बादशाह, मिर्जा, मालिक, हजूर, हजरत, कूच, कतार, काबू, खंजर, जखम, जंजीर, जमादार, तबक, तंबू, तोप, दुश्मन, नगद, नेजा, फौज, फौत, बहादुर, वजीर, मनसबदार, रसद, रिसाला, शिकार, शमशेर, सरदार, हलका, हिम्मत आदि आदि।

राजकर, शासन, और दंडविधान आदि के—

औलाद, मर्दुमशुमारी, आबाद, इस्तमरारी, वासिल, कबूजा, कसबा, खजाना, खारिज, गुमाश्ता, चाकर, जमा, जमीन, जायदाद, तहबील, ताल्लुक, दारोगा,

दफ्तर, नाजिर, प्यादा, फिहरिस्त, बाब, बीमा, महकमा, माफ, मोहर, रैयत, शहर, सन्, सरकार, सजा, हद्द, हिसाब, हिस्सा, आइना, अदालत, इजहार, इलाका, उज्र, कसूर, काजी, कानून, खिलाफ, सिरिश्ता, सुलहनामा, जौजे, जबान, जब्त, जारी, जिरह, तकरार, तामील, दरखास्त, दलील, दस्तखत, नाबालिग, नालिश, पेशा, फरियादी, करार, बखरा, बाजाब्ता, मुकद्दमा, मुंसिफ, रद्द, राय, रुजू, शिनाख्त, सफाई, सालिस, हक, हाकिम, हाजत, हुलिया, हिफाजत आदि।

धर्म संबंधी आदि—

वजू, औलिया, अल्ला, इंजील, इबादत, ईमान, इसलाम, ईद, कबर, कफन, कलंदर, काफिर, काबा, गाजी, जल्लाद, जुम्मा, तोबा, ताजिया, दरगाह, दरवेश, दीन, दुआ, नबी, नमाज, निकाह, नूर, फरिश्ता, रोजा, बिस्मिल्ला, वुजुर्ग, मसजिद, मुहर्रम, मुरीद, मोमिन, मुल्ला, शरीयत्, शहीद, शिरनी, शिया, हदीस, हलाल आदि।

विद्या, कला, साहित्य संबंधी—

अदब, आलिम, इज्जत, इम्तिहान, इल्म, खत, गजल, तरजुमा, दरद, कसीदा, मजलिस, मुंशी, रेखता, शरम, सितार, हरुफ़ आदि।

विलासिता, व्यवसाय, शिल्प आदि संबंधी—

अस्तुरा, आइना, अखनी, अंगूर, अचकन, अतर, आतिशबाजी, आबनूस, अर्क, इमारत, कागज, कलफ, कुलुफ, कीमखाब, किशमिश, बर्फी, कोर्मा, कसाई, खरबूजा, खाल, खानसामाँ, खस्ता, गज, गिर्दा, गुलाब, गोश्त, चरखा, चश्मा, चपकन, चाबुक, चिक, जरी, जर्दा, जवाहिरात, जामा, जुलाब, ताफता, तकमा, तराजू, तसवीर, तकिया, दालान, दस्ताना, दवा, दूर्बीन, दवात, नारंगी, परदा, पाजामा, पुलाव, फर्राश, फानूस, फुहारा, बरफ, बगीचा, बादाम, बुलबुल, मखमल, लबादा, मलहम, मसाला, मलाई, मिस्त्री, मीना, मेज़, रफू, रूमाल, रिकाब, रेशम, लगाम, शहनाई, शाल, शीशी, संदूक, सुर्खी, सुराही, हादा, हलुवा, हुक्का, हौज आदि।

भिन्न भिन्न देशवासियों के नाम—

अरब, अरमनी, यहूदी, उजबक, तिब्बती, विलायती, हबशी इत्यादि।

साधारण वस्तुओं और भावों के लिये—

अंदर, आवाज, अक्सर, आबहवा, आसमान, असल, इल्लत, कदम, कम, कायदा, कारखाना, कमर, खबर, खुराक, गरज, गरम, गुजरान, चंदा, जलदी, जानवर, जहाज, जिद, तलाश, ताजा, दखल, दम, दरकार, दगा, दाना, दुकान, नगद, नमूना, नरम, निहायत, नशा, पसंद, परी, फुरसत, बदजात, बंदोबस्त, वादहवाई, बेवकूफ, मजबूत, मियाँ, मुर्गा, मुलुक, यार, रकम, रोशनाई, वजन, सादा, साफ, हफ्ता, हजार, हजम, होशियार, हजूम आदि।

थोड़े से तुर्की शब्दों का पृथक् दिग्दर्शन कराना भी उपयोगी होगा—

आगा, उजबक (ओज़बेक), उर्दू (ओर्दू=खेमा), कलँगी (क़लग़ः), कैंची (क़ैंची), काबू (क़ापू=चाल, अवसर, अधीनता, अधिकार, पकड़), कुली (कुली=गुलाम), कोतका=ठेंगा (कुतका=दंडा), कोर्मा(क़ुवुर्मा), खातुन=महिला (ख़ातून), खान, खाँ (ख़ान, ख़ाकान), गलीचा (क़लिचा), चकमक (चक़मक़), चाकू (चाक़ू), चिक (फा०चिग, तु० चिक़), तकमा (तमगा), तुपक, तोप, तगाड़=सुर्खी चूने का गड्ढा (तगार), तुरुक (तुर्क), दरोगा (दारोग़ा), बक्सी (फा० बख़शी, तु० बक्सी), बावर्ची (बावर्ची), बहादुर, बीबी, बेगम (बेगुम), बकचा=बंडल (बक़चा), मुचलका, लास, सौगात, सुराक=पता (सुराग़), और 'ची' प्रत्यय जैसे मशालची, ख़जानची इत्यादि। इनके अतिरिक्त पठान (पश्तान) रोहिल्ला (पश्तो 'रोह'= पहाड़) आदि कुछ शब्द पश्तो भाषा के भी मिलते हैं।

युरोपियन भाषाओं के शब्द भी, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, हमारी भाषा में मिल गए हैं; और वर्तमान समय में तो बहुत अधिकता से मिलते जाते हैं। इन शब्दों में से थोड़े से शब्द तो पुर्तगाली भाषा के हैं; जैसे Camera से कमरा, Martello से मारतौल, Lelloo से नीलाम। कुछ फ्रेंच भाषा के, जैसे—Cartouche से

कारतूस, Franchis से फरासीसी, Anglais से अंग्रेज; कुछ डच भाषा के—जैसे Troef से तुरुप (ताश का खेल), Boom से बम (गाड़ी का); पर अँगरेजी भाषा के शब्दों की संख्या हमारी भाषा में बहुत अधिक हो गई है और नित्य बढ़ती जा रही है। इनमें से कुछ शब्द तो तत्सम रूप में आए हैं, पर अधिकांश शब्द तद्भव रूप में आए है। तत्सम रूप में आए हुए शब्दों के कुछ उदाहरण ये हैं—इंच, फुट, अमोनिया, बेंच, बिल, बोर्ड, वोट, वार्डर, बजेट, बटन इत्यादि। तद्भव शब्दों के संबंध में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है; जैसे (१) Sample से सैंपुल, Recruit से रंगरूट, Dozen से दर्जन; (२) General से जनरल, Desk से डेकस, (३) Report से रपट, Pantloon से पतलून, Magistrate से मजिस्टर, Lantern से लालटेन, Hundredwieght से हंडर या हंडरवेट; (४) Town-Duty से टून डूटी, Time से टेम, Ticket से टिकट, Quinine से कुनैन, Kettle के केतली। इन उदाहरणों को देखने से यह स्पष्ट होता है कि शब्दों के रूपात्मक विकास में आगम, विपर्यय, लोप और विकार के नियमों में से कोई एक नियम किसी एक शब्द के रूप के परिवर्तित होने में नहीं लगता, वरन् दो या अधिक नियम एक साथ लगते हैं। यदि हम प्रत्येक शब्द के संबंध में सूक्ष्म विश्लेषण न करके एक व्यापक नियम के आधार पर विचार करें, तो सब काम चल जाता है। वह नियम यह है कि जब एक भाषा से दूसरी भाषा में कोई शब्द आता है, तब वह शब्द उस ग्राहक भाषा के अनुरूप उच्चारण के शब्द या निकटतम मित्राक्षर शब्द से, जो उस भाषा में पहले से वर्तमान रहता है, प्रभावान्वित होकर कुछ अक्षरों का लोप करके अथवा कुछ नए अक्षरों को जोड़कर उसके अनुकूल बना लिया जाता है।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उससे यह मुख्य सिद्धांत निकलता है कि हिंदी भाषा में प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के जो शब्द आए हैं, वे या तो तत्सम रूप में आए हैं अथवा तद्भव रूप में। अधिकांश शब्द तद्भव रूप में ही आए हैं, तत्सम शब्दों की संख्या बहुत कम है। पर साथ ही यह प्रवृत्ति भी देख पड़ती है कि जो लोग प्राचीन आर्य भाषाओं के अथवा विदेशी भाषाओं के ज्ञाता है, वे उन भाषाओं के शब्दों को तत्सम रूप में ही व्यवहृत करने का उद्योग करते है। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ रही है कि रूपात्मक विकास के सिद्धांतों की भी परवा न करके लोग उन शब्दों को शुद्ध विदेशी या प्राचीन रूप में ही अपनी भाषा में रक्षित रखना चाहते हैं। इससे एक ओर तो नए उच्चारणों के लिये, जो हमारी भाषा में वर्तमान नहीं हैं, नए चिह्नों के बनाने की आवश्यकता उपस्थित हो गई है और दूसरी ओर हमारी भाषा की पाचन-शक्ति में व्याघात पहुँच रहा है। जिस प्रकार कोई जीवधारी पाचन-शक्ति के मंद पड़ जाने अथवा उसके क्रमशः नष्ट हो जाने के कारण अपनी शारीरिक क्रियाएँ सम्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है, उसी प्रकार जब किसी भाषा की पाचन-शक्ति का नाश हो जाता है, अर्थात् जब उसमें दूसरी भाषाओं के शब्दों को लेकर तथा उन्हें अपने नैसर्गिक रूप में परिवर्तित करके अपना अंग बनाने की शक्ति नहीं रह जाती, तब वह क्रमशः क्षीण होकर या तो नष्टप्राय हो जाती है अथवा ऐसा विकृत रूप धारण करने लगती है कि उसके पूर्व-ऐतिहासिक रूप का पता लगना भी कठिन हो जाता है। संस्कृत, फारसी और अँग्रेजी के विद्वानों को यह ध्यान रखना चाहिए कि अपने पांडित्य की कौंध के आगे वे कहीं अपनी मातृभाषा को विवर्ण और छिन्न भिन्न न कर दें।

यहाँ हम इतना और कह देना चाहते हैं कि जहाँ नई जातियों के संसर्ग तथा नए भावों के उदित होने से हमारी भाषा में नए शब्दों का आगम रोकना असंभव है, वहाँ अपने पूर्व रूप को न पहचानने के कारण अपने प्राचीन शब्द-भांडार से सहायता न लेना भी अस्वाभाविक है। आवश्यकता केवल इस बात की है कि अपना नैसर्गिक रूप न भूला जाय और भाषा को दासत्व की बेड़ी न पहनाई जाय।

हम पहले लिख चुके हैं कि हिंदी में प्राचीन आर्य

भाषाओं के शब्द भी तत्सम, अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में आए हैं। जैसा कि हम पहले निर्देश कर चुके हैं, अनेक अवस्थाओं में एक ही शब्द के तत्सम और तद्भव दोनों रूप प्रयोग में आते हैं। पर ऐसे दोनों रूपों के अर्थों में कुछ सूक्ष्म विभेद हो गया है; जैसे, मेघ—मेह, स्थान—थान या थाना, दर्शन-देखना। इनमें से कहीं तो प्रायः ऐसा देखा जाता है कि तद्भव शब्द के अर्थ में कुछ विशिष्टता आ जाती है और कहीं तत्सम शब्द आदर अथवा महत्ता का सूचक हो जाता है। तत्सम संज्ञावाचक और विशेषणवाचक शब्द संस्कृत से अधिकतर प्रातिपदिक रूप में और कुछ संस्कृत के प्रथमा एकवचन के रूप में आकर हिंदी व्याकरण के शासनाधीन होते हैं। फल, घृत, पशु, सुंदर, कुरूप आदि शब्द प्रातिपदिक रूप में ही लिए हुए हैं। दाता, सरिता, राजा, धनवान्, तेजस्वी आदि प्रथमा एकवचन के रूप में आते हैं। इसका तात्पर्य यही है कि हिंदी के कारक चिह्न स्वतंत्र हो गए हैं और संस्कृत के कारक चिह्नों का प्रयोग हिंदी में लुप्त हो गया है।

प्राचीन भारतीय भाषाओं का प्रभाव

विशेषणों के तारतम्य-सूचक चिह्न भी हिंदी में प्रायः लुप्त हो गए हैं, और उनके स्थान पर शब्दों से काम लिया जाता है। कहीं कहीं इन चिह्नों का जो प्रयोग भी होता है, वह सब तत्सम शब्दों के साथ। जैसे श्रेष्ठतर, पुण्यतर, मंदतम।

हिंदी के संख्यावाचक विशेषणों तथा सर्वनामों में बहुत विकार हो गया है। अब वे सर्वथा तद्भव हो गए हैं। तत्सम नामधातुज क्रियाओं के रूप कविता में तो मिलते हैं, पर गद्य में नहीं मिलते। इधर किसी किसी का प्रयोग गद्य में होने लगा है; पर अधिकांश क्रियाएँ तद्भव ही हैं; और जहाँ कहीं तत्सम शब्दों का प्रयोग किया जाता है, वहाँ तत्सम संज्ञावाचक शब्द के साथ करना, होना, लेना आदि तद्भव क्रियाएँ लगा दी जाती हैं।

हिंदी में तद्भव शब्दों की संख्या बहुत अधिक है। ये संस्कृत से प्राकृत या अपभ्रंश द्वारा विकृत होकर हिंदी में आए हैं। इनके विकृत होने में आगम, लोप, विपर्यय तथा विकार के नियम लगते हैं। ये विकार शब्द के आदि, मध्य या अंत में होते हैं। सब से अधिक परिवर्त्तन शब्दों के मध्य में होता है; इसके अनंतर आरंभ के परिवर्त्तनों की संख्या है; और अंत में तो बहुत कम परिवर्तन होते हैं। इस विषय पर एक स्वतंत्र पुस्तक ही लिखी जा सकती है; अतः हम यहाँ केवल यही बतला देना चाहते हैं कि प्रधानतः प्रयत्नलाघव, स्वरसाम्य और गुणसाम्य आदि के कारण ही अनेक प्रकार के परिवर्तन हुआ करते हैं।

हिंदी में मूल स्वर चार हैं—अ, इ, उ, ऋ। इनके दीर्घ आ, ई, ऊ होते हैं। ऋ के दीर्घ रूप ॠ का हिंदी में प्रयोग नहीं होता; और ह्रस्व ऋ भी केवल तत्सम शब्दों में ही प्रयुक्त होता है। पुरानी हिंदी कविता में ह्रस्व ऋ का भी प्रयोग नहीं मिलता। जहाँ इसकी आवश्यकता होती थी, वहाँ 'रि' लिखा जाता था। पर इधर तत्सम शब्दों का अधिक प्रयोग होने से उनमें सदा ऋ प्रयुक्त होता है। संयुक्त स्वर चार हैं जो इस प्रकार बनते हैं—

हिंदी का नादात्मक विश्लेषण

अ या आ + इ या ई = ए।

अ या आ + उ या ऊ = ओ।

इस प्रकार के संयुक्त स्वरों को गुण कहते हैं। पर जब इन गुण रूपों का साधारण स्वरों से संयोग होता है, तब उन्हें वृद्धि कहते हैं। जैसे,—

अ या आ + ए या ऐ = ऐ।

अ या आ + ओ या औ = औ।

अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी में चार मूल स्वर, तीन दीर्घ स्वर और चार संयुक्त स्वर हैं। इनका कहीं तो पूर्ण उच्चारण होता है और कहीं अपूर्ण। अपूर्ण उच्चारण कहाँ कहाँ होता है, यह नीचे बतलाया जाता है—

(१) हिंदी में अंत्य अ का उच्चारण प्रायः अपूर्ण हल् के समान होता है; जैसे गुण, रात, घन। परंतु यदि अकारांत शब्द का अंत्याक्षर संयुक्त हो, तो अंत्य अ का पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे सत्य, इंद्र, गुरुत्व, धर्म, अशक्त। इसी प्रकार यदि इ, ई या ऊ के आगे अंतिम अक्षर य हो, तो उसके अ का पूर्ण उच्चारण होता है;

जैसे प्रिय, सीय, राजसूय। एकाक्षरी अकारांत शब्दों के अंत्य अ का भी पूर्ण उच्चारण होता है; जैसे न, ब।

(२) कविता में अंत्य अ का उच्चारण कुछ अधिक स्पष्ट होता है; परंतु यदि अक्षर पर यति होती है, तो उच्चारण बहुधा अपूर्ण ही रहता है। इसी प्रकार दीर्घ स्वरांत त्र्यक्षरी शब्दों में यदि दूसरा अक्षर अकारांत हो, अथवा यदि चार अक्षरों के ह्रस्व-स्वरांत शब्दों में दूसरा अक्षर अकारांत हो, अथवा चार अक्षरों के दीर्घ-स्वरांत शब्दों में तीसरा अक्षर अकारांत हो, तो इन सब अवस्थाओं में अ का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे बकरा, कपड़ा, करना, गड़बड़, मानसिक, सुरलोक, समझना, सुनहला, कचहरी आदि। परंतु यदि चार अक्षरों के ह्रस्व स्वरांत शब्दों में दूसरा अक्षर संयुक्त हो अथवा पहला अक्षर कोई उपसर्ग हो, तो दूसरे अक्षर के अ का उच्चारण पूर्ण होता है; जैसे पुत्रलाभ, धर्महीन, आचरण, प्रचलित आदि।

(३) समस्त-शब्दों के पूर्वपद के अंत्य अ का उच्चारण अपूर्ण होता है; जैसे—सुरलोक, अन्नदाता, सुखदायक।

(४) हिंदी के तत्सम शब्दों में ऐ और औ का उच्चारण तो संस्कृत के समान ही होता है, पर तद्भव शब्दों में यह अय और अव का सा होता है। पूर्वी हिंदी में 'ऐ' का उच्चारण 'अइ' और औ का उच्चारण 'अउ' के सदृश होता है।

(५) कहीं तो ए, ऐ, ओ और औ का आधा उच्चारण होता है और कहीं पूरा। अपूर्ण उच्चारण में प्रयत्न-लाघव का सिद्धांत काम करता है। पर इस संबंध में यह ध्यान रखना चाहिए कि इन संयुक्त स्वरों की मात्राएँ होने से इनकी गिनती दो अक्षरों के समान होनी चाहिए। डाक्टर ग्रियर्सन ने इस संबंध में ये नियम बताए हैं—

(क) जब कभी आ किसी शब्द के अंत से पूर्व तीसरा वर्ण होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है; जैसे, नाउआ, आगिया और पानिआ के ना, आ और या का आ। इसके अपूर्ण उच्चारण होने के कारण यह आ प्रायः अ ही लिखा जाता है; जैसे, नउआ, अगिया, पनिआ।

[पर वास्तव में यह नियम सर्वत्र नहीं लगता, केवल वहीं लगता है, जहाँ पूर्वी हिंदी में स्वार्थे अन्वादेश (किसी संबंध में एक बार निर्दिष्ट किसी वस्तु या व्यक्ति का पुनः दूसरे संबंध में निर्देश) या परिचित अथवा ज्ञात अर्थ में 'वा' अथवा 'या' लगाते हैं; जैसे—देखवा, पनिया इत्यादि। 'जालिया' 'सितारिया' आदि शब्दों में 'जा' या 'ता' के ह्रस्व करने की कोई प्रवृत्ति नहीं रहती।]

(ख) जब कोई दीर्घ या संयुक्त स्वर शब्द के अंत से पूर्व तीसरा होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है, यदि उसके अनंतर य और व से भिन्न कोई व्यंजन हो, जैसे— नेनुआँ में का 'ने'।

(ग) कोई स्वर या संयुक्त स्वर जब तीसरे वर्ण से पूर्व होता है, तब उसका अपूर्ण उच्चारण होता है, चाहे उसके पीछे व्यंजन आवे या नहीं, जैसे—देखवाना।

पर ये नियम प्रायः तद्भव शब्दों के संबंध में ही लगते हैं। कविता में उक्त लघुप्रयत्न का ही अधिक प्रयोग पाया जाता है।

हिंदी में स्वराघात

हिंदी में शब्दों के उच्चारण में कहीं कहीं स्वरों पर जोर दिया जाता है। इसके लिये भी कुछ नियम निर्धारित किए गए हैं, जो इस प्रकार हैं—

(१) यदि शब्द के अंत में अपूर्णोच्चरित अ आवे, तो उसके पूर्ववर्त्ती अक्षर पर जोर पड़ता है, जैसे, घर, झाड़, सड़क।

(२) यदि शब्द के मध्य में अपूर्णोच्चरित अ आवे तो उसके पूर्ववर्त्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे, अनबन, बोलकर।

(३) संयुक्त व्यंजनों में पूर्ववर्त्ती अक्षर पर जोर पड़ता है; जैसे, हल्ला, आज्ञा, चित्र।

(४) विसर्ग या अनुस्वार-युक्त अक्षरों के उच्चारण पर भी जोर पड़ता है; जैसे, दुःख अंतःकरण, अंक, अंश।

(५) यौगिक शब्दों में मूल अवयवों के अक्षरों का जोर जैसे का तैसा बना रहता है; जैसे, गुणवान, जलमय, प्रेमसागर।

(६) शब्दों के आरंभ का अ सदा पूर्ण उच्चरित होता है।

(७) इ, उ वा ऋ के पूर्ववर्त्ती स्वर का उच्चारण कुछ लंबा होता है; जैसे, हरि, साधु, समुदाय, पितृ।

(८) यदि शब्द के एक ही रूप से भिन्न अर्थ निकलते हों, तो उनका अंतर स्वराघात से सूचित किया जाता है। जैसे, उसने "ढिठाई की" और "उसकी घड़ी"। यहाँ क्रियात्मक "की" के रूप पर जोर दिया जाता है, विभक्ति "की" पर नहीं। इसी प्रकार 'बढ़ा' शब्द विधि काल और सामान्य भूत काल दोनों में आता है। इनका भेद करने के लिये विधि काल के सूचक 'बढ़ा' पर जोर दिया जाता है, सामान्य भूतकाल के रूप पर नहीं।

हिंदी के विकास की अवस्थाएँ

हिंदी का विकास क्रमशः प्राकृत और अपभ्रंश के अनंतर हुआ है। पर पिछली अपभ्रंश में भी हिंदी के बीज बहुत स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, इसी लिये इस मध्यवर्त्ती नागर अपभ्रंश को कुछ विद्वानों ने पुरानी हिंदी माना है। यद्यपि अपभ्रंश की कविता बहुत पीछे की बनी हुई भी मिलती है, परंतु हिंदी का विकास चंद बरदाई के समय से स्पष्ट देख पड़ने लगता है। इसका समय बारहवी शताब्दी का अंतिम अर्ध भाग है, परंतु उस समय भी इसकी भाषा अपभ्रंश से बहुत भिन्न हो गई थी। अपभ्रंश का यह उदाहरण लीजिए—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि महारा कंतु।
लज्जेजंतु वयंसिअह जइ भग्गा घरु एंतु ॥ १ ॥
पुत्ते जाएँ कवण गुणु अवगुणु कवणु मुएण।
जा बप्पी की भुंहडीं चम्पिज्जइ अवरेण ॥ २ ॥

दोनों दोहे हेमचंद्र के हैं जिनका जन्म संवत् ११४५ में और मृत्यु सं० १२२९ में हुई थी। अतएव यह माना जा सकता है कि ये दोहे सं० १२०० के लगभग अथवा उसके कुछ पूर्व लिखे गए होंगे। अब हिंदी के आदि कवि चंद के कुछ छंद लेकर मिलाइए और देखिए, दोनों में कहाँ तक समता है।

उच्चिष्ट छंद चंदह वयन सुनत सुजंपिय नारि।
तनु पवित्त पावन कविय उकति अनूठ उधारि ॥
ताड़ी खुल्लिय ब्रह्म दिक्खि इक असुर अदब्भुत।
दिग्घ देह चख सीस मुष्प करुना जस जप्पत ॥

हेमचंद्र और चंद की कविताओं को मिलाने से यह स्पष्ट विदित होता है कि हेमचंद्र की कविता कुछ प्राचीन है और चंद की उसकी अपेक्षा कुछ अर्वाचीन। हेमचंद्र ने अपने व्याकरण में अपभ्रंश के कुछ उदाहरण दिए हैं, जिनमें से ऊपर के दोनों दोहे लिए गए हैं; पर ये सब उदाहरण स्वयं हेमचंद्र के बनाए हुए ही नहीं हैं। संभव है कि इनमें से कुछ स्वयं उनके बनाए हुए हों; पर अधिकांश अवतरण मात्र हैं और इसलिये उनके पहले के हैं।

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के द्वितीय चरण में वर्तमान महाराज भोज का पितृव्य द्वितीय वाक्पतिराज परमार मुंज जैसा पराक्रमी था, वैसा ही कवि भी था। एक बार वह कल्याण के राजा तैलप के यहाँ कैद था। कैद ही में तैलप की बहन मृणालवती से उसका प्रेम हो गया और उसने कारागृह से निकल भागने का अपना भेद अपनी प्रणयिनी को बतला दिया। मृणालवती ने मुंज का मंसूबा अपने भाई से कह दिया, जिससे मुंज पर और अधिक कड़ाई होने लगी। निम्नलिखित दोहे मुंज की तत्कालीन रचना हैं—

जा मति पच्छइ संपज्जइ सा मति पहिली होइ।
मुंज भणइ मुणालवइ विघन न बेढइ कोइ ॥

(जो मति पीछे संपन्न होती है, वह यदि पहले हो, तो मुंज कहता है, हे मृणालवती, कोई विघ्न न सतावे।)

सायर खाई लंक गढ़ गढ़वइ दससिरि राउ।
भग्गक्खय सो भज्जि गय मुंज म करि विसाउ ॥

(सागर खाई, लंका गढ़, गढ़पति दशकंधर राजा भाग्य-क्षय होने पर सब चौपट हो गए। मुंज विषाद मत कर।)

ये दोहे हिंदी के कितने पास पहुँचते हुए हैं, यह इन्हें पढ़ते ही पता लग जाता है। इनकी भाषा साहित्यिक है, अतः रूढ़ि के अनुसार इसमें कुछ ऐसे शब्दों के प्राकृत रूप भी रखे हुए है जो बोलचाल में प्रचलित न थे, जैसे संपज्जइ, सायर, मुणालवइ, बिसाउ। इन्हें यदि निकाल दें तो भाषा और भी स्पष्ट हो जाती है।

इस अवस्था में यह माना जा सकता है कि हेमचंद्र के समय से पूर्व हिंदी का विकास होने लग गया था और चंद के समय तक उसका कुछ कुछ रूप स्थिर हो गया था; अतएव हिंदी का आदि काल हम सं० १०५० के लगभग मान सकते हैं। यद्यपि इस समय के पूर्व के कई हिंदी कवियों के नाम बताए जाते हैं, परंतु उनमें से किसी की रचना का कोई उदाहरण कहीं देखने में नहीं आता। इस अवस्था में उन्हें हिंदी के आदि काल के कवि मानने में संकोच होता है। पर चंद को हिंदी का आदि कवि मानने में किसी को संदेह नहीं हो सकता। कुछ लोगों का यह कहना है कि चंद का पृथ्वी-राज रासो बहुत पीछे का बना हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि इस रासो में बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश है, पर साथ ही उसमें प्राचीनता के चिह्न भी कम नहीं हैं। उसके कुछ अंश अवश्य प्राचीन जान पड़ते हैं।

चंद का समकालीन जगनिक कवि हुआ है जो बुंदेल-खंड के प्रतापी राजा परमाल के दरबार में था। यद्यपि इस समय उसका बनाया कोई ग्रंथ नहीं मिलता, पर यह माना जाता है कि उसके बनाए ग्रंथ के आधार पर ही आरंभ में "आल्हखंड" की रचना हुई थी। अभी तक इस ग्रंथ की कोई प्राचीन प्रति नहीं मिली है; पर संयुक्त प्रदेश और बुंदेलखंड में इसका बहुत प्रचार है और यह बराबर गाया जाता है। लिखित प्रति न होने तथा इसका रूप सर्वथा आल्हा गानेवालों की स्मृति पर निर्भर होने के कारण इसमें बहुत कुछ प्रक्षिप्त अंश भी मिलता गया है और भाषा में भी फेरफार होता गया है।

हिंदी के जन्म का समय भारतवर्ष के राजनीतिक उलट-फेर का था। उसके पहले ही से यहाँ मुसलमानों का आना आरंभ हो गया था और इस्लाम धर्म के प्रचार तथा उत्कर्ष-वर्धन में उत्साही और दृढ़संकल्प मुसलमानों के आक्रमणों के कारण भारतवासियों को अपनी रक्षा की चिंता लगी हुई थी। ऐसी अवस्था में साहित्य कला की वृद्धि की किसको चिंता हो सकती थी? ऐसे समय में तो वे ही कवि सम्मानित हो सकते थे जो केवल कलम चलाने में ही निपुण न हों, वरन् तल-वार चलाने में भी सिद्धहस्त हों तथा सेना के अग्र भाग में रहकर अपनी वाणी द्वारा सैनिकों का उत्साह बढ़ाने में भी समर्थ हों। चंद और जगनिक ऐसे ही कवि थे, इसी लिये उनकी स्मृति अब तक बनी है। परंतु उनके अनंतर कोई सौ वर्ष तक हिंदी का सिंहासन सूना देख पड़ता है। अतएव हिंदी का आदि काल संवत् १०५० के लगभग आरंभ होकर १३७५ तक चलता है। इस काल में विशेष कर वीर-काव्य रचे गए थे। ये काव्य दो प्रकार की भाषाओं में लिखे जाते थे। एक भाषा का ढाँचा तो बिलकुल राजस्थानी या गुजराती का होता था जिसमें प्राकृत के पुराने शब्द भी बहुतायत से मिले रहते थे। यह भाषा जो चारणों के बीच बहुत काल पीछे तक चलती रही है, डिंगल कहलाती है। दूसरी भाषा एक सामान्य साहित्यिक भाषा थी जिसका व्यवहार ऐसे विद्वान् कवि करते थे जो अपनी रचना को अधिक देश-व्यापक बनाना चाहते थे। इसका ढाँचा पुरानी व्रज भाषा का होता था जिसमें थोड़ा बहुत खड़ी या पंजाबी का भी मेल हो जाता था। इसे 'पिंगल' भाषा कहने लगे थे। वास्तव में हिंदी का संबंध इसी भाषा से है। पृथ्वीराज रासो इसी साहित्यिक सामान्य भाषा में लिखा हुआ है। बीसलदेव रासो की भाषा साहित्यिक नहीं है। हाँ, यह कहा सकता है कि उसके कवि ने जगह जगह अपनी राजस्थानी बोली में इस सामान्य साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न अवश्य किया है।

इसके अनंतर हिंदी के विकास का मध्य काल आरंभ होता है जो ५२५ वर्षों तक चलता है। भाषा के विचार से इस काल को हम दो मुख्य भागों में विभक्त कर सकते हैं—एक सं० १३७५ से १७०० तक और दूसरा १७०० से १९०० तक। प्रथम भाग में हिंदी की पुरानी बोलियाँ बदल कर व्रज भाषा, अवधी और खड़ी बोली का रूप धारण करती हैं; और दूसरे भाग में उनमें प्रौढ़ता आती है; तथा अंत में अवधी और व्रजभाषा का मिश्रण सा हो जाता है और काव्य भाषा का एक सामान्य रूप खड़ा हो जाता है। इस काल के प्रथम भाग में राजनीतिक

स्थिति डाँवाँडोल थी। पीछे से उसमें क्रमशः स्थिरता आई जो दूसरे भाग में दृढ़ता को पहुँच कर पुनः डाँवाँडोल हो गई। हिंदी के विकास की चौथी अवस्था संवत् १९०० में आरंभ होती है। उसी समय से हिंदी गद्य का विकास नियमित रूप से आरंभ हुआ और खड़ी बोली का प्रयोग गद्य और पद्य दोनों में होने लगा।

कुछ लोगों का यह कहना है कि हिंदी की खड़ी बोली का रूप प्राचीन नहीं है। उनका मत है कि सन् १८०० ई० के लगभग लल्लूजीलाल ने इसे पहले पहल अपने गद्य ग्रंथ प्रेमसागर में यह रूप दिया और तब से खड़ी बोली का प्रचार हुआ। ग्रियर्सन साहब 'लालचंद्रिका' की भूमिका में लिखते हैं--

"Such a language did not exist in India before......When, therefore, Lallujilal wrote his Premsagara in Hindi, he was inventing an altogether new language"

अर्थात्--"इस प्रकार की भाषा का इसके पहले भारत में कहीं पता न था..... अतएव जब लल्लूजीलाल ने प्रेमसागर लिखा, तब वे एक बिलकुल ही नई भाषा गढ़ रहे थे।"

इसी बात को लेकर उक्त महोदय अपनी Linguistic Survey (भाषाओं की जाँच) की रिपोर्ट के पहले भाग में लिखते हैं--

"This Hindi (*i. e.* Sanskritized or at least non-Persianized form of Hindustani), therefore, or as it is sometimes called 'High Hindi', is the prose literary language of those Hindus who do not employ Urdu. It is of modern origin, having been introduced under English influence at the commencement of the last century. ....Lallulal, under the inspiration of Dr. Gilchrist changed all this by writing the well-known Prem-Sagar, a work which was, so far as the prose portion went, practically written in Urdu with Indo-Aryan words substituted whereever a writer in that form of speech would use Persian ones"

अर्थात्--"अतः यह हिंदी (अर्थात् संस्कृत-बहुल हिंदुस्तानी अथवा कम से कम वह हिंदुस्तानी जिसमें फारसी शब्दों का मिश्रण नहीं है) जिसे कभी कभी लोग "उच्च हिंदी" कहते हैं, उन हिंदुओं की गद्य साहित्य की भाषा है जो उर्दू का प्रयोग नहीं करते। इसका आरंभ हाल में हुआ है और इसका व्यवहार गत शताब्दी के आरंभ से अँगरेज़ी प्रभाव के कारण होने लगा है।......... लल्लूलाल ने डा० गिलक्रीस्ट की प्रेरणा से सुप्रसिद्ध प्रेम-सागर लिखकर ये सब परिवर्त्तन किये थे। जहाँ तक गद्य भाग का संबंध है, वहाँ तक यह ग्रंथ ऐसी उर्दू भाषा में लिखा गया था जिसमें उन स्थानों पर भारतीय आर्य्य शब्द रख दिए गए थे जिन स्थानों पर उर्दू लिखनेवाले लोग फारसी शब्दों का व्यवहार करते हैं।"

ग्रियर्सन साहब ऐसे भाषातत्त्वविद् की लेखनी से ऐसी बात न निकलनी चाहिए थी। यदि लल्लूजीलाल नई भाषा गढ़ रहे थे तो क्या आवश्यकता थी कि उनकी गढ़ी हुई भाषा उन साहबों को पढ़ाई जाती जो उस समय केवल इसी अभिप्राय से हिंदी पढ़ते थे कि इस देश की बोली सीखकर यहाँ के लोगों पर शासन करें? प्रेम-सागर उस समय जिस भाषा में लिखा गया, वह लल्लूजीलाल की जन्मभूमि 'आगरा' की भाषा थी, जो अब भी बहुत कुछ उससे मिलती जुलती बोली जाती है। उनकी शैली में व्रज भाषा के मुहाविरों का जो पुट देख पड़ता है, वह उसकी स्वतंत्रता, प्रचलन और प्रौढ़ता का द्योतक है। यदि केवल अरबी, फारसी शब्दों के स्थान में संस्कृत शब्द रखकर भाषा गढ़ी गई होती तो यह बात असंभव थी। कल के राजा शिवप्रसाद की भाषा में उर्दू का जो रंग है, वह प्रेमसागर की भाषा में नहीं पाया जाता। इसका कारण स्पष्ट है। राजा साहब ने उर्दू की भाषा को हिंदी का कलेवर दिया है और लल्लूजीलाल ने पुरानी ही खोल ओढ़ी है। एक लेख का व्यक्तित्व उसकी भाषा में प्रतिबिंबित है तो दूसरे का लोक-व्यवहार-ज्ञान में।

दूसरे, लल्लूजीलाल के समकालीन और उनके कुछ पहले के सदल मिश्र, मुंशी सदासुख और सैयद इंशा उल्लाखाँ की रचना भी तो खड़ी बोली में ही है। उसमें ऐसी प्रौढ़ता और ऐसे विन्यास का आभास मिलता है जो नई गढ़ी हुई भाषा में नहीं, किंतु प्रचुर-प्रयुक्त तथा शिष्ट-परिगृहीत भाषाओं में ही पाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त तेरहवीं शताब्दी के मध्य भाग में वर्त्तमान अमीर खुसरो ने अपनी कविता में इसी भाषा का प्रयोग किया है। पहले गद्य की सृष्टि होती है, तब पद्य की। यदि यह भाषा उस समय न प्रचलित होती तो अमीर खुसरो ऐसा "घटमान*" कवि इसमें कभी कविता न करता। स्वयं उसकी कविता इसका साक्ष देती है कि वह चलती रोजमर्रा में लिखी गई है, न कि सोच सोचकर गढ़ी हुई किसी नई बोली में।

कविता में खड़ी बोली का प्रयोग मुसलमानों ने ही नहीं किया है, हिंदू कवियों ने भी किया है। यह बात सच है कि खड़ी बोली का मुख्य स्थान मेरठ के आसपास होने के कारण और भारतवर्ष में मुसलमानी राजशासन का केंद्र दिल्ली होने के कारण पहले पहल मुसलमानों और हिंदुओं की पारस्परिक बातचीत अथवा उनमें भावों और विचारों का विनिमय इसी भाषा के द्वारा आरंभ हुआ और उन्हीं की उत्तेजना से इस भाषा का व्यवहार बढ़ा। इसके अनंतर मुसलमान लोग देश के अन्य भागों में फैलते हुए इस भाषा को अपने साथ लेते गए और उन्होंने इसे समस्त भारतवर्ष में फैलाया। पर यह भाषा यहीं की थी और इसी में मेरठ प्रांत के निवासी अपने भाव प्रकट करते थे। मुसलमानों के इसे अपनाने के कारण यह एक प्रकार से उनकी भाषा मानी जाने लगी। अतएव मध्य काल में हिंदी भाषा तीन रूपों में देख पड़ती है—व्रज भाषा, अवधी और खड़ी बोली। जैसे आरंभ काल की भाषा प्राकृत-प्रधान थी, वैसे ही इस काल की तथा इसके पीछे की भाषा संस्कृत-प्रधान हो गई। अर्थात् जैसे साहित्य की भाषा की शोभा बढ़ाने के लिये आदि काल में प्राकृत शब्दों का प्रयोग होता था, वैसे मध्य काल में संस्कृत शब्दों का प्रयोग होने लगा। इससे यह तात्पर्य नहीं निकलता कि शब्दों के प्राकृत रूपों का अभाव हो गया। प्राकृत के कुछ शब्द इस काल में भी बराबर प्रयुक्त होते रहे; जैसे भुआल, सायर, गय, बसह, नाह, लोयन आदि।

उत्तर या वर्त्तमान काल में साहित्य की भाषा में व्रज भाषा और अवधी का प्रचार घटता गया और खड़ी बोली का प्रचार बढ़ता गया। इधर इसका प्रचार इतना बढ़ा है कि अब हिंदी का समस्त गद्य इसी भाषा में लिखा जाता है और पद्य की रचना भी बहुलता से इसी में हो रही है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसका विशेष संबंध साहित्य की भाषा से है। बोलचाल में तो अब तक अवधी, व्रज भाषा और खड़ी बोली अनेक स्थानिक भेदों और उपभेदों के साथ प्रचलित हैं; पर साधारण बोलचाल की भाषा खड़ी बोली ही है।

हिंदी की उपभाषाएँ या बोलियाँ।

हमने ऊपर हिंदी के विकास के भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न बोलियों के नाम दिए हैं। इनमें मुख्य राजस्थानी, अवधी, व्रज भाषा और खड़ी बोली हैं। बुंदेलखंडी व्रज भाषा के अंतर्गत आती है। अब हम इन पर अलग अलग विचार करेंगे।

(१) राजस्थानी भाषा—यह भाषा राजस्थान में बोली जाती है। इसके पूर्व में व्रज भाषा और बुंदेली, दक्षिण में बुंदेली, मराठी, भीली, खानदेशी और गुजराती, पश्चिम में सिंधी और पश्चिमी पंजाबी तथा उत्तर में पश्चिमी पंजाबी और बाँगड़ू भाषाओं का प्रचार है। इनमें से मराठी, सिंधी और पश्चिमी पंजाबी बहिरंग शाखा की भाषाएँ हैं और शेष सब अंतरंग शाखा की भाषाएँ हैं।

जहाँ इस समय पंजाबी, गुजराती और राजस्थानी भाषाओं का, जो अंतरंग भाषाएँ हैं, प्रचार है, वहाँ पूर्व काल में बहिरंग भाषाओं का प्रचार था। क्रमशः अंतरंग समुदाय की भाषाएँ इन स्थानों में फैल गई और बहि-

---

* दे० काव्यमीमांसा ५ पृ० १९।

रंग समुदाय की भाषाओं को अपने स्थान से च्युत करके उन्होंने उन स्थानों में अपना अधिकार जमा लिया। आधुनिक राजस्थानी में बहिरंग भाषाओं के कुछ अवशिष्ट चिह्न मिलते हैं; जैसे आ, ए, ऐ और ओ के उच्चारण साधारण न होकर उससे कुछ भिन्न होते हैं। इसी प्रकार छ का उच्चारण स से मिलता जुलता और शुद्ध स का ह के समान होता है। इसके अतिरिक्त राजस्थानी भाषाओं की संज्ञा का विकारी रूप बहिरंग भाषाओं के समान आकारांत होता है और संबंध कारक का चिह्न बँगला के समान र होता है।

बहिरंग भाषाओं को उनके स्थान से हटाकर अंतरंग भाषाओं के प्रचलित होने के प्रमाण कई ऐतिहासिक घटनाओं से भी मिलते है। महाभारत के समय में पंचाल देश का विस्तार चंबल नदी से हरद्वार तक था; अतएव उसका दक्षिणी भाग राजपूताने का उत्तरी भाग था। पाश्चात्य पंडित तथा उनके अनुयायी अन्य विद्वान् यह मानते हैं कि पांचाल लोग उन आर्यों में से थे जो पहले भारतवर्ष में आए थे; इसलिये उनकी प्राचीन भाषा बहिरंग समुदाय की थी। जब अंतरंग समुदाय की भाषा बोलनेवाले आर्य, जो पीछे भारतवर्ष में आए, अधिक शक्ति-संपन्न होकर चारों ओर फैलने लगे, तब उन्होंने बहिरंग भाषाओं के स्थान में बसे हुए आर्यों को दक्षिण की ओर खदेड़ना आरंभ कर दिया। इसी प्रकार अंतरंगवासी आर्य बहिरंग आर्यों को चीरते हुए गुजरात की ओर चले गए और समुद्र के किनारे तक बस गए। महाभारत के समय में द्वारका का उपनिवेश स्थापित हुआ था और उसके पीछे कई बार आर्य लोग मध्य देश से जाकर वहाँ बसे थे। डाक्टर ग्रियर्सन का अनुमान है कि ये लोग राजपूताने के मार्ग से गए होंगे; क्योंकि सीधे मार्ग से जाने में मरु देश पड़ता था जहाँ का मार्ग बहुत कठिन था। पीछे की शताब्दियों में आर्य लोग मध्य देश से जाकर राजपूताने में बसे थे। बारहवीं शताब्दी में राठौरों का कन्नौज छोड़कर मारवाड़ में बसना इतिहास-प्रसिद्ध बात है। जयपुर के कछवाहे अवध से और सोलंकी पूर्वी पंजाब से राजपूताने में गए थे। यादव लोग मथुरा से जाकर गुजरात में बसे थे। इन बातों से यह स्पष्ट अनुमान होता है कि मध्य देश से जाकर आर्य लोग गंगा के दोआबे से लेकर गुजरात में समुद्र के किनारे तक बस गए थे और वहाँ के बसे हुए पूर्ववर्ती आर्यों को उन्होंने खदेड़ कर हटा दिया था। इससे यह भी स्पष्ट है कि आधुनिक राजस्थानी भाषा बोलनेवाले मध्य देश के परवर्ती आर्य थे; और ऐसी दशा में उनकी भाषा में बहिरंग भाषाओं का कुछ कुछ प्रभाव बाकी रह जाना स्वाभाविक ही है।

राजस्थानी भाषा की चार बोलियाँ है—मारवाड़ी, जयपुरी, मेवाड़ी और मालवी। इनके अनेक भेद उपभेद हैं। मारवाड़ी का पुराना साहित्य डिंगल नाम से प्रसिद्ध है। जो लोग व्रज भाषा में कविता करते थे, उनकी भाषा पिंगल कहलाती थी; और उससे भेद करने के लिये मारवाड़ी भाषा का उसी की ध्वनि पर गढ़ा हुआ डिंगल नाम पड़ा। जयपुरी में भी साहित्य है। दादू दयाल और उनके शिष्यों की वाणी इसी भाषा में है। मेवाड़ी और मालवी में किसी प्रकार के साहित्य का पता नहीं चला है। इन भिन्न भिन्न बोलियों की बनावट पर ध्यान देने से यह प्रकट होता है कि जयपुरी और मारवाड़ी गुजराती से, मेवाती व्रज भाषा से और मालवी बुंदेलखंडी से बहुत मिलती जुलती है। संज्ञा शब्दों के एकवचन रूप प्रायः समान ही हैं, पर बहुवचनों में अंतर पड़ जाता है; जैसे, एकवचन घर, घोड़ा, घोड़ी; पर बहुवचन में इनके रूप क्रमशः घरयाँ, घोड़ाँ, घोड्याँ हो जाते हैं। जयपुरी और मारवाड़ी की विभक्तियाँ इस प्रकार हैं—

कारक	जयपुरी	मारवाड़ी
संबंध	को, का, की	रो, रा, री
संप्रदान	नै, कै	नै
अपादान	सूँ, सैं	सूँ, ऊँ

व्रज भाषा में अपादान की विभक्ति सों, तें और बुंदेलखंडी की सों, सें होती है जो जयपुरी और मारवाड़ी

दोनों से मिलती है। व्रज भाषा और बुंदेलखंडी में तो संबंध कारक की विभक्ति परस्पर मिलती है, पर मारवाड़ी की भिन्न है।

व्यक्तिवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है। व्रज भाषा और बुंदेलखंडी में एकवचन का मूल रूप मो, मुज, मे या तो, तुज, ते है; पर राजस्थानी में मुँ, त, तू है, जो गुजराती से मिलता है। बहुवचन में हम, तुम की जगह म्हाँ, थाँ हो गया है। राजस्थानी में एकवचन के पहले व्यंजन को हकार-मय करने की भी प्रवृत्ति है; जैसे म्हा। सारांश यह कि व्यक्तिवाचक सर्वनामों में कहीं गुजराती से और कहीं व्रज भाषा या बुंदेलखंडी से साम्य है और कहीं उसके सर्वथा स्वतंत्र रूप हैं। निश्चयवाचक सर्वनामों की भी यही अवस्था है।

राजस्थानी भाषाओं की क्रियाओं में एक बड़ी विशेषता है। उनमें कर्मणि-प्रयोग बराबर मिलता है जो पश्चिमी हिंदी में बहुत ही कम होता है। इन भाषाओं की क्रियाओं में धातु रूप वेही हैं जो दूसरी आधुनिक भारतीय भाषाओं में मिलते हैं; केवल उनके उच्चारण में कहीं कहीं भेद है। राजस्थानी क्रियाओं में विशेषता इतनी ही है कि वर्तमान काल में उत्तम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय आँ होता है, पर प्रथम पुरुष बहुवचन का प्रत्यय विशेषण के समान आ होता है। जैसे—

वचन	जयपुरी	मारवाड़ी
वर्तमान काल—		
एकवचन		
उ० पु०	छूँ	हूँ
म० पु०	छइ	हइ
अ० पु०	छइ	हइ
बहुवचन		
उ० पु०	छाँ	हाँ
म० पु०	छो	हो
अ० पु०	छइ	हइ
भूत काल—		
एकवचन पुं०	छो	हो
बहुवचन पुं०	छा	हा

राजस्थानी में क्रियाओं के रूप प्रायः पश्चिमी हिंदी के समान होते हैं। भविष्यत् काल में राजस्थानी के रूप दो प्रकार के होते हैं—(१) एक तो प्राकृत के अनुरूप; जैसे, प्रा० चलिस्सामि, चलिहामि, चलस्यूँ, चलह्यूँ; और (२) दूसरा "गा" या "ला" प्रत्यय लगाकर; जैसे चलूँलो, चलाँला, चलूँला, चलूँगो, चलाँगा।

राजस्थानी भाषा वाक्य-विन्यास के संबंध में गुजराती का अनुकरण करती है। पश्चिमी हिंदी में बोलने का अर्थ देनेवाली क्रियाओं के संबंध में जिससे बोला जाय, उसका रूप अपादान कारक में होता है; जैसे—'राम गोविंद से कहता है'। पर गुजराती में इसका रूप संप्रदान कारक का सा होता है; जैसे "राम गोबिंद ने कहे छे"। पश्चिमी हिंदी में जब कोई सकर्मक क्रिया सामान्य भूत काल में प्रयुक्त होती है, और कर्म सप्रत्यय रखा जाता है, तब उसका रूप पुल्लिंग का सा होता है, पर गुजराती में कर्म के अनुसार लिंग होता है; जैसे (प० हिं०) 'उसने स्त्री को मारा,' (गु०) 'तेणे स्त्री ने मारी'। और राजस्थानी में दोनों प्रकार के प्रयोग होते हैं।

ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका सारांश यही है कि राजस्थानी भाषा पर गुजराती का बहुत प्रभाव पड़ा है। संज्ञाओं के कारक रूपों में यह गुजराती से बहुत मिलती है, पश्चिमी हिंदी से नहीं। राजस्थानी की विभक्तियाँ अलग ही हैं। जहाँ कहीं समानता है, वहाँ गुजराती से अधिक है, पश्चिमी हिंदी से कम।

(२) **अवधी**—इस भाषा का प्रचार अवध, आगरा प्रदेश, बघेलखंड, छोटा नागपुर और मध्य प्रदेश के कई भागों में है। इसकी प्रचार-सीमा के उत्तर में नेपाल की पहाड़ी भाषाएँ, पश्चिम में पश्चिमी हिंदी, पूर्व में बिहारी तथा उड़िया और दक्षिण में मराठी भाषा बोली जाती है।

अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी। अवधी और बघेली में कोई अंतर नहीं है। बघेलखंड में बोली जाने के ही कारण वहाँ अवधी का नाम बघेली पड़ गया है। छत्तीसगढ़ी पर मराठी और उड़िया का प्रभाव पड़ा है और इस कारण वह अवधी से कुछ बातों में भिन्न हो गई है।

हिंदी साहित्य में अवधी भाषा ने एक प्रधान स्थान ग्रहण किया है। इसके दो मुख्य कवि मलिक मुहम्मद जायसी और गोस्वामी तुलसीदासजी हैं। मलिक मुहम्मद ने अपने ग्रंथ पद्मावत का आरंभ संवत् १५८७ में और गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने रामचरितमानस का आरंभ संवत् १६३१ में किया था। दोनों में ३०-३५ वर्ष का अंतर है। पर पद्मावत की भाषा अपने शुद्ध रूप में, जैसी वह बोली जाती थी, वैसी ही है; और गोस्वामी तुलसीदासजी ने उसे साहित्यिक रूप देने का सफलतापूर्ण उद्योग किया है। अवधी के भी दो रूप मिलते हैं—एक पश्चिमी, दूसरा पूर्वी। पश्चिमी अवधी लखनऊ से कन्नौज तक बोली जाती है; अतएव व्रज भाषा की सीमा के निकट पहुँच जाने के कारण उसका इस पर बहुत प्रभाव पड़ा है और यह उससे अधिक मिलती है। पूर्वी अवधी गोंडे और अयोध्या के पास बोली जाती है। यहाँ की भाषा शुद्ध अवधी है। इस विभेद को स्पष्ट करने के लिये हम दोनों के तीन सर्वनामों के रूप यहाँ देते हैं।

वर्त्तमान हिंदी	पूर्वी अवधी		पश्चिमी अवधी	
	अविकारी	विकारी	अविकारी	विकारी
कौन	के	के	को	का
जो	जे	जे	जो	जा
वह	से, ते	ते	सो	ता

क्रियापदों में भी इसी प्रकार का भेद मिलता है। पश्चिमी अवधी में व्रज भाषा के समान साधारण क्रिया का नांत रूप रहता है; जैसे आवन, जान, करन। पर पूर्वी अवधी में उसके अंत में ब प्रत्यय आता है; जैसे—आउब, जाब, करब। इन साधारण क्रियापदों में कारक चिह्न या दूसरी क्रिया लगने पर पश्चिमी अवधी का नांत रूप बना रहता है; जैसे—आवन काँ, करन माँ, आवन लाग; पर पूर्वी अवधी में साधारण क्रिया का वर्त्तमान तिङन्त (साध्यावस्थापन्न) रूप हो जाता है; जैसे—आवै काँ, जाय माँ, आवै लाग, सुनै चाहौं। करण के चिह्न के पहले पूर्वी और पश्चिमी दोनों प्रकार की अवधी में भूत कृदंत का रूप हो जाता है; जैसे—आए से, चले से, आए सन्, दिए सन्। पश्चिमी अवधी में भविष्यत् काल में प्रथम पुरुष एकवचन का रूप व्रज भाषा के समान 'है' होता है; जैसे—करिहै, सुनिहै, पर पूर्वी अवधी में 'हि' रहता है; जैसे होइहि, आइहि। क्रमशः इस 'हि' में के 'ह' के घिस जाने से केवल 'इ' रह गया, जो पूर्व इ से मिलकर 'ई' हो गया; जैसे आई, जाई, करी, खाई। अवधी साहित्य में दोनों रूप एक ही ग्रंथ में एक साथ प्रयुक्त होते हुए मिलते हैं।

संज्ञा और सर्वनाम के कारक रूपों में भोजपुरी से अवधी बहुत मिलती है। इसके विकारी रूप का प्रत्यय ए होता है। अवधी की विभक्तियाँ भी वही हैं जो भोजपुरी की हैं; केवल कर्म कारक और संप्रदान कारक का चिह्न अवधी में 'काँ' और बिहारी में 'के' तथा अधिकरण कारक का चिह्न अवधी में 'माँ' और बिहारी में 'में' है। ये 'काँ' और 'माँ' विभक्तियाँ अवधी की विशेषता की सूचक हैं। सर्वनामों के कारक रूपों में भी बिहारी से अवधी मिलती है। व्यक्तिवाचक सर्वनाम के संबंध कारक एकवचन का रूप पश्चिमी हिंदी में मेरो या मेरा है, पर बिहारी में यह मोर हो जाता है। अवधी में भी बिहारी के समान 'मोर' ही रूप होता है। क्रियापदों में अवधी शौरसेनी की ओर अधिक झुकती है। उदाहरण के लिये अवधी का 'मारा' शब्द ले लीजिए। संस्कृत में यह मारितः था, शौरसेनी में 'मारिदो' हुआ जिससे व्रज भाषा में मार्‍यो बना। इस उदाहरण में पहले त का द हुआ और तब उस द का लोप हो गया। पूर्वी समुदाय की भाषाओं में इस द के स्थान में ल हो जाता है; जैसे मारलो। इससे प्रतीत होता है कि अवधी ने शौरसेनी से सहायता लेकर अपना रूप स्थिर किया है।

यहाँ हम संक्षेप में अवधी व्याकरण की कुछ बातें देकर इस भाषा का विवरण समाप्त करते हैं।

संज्ञा—शब्दों के प्रायः तीन रूप होते हैं; जैसे घोड़, घोड़वा और घोड़ौना; नारी, नरिया और नरीवा। इसके कारकों के रूप इस प्रकार होते हैं—

कारक	अकारांत पुं०	आकारांत पुं०	ईकारांत स्त्री०
एकवचन			
कर्ता	घर	घोड़वा	नारी
विकारी	घरा, घरे	घोड़वा	नारी
बहुवचन			
कर्ता	घर	घोड़वे, घोड़वने	नारी
विकारी	घरन	घोड़वन	नारिन

संज्ञाओं के साथ जो विभक्तियाँ लगती है, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता—ऐ (आकारांत शब्दों में सकर्मक क्रिया के साथ)

कर्म—के, काँ, कहँ।

करण—सें, सन्, सौं।

संप्रदान—के, काँ, कहँ।

अपादान—सें, तें, सेंती, हुँत।

संबंध—कर (क), केर, कै (स्त्री०)।

अधिकरण—में, माँ, महँ, पर।

विशेषण—विशेषणों का लिंग विशेष्य के अनुसार परिवर्त्तित हो जाता है। जैसे—आपन-आपनि, ऐस-ऐसि, ओकर-ओकरि। प्राय. बोलचाल में इसका ध्यान नहीं रखा जाता, पर साहित्य में इसका विशेष ध्यान रखा जाता है।

सर्वनाम—भिन्न भिन्न सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

सर्वनाम	एकवचन			बहुवचन		
	कर्ता	विकारी	संबंध	कर्त्ता	विकारी	संबंध
मैं	मैं	मो	मोर	हम	हम, हमरे	हमार, हमरे
तू	तैं	तो	तोर	तुम, तूँ	तुम, तुम्हरे	तुम्हार, तुमरे तोहार, तोहरे
आप (स्व)	आप	आप	आपकर	आप	आप	आपकर
आप (पर)	आप	आपु	आपन	आप	आप	आपँन
यह	ई	ए, एह, एहि,	एकर, एहिकर	इन, ए	इन	इनकर, इनकेर
वह	ऊ, वै	ओ, ओह, ओहि	ओकर, ओहिकर	उन, ओन	ओन उन,	ओनकर, ओनकेर
जो	जो, जे, जौन	जे, जेहि	जेकर, जेहिकेर	जे	जिन	जिनकर जिनकेर
सो	सो, से, तौन	ते, तेहि	तेकर, तेहिकेर	ते	तिन	तिनकर, तिनकेर
कौन	को, के, कौन	के, केहि	केकर, केकरे	को, के	किन	किनकर, किनकेर

क्रियाएँ—इनके रूप भिन्न कालों, वचनों, पुरुषों तथा लिंगों में इस प्रकार होते हैं—

(१) वर्त्तमान काल "मैं हूं"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उ० पु०	हौं, बाट्यों, अहौ	हइउँ, बाटिउँ, अहिउँ	हई, बाटी, अही	हइन, बाटिन अहिन
म० पु०	हए, बाटे बाटिस अहिस, अहै अहसि	हइस, बाटिस अहिस	हौ, बाट्यौ, अहौ अहेव, अह्यौ अह, अहे	हइउ, बाटिउ अहिव
अ० पु०	अहै, है, आय, बाटै, बा	बाटइ, अहै, है, बाटै, बा	बाटे, अहैं, हैं बाटैं	बाटी, अहैं, बाटिन

भूत काल "मैं था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उ० पु०	रह्यों	रहिउँ	रहे	रहे, रहिन (रहेन)
म० पु०	रहे, रहसि	रहे, रहिसि	रह्यो	रहिउ
अ० पु०	रही	रही	रहेन, रहिन, रहे	रही, रहिन

(२) सकर्मक-मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा	देखब
वर्तमान कृदंत (कर्तरि)	देखत, देखित
भूत कृदंत (कर्मणि)	देखा
भविष्य कृदंत (कर्मणि)	देखब
संभाव्यार्थ कृदंत	देखत, देखित
वर्तमान संभाव्यार्थ	(यदि) मैं देखौं

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखों	देखी
म० पु०	देखु, देखिस	देखौ
अ० पु०	देखैं	देखैं

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप देखु, देखसि और बहुवचन का देखउ, देखौ, देखैं (आप) होता है।

भविष्य

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	देखबूँ, देखबौ, देखिहौ	देखब, देखिहैं
म० पु०	देखबे, देखिहै	देखबौ, देखिहौ
अ० पु०	देखि, देखे, देखिहै	देखिहैं

भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	देख्यो	देखिउँ	देखा, देखिन,	देखा, देखिन,
म० पु०	देखे, देखिस देखेसि	देखिस, देखे, देखिसि, देखी	देखेन देख्यो	देखेन देखिउ, देखी
अ० पु०	देखेस, देखिस देखिसि, देख	देखिस, देखी	देखेन, देखिन	देखी, देखिनि

भूत संकेतार्थ

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पु०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उ० पु०	देखत्यौ	देखतिउँ	देखित	देखित
म० पु०	देखते, देखतिस	देखते,देखतिस	देखतेहु, देखत्यो	देखतिउ
अ० पु०	देखत	देखति	देखतेन देखतिन	देखतिन

वर्तमान सामान्य—देखत अहेउँ।

भूत अपूर्ण—देखत रह्यों।

वर्त्तमान पूर्ण

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ०पु०	देख्यों हौं	देखिउँ हौं	देखा है, देखेन है, देखिन है	देखा है, देखे है, देखेन है
म०पु०	देखेस है, देखिस है, देखे है,	देखिस है देखिसि है, देखे है	देख्यो है	देखिउ है
अ०पु०	देखेस है, देखिस है	देखि है देखिसि है	देखेन है देखिन है	देखिन है देखा है

अकर्मक क्रियाओं में भूत काल 'रह्यों' के समान होता है।

विकारी क्रियाओं में 'जाब' का भूत कृदंत ग, गा, गइ, गय (स्त्री० गइ), गवा (स्त्री० गई) होता है। इसी प्रकार 'होब' का भ, भा, भय, भइ (स्त्री० भइ), भवा (स्त्री० भइ) और करब, देब, लेब आदि का कीन्ह दीन्ह लीन्ह, आदि होता है। भूत काल में इनका रूप किहिस, दिहिस, लिहिस, होता है। जिन क्रियाओं के धातु-रूप का अंतिम अक्षर स्वर होता है, उनमें व प्रत्यय लगता है, य नहीं लगता; जैसे, बनावा। 'जाब' का 'गय' और 'आउब' का 'आय' होता है। जिन क्रियाओं के अंत में आ होता है, उनका भूत काल न प्रत्यय लगाकर बनता है; जैसे डेरान, रिसियान।

(३) **व्रज भाषा**— यह अंतरंग समुदाय की सब से मुख्य भाषा है। यह शौरसेनी प्राकृत और शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी है। इसका मुख्य स्थान व्रज मंडल है; पर इसका प्रचार दक्षिण की ओर आगरे, भरतपुर, धौलपुर और करौली में तथा ग्वालियर के पश्चिमी भाग और जयपुर के पूर्वी भाग में है। उत्तर की ओर यह गुड़गाँव जिले के पूर्वी भाग तक बोली जाती है। उत्तर-पूर्व की ओर इसका प्रचार बुलंदशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, बदाऊँ, बरैली होते हुए नैनीताल के तराई-परगनों तक चला गया है। इसका केंद्र-स्थान मथुरा है, और वहीं की भाषा शुद्ध व्रज भाषा है। इस केंद्र-स्थान से जिधर जिधर यह फैली है, उधर उधर की भाषाओं से संसर्ग होने के कारण इसके रूप में कुछ न कुछ विकार हो गया है। इस भाषा की मुख्य विशेषता यह है कि इसकी आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और भूत कृदंत तथा कहीं कहीं वर्त्तमान कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, चल्यो, कियो आदि। संस्कृत के घोटक शब्द का प्राकृत रूप घोडओ होता है, जिससे व्रज भाषा का घोड़ो रूप बना है। इसी प्रकार संस्कृत के भूत और वर्त्तमान कृदंतों के अंतिम त का प्राकृत में अ + उ हो जाता है; जैसे—चलितः से चलिअउ; और व्रज भाषा में यह चल्यो हो गया है। यद्यपि यह व्रज भाषा का एक प्रधान लक्षण है, पर इसके भी अपवाद हैं। जिस प्रकार संस्कृत में स्वार्थे 'क' का प्रयोग होता है, उसी प्रकार व्रज भाषा में रा आदि होता है; जैसे—हियरा, जियरा, बदरा, छला, लला, चवैया, कन्हैया। खड़ी बोली में यह ड़ा और अवधी में वा, ना आदि होता है; जैसे मुखड़ा, बछड़ा, करेजवा, बिधना इत्यादि। ऐसे शब्द न तो ओकारांत होते हैं और न इनके विकारी रूपों में आ का ए होता है। व्रज भाषा की दूसरी विशेषता यह है कि इसके कारक-चिह्न अवधी और खड़ी बोली से भिन्न हैं। यह भिन्नता नीचे की सारिणी से स्पष्ट हो जायगी।

कारक	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
कर्ता	ने (विकारी)		ने (विकारी)
कर्म	को, (कौ)	के, का, कहँ	को
करण	सो, तें	से, सन, सौं	से
संप्रदान	को (कौ)	के, का, कहँ	को
अपादान	तें, सों	सें	से
संबंध	को	कर, के, केर	का (के, की)
अधिकरण	में, मों, पै, पर	में, माँ, पर	में, पर

इससे यह स्पष्ट है कि अवधी में भूतकालिक सकर्मक क्रियाओं के कर्त्ता के साथ 'ने' का प्रयोग सर्वथा नहीं होता, पर व्रज भाषा और खड़ी बोली में यह अवश्य होता है। इसी प्रकार कर्म, संप्रदान तथा अधिकरण के रूप खड़ी बोली के रूपों से मिलते हैं, पर अवधी से नहीं मिलते। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह, वह, सो, को (कौन) और जो-सर्वनामों के रूप कारक चिह्नों के लगने के पूर्व व्रज भाषा में या, वा, ता, का और जा हो जाते हैं; जैसे—याने, वाको, तासों, काकों, जाकों। पर अवधी में इनके रूप यहि, वहि, तेहि, केहि, जेहि होकर तब उनमें कारक-चिह्न लगते हैं। नीचे व्रज भाषा के व्याकरण की मुख्य मुख्य बातें दे दी जाती हैं जिनसे इस भाषा के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो जायगा।

संज्ञा

कारक	पुल्लिंग		स्त्रीलिंग
	आकारांत	अकारांत	ईकारांत
एकवचन	घोड़ा	घर	घोड़ी
कर्ता	घोडो, घोडे ने	घर	घोड़ी, घोड़ी ने
विकारी	घोड़े	घर	घोड़ी
बहुवचन	घोड़े	घर	घोड़ियाँ
कर्ता	घोड़े, घोड़न ने	घर	घोड़ियाँ—घोड़ियन ने घोड़ियान ने
विकारी	घोड़न, घोड़ान	घरन	घोड़ियन, घोड़ियान

विभक्ति

कर्ता—ने **करण, अपादान—सों, तें**

कर्म, संप्रदान—को **अधिकरण—में, मों, पै**

संबंध—को

सर्वनाम-एकवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म० संप्र०	सबध	करण० अपा०	अधि०
मै	मैं, हौ	मैने	मोहि (मोय) मोकौ	मेरो	मोसौं, मोतें	मोमें, मोपै
तू	तू, तैं	तूने, तैने	तोहि (तोय) तोको	तेरो, तिहारो, तुम्हारो	तोसों, तोतें, तोहितें	तोहिमें, तोमैं, तोपै, तोहिपै
वह	वह, वो	वाने, ताने	वाहि (वाय), ताहि,(ताय), ताकौ	वाको, ताको, तासु	वासों, तासों वातें, तातें	वामें, तामे, वापै, तापै
यह	यह	याने	याहि (याय) याकौं	याको	यासों, याते	यामें, यापै
जो	जो, जौन*	जाने	जाहि (जाय) जाकौं	जाको, जासु	जासो, जातें	जामें, जापै
सो	सो, तौन*	ताने	ताहि (ताय) ताकौ	ताको, तासु	तासों, तातें	तामें, तापै
कौन	को	काने	काहि(काय), काकौं	काको	कासों, कातें	कामें, कापै
क्या	कहा, का					

* ब्रज में केवल "सो" के पहले यह रूप आता है, जैसे, जौन सो लेनो होय, ले ।

सर्वनाम-बहुवचन

सर्वनाम	कर्त्ता	विकारी	कर्म० संप्र०	संबंध०	करण० अपा०	अधि०
मैं	हम	हमने	हमहिं, हमे हमकौ	हमारो, म्हारो	हमसों, हमतें	हममें, हमपै
तू	तुम	तुमने	तुमहिं, तुम्हें, तुमकौ	तुम्हारो, तिहारो	तुमसों, तुमतें	तुममें, तुमपै
वह	वे, वै, ते	उनने, विनने, तिनने	उनहिं, उन्हें तिनहिं, तिन्हें	उनकौ, तिनकौ, उनको, विनको	उनसो उनतें विनसो, विनतें, तिनसो, तिनतें,	उनमें, उनपै, तिनमें, तिनपै विनमें, विनपै
यह	ये	इनने	इनहिं, इन्हें, इनकौ	इनको	इनसों इनतें	इनमें, इनपै
जो	जो, जे	जिनने	जिनहिं, जिन्हें जिनकौ	जिनको	जिनसो, जिनतें	जिनमें, जिनपै
सो	ते	तिनने	तिनहिं, तिन्हें तिनकौ	तिनको	तिनसों, तिनतें	तिनमें, तिनपै
कौन	को, के,	किनने	किनहिं, किन्हें किनकों	किनको	किनसों, किनतें	किनमें, किनपै

(१) क्रियाएँ

वर्त्तमान काल—करना **"मैं करता हूँ"**

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	करत हौ, करूँ हूँ	करति हौ, करूँ हूँ	करत हैं, करैं हैं	करति हैं, करैं हैं
म० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करौ हौ	करति हौ, करौ हौ
अ० पु०	करत है, करै है	करति है, करै है	करत हैं, करैं हैं	करति हैं करैं हैं,

भूत काल (सकर्मक) * "मैं करता था"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	कियो, कीन्हों, कर्यो	कियो, कीन्हो कर्यो	कियो, कीन्हो, कर्यो	कियो, कीन्हो कर्यो
म० पु०	" "	" "	" "	" "
अ० पु०	" "	" "	" "	" "

(२) सकर्मक-मुख्य क्रियाएँ

क्रियार्थक संज्ञा--करनो, करिबो, कीबो
वर्तमान कृदत कर्तरि— करतो, करती
भूत कृदंत कर्मणि— कियो, कीन्हो, कर्यो, कियो, गयो

वर्तमान संभाव्यार्थ "मैं देखूँ"

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	(मैं) देखूँ	(हम) देखैं
म० पु०	(तू) देखै	(तुम) देखो
अ० पु०	(वह) देखै	(वे) देखैं

आज्ञार्थ में एकवचन का रूप 'देख' और बहुवचन का रूप 'देखौ' होता है।

भविष्य "देखना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
उ० पु०	देखूँगो, देखिहौं	देखूँगी, देखिहैं	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं
म० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखौगे, देखिहौ	देखौगी, देखिहौ
अ० पु०	देखैगो, देखिहै	देखैगी, देखिहै	देखैंगे, देखिहैं	देखैंगी, देखिहैं

* कर्त्ता के लिंग या वचन का कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

भूत (अकर्मक) "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	गयो	गई	गए	गई

भूत संकेतार्थ "करना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषो मे समान	करतो	करती	करते	करतीं

वर्तमान पूर्ण (सकर्मक)* करना

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग	पुल्लिंग	स्त्रीलिंग
सब पुरुषों में समान	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है	कियो है, कीन्हो है

वर्तमान पूर्ण (अकर्मक) "जाना"

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
उ० पु०	गयो हौं	गई हौं	गए हैं	गई हैं
म० पु०	गयो है	गई है	गए हौ	गई हौ
अ० पु०	गयो है	गई है	गए हैं	गई हैं

(४) बुँदेली भाषा— ब्रज से मिलती जुलती या उसी की एक शाखा बुँदेली या बुँदेलखंडी भी है, जिसकी छाया कवियों की भाषा में बराबर मिलती है। यह भाषा बुँदेलखंड, ग्वालियर और मध्य प्रदेश के कुछ जिलों में

* कर्त्ता के लिंग, वचन के अनुसार रूप में कोई परिवर्त्तन नहीं होता।

बोली जाती है। इसकी विस्तार-सीमा के पूर्व ओर की पूर्वी हिंदी की बघेली बोली, उत्तर पश्चिम की ओर व्रज भाषा, दक्षिण-पश्चिम की ओर राजस्थानी और दक्षिण की ओर मराठी भाषा का साम्राज्य है। उत्तर, पूर्व और पश्चिम की ओर तो यह क्रमशः उन दिशाओं में बोली जानेवाली भाषाओं में लीन हो जाती है और वहाँ इसका मिश्र रूप देख पड़ता है; पर दक्षिण की ओर यह मराठी से बहुत कम मिलती है। यद्यपि इसकी कई बोलियाँ बताई जाती है, पर वास्तव में सर्वत्र इसका एक सा ही रूप है। इधर उधर जो अतर देख पड़ता है, वह नाम-मात्र का है।

साहित्य में बुँदेली का सब से अच्छा नमूना आल्ह-खंड में मिलता है। पर इस ग्रंथ की कोई प्राचीन हस्त-लिखित प्रति न मिलने तथा इसका अस्तित्व आल्हा गानेवालों की स्मरण शक्ति पर ही निर्भर रहने के कारण भिन्न-भिन्न प्रांतों में इसने भिन्न भिन्न रूप धारण कर लिए हैं। इसमें बहुत कुछ क्षेपक अंश भी मिल गया है, इससे इसका वास्तविक प्राचीन रूप अब प्राप्त नहीं है। कवि केशवदास बुँदेलखंड के रहनेवाले थे, अतएव उनकी भाषा में बुँदेली का बहुत कुछ अंश वर्तमान है। नीचे इस भाषा की व्याकरण-संबंधी मुख्य मुख्य बातों का उल्लेख करके इसके रूप का परिचय दिया जाता है।

पूर्वी भाषाओं में जहाँ लघु उच्चारणवाला ए और ओ होता है, वहाँ बुंदेलखंडी में इ और उ होता है; जैसे, घोड़िया, घुड़िया। कहीं कहीं ऐसे रूप भी मिलते हैं, जैसे, बिलैया, चिरैया आदि। हिंदी की विभाषाओं में संज्ञाओं के पाँच रूप होते हैं—अकारांत, आकारांत, वाकारांत और "औवा" तथा "औना" से अंत होनेवाले; जैसे, घोड़, घोड़ा, घोड़वा, घोड़ौवा, घोड़ौना। पर सब भाषाओं में ये सब रूप नहीं मिलते। हिंदी के आकारांत पुल्लिंग शब्द बुँदेली में व्रज भाषा के समान ओकारांत हो जाते हैं; पर संबंधसूचक शब्दों में यह विकार नहीं होता; जैसे दादा, काका। हिंदी में जो स्त्री-लिंग शब्द 'इन' प्रत्यय लगाने से बनते है, वे बुँदेली में 'नी' प्रत्यय लेते हैं; जैसे तेली-तेलिन; बुं० तेलनी। बुँदेली के कारक हिंदी के ही समान होते हैं। ओकारांत तद्भव संज्ञाओं का विकारी रूप एकवचन में ए और बहुवचन में अन होता है; जैसे, एकवचन, घोड़ो—विकारी, घोड़े; बहु-वचन, घोड़े; विकारी, घोड़न। दूसरे प्रकार की पुल्लिंग संज्ञाएँ एक-वचन में नहीं बदलतीं; परंतु कर्त्ता के तथा विकारी रूप के बहुवचन में इनके अंत में "अन" आता है। कभी कभी कुछ अकारांत शब्दों का बहुवचन आँ से भी बनता है। "इया" से अंत होनेवाले स्त्रीलिंग शब्दों का बहुवचन "इयाँ" और विकारी बहुवचन "इयन" लगाने से बनता है। दूसरे प्रकार के स्त्रीलिंग शब्दों का कर्त्ता बहुवचन एँ प्रत्यय लगाने से बनता है। ईकारांत शब्दों के बहुवचन में "ई" और विकारी बहुवचन में "अन" या "इन" प्रत्यय लगता है। बुँदेलखंडी में जो विभक्तियाँ लगती हैं, वे इस प्रकार हैं—

कर्त्ता-विकारी	ने, नें
कर्म, संप्रदान	को, खों
करण, आपादान	से, सें, सों,
संबंध	में, में
अधिकरण	को, के, की

बुँदेली में सर्वनामों के रूप इस प्रकार होते हैं—

एकवचन	में	तू
कर्ता	में, मैं	तूँ, तैं
विकारी	मैंने	तैंने
संबंध	मोको, मेरो, मोरो, मोने	तोको, तेरो, तोरो, तोने
बहुवचन		
कर्ता	हम	तुम
संबंध	हमको, हमारो, हमाओ	तुमको, तुमारो, तुमाओ
विकारी	हम	तुम

अन्य-पुरुष सर्वनाम का रूप बो या ऊँ होता है। इनका बहुवचन वे और विकारी बहुवचन बिन या उन होता है।

क्रियाओं के संबंध में नीचे कुछ रूप दिए जाते हैं।

अकर्मक वर्तमान

पुरुष	एकवचन	बहुवचन
उ० पु०	हो, ऑवें, ऑव	हे, ऑयँ
म० पु०	हे, आय	हो, आव
अ० पु०	हे, आय	हे, ऑयँ

अकर्मक भूत

पुरुष	एकवचन		बहुवचन	
	पुं०	स्त्री०	पु०	स्त्री०
उ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
म० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं
अ० पु०	हतो, तो	हती, ती	हते, ते	हतीं, तीं

भविष्यत् काल में दोनों रूप होते हैं—हुहों, होंगो; मारिहों, मारूँगो; मारिहैं, मारेंगे।

इस संक्षिप्त विवरण से यह स्पष्ट हो जायगा कि बुँदेलखंडी व्रज भाषा की ओर बहुत झुकती है और इसी लिये वह पश्चिमी हिंदी के अंतर्गत मानी गई है।

(५) खड़ी बोली—इस भाषा का इतिहास बड़ा ही रोचक है। यह भाषा मेरठ के चारों ओर के प्रदेश में बोली जाती है और पहले वहीं तक इसके प्रचार की सीमा थी, बाहर इसका बहुत कम प्रचार था। पर जब मुसलमान इस देश में बस गए और उन्होंने यहाँ अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब दिल्ली में मुसलमानी शासन का केंद्र होने के कारण विशेष रूप से उन्होंने उसी प्रदेश की भाषा खड़ी बोली को अपनाया। यह कार्य एक दिन में नहीं हुआ। अरब, फारस और तुर्किस्तान से आए हुए सिपाहियों को यहाँवालों से बातचीत करने में पहले बड़ी दिक्कत होती थी। न ये उनकी अरबी, फारसी समझते थे और न वे इनकी "हिंदवी।" पर बिना वाग्व्यवहार के काम चलना असंभव था, अतः दोनों ने दोनों के कुछ कुछ शब्द सीख कर किसी प्रकार आदान प्रदान का रास्ता निकाला। यों मुसलमानों की उर्दू (छावनी) में पहले पहल एक खिचड़ी पकी, जिसमें दाल चावल सब खड़ी बोली के थे, सिर्फ नमक आगंतुकों ने मिलाया। आरंभ में तो वह निरी बाज़ारू बोली थी, पर धीरे धीरे व्यवहार बढ़ने पर और मुसलमानों को यहाँ की भाषा के ढाँचे का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसका रूप कुछ कुछ स्थिर हो चला। जहाँ पहले 'शुद्ध' 'अशुद्ध' बोलनेवालों से 'सही' 'गलत' बोलवाने के लिये शाहजहाँ को "शुद्धौ सहीह इत्युक्तोह्यशुद्धौ गलतः स्मृतः" * का प्रचार करना पड़ा था, वहाँ अब इसकी कृपा से लोगों के मुँह से शुद्ध, अशुद्ध न निकल कर सही, गलत निकला करता है। आजकल जैसे अंग्रेजी पढ़े लिखे भी अपने नौकर से 'एक ग्लास पानी' न माँग कर एक गिलास ही माँगते हैं, वैसे उस समय मुख-सुख उच्चारण और परस्पर बोध-सौकर्य के अनुरोध से वे लोग अपने "ओज़बेक" का उज़बक, 'कुतका' का कोतका कर लेने देते और स्वयं करते थे; एवं ये लोग बरेहमन सुनकर भी नहीं चौंकते थे। बैसवाड़ी हिंदी, बुंदेलखंडी हिंदी, पंडिताऊ हिंदी, बाबू-इंगलिश की तरह यह उस समय उर्दू-हिंदी कहलाती थी; पर पीछे भेदक उर्दू शब्द स्वयं भेद्य बनकर उसी प्रकार उस भाषा के लिये प्रयुक्त होने लगा जिस प्रकार 'संस्कृत वाक्' के लिये केवल संस्कृत शब्द। मुसलमानों ने अपनी संस्कृति के प्रचार का सब से बड़ा साधन मानकर इस भाषा को खूब उन्नत किया और जहाँ जहाँ फैलते गए, वे इसे अपने साथ लेते गए। उन्होंने इसमें केवल फारसी तथा अरबी के शब्दों की ही उनके शुद्ध रूप में अधिकता नहीं कर दी, बल्कि उसके व्याकरण पर भी फारसी, अरबी व्याकरण का रंग चढ़ाना आरंभ कर दिया। इस अवस्था में इसके दो रूप हो गए; एक तो हिंदी ही कहलाता रहा, और दूसरा उर्दू नाम से प्रसिद्ध हुआ। दोनों के प्रचलित शब्दों को ग्रहण करके, पर व्याकरण का संघटन हिंदी ही के अनुसार रख कर, अँगरेजों ने इसका एक तीसरा रूप 'हिंदुस्तानी' बनाया। अतएव इस समय इस खड़ी बोली के तीन रूप वर्त्तमान हैं—(१) शुद्ध हिंदी—जो

* इस 'पारसीक प्रकाश' कोश के थोड़े से पन्ने मिले हैं; पूरी पोथी नहीं मिली।

हिंदुओं की साहित्यिक भाषा है और जिसका प्रचार हिंदुओं में है। यहीं प्रसंगवश हम हिंदी शब्द पर थोड़ा सा विचार कर लेना चाहते हैं। पहले कुछ लोग इस शब्द से बड़ी घृणा करते थे और इसका प्रतिनिधि 'आर्य भाषा' शब्द प्रयोग करते थे। पर अब इसी का प्रयोग बढ़ रहा है। है भी यह सिंधु से निकला हुआ बड़ा पुराना शब्द। "ईसा मसीह से बहुत पहले फ़ारस में लिखी गई 'दसातीर' नामक फारसी धर्म पुस्तक में जो (अकनूँ मिरहबने व्यास नाम अज़ हिंद आमद बस दाना के आक़िल चुनानस्त' और 'चूँ व्यास हिंदी बलख आमद' लिखा है, वही 'हिंदी' शब्द की प्राचीनता के प्रमाण में यथेष्ट है।" एक मुसलमान लेखक ने 'नूरनामा' नाम की पुस्तक में उस भाषा को भी 'हिंदी' बतलाया है जिसको आजकल उर्दू कहते हैं। देखिए—

जुबाने अरब मे य' था सब कलाम।
किया नज्म हिंदी मे मैंने तमाम॥
अगर्चें था अफ़सः वो अरबी जुबाँ।
व लेकिन समझ उसकी थी बस गिराँ॥
समझ उसकी हर इक को दुश्वार थी।
कि हिंदी जुबाँ याँ तो दरकार थी॥
इसी के सबब मैंने कर फ़िक्रो गौर।
लिखा नूरनामे को हिंदी के तौर॥

अरबी, फारसी मिश्रित खड़ी बोली के लिये 'उर्दू' शब्द का प्रयोग बहुत ही आधुनिक है। पहले बहुत करते थे तो केवल हिंदी न कह कर 'उर्दू-हिंदी' कह देते थे। (२) उर्दू—जिसका प्रचार विशेष कर मुसलमानों में है और जो उनके साहित्य की और शिष्ट मुसलमानों तथा कुछ हिंदुओं की घर के बाहर की बोल-चाल की भाषा है। और (३) हिंदुस्तानी—जिसमें साधारणतः हिंदी उर्दू दोनों के शब्द प्रयुक्त होते हैं और जिसका सब लोग बोलचाल में व्यवहार करते हैं। इसमें अभी साहित्य की रचना बहुत कम हुई है। इस तीसरे रूप के मूल में राजनीतिक कारण हैं। हम इन तीनों रूपों पर अलग अलग विचार करेंगे।

हम पहले इस बात पर ध्यान दिलाना चाहते हैं कि इसकी उत्पत्ति के विषय में जो बहुत से विचार फैल रहे हैं, वे भ्रमात्मक हैं। कुछ लोगों का क्या सं० १९८५ के हिंदी साहित्य सम्मेलन के सभापति तक का कहना है कि आरंभ में हिंदी या खड़ी बोली व्रज भाषा से उत्पन्न हुई और मुसलमानों के प्रभाव से इसमें सब प्रकार के शब्द सम्मिलित हो गए और इसने एक नया रूप धारण किया। इस कथन में तथ्य बहुत कम है। खड़ी बोली के कलेवर पर ध्यान देने ही से यह बात स्पष्ट हो जायगी। यदि यह व्रज भाषा से निकली हुई होती तो इसमें उसी के से घोड़ो, गयो, प्यारो आदि ओकारांत रूप पाए जाते जो शौरसेनी प्राकृत से व्रज भाषा को विरासत में मिले हैं, न कि आकारांत घोड़ा, गया, प्यारा आदि। ये आकारांत रूप अपभ्रंश से हिंदी में आए हैं। हेमचंद्र ने "स्यादौ दीर्घ ह्रस्वौ" सूत्र से इनकी सिद्धि बतला कर कई विभक्तियों में आकारांत रूपों के उदाहरण दिए हैं। जैसे—

ढोला-सामला धण चम्पावण्णी।
ढोला मइं तुहुं वारिया मा कुरु दीहा माणु।
निद्दए गमिही रत्तड़ी दडवड होई विहाणु
दूल्हा साँवला धन चम्पावरनी,
दूल्हा, मैं तोहिं वरज्यौ मत कर दीरघ मान।
नींदे गँवैहो रतिया चटपट होइ बिहान।

मालूम नहीं यह पैशाची अपभ्रंश का रूप है अथवा और किसी का। हेमचंद ने तो इसका उल्लेख नहीं किया है, पर पंजाबी में आकारांत रूप मिलने के कारण यह संभावना होती है। अतः जिन महापुरुषों ने आकारांत रूपों पर फारसी के से अंत होनेवाले शब्दों के प्रभाव की कल्पना की है, उन्हें इस पर फिर से विचार करना चाहिए। दूसरे खड़ी बोली का प्रचार भी उसी समय से है, जब से अवधी या व्रज भाषा का है। भेद केवल इतना ही है कि व्रज भाषा तथा अवधी में साहित्य की रचना बहुत पहले से होती आई है और खड़ी बोली में साहित्य की रचना अभी थोड़े दिनों से होने लगी है। पूर्व काल में खड़ी बोली केवल बोल-चाल की भाषा थी। मुसलमानों ने इसे अंगीकार किया और आरंभ में उन्होंने इसको साहि-

त्यिक भाषा बनाने का गौरव भी पाया। खड़ी बोली का सबसे पहला कवि अमीर खुसरो है जिसका जन्म सं० १३१२ में और मृत्यु संवत् १३८१ में हुई थी। अमीर खुसरो ने मसनवी खिज्र-नामः में, जिसमें मुख्यतः सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के पुत्र खिज्र खाँ और देवल देवी के प्रेम का वर्णन है, हिंदी भाषा के विषय में जो कुछ लिखा है, इस अवसर पर वह उल्लेख के योग्य है। वे लिखते हैं—

"मैं भूल में था; पर अच्छी तरह सोचने पर हिंदी भाषा फारसी से कम नहीं ज्ञात हुई। अरबी के सिवा, जो प्रत्येक भाषा की मीर और सबों में मुख्य है, रई (अरब का एक नगर) और रूम की प्रचलित भाषाएँ समझने पर हिंदी से कम मालूम हुई। अरबी अपनी बोली में दूसरी भाषा को नहीं मिलने देती, पर फारसी में यह कमी है कि बिना मेल के वह काम में आने योग्य नहीं होती। इस कारण कि वह शुद्ध है और यह मिली हुई है, उसे प्राण और इसे शरीर कह सकते हैं। शरीर में सभी वस्तुओं का मेल हो सकता है, पर प्राण से किसी का नहीं हो सकता। यमन के मूँगे से दरी के मोती की उपमा देना शोभा नहीं देता। सबसे अच्छा धन वह है जो अपने कोष में बिना मिलावट के हो; और न रहने पर माँगकर पूँजी बनाना भी अच्छा है। हिंदी भाषा भी अरबी के समान है; क्योंकि उसमें भी मिलावट का स्थान नहीं है।"

खुसरो ने हिंदी और अरबी फारसी शब्दों का प्रचार बढ़ाने तथा हिंदू-मुसलमानों में परस्पर भाव-विनियम में सहायता पहुँचाने के उद्देश्य से खालिक़बारी नाम का एक कोष पद्य में बनाया था। कहते हैं कि इस कोष की लाखों प्रतियाँ लिखवाकर तथा ऊँटों पर लदवाकर सारे देश में बाँटी गई थीं। अतएव अमीर खुसरो खड़ी बोली के आदि कवि ही नहीं हैं, वरन् उन्होंने हिंदी तथा फ़ारसी अरबी में परस्पर आदान-प्रदान में भी अपने भरसक सहायता पहुँचाई है। विक्रम की १४ वीं शताब्दी की खड़ी बोली की कविता का नमूना खुसरो की कविता में अधिकता से मिलता है; जैसे—

टट्टी तोड़ के घर में आया।
अरतन बरतन सब सरकाया॥
खा गया, पी गया, दे गया बुत्ता।
ए सखि! साजन? ना सखि कुत्ता॥

स्याम बरन की है एक नारी।
माथे ऊपर लागै प्यारी॥
जो मानुष इस अरथ को खोलै।
कुत्ते की वह बोली बोलै॥

हिंदू कवियों ने तथा कबीर, नानक, दादू आदि संतों ने भी अपनी कविता में इस खड़ी बोली का प्रयोग किया है। भूषण ने शिवा बावनी में अनेक स्थानों पर इस भाषा का प्रयोग किया है। उनमें से कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(१) अब कहाँ पानी मुकुतों में पाती है।
(२) खुदा की कसम खाई है।
(३) अफजल खान को जिन्होंने मैदान मारा।

ललित किशोरी की एक कविता का उदाहरण लीजिए—

जंगल में हम रहते हैं, दिल बस्ती से घबराता है।
मानुस गंध न भाती है, मृग मरकट संग सुहाता है॥
चाक गरेबाँ करके दम दम आहें भरना आता है।
ललित किशोरी इश्क रैन दिन ये सब खेल खेलाता है॥

सीतल कवि (१७८०) ने खड़ी बोली में बड़ी ही सुंदर रचना की है। मधुरिमा तो उनकी कविता के अंग अंग में व्याप रही है। देखिए—

हम खूब तरह से जान गए जैसा आनंद का कंद किया।
सब रूप सील गुन तेज पुंज तेरे ही तन मे बंद किया॥
तुझ हुस्न प्रभा की बाकी ले फिर विधि ने यह फरफंद किया।
चंपक दल सोनजुही नरगिस चामीकर चपला चंद किया॥
चंदन की चौकी चारु पड़ी सोता था सब गुन जटा हुआ।
चौके की चमक अधर बिहँसन मानो एक दाड़िम फटा हुआ॥
ऐसे में ग्रहन समै सीतल एक ख्याल बड़ा अटपटा हुआ।
भूतल ते नभ नभ ते अवनी अग उछलै नट का बटा हुआ॥

अतएव यह सिद्ध है कि खड़ी बोली का प्रचार कम से कम सोलहवीं शताब्दी में अवश्य था, पर साहित्य में इसका अधिक आदर नहीं था। अट्ठारहवीं शताब्दी में विशेष

रूप से हिंदी के गद्य की रचना आरंभ हुई और इसके लिये खड़ी बोली ग्रहण की गई। पर इससे यह मानना कि उर्दू के आधार पर हिंदी (खड़ी बोली) की रचना हुई, ठीक नहीं है। पंडित चंद्रधर गुलेरी ने लिखा है—"खड़ी बोली या पक्की बोली या रेखता या वर्तमान हिंदी के आरंभ काल के गद्य और पद्य को देखकर यही जान पड़ता है कि उर्दू रचना में फारसी अरबी तत्समों या तद्भवों को निकालकर संस्कृत या हिंदी तत्सम और तद्भव रखने से हिंदी बना ली गई है। इसका कारण यही है कि हिंदू तो अपने घरों की प्रादेशिक और प्रांतीय बोली में रँगे थे, उनकी परंपरागत मधुरता उन्हें प्रिय थी। विदेशी मुसलमानों ने आगरे, दिल्ली, सहारनपुर, मेरठ की "पड़ी" भाषा को "खड़ी" बनाकर अपने लश्कर और समाज के लिये उपयोगी बनाया। किसी प्रान्तीय भाषा से उनका परंपरागत प्रेम न था। उनकी भाषा सर्वसाधारण की या राष्ट्र-भाषा हो चली। हिंदू अपने अपने प्रांत की भाषा को न छोड़ सके। अब तक यही बात है। हिंदू घरों की बोली प्रादेशिक है, चाहे लिखा-पढ़ी और साहित्य की भाषा हिंदी हो; मुसलमानों में बहुतों के घर की बोली खड़ी बोली है। वस्तुतः उर्दू कोई भाषा नहीं है, हिंदी की विभाषा है। किंतु हिंदुई भाषा बनाने का काम मुसलमानों ने बहुत कुछ किया, उसकी सार्वजनिकता भी उन्हीं की कृपा से हुई। फिर हिंदुओं में जागृति होने पर उन्होंने हिंदी को अपना लिया। हिंदी गद्य की भाषा लल्लूजीलाल के समय से आरंभ होती है। उर्दू गद्य उससे पुराना है; खड़ी बोली की कविता हिंदी में नई है। अभी तक व्रज भाषा बनाम खड़ी बोली का झगड़ा चल ही रहा था। उर्दू पद्य की भाषा उसके बहुत पहले हो गई है। पुरानी हिंदी गद्य और पद्य खड़े रूप में मुसलमानी हैं। हिंदू कवियों का यह संप्रदाय रहा है कि हिंदू पात्रों से प्रादेशिक भाषा कहलाते थे और मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली।"

यद्यपि गुलेरी जी का यह निष्कर्ष कि "खड़ी बोली ने मुसलमानी राजाश्रय पाकर उन्नति की और उसका प्रचार चारों ओर फैला तथा मुसलमानों की कृपा के ही कारण हिंदी के इस खड़ी बोली रूप का इतना महत्व हुआ" सर्वथा सत्य है और इसके लिये हमें उनका उपकार मानना चाहिए, परंतु उनका यह कहना कि "उर्दू-रचना में फारसी, अरबी तत्सम या तद्भव निकाल कर संस्कृत तत्सम या तद्भव रख कर हिंदी बना ली गई" ठीक नहीं है। पहले तो उर्दू का आदि कवि मुहम्मद कुली माना जाता है। संवत् १६३७ में गोलकुंडे के बादशाह सुलतान इब्राहीम की मृत्यु पर उसका पुत्र मुहम्मद कुली कुतुबशाह गद्दी पर बैठा। पर हिंदी का खड़ी बोलीवाला रूप हमें साहित्य में १३०० वि० के आरंभ में अर्थात् उर्दू के आदि कवि से कोई ३०० वर्ष पहले भी मिलता है। इसलिये यह कहना ठीक नहीं है कि उर्दू के आधार पर हिंदी का खड़ी बोली रूप प्रस्तुत हुआ। मुहम्मद कुली के कई सौ वर्ष पहले से उर्दू पर व्रज की काव्यमयी भाषा का प्रभाव पड़ चुका था। मुसलमानों की उर्दू कविता में भी व्रज भाषा के रस-परिपुष्ट शब्दों का बराबर और निस्संकोच प्रयोग होता था। पीछे के उर्दू कवियों ने इस काव्य भाषा के शब्दों से अपना पीछा छुड़ाकर और खड़ी बोली को अरब तथा फारस की वेषभूषा से सुसज्जित करके उसे स्वतंत्र रूप दे दिया। अतएव यह कहना तो ठीक है कि उर्दू वास्तव में हिंदी की 'विभाषा' है, पर यह कहना सर्वथा अनुचित है कि उर्दू के आधार पर हिंदी खड़ी हुई है। "उर्दू कविता पहले स्वभावतः देश की काव्य भाषा का सहारा लेकर उठी। फिर जब टाँगों में बल आया, तब किनारे हो गई।" हिंदू कवियों ने जो मुसलमान पात्रों से खड़ी बोली बुलवाई है, उससे यह निष्कर्ष न निकालना चाहिए कि वह मुसलमानी भाषा थी। पात्रों की भाषा मे मूलतः भेद करना इस देश की पुरानी परिपाटी थी और मुसलमानों की कोई ऐसी सर्वजन-बोध्य स्वकीय भाषा नहीं थी जिसका कवि लोग प्रयोग करते। अतः उन्होंने उसके लिये उनके द्वारा अपनाई गई खड़ी बोली का प्रयोग किया; और विशेष आत्मीयता बोध न करने के लिये हिंदू पात्रों की भाषा व्रज या अपने प्रदेश की रखी।

इसी प्रकार हिंदी गद्य के विषय में भी भ्रम फैल रहा है। लल्लूजीलाल हिंदी गद्य के जन्मदाता माने जाते हैं। इस विषय में हम प्रसंगात् पहले लिख चुके हैं, पर यहाँ भी कुछ कहना चाहते हैं। अकबर बादशाह के यहाँ संवत् १६२० के लगभग गंग भाट था। उसने "चंद छंद बरनन की महिमा" खड़ी बोली के गद्य में लिखी है। उसकी भाषा का नमूना देखिए—"इतना सुनके पातशाह जी श्री अकबर शाह जी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया, इनके डेढ़ सेर सोना हो गया, रास बचना पूरन भया।" गंग भाट के पहले का कोई प्रामाणिक गद्य लेख न मिलने के कारण उसे खड़ी बोली का प्रथम गद्य लेखक मानना चाहिए। इसी प्रकार १६८० में जटमल ने "गोरा बादल की कथा" भी इसी भाषा के तत्कालीन गद्य में लिखी है, जिसका बानगी यह है—'चित्तौड़गढ़ के गोरा बादल हुआ है जिनकी वीरता की कीताब हिंदवी बनाकर तयार करी है।" लल्लूजीलाल हिंदी गद्य को आधुनिक रूप देनेवाले भी नहीं हैं। उनके और पहले का मुंशी सदासुख का किया हुआ भागवत का हिंदी अनुवाद "सुखसागर" वर्त्तमान है। उसका कुछ अंश नीचे उद्धृत करके हम यह दिखलाना चाहते हैं कि लल्लूजीलाल के पहले ही हिंदी गद्य आरंभ हो चुका था।

"धन्य कहिये राजा पृथुजी को, नारायण के अवतार हैं, कि जिन्होंने पृथ्वी मंथन करके अन्न उपजाया, ग्राम नगर बसाये, और किसी से सहायता न माँगी, कि किसी और से सहाय चाहेंगे तो उसे दुख होयगा। वह दुख आपको होय, इस हेत अपने पराक्रम से जो कुछ बन आया सो किया। फिर कैसा कुछ किया कि इसका नाम पिरथी राजा पृथु के नाम से प्रसिद्ध है।"

इसके अनंतर लल्लूजीलाल, सदल मिश्र तथा इंशाउल्लाखाँ का समय आता है। लल्लूजीलाल के प्रेमसागर से सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान की भाषा अधिक पुष्ट और सुंदर है। प्रेमसागर में भिन्न भिन्न प्रयोगों के रूप स्थिर नहीं देख पड़ते। करि, करिके, बुलाय, बुलाय करि, बुलाय कर, बुलाय करिके आदि अनेक रूप अधिकता से मिलते हैं। सदल मिश्र में यह बात नहीं है। इंशाउल्लाखाँ की रचना में शुद्ध तद्भव शब्दों का प्रयोग है। उनकी भाषा सरल और सुंदर है, पर वाक्यों की रचना उर्दू ढंग की है। इसी लिये कुछ लोग इसे हिंदी का नमूना न मानकर उर्दू का पुराना नमूना मानते हैं। सारांश यह है कि यद्यपि फोर्ट विलियम कालेज के अधिकारियों, विशेषकर डाक्टर गिलक्रिस्ट की कृपा से हिंदी गद्य का प्रचार बढ़ा और उसका भावी मार्ग प्रशस्त तथा सुव्यवस्थित हो गया, पर लल्लूजीलाल उसके जन्मदाता नहीं थे। जिस प्रकार मुसलमानों की कृपा से हिंदी (खड़ी बोली) का प्रचार और प्रसार बढ़ा, उसी प्रकार अँगरेजों की कृपा से हिंदी गद्य का रूप परिमार्जित और स्थिर होकर हिंदी साहित्य में एक नया युग उपस्थित करने का मूल आधार अथवा प्रधान कारण हुआ।

हम पहले यह बात कह चुके हैं कि उर्दू भाषा हिंदी की विभाषा थी। इसका जन्म हिंदी से हुआ और उसका दुग्ध-पान करके यह पालित पोषित हुई। पर जब यह शक्ति-संपन्न हो गई, इसमें अपने पैरों पर खड़े होने की शक्ति आ गई और मुसलमानों के लाड़-प्यार से यह अपने मूल रूप को भूलकर अपने पृष्ठ-पोषकों को ही सब कुछ समझने लग गई, तब इसने क्रमशः स्वतंत्रता प्राप्त करने का उद्योग किया। पर यह स्वतंत्रता नाम मात्र की थी। उसने हिंदी से, जहाँ तक संभव हुआ, अलग होने में ही अपनी स्वतंत्रता समझी, पर वास्तव में वह अपनी जन्मदात्री को भूलकर तथा अरबी-फारसी के जाल में फँसकर अपने आपको उसी प्रकार धन्य मानने लगी, जिस प्रकार एक अविकसित, अनुन्नत अथवा अधोगत जाति अपने विजेता की नकल करके उसका विकृत रूप धारण करने में ही अपना सौभाग्य समझती और अपने को धन्य मानती है। इस प्रकार उर्दू निरंतर हिंदी से अलग होने का उद्योग करती आ रही है। चार बातों में हिंदी से उर्दू की विभिन्नता हो रही है—

(१) उर्दू में अरबी फारसी के शब्दों का अधिकता से प्रयोग हो रहा है; और वह भी तद्भव रूप में नहीं, अपितु तत्सम रूप में।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का प्रभाव बहुत अधिकता से पड़ रहा है। उर्दू शब्दों के बहुवचन हिंदी के अनुसार न बनकर फारसी के अनुसार बन रहे हैं; जैसे कागज, कसबा या अमीर का बहुवचन कागजों, कसबों या अमीरों न होकर कागजात, कसबात, उमरा होता है; और ऐसे बहुवचनों का प्रयोग अधिकता से बढ़ रहा है।

(३) संबंध कारक की विभक्ति के स्थान में 'ए' की इजाफत करके शब्दों का समस्त रूप बनाया जाता है; जैसे—सितारैहिंद, दफ्तरे-फौजदारी, मालिके-मकान। इसी प्रकार करण और अपादान कारक की विभक्ति 'से' के स्थान में 'अज़' शब्द का प्रयोग होता है; जैसे—अज़ खुद, अज़ तरफ। अधिकरण कारक की विभक्ति के स्थान में भी 'दर' का प्रयोग होता है; जैसे—दर असल, दर हकीकत। कहीं कहीं दर के स्थान में अरबी 'फ़िल' का भी प्रयोग होता है; जैसे—फिलहाल, फिलहक़ीक़त।

(४) हिंदी और उर्दू की सबसे अधिक विभिन्नता वाक्य-विन्यास में देख पड़ती है। हिंदी के वाक्यों में शब्दों का क्रम इस प्रकार होता है कि पहले कर्त्ता, फिर कर्म और अंत में क्रिया होती है; पर उर्दू की प्रवृत्ति यह देख पड़ती है कि इस क्रम में उलट फेर हो। उर्दू में क्रिया कभी कभी कर्त्ता के पहले भी रख देते हैं; जैसे—"राजा इंदर का आना" न कहकर "आना राजा इंदर का" कहते हैं। इसी प्रकार यह न कहकर कि 'उसने एक नौकर से पूछा' यह कहेंगे–'एक नौकर से उसने पूछा'।

नीचे हम उदाहरणार्थ उर्दू के एक लेख का कुछ अंश उद्धृत करते हैं, जिससे ये चारों बातें स्पष्टतया समझ में आ जायँगी।

"क़स्बः निगोहा के जानिबे दखिन एक मंदर महादेव जी का है, जिसको भौरेसर कहते हैं, और किनारे दरियाए सई के वाक़अ है। और वहाँ पर हर दुशंबः को मेला होता है, और अक्सर लोग हर रोज़ दरशन को बिला नाग़ः जाया करते हैं, और जो मक़सदे दिली रखते हैं, वह पूरा होता है। सुनने में आया है कि एक वक्त में औरंगज़ेब बादशाह भी उस मंदर पर तशरीफ़ लाए थे। और उनकी मंशा थी कि इस मंदर को खुदवाकर मूरत को निकलवा लेवें। और सदहा मज़दूर उस मूरत के निकालने को मुस्तइद हुए, लेकिन मूरत की इंतहा न मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने गुस्से में आकर इजाज़त दी कि इस मूरत को तोड़ डालो। तब मज़दूरों ने तोड़ना शुरुअ़ किया, और दो एक ज़र्ब मूरत में लगाई, बल्कि कुछ शिकस्त भी हो गई, जिसका निशान आज तक भी मौजूद है, और क़द्रे खून भी मूरत से नमूद हुआ; लेकिन ऐसी कुदरत मूरत की जाहिर हुई और उसी मूरत के नीचे से हज़ारहा भौंरे निकल पड़े और सब फौजें बादशाह की भौंरों से परेशान हुईं। और यह ख़बर बादशाह को भी मअ़लूम हुई। तब बादशाह ने हुक्म दिया कि अच्छा, इस मूरत का नाम आज से भौंरेसर हुआ और जिस तरह पर थी, उसी तरह से बंद कर दो। और खुद बादशाह ने मूरत मज़कूर बंद कराने का इंतज़ाम कर दिया।"

हिंदुस्तानी भाषा के विषय में इतना ही कहना है कि इसकी सृष्टि अँगरेजी राजनीति के कारण हुई है। हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं को मिलाकर, अर्थात् इन दोनों भाषाओं के शब्दों में से जो शब्द बहुत अधिक प्रचलित हैं, उन्हें लेकर तथा हिंदी व्याकरण के सूत्र में पिरोकर इस भाषा को यह रूप दिया जा रहा है। यह उद्योग कहाँ तक सफल होगा, इस विषय में भविष्यत् वाणी करना कठिन ही नहीं, अनुचित भी है। जिस प्रकार राजनीति के प्रभाव में पड़कर हिंदी के अवधी तथा व्रज भाषा रूप, जिनमें साहित्य की बहुमूल्य रचना हुई है, अब धीरे धीरे पीछे हटते जा रहे हैं और उनके स्थान में खड़ी बोली, जो किसी समय में केवल बोलचाल की भाषा थी और जिसमें कुछ भी साहित्य नहीं था, अब आगे बढ़ती आ रही है तथा उनका स्थान ग्रहण करती जा रही है, वैसे ही कौन कह सकता है कि दो एक शताब्दियों में भारतवर्ष की प्रधान बोलचाल तथा साहित्य की भाषा हिंदुस्तानी न हो जायगी, जिसमें केवल हिंदी उर्दू के शब्दों का ही मिश्रण न होगा, किंतु अँगरेजी भी अपनी छाप बनाए रहेगी। भारतीय

भाषाओं के इतिहास से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि जब जब बोलचाल की भाषा ने एक ओर साहित्यिक रूप धारण किया, तब तब दूसरी ओर बोलचाल के लिये भाषा ने परिवर्त्तित होकर दूसरा नया रूप धारण किया; और फिर उसके भी साहित्यिक रूप धारण करने पर बोलचाल की भाषा तीसरे रूप में चल पड़ी। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है; और कोई कारण नहीं देख पड़ता कि इसकी पुनरावृत्ति निरंतर न होती जाय।

हम यह देख चुके हैं कि हिंदी की तीन प्रधान उपभाषाएँ हैं, अर्थात् अवधी, व्रज भाषा और खड़ी बोली।

व्रज भाषा, अवधी तथा खड़ी बोली का तारतम्य

राजस्थानी और बुंदेलखंडी व्रज भाषा के तथा उर्दू खड़ी बोली के निकटतम है। इन तीनों उपभाषाओं के तारतम्य का कुछ विवेचन नीचे दिया जाता है।

खड़ी बोली के समान सकर्मक भूतकाल के कर्त्ता में व्रज भाषा में भी 'ने' चिह्न होता है, चाहे काव्य में सूरदास आदि की परंपरा के विचार से उसके नियम का पालन पूर्ण रूप से न किया जाय। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। हेमचंद्र के इस दोहे से इस बात का पता लग सकता है—जे महु दिण्णा दिअहड़ा दइएँ पवसंतेण = जो मुझे दिए गए दिन प्रवास जाते हुए दयित (पति) से। इसी के अनुसार सक० भूत० क्रिया का लिंग वचन भी कर्म के अनुसार होता है। पर अन्य पूरबी भाषाओं के समान अवधी में भी यह 'ने' नहीं है। अवधी के सकर्मक भूतकाल में जहाँ कृदंत से निकले हुए रूप लिए भी गए हैं, वहाँ भी न तो कर्त्ता में करण का स्मारक रूप 'ने' आता है और न कर्म के अनुसार क्रिया का लिंग वचन बदलता है। वचन के संबंध में तो यह बात है कि कारक चिह्नग्राही रूप के अतिरिक्त संज्ञा में बहुवचन का भिन्न रूप अवधी आदि पूरबी बोलियों में होता ही नहीं; जैसे "घोड़ा" और 'सखी' का व्रज भाषा में बहुवचन 'घोड़े' और 'सखियाँ' होगा, पर अवधी में एकवचन का सा ही रूप रहेगा, केवल कारक चिह्न लगने पर 'घोड़न' और 'सखिन' हो जायगा। इस पर एक कहानी है। पूरब के एक शायर जबाँदानी के पूरे दावे के साथ दिल्ली जा पहुँचे। वहाँ किसी कुँजड़िन की टोकरी से एक मूली उठाकर पूछने लगे—"मूली कैसे दोगी?" वह बोली—"एक मूली का क्या दाम बताऊँ?" उन्होंने कहा-"एक ही नही, और लूँगा।" कुँजड़िन बोली—"तो फिर मूलियाँ कहिए।"

अवधी में भविष्यत् की क्रिया केवल तिङंत ही है जिसमें लिंगभेद नहीं है; पर व्रज में खड़ी बोली के समान 'गा' वाला कृदंत रूप भी है, जैसे, आवैगो, जायगी इत्यादि।

खड़ी बोली के समान व्रज भाषा की भी दीर्घांत पदों की ओर (क्रियापदों को छोड़) प्रवृत्ति है। खड़ी बोली की आकारांत पुल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक के सर्वनाम व्रज में ओकारांत होते हैं; जैसे—घोड़ो, फेरो, झगड़ो, ऐसो, जैसो, वैसो, कैसो, छोटो, बड़ो, खोटो, खरो, भलो, नीको, थोरो, गहरो, दूनो, चौगुनो, साँवरो, गोरो, प्यारो, ऊँचो, नीचो, आपनो, मेरो, तेरो, हमारो, तुम्हारो, इत्यादि। इसी प्रकार आकारांत साधारण क्रियाएँ और भूतकालिक कृदंत भी ओकारांत होते हैं; जैसे—आवनो, आयबो, करनो, देनो, दैबो, दीबो, ठाढ़ो, बैठो, उठो, आयो, गयो, चल्यो, खायो इत्यादि। पर अवधी का लघ्वंत पदों की ओर कुछ झुकाव है, जिससे लिंग-भेद का भी कुछ निराकरण हो जाता है। लिंग-भेद से अरुचि अवधी ही से कुछ कुछ आरंभ हो जाती है। अस, जस, तस, कस, छोट, बड़, खोट, खर, भल, नीक, थोर, गहिर, दून, चौगुन, साँवर, गोर, पियार, ऊँच, नीच, इत्यादि विशेषण, आपन, मोर, तोर, हमार, तुम्हार सर्वनाम और केर, कन, सन तथा पुरानी भाषा के कहँ, महँ, पहँ कारक के चिह्न इस प्रवृत्ति के उदाहरण हैं। अवधी में साधारण क्रिया के रूप भी लघ्वंत ही होते हैं; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। यद्यपि खड़ी बोली के समान अवधी में भूतकालिक कृदंत आकारांत होते हैं, पर कुछ अकर्मक कृदंत विकल्प से लघ्वंत भी होते हैं; जैसे—ठाढ़, बैठ, आय, गय। उ०—बैठ हैं = बैठे हैं।

(क) बैठ महाजन सिंहलदीपी ।—जायसी ।

(ख) पाट बैठि रह किए सिंगारू ।—जायसी ।

इसी प्रकार कविता में कभी कभी वर्त्तमान की अगाड़ी खोलकर धातु का नंगा रूप भी रख दिया जाता है—

(क) सुनत बचन कह पवनकुमारा ।—तुलसी ।

(ख) उत्तर दिसि सरजू बह पावनि ।—तुलसी ।

उच्चारण— दो से अधिक वर्णों के शब्द के आदि में 'इ' के उपरांत 'आ' के उच्चारण से कुछ द्वेष व्रज और खड़ी दोनों पछाहीं बोलियों को है। इससे अवधी में जहाँ ऐसा योग पड़ता है, वहाँ व्रज में सधि हो जाती है। जैसे—अवधी के सियार, कियारी, बियारी, बियाज, बियाह, पियार (कामिहिं नारि पियारि जिमि ।-तुलसी), नियाव इत्यादि व्रज भाषा में स्यार, क्यारी, ब्यारी, ब्याज, ब्याह, प्यारो, न्याव इत्यादि बोले जायँगे। 'उ' के उपरांत भी 'आ' का उच्चारण व्रज को प्रिय नहीं है; जैसे-पूरबी-दुआर, कुवाँर। व्रज—द्वार, क्वारा। इ और उ के स्थान पर य और व की प्रवृत्ति इसी के अनुसार है अवधी इहाँ उहाँ [(१) इहाँ कहाँ सज्जन कर बासा। (२) उहाँ दसानन सचिव हँकारे ।-तुलसी] के व्रज रूप 'यहाँ' 'वहाँ' और 'हियाँ' 'हुवाँ' के 'ह्याँ' 'ह्वाँ' होते हैं। ऐसे ही 'अ' और 'आ' के उपरांत भी 'इ' नापसंद है, 'य' पसंद है। जैसे—अवधी के पूर्वकालिक आइ, जाइ, पाइ, कराइ, दिखाइ, इत्यादि और भविष्यत् आइहै, जाइहै, पाइहै, कराइहै, दिखाइहै (अथवा अइहै, जइहै, पइहै, करइहै; दिखइहै) आदि न कहकर व्रज में क्रमशः आय, जाय, पाय, दिखाय तथा आयहै; जायहै, पायहै, करायहै, दिखायहै (अथवा अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै आदि) कहेंगे। इसी रुचि-वैचित्र्य के कारण 'ऐ' और 'औ' का संस्कृत उच्चारण (अइ, अउ के समान) पच्छिमी हिंदी (खड़ी और व्रज) से जाता रहा, केवल 'य' कार 'व' कार के पहले रह गया, जहाँ दूसरे 'य' 'व' की गुंजाइश नहीं। जैसे, गैया, कन्हैया, मैया, कौवा, हौवा इत्यादि में। 'और' 'ऐसा' 'भैंस' आदि का उच्चारण पच्छिमी हिंदी में 'अवर', 'अयसा', 'भयँस' से मिलता जुलता और पूरबी हिंदी में 'अउर', 'अइसा', भइँस' से मिलता जुलता होगा।

व्रज के उच्चारण के ढंग में कुछ और और भी अपनी विशेषताएँ हैं। कर्म के चिह्न 'को' का उच्चारण 'कौ' से मिलता जुलता करते हैं। माहिं, नाहिं, याहि, वाहि, जाहि के अंत का 'ह' उच्चारण में घिस सा गया है, इससे इनका उच्चारण 'मायँ', 'नायँ' 'याय', 'वाय' के ऐसा होता है। 'आवैंगे' 'जावैंगे' का उच्चारण सुनने में 'आमैंगे' 'जामैंगे' सा लगता है। पर लिखने में इनका अनुसरण करना ठीक नहीं होगा।

खड़ी बोली में काल बतानेवाले क्रियापद ('है' को छोड़) भूत और वर्त्तमान कालवाची धातुज कृदंत अर्थात् विशेषण ही है। इसी से उनमें लिंगभेद रहता है। जैसे—आता है=आता हुआ है=सं० आयान् (आयांत), उपजता है = उपजता हुआ है = प्राकृत उपजंत=सं० *उत्पद्यन्, (उत्पद्यंत), करता है = करता हुआ है = प्रा० करंत = सं० कुर्वन्, (*कुर्वंत), आती है=आती हुई है = प्रा० आयंती= सं० आयांती, उपजती है = उपजती हुई है = प्रा० उपजंती = सं० *उत्पद्यंती, करती है = करती हुई है = प्रा० करंती = सं० *कुर्वंती। इसी प्रकार वह गया = स गतः, उसने किया = तेन कृतम् इत्यादि हैं। पर व्रज भाषा और अवधी में वर्तमान और भविष्यत् के तिङंत रूप भी हैं जिनमें लिंग-भेद नहीं है। व्रज के वर्त्तमान में यह विशेषता है कि बोलचाल की भाषा में तिङंत प्रथम पुरुष क्रियापद के आगे पुरुष विधान के लिये 'है' 'हूँ' और 'हौ' जोड़ दिए जाते हैं। जैसे—सं० चलति = प्रा० चलइ = व्रज० चलै, सं० उत्पद्यंते = प्रा० उपज्जइ = व्रज० उपजै, सं० पठंति = प्रा० पढंति, अप० पढ़इ = व्रज० पढ़ै, उत्तम पुरुष सं० पठामः = प्रा० पठामो, अप० पढ़उँ = व्रज० पढ़ौं या पढ़ूँ। अब व्रज में ये क्रियाएँ 'होना' के रूप लगाकर बोली जाती है। जैसे—चलै है, उपजै है, पढै हैं, पढ़ौं हों या पढ़ूँ हूँ। इसी प्रकार मध्यम पुरुष "पढ़ौ हौ" होगा। वर्तमान के तिङंत रूप अवधी की बोलचाल से अब उठ गए हैं, पर कविता में बराबर आए हैं; जैसे-(क) पंगु चढ़ै गिरिवर गहन, (ख) बिनु पद चलै

सुनै बिनु काना। भविष्यत् के तिङंत रूप अवधी और व्रज दोनों में एक ही हैं; जैसे-करिहै, चलिहै, होयहै=अप० करिहइ, चलिहइ, होइहइ = प्रा० करिस्सइ, चलिस्सइ, होइस्सइ = सं० करिष्यति, चलिष्यति, भविष्यति। अवधी में उच्चारण अपभ्रंश के अनुसार ही हैं, पर व्रज में 'इ' के स्थान पर 'य' वाली प्रवृत्ति के अनुसार करिहय = करिहै, होयहय = होयहै इत्यादि रूप हो जायँगे। 'य' के पूर्व के 'आ' को लघु करके दोहरे रूप भी होते हैं; जैसे, अयहै = ऐहै, जयहै = जैहै; करयहै = करैहै इत्यादि। उत्तम पुरुष खयहौं = खैहौं, अयहौं = ऐहौं, जयहौं = जैहौं।

व्रज भाषा में बहुवचन के कारक-चिह्न-ग्राही-रूप में खड़ी बोली के समान 'ओं' (जैसे लड़कों को) नहीं होता, अवधी के समान 'न' होता है। जैसे—घोड़ान को, घोड़न को, छोरान को, छोरन को इत्यादि। अवधी में केवल दूसरा रूप होता है, पहला नहीं। उ०—देखहु बनरन केरि ढिठाई।—तुलसी।

खड़ी बोली में कारक के चिह्न विभक्ति से पृथक् हैं। विलायती मत कहकर हम इसका तिरस्कार नहीं कर सकते। आगे चलकर हम इसका विचार विशेष रूप से करेंगे। इसका स्पष्ट प्रमाण खड़ी बोली के संबंध कारक के सर्वनाम में मिलता है। जैसे, किसका = सं० कस्य = प्रा० पुं० किस्स + कारक चिह्न 'का'। काव्यों की पुरानी हिंदी में संबंध की 'हि' विभक्ति (माग० 'ह', अप० हो') सब कारकों का काम दे जाती है। अवधी में अब भी सर्वनाम में कारक चिह्न लगने के पहले यह 'हि' आता है। जैसे-'केहिकाँ' (पुराना रूप—केहि कहँ), 'केहि कर', यद्यपि बोलचाल में अब यह 'हि' निकलता जा रहा है। व्रज भाषा से इस 'हि' को उड़े बहुत दिन हो गए। उसमें 'काहि को' 'जाहि को' आदि के स्थान पर 'काको' 'जाको' आदि का प्रयोग बहुत दिनों से होता है। यह उस भाषा के अधिक चलतेपन का प्रमाण है। खड़ी बोली में सर्वनामों (जैसे, मुझे, तुझे, हमें, मेरा, तुम्हारा, हमारा,) को छोड़ विभक्ति से मिले हुए सिद्ध रूप व्यक्त नहीं हैं, पर अवधी और व्रज भाषा में हैं। जैसे पुराने रूप-'रामहिं', 'बनहिं, 'घरहिं', नए रूप 'रामै' 'बनै' 'घरै' (अर्थात् राम को, बन को, घर को); अवधी या पूरबी-"घरे" = घर में।

जैसा पहले कहा चुका है, व्रज की चलती बोली से पदांत के 'ह' को निकले बहुत दिन हुए। व्रज भाषा की कविता में 'रामहिं' 'आवहिं' 'जाहिं' 'करहिं' 'करहु' आदि जो रूप देखे जाते है, वे पुरानी परंपरा के अनुसरण मात्र हैं। खड़ी बोली के समान कुछ सर्वनामों जाहि, वाहि, तिन्हैं, जिन्हैं में यह 'ह रह गया है। चलती भाषा में 'रामै' 'बनै' आवैं' 'जायँ' 'करैं', 'करौं' ही बहुत दिनों से, जब से प्राकृत-काल का अंत हुआ तब से, है। सूरदास में ये ही रूप बहुत मिलते हैं। कविता में नए पुराने दोनों रूपों का साथ साथ पाया जाना केवल परंपरा का निर्वाह ही नहीं, कवियों का आलस्य और भाषा की उतनी परवा न करना भी सूचित करता है। 'आवैं', 'चलावैं' के स्थान पर 'आवहिं' 'चलावहिं' तो क्या 'आवहीं' 'चलावहीं' तक लिखे जाने से भाषा की सफाई जाती रही। शब्दों का अंग भंग करने का 'कविन्दों' ने ठेका सा ले लिया। समस्यापूर्ति की आदत के कारण कवित्त के अंतिम चरण की भाषा तो ठिकाने की होती थी, पर शेष चरण इस बात को भूलकर पूरे किए जाते थे कि शब्दों के नियत रूप और वाक्यों के कुछ निर्दिष्ट नियम भी होते है। पर भाषा के जीते जागते रूप को पहचाननेवाले रसखान और घनानंद ऐसे कवियों ने ऐसे सड़े गले या विकृत रूपों का प्रयोग नहीं किया; किया भी है तो बहुत कम 'आवहिं','जाहिं' 'करहिं' कहहुं' न लिख कर उन्होंने बराबर 'आवैं', 'जायँ' करैं, 'कहौं' लिखा है। इसी प्रकार 'इमि', 'जिमि' 'तिमि' के स्थान पर वे बराबर चलती भाषा के 'यों', 'ज्यों' 'त्यों' लाए हैं। व्रज की चलती भाषा में केवल सर्वनाम के कर्म में 'ह' कुछ रह गया है; जैसे, जाहि, ताहि, वाहि, जिन्हैं, तिन्हैं। पर 'जाहि' 'वाहि' के उच्चारण में 'ह' घिसता जा रहा है, लोग 'जाय' 'वाय' के समान उच्चारण करते हैं।

हिंदी की तीनों बोलियों (खड़ी, व्रज और अवधी) में व्यक्तिवाचक सर्वनाम कारक चिह्न के पहले अपना कुछ

रूप बदलते हैं। व्रज भाषा में अवधी का सा विकार होता है, खड़ी बोली का सा नहीं।

खड़ी	अवधी	व्रज
मै-तू-वह	मे-तै-वह, सो, ऊ	मै-तू या तैं-वह-सो
मुझ-तुझ-उस	मो-तो-वा, ता, ओ।	यो-तो वा, ता

'ने' चिह्न तो अवधी में आता ही नहीं। व्रज में उत्तम पुरुष कर्त्ता का रूप ने लगने पर मैं ही रहता है। ऊपर अवधी में प्रथम पुरुष का तीसरा रूप पूरबी अवधी का है। व्रज में एकवचन उत्तम पुरुष 'हौं' भी आता है जिसमें कोई कारक चिह्न नहीं लग सकता। वास्तव में इस का प्रयोग कर्ता कारक में होता है; पर केशव ने कर्म में भी किया है। यथा—पुत्र हौं विधवा करी तुम कर्म कीन्ह दुरंत।

जाना, होना के भूतकाल के रूप (गवा, भवा) में से व उड़ाकर जैसा अवधी में गा, भा रूप होते हैं, वैसे ही व्रज में भी य उड़ाकर गो, भो (बहु० गे, भे) रूप होते हैं। उ०—(क) इत पारि गो को मैया मेरी सेज पै कन्हैया को ?—पद्माकर। (ख) सौतिन के साल भो, निहाल नंदलाल भो।—मतिराम।

खड़ी बोली करण का चिह्न 'से' क्रिया के साधारण रूप में लगाती है; व्रज और अवधी प्रायः भूतकालिक कृदंत में ही लगाती है; जैसे—व्रज० 'किए ते' अवधी 'किए सन' = करने से। कारक चिह्न प्रायः उड़ा भी दिया जाता है, केवल उसका सूचक विकार क्रिया के रूप में रह जाता है; जैसे—किए, दीने।

क्रिया का वर्तमान कृदंत रूप व्रज भाषा खड़ी बोली के समान दीर्घांत भी रखती है; जैसे—आवतो, जातो, भावतो, सुहातो। (उ०—जब चहिहैं तब माँगि पठैहैं जो कोउ आवत जातो।—सूर।) और अवधी के समान लघ्वंत भी; जैसे आवत, जात, भावत, सुहात। कविता में सुभीते के लिये लघ्वंत का ही ग्रहण अधिक है। जिन्हें व्रज और अवधी के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता, वे 'जात' को भी 'जावत' लिख जाते हैं।

खड़ी बोली में साधारण क्रिया का केवल एक ही रूप 'ना' से अंत होनेवाला (जैसे, आना, जाना, करना) होना है; पर व्रज भाषा में तीन रूप होते हैं—एक तो 'नो' से अंत होनेवाला; जैसे—आवनो, करनो, लेनो, देनो; दूसरा 'न' से अंत होनेवाला; जैसे-आवन, जान, लेन, देन; तीसरा 'बो' से अंत होनेवाला; जैसे—आयबो, करिबो, दैबो या लैबो इत्यादि। करना, देना और लेना के 'कीबो' 'दीबो' और 'लीबो' रूप भी होते हैं। व्रज के तीनों रूपों में से कारक के चिह्न पहले रूप (आवनो, जानो) में नहीं लगते, पिछले दो रूपों में ही लगते हैं। जैसे—आवन को, जान को, दैबे को इत्यादि। शुद्ध अवधी में कारक चिह्न लगने पर साधारण क्रिया का रूप वर्तमान तिङंत का हो जाता है, जैसे—आवइ के, जाइ के, आवइ मे, जाइ में अथवा आवइ काँ, जाइ काँ, आवइ माँ, जाइ माँ। उ०—जात पवनसुत देवन देखा। जानइ चह बल बुद्धि बिसेखा। सुरसा नाम अहिन कै माता। पठइन आइ कही तेइ बाता।—तुलसी।

पूरबी या शुद्ध अवधी में साधारण क्रिया के अंत में ब रहता है; जैसे—आउब, जाब, करब, हँसब इत्यादि। इस ब की असली जगह पूरबी भाषाएँ ही हैं जो इसका व्यवहार भविष्यत् काल में भी करती हैं; जैसे—पुनि आउब यहि बेरियाँ काली।—तुलसी। उतम पुरुष (हम करब, मैं करबौं) और मध्यम पुरुष (तूं करबो, तैं करबे) में तो यह बराबर बोला जाता है; पर साहित्य में प्रथम पुरुष में भी बराबर इसका प्रयोग मिलता है। यथा—(क) तिन निज ओर न लाउब भोरा।—तुलसी। (ख) घर पइठत पूछब यहि हारू। कौन उतरु पाउब पैसारू।—जायसी। पर ऐसा प्रयोग सुनने में नहीं आया। मध्यम पुरुष में विशेष कर आज्ञा और विधि में ब में ई मिला कर व्रज के दक्षिण से लेकर बुंदेलखंड तक बोलते हैं; जैसे आयबी, करबी इत्यादि। उ०—(क) यह राज साज समेत सेवक जानिबी बिनु गथ लये। (ख) ए दारिका परिचारिका करि पालिबी करुना-मई।—तुलसी। यह प्रयोग व्रज भाषा के ही अंतर्गत है और साहित्य में प्रायः सब प्रदेशों के कवियों ने इसे किया है; सूर, बोधा, मतिराम, दास यहाँ तक कि राम-

सहाय ने भी। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, जब साहित्य की एक व्यापक और सामान्य भाषा बन जाती है, तब उसमें कई प्रदेशों के प्रयोग आ मिलते हैं। साहित्य की भाषा को जो व्यापकत्व प्राप्त होता है, वह इसी उदारता के बल से। इसी प्रकार 'स्यो' (=सह, साथ) शब्द बुंदेलखंड का समझा जाता है, जिसका प्रयोग केशवदास जी ने, जो बुंदेलखंड के थे, किया है; यथा—"अलि स्यो सरसीरुह राजत है।" बिहारी ने तो इसका प्रयोग किया ही है, पर उन्होंने जैसे करिबी और स्यो का प्रयोग किया है, वैसे ही अवधी कीन, दीन, केहि (=किसने) का प्रयोग भी तो किया है। स्यो का प्रयोग दास जी ने भी किया है जो खास अवध के थे; यथा—स्यो ध्वनि अर्थनि वाक्यनि लै गुण शब्द अलंकृत सों रति पाकी। अतः किसी के काव्य में स्थान विशेष के कुछ शब्दों को पाकर चटपट यह निश्चय न कर लेना चाहिए कि वह उस स्थान ही का रहनेवाला था। सूरदास ने पंजाबी और पूरबी शब्दों का व्यवहार किया है। अब उन्हें पंजाबी कहें या पुरबिया? उदाहरण लीजिए—जोग-मोट सिर बोझ आनि कै कन तुम घोष उतारी। एतिक दूर जाहु चलि काशी जहाँ बिकति है प्यारी। महँगा के अर्थ में 'प्यारा' पंजाबी है। अब पूरबी का नमूना लीजिए—गोड़ चापि लै जीभ मरोरी। गोड़ (पैर) खास पूरबी है।

इस प्रकार हिंदी की तीन मुख्य भाषाएँ, व्रज भाषा, अवधी और खड़ी बोली का विवेचन समाप्त होता है। साधारणतः हम कह सकते हैं कि व्रज भाषा ओकार-बहुला, अवधी एकार-बहुला, और खड़ी बोली आकार-बहुला भाषा है।

विभक्तियाँ

हिंदी के विद्वानों में विभक्तियों के संबंध में बहुत मत-भेद है। कोई इसे प्रत्यय मात्र मानते हैं और इसी आधार पर इन्हें मूल शब्दों के साथ मिलाकर लिखते हैं; परंतु दूसरों का मत इसके विरुद्ध है। उनका कहना है कि विभक्तियाँ स्वतंत्र शब्दों से उत्पन्न हुई हैं। जिस रूप में वे इस समय वर्तमान हैं, वह उनका संक्षिप्त रूप है। अतएव हम यहाँ पर यह दिखलावेंगे कि विभक्तियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है।

(१) कर्ता—कर्ता कारक की विभक्ति किसी आधुनिक आर्य भाषा में नहीं है। हिंदी में जब सकर्मक क्रिया भूतकाल में होती है, तब कर्ता के साथ 'ने' विभक्ति लगती है। यह 'ने' विभक्ति पश्चिमी हिंदी का एक विशेष चिह्न है। पूर्वी हिंदी में इसका पूर्ण अभाव है। यह 'ने' वास्तव में करण का चिह्न है, जो हिंदी में गृहीत कर्मवाच्य रूप के कारण आया है। इसका प्रयोग संस्कृत के करण कारक के समान साधन के अर्थ में नहीं होता; इसलिये हम 'ने' को करण कारक का चिह्न नहीं मानते। करण कारक का चिह्न हिंदी में 'से' है। संस्कृत में करण कारक का 'इन' प्राकृत में 'एण' हो जाता है। इसी 'इन' का वर्ण-विपरीत हिंदी रूप 'ने' है।

(२) कर्म और संप्रदान कारक—इन कारकों की विभक्ति हिंदी में 'को' है। इन दोनों कारकों के प्रयोग में स्पष्टता न होने के कारण प्रायः इनका परस्पर उलट फेर हो जाता है। यह हिंदी के लिये नई बात नहीं है। करण, अपादान और अधिकरण कारकों में प्रायः उलट फेर हो जाता है। संस्कृत में सात कारक हैं—कर्ता, कर्म, करण, संप्रदान, अपादान, संबंध और अधिकरण। पर संस्कृत वैयाकरण संबंध को कारक नहीं मानते। प्राकृतों में संप्रदान का प्रायः लोप हो गया है। साथ ही प्राकृतों में यह भी प्रवृत्ति देखी जाती है कि अन्य कारकों के स्थान में संबंध का प्रयोग होता है। इस प्रकार कारकों के केवल दो ही प्रत्यय अर्थात् कर्त्ता और संबंध के रह जाते हैं। अपभ्रंश में इस प्रकार एक कारक को कई का स्थानापन्न बनाने की प्रवृत्ति अधिक स्पष्ट देख पड़ती है। हेमचंद्र ने स्पष्ट लिखा है कि अपभ्रंश में संबंध कारक के प्रत्यय से ही अपादान और संबंध कारक भी बनता है। आधुनिक भाषाओं में कारकों के दो रूप हो जाते हैं—एक कर्त्ता का अविकारी रूप और दूसरा अन्य कारकों में विकारी अर्थात् कारक-चिह्न-ग्राही रूप। इससे भिन्न भिन्न कारकों के प्रयोग में स्पष्टता हो जाती है; और इसे बनाए रखने के लिए आधुनिक भाषाओं में कारक-

चिह्न-ग्राही रूपों में भिन्न भिन्न विभक्तियाँ लगाई जाती हैं। परंतु प्राकृतों तथा अपभ्रंशों में कारकों के लोप अथवा एक दूसरे में लीन हो जाने के कारण आधुनिक हिंदी में कर्म और सप्रदान तथा करण और अपादान कारकों की एक ही विभक्ति रह गई है।

बीम्स साहब का कथन है कि 'को' विभक्ति संस्कृत के 'कक्षे' शब्द से निकली है, जिसका विकार क्रमशः इस प्रकार हुआ है—कक्खं, काँख, काहँ, काहूँ, काहुँ, कहुँ, कौं, कों और अंत में को। परंतु जिस अर्थ में 'को' विभक्ति आती है, उसमें 'कक्षे' का, प्रयोग सस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता। अतः आधुनिक रूप के आधार पर एक अप्रसिद्ध मूल की कल्पना करना उल्टी गंगा बहाना है। दूसरे लोग अम्हाकं, अम्हें, तुम्हाकं तुम्हें से, हमको, हमें, तुमको, तुम्हें की उत्पत्ति मान कर इसी 'कं' या 'आकं' की और शब्दों में अतिव्याप्ति स्वीकार करते हैं।

संस्कृत की 'कृ' धातु से 'कृत' शब्द बनता है। इसका करण कारक का रूप 'कृतेन' और अधिकरण कारक का रूप 'कृते' होता है। ये दोनों कृतेन और कृते संप्रदान कारक का भाव प्रकट करते हैं; जैसे—देवदत्तस्य कृते = देवदत्त के लिये। हेमचंद्र अपने व्याकरण (४। ४२५) में लिखते हैं कि अभ्रंश में 'केहि' निपात (अव्यय) तादर्थ्य (= के लिये) में प्रयुक्त होता है जो संप्रदान कारक का अर्थ प्रकट करता है। संस्कृत के कृत से अपभ्रंश का 'कअ' होता है, जिसका करण बहुवचन या अधिकरण एकवचन रूप 'कअहि' या 'कयहि' होता है। हेमचंद्र जिस 'केहि' का उल्लेख करते हैं, वह वास्तव में इसी 'कअहि' या 'कयहि' का विकृत रूप है। इसी केहि' से आधुनिक भाषाओं की संप्रदान कारक की विभक्तियाँ किही, कै, कू, कौ, को, काहु, किनु, गे, खे, कु के, का आदि बनी हैं। हिंदी में इस 'को' विभक्ति के रूप व्रजभाषा और अवधी में 'कहँ', काँ, के कुँ, कूँ, कौं, कउँ और कें होते हैं। इन्हीं 'कहँ' 'कौं' आदि से आधुनिक हिंदी की 'को' विभक्ति बनी है; अतएव यह स्पष्ट हुआ कि हिंदी की 'को' विभक्ति संस्कृत के कृते या कृतेन शब्द से अपभ्रंश में 'केहि' होती हुई हिंदी में 'को' हो गई है। कुछ लोग अपभ्रंश के 'केहि' निपात को कर + हि के संयोग से बना हुआ मानते है, जो क्रमशः संबंध और संप्रदान कारक के प्रत्यय माने जाते हैं।

करण और अपादान—हिंदी मे इनकी विभक्ति 'से' है। दोनों कारकों की एक ही विभक्ति होने का ठीक कारण नहीं जान पड़ता। पाली में इन दोनों का बहुवचनांत रूप एक सा होता है। संभव है, इसी उपमान से इनमें अभेद कर लिया गया हो। अधिकांश विद्वान् इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत की 'सुंतो' विभक्ति से बताते हैं। प्राचीन हिंदी में अपादान के लिये तें तथा सेंती और हुत, हुंते आदि विभक्तियाँ भी आई हैं। यह 'सेंती' तो स्पष्ट सुंतो से निकली है और हुंत, हुने प्राकृत की विभक्ति हिंतो से। से विभक्ति भी सुंतो से निकली हुई जान पड़ती है। चद बरदाई के पृथ्वीराज रासो में कई स्थानों पर 'सम' शब्द 'से' के अर्थ में आया है; जैसे—

कहै कंति सम कंत। (१—११)

कहि सनिकादिक इंद्र सम। (२—११०)

बलि लग्गौ जुध इंद्र सम। (२—२१८)

यह 'सम' संस्कृत के सह का पर्याय है और इसी से आगे चल कर 'सन' बना है जिसका प्रयोग अवधी में प्रायः मिलता है। अतएव बहुतों का मत है कि सम से सन तथा सन से सों, सें और अंत में 'से', हो गया है। पर रासो में 'से', 'सम' 'हुंतो' आदि रूप का एक साथ मिलना यह सूचित करता है कि ये सब स्वतंत्र हैं; कोई किसी से निकला नहीं है।

संबंध कारक—इसकी विभक्ति 'का' है। वाक्य में जिस शब्द के साथ संबंध-कारक का संबंध होता है, उसे भेद्य कहते हैं; और भेद्य के संबध से सबंध कारक को भेदक कहते हैं। जैसे—'राजा का घोड़ा' में 'राजा का' भेदक और 'घोड़ा' भेद्य है। हिंदी में भेद्य इस विभक्ति का अनुशासन करता है और उसी के लिंग तथा वचन के अनुसार इसका भी लिंग और वचन होता है। और सब विभक्तियाँ तो दोनों लिंगों तथा दोनों वचनों में एक सी रहती है; केवल संबंध-कारक की विभक्ति पुंल्लिंग एक वचन में 'का', स्त्री लिंग एक-वचन में 'की', और

स्त्रीलिंग तथा पुल्लिंग दोनों के बहुवचन में तथा पुल्लिंग भेद्य के कारक चिह्न-ग्राही रूप के पूर्व प्रयुज्यमान भेदक की 'के' होती है। इसका कारण यह है कि भेदक एक प्रकार से विशेषण होता है और विशेषण का विशेष्यनिघ्न होना स्वाभाविक ही है। इसी विशेषता को ध्यान में रखकर इसकी व्युत्पत्ति का विवेचन करना उचित होगा। इस विभक्ति की व्युत्पत्ति के संबंध में भी विद्वानों में कई मत हैं, जो नीचे दिए जाते हैं।

(क) संस्कृत में संज्ञाओं में इक, ईन, इय प्रत्यय लगने से तत्संबंधी विशेषण बनते हैं। जैसे—काय से कायिक, कुल से कुलीन, राष्ट्र से राष्ट्रिय। 'इक' से हिंदी में 'का', 'ईन' से गुजराती में 'नो' और 'इय' से सिंधी में 'जो' तथा मराठी में 'चा' होता है।

(ख) प्रायः इसी तत्संबंधी अर्थ में संस्कृत में एक प्रत्यय "क" आता है; जैसे-मद्रक = मद्र देश का, रोमक= रोम देश का। प्राचीन हिंदी में 'का' के स्थान में 'क' पाया जाता है, जिससे यह जान पड़ता है कि हिंदी का 'का' संस्कृत के 'क' प्रत्यय से निकला है।

(ग) प्राकृत में 'इदं' (संबंध) अर्थ में 'केरओ' 'केरिअ', 'केरकं', 'केर' आदि प्रत्यय आते हैं, जो विशेषण के समान प्रयुक्त होते हैं और लिंग में विशेष्य के अनुसार बदलते हैं। जैसे—कस्स केरकं एदं पवहणं (किसकी यह बहल है)। इन्हीं प्रत्ययों से पृथ्वीराज रासो की प्राचीन हिंदी के केरा, केरो आदि प्रत्यय निकले हैं जिनसे हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय बनते हैं। पर इन्हें प्रत्यय कहना उचित नहीं जान पड़ता। प्रत्यय जिस प्रकृति से लाया जाता है, वह निर्विभक्तिक होती है, उससे विभक्ति का लोप हो जाता है। परंतु यहाँ 'केरकं' के पहले 'कस्स' सविभक्तिक है। हेमचंद्र ने 'केर' प्रत्यय (२।१४७) और संबंधिवाचक 'केर' शब्द (४।४२२) दोनों का उल्लेख किया है। तुम्हकेरो, अह्मकेरो, तुज्झ बप्पकेरको (मृच्छ क०) आदि में प्रयुक्त 'केर' को प्रत्यय और 'कस्स केरकं' के 'केर' को स्वतंत्र पद समझना चाहिए। हिंदी 'किसका' ठीक 'कस्स केरकं' से मिलता है। किस, 'कस्स' ही का विकार है। अतः 'किसका' में दुहरी विभक्ति की कल्पना करके चौंकना वृथा है।

(घ) प्राकृत इदमर्थ के क्क, इक्क, एच्चय आदि प्रत्ययों से ही रूपांतरित होकर आधुनिक हिंदी के 'का, के, की' प्रत्यय हुए हैं।

(ङ) सर्वनामों के 'रा, रे, री' प्रत्यय केरा, केरो आदि प्रत्ययों के आद्य 'क' का लोप हो जाने से बने हैं।

यही भिन्न भिन्न मत हैं। संबंध कारक की विभक्तियों में लिंग-वचन के अनुसार रूपांतर होने के कारण यह स्पष्ट है कि ये विभक्तियाँ वास्तव में विशेषण थीं और प्रारंभ में इनमें कारकों के कारण विकार होता था। अतएव 'का' विभक्ति का पूर्व रूप भी विशेषण का सा ही रहा होगा। संस्कृत कृ धातु के कृदंत रूप कृतः का अपभ्रंश में केरा, करो, किरो, किओ, को और कयो होता है। इन अपभ्रंश रूपों को हम दो विभागों में विभक्त कर सकते है—

(१) को, किओ, किरो।

(२) केरो, करो।

प्रथम श्रेणी के रूप स्पष्टतः संस्कृत के कृतः से निकले हैं। इसी का शौरसेनी अपभ्रंश रूप 'किरो' है। द्वितीय श्रेणी में केरो का प्रयोग तो अपभ्रंश में मिलता है, पर करो का नहीं मिलता। आधुनिक भाषाओं में इसके मिलने से यह मानना पड़ता है कि या तो इस रूप का प्रयोग था, अथवा यह केरो से विकृत होकर बना है। बीम्स और हार्नली का मत है कि संस्कृत के कृतः से प्राकृत में करिओ हुआ जिससे केरो बना। कोई कोई प्राकृत के 'करिओ' को संस्कृत के 'कार्यः' से निकला हुआ मानते हैं। संभवतः इसका पुराना रूप 'करिद' न कि 'करिअ' हो सकता है; पर 'करिद' से 'केर' नहीं निकल सकता। यदि हम इसे 'कार्यः' से निकालते हैं, तो इसके अर्थ में बाधा उपस्थित होती है। कृतः भूत कृदंत का रूप है और कार्यः भविष्य कृदंत का। भूत और भविष्य के भावों में बहुत भेद है; अतएव एक ही अर्थ के द्योतक शब्द को दोनों से निकला हुआ मानना ठीक नहीं। पर संस्कृत में भी इस प्रकार अर्थ का विपर्यय होता है।

अतः केरो और करो को सं० कार्यः, प्रा० करिओ से निकला हुआ मानने में कोई अड़चन नहीं है। अतएव यह स्पष्ट है कि प्रथम श्रेणी के प्राकृत प्रत्ययों से कौ, को, का, के, कु निकले हैं और दूसरी श्रेणी के प्रत्ययों से केरो, केर, कर, क निकले हैं। पर इन व्युत्पत्तियों का आधार अनुमान ही अनुमान है। अतः हम इनके परम मूल की गवेषणा छोड़कर केवल प्राकृत के 'केर' "क्क" प्रत्यय और अपभ्रंश के "केर" या 'केरक' शब्द से ही इनकी व्युत्पत्ति मानकर संतोष करें तो अच्छा है। जिस प्रकार 'बलीवर्द' के दो खंडों – बली और वर्द से क्रमशः बैल और बर्द एवं 'द्वे' के दो खडों द और वे से क्रमशः हिंदी 'दो' और गुजराती तथा पुरानी हिंदी 'बे' निकले हैं, वैसे ही 'केरक' से केर (पश्चिमी अवधी 'रामकेर') 'एर' (बँगला) क (भोजपुरिया और पूर्वी अवधी) और 'का' का उत्पन्न होना कोई आश्चर्य नहीं।

(५) अधिकरण कारक—हिंदी में इसका चिह्न 'में' है। यह संस्कृत के 'मध्ये' से निकला है। प्राकृत और अपभ्रंश में "इसके मज्झे, मज्झि, मज्झहिं रूप होते हैं। इन्हीं रूपों से आधुनिक भाषाओं की विभक्तियों के दो प्रकार के रूप बन गए हैं—एक वह जिसमें झ बना हुआ है; और दूसरा वह जिसमें झ के स्थान में ह हो गया है। इन्हीं रूपों से मझि, माँझ,' माँहें, माँहीं, माँही, माह, महँ, माँ, मों और में रूप बने हैं। यह बीम्स तथा हार्नली का मत है। वस्तुतः 'में' को पाली, प्राकृत के स्मि, म्हि, म्मि से ही उद्भूत मानना चाहिए। प्राकृत अथवा संस्कृत में जहाँ जहाँ 'मज्झहि' या 'मध्ये' का प्रयोग हुआ है, वहाँ वहाँ उसके पूर्व में षष्ठी विभक्ति वर्त्तमान रहती है; अतः उसे मध्य शब्द का अर्थानुरोध से प्रयुक्त स्वतंत्र रूप ही समझना चाहिए, न कि अधिकरणता-बोधक विभक्ति। दूसरे 'पृथ्वीराज रासो' आदि प्राचीन हिंदी काव्यों में साथ ही साथ 'माझ' आदि तथा 'में' का प्रयोग देखकर यह कोई नहीं कह सकता कि 'मध्य' से घिस घिसाकर 'में' उत्पन्न हुआ है। अतः 'म्मि' से ही 'में' निकला है, इसमें संशय नहीं। इसी 'म्मि' का केवल 'इ' अपभ्रंश में आता है। इसका सार यह निकला कि माझ, महँ आदि 'मध्य' और 'में', म्मि से व्युत्पन्न हुए हैं।

इस प्रकार हिंदी विभक्तियों की उत्पत्ति संस्कृत तथा प्राकृत के शब्दों, विभक्तियों और प्रत्ययों से हुई है। यहाँ पर हम एक बात पर पुनः ध्यान दिलाना चाहते हैं। हम पहले यह बात लिख चुके हैं कि भारतवर्ष की आधुनिक आर्यभाषाओं के दो मुख्य समुदाय हैं-एक बहिरंग और दूसरा अंतरंग; और एक तीसरा समुदाय दोनों का मध्यवर्त्ती है। बहिरंग और अंतरंग समुदाय की भाषाओं में यह बड़ा भेद है कि पहली संयोगावस्था में है और दूसरी वियोगावस्था में, अर्थात् पहली के कारक रूप प्रायः प्रत्यय लगाकर बनते हैं और दूसरी के कारक रूपों के लिये सहायक शब्दों की आवश्यकता होती है। जैसे– हिंदी में कारक रूप बनाने के लिये 'घोड़ा' संज्ञा के साथ विभक्ति लगाकर घोड़े का, घोड़े को आदि बनाते हैं। हम यह भी दिखला चुके हैं कि ये 'का, को' आदि स्वतंत्र शब्द थे; पर क्रमशः अपनी स्वतंत्रता खोकर अब सहायक मात्र रह गए हैं। इसके विपरीत बँगला भाषा को लीजिए, जिसमें 'घोड़े का' के स्थान में 'घोड़ार' और 'घोड़े को' के स्थान में 'घोड़ारे' होता है। यहाँ र और रे प्रत्यय लगाकर कारक के रूप बनाए गए हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि एक में स्वतंत्र शब्द सहायक बन जाने पर भी अपनी अलग स्थिति रखते हैं; और दूसरे में वे प्रत्यय बनकर शब्दों के साथ मिलकर उसके अंग बन गए हैं।

हम पहले बतला चुके हैं कि भाषाएँ अपने विकास की अवस्था में पहले वियोगात्मक होती हैं और क्रमशः विकसित होते होते संयोगात्मक हो जाती हैं। बहिरंग भाषाएँ भी आरंभ में वियोगात्मक अवस्था में थीं; पर क्रमशः विकसित होते हुए वे संयोगात्मक हो गई। अर्थात् प्रथम अवस्था में शब्द अलग अलग रहते हैं; और दूसरी अवस्था में वे विकृत शब्दों के साथ मिलकर उनके अंग बन जाते हैं तथा भिन्न भिन्न संबंधों को सूचित करते हैं। कहने का तात्पर्य यही है कि जो पहले केवल संग लगे रहते थे, वे अब अंगीभूत हो गए हैं। हम

यह बात एक उदाहरण देकर स्पष्ट करते है। परंतु ऐसा करने के पहले हम प्राकृत और अपभ्रंश के एक मुख्य नियम पर ध्यान दिला देना चाहते हैं। प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं में कुछ व्यंजन, जिनमें क और त सम्मिलित हैं, जब किसी शब्द के बीच में दो स्वरों के मध्य में आते हैं, तब उनका लोप हो जाता है। परंतु यदि वे किसी शब्द के आरंभ में आते हैं, तो उनका लोप नहीं होता, चाहे उनके पूर्ववर्ती शब्द के अंत में स्वर हो और उनके पीछे भी स्वर हो; जैसे चलति का चलइ होता है। इस शब्द के स्वरों और व्यंजनों को अलग करने से ऐसा रूप होता है—च् + अ + ल् + अ + त् + इ। अब त् अक्षर अ और इ के बीच में आया है, इसलिये उसका लोप हो गया है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए—कामस्स तत्त (= कामस्य तत्व)। इसमें तत्त के प्रथम त का लोप नही हुआ, यद्यपि कामस्स का अंतिम स अकारांत है और 'त' स्वयं भी अकारांत है। यहाँ इसका लोप इसलिये नहीं हुआ कि यह शब्द के आरंभ में आया है। अतएव यह स्पष्ट हुआ कि 'क' या 'त' का लोप तभी होता है, जब वह शब्द के बीच में आता है। शब्द के आरंभ में उसका लोप नहीं होता। अब हम किअअ, कर, करौ और तनौ इन तीन प्राचीन शब्दों को लेते हैं जो संबंध कारक के प्रत्यय बन गए हैं। हिंदी 'घोड़े का' 'घोड़हि कअअ' से बना है। यहाँ इस कअअ के क का लोप नहीं हुआ और वह आधुनिक 'का' रूप में 'क' सहित वर्तमान है। अतएव यह 'का' का 'क' एक स्वतंत्र शब्द का आरंभिक अक्षर है, जो घोड़े के साथ मिलकर एक नहीं हो गया है। इसलिये यह कारक चिह्न के रूप में वर्तमान है और व्याकरण के नियमानुसार प्रत्यय नहीं बन गया है। अब बँगला का 'घोड़ार' लीजिए जिसका अपभ्रंश रूप 'घोड़अ-कर' है। इसमें 'कर' का केवल 'अर' रह गया है। यहाँ आरंभिक 'क' का लोप हो गया है। यह 'क' मध्यस्थ होकर लुप्त हुआ है; इसलिये यह स्वतंत्र न रह कर घोड़ा शब्द में लीन हो गया है। यहाँ यह कारक चिह्न न रहकर प्रत्यय बन गया है। बहिरंग भाषाओं में इस प्रकार के और भी उदाहरण मिलते हैं; पर विस्तार करने की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, बहिरंग भाषाएँ संयोगावस्था में हैं; अतः उनके कारकों के सूचक सहायक शब्द उनके अंग बनकर उनसे संयुक्त हो गए हैं; और अंतरंग भाषाओं में, उनके वियोगावस्था में रहने के कारण, वे वियुक्त रहे हैं। इस अवस्था में हिंदी के संज्ञा-कारकों की विभक्तियों को शब्दों से अलग रखना उनके इतिहास से सर्वथा अनुमोदित होता है। इस संबंध में जानने की दूसरी बात यह है कि अंतरंग भाषाओं में कारक चिह्न या विभक्ति लगने से पूर्व शब्दों में वचन आदि के कारण विकार हो जाता है; पर बहिरंग भाषाओं में प्रत्यय लग जाने पर इन्हीं कारणों से विकार नहीं होता। यहाँ एक अपनी स्वतंत्र स्थिति बनाए रखता है और दूसरा अपना अस्तित्व सर्वथा खो देता है।

यह उपर्युक्त विचार हमने ग्रियर्सन प्रभृति विद्वानों के मतानुसार किया है। जिस प्रकार अंतरंग-बहिरंग भेद के प्रयोजक अन्य कारणों का दौर्बल्य हम पहले दिखा चुके हैं, उसी प्रकार संयोगावस्था के प्रत्ययों और वियोगावस्था के स्वतंत्र शब्दों के भेद की कल्पना भी दुर्बल ही है। अंतरंग मानी गई पश्चिमी हिंदी तथा अन्य सभी आधुनिक भाषाओं में संयोगावस्थापन्न रूपों का आभास मिलता है। यह दूसरी बात है कि किसी में कोई रूप सुरक्षित है, किसी में कोई। पश्चिमी हिंदी और अन्य आधुनिक आर्यभाषाओं की रूपावली में स्पष्टतः हम यही भेद पाते हैं कि उसमें कारक चिह्नों के पूर्व विकारी रूप ही प्रयोग में आते हैं; जैसे–'घोड़े का' में 'घोड़े'। यह 'घोड़े' घोड़हि (= घोटस्य अथवा घोटक + तृतीया बहुवचन विभक्ति 'हि' = भिः) से निकला है। यह विकारी रूप संयोगावस्थापन्न होकर भी अंतरंग मानी गई भाषा का है। इसके विपरीत बहिरंग मानी गई बँगला का 'घोड़ार' और बिहारी का "घोराक" रूप संयोगावस्थापन्न नहीं किंतु घोटक + कर और घोटक + क,–क से घिस घिसाकर बना हुआ संमिश्रण है। पुनश्च अंतरंग मानी गई जिस पश्चिमी हिंदी में वियोगा-

वस्थापन्न रूप ही मिलने चाहिएँ, कारकों का बोध स्वतंत्र सहायक शब्दों ही के द्वारा होना चाहिए, उसी में प्रायः सभी कारकों में ऐसे रूप पाए जाते हैं जो नितांत संयोगावस्थापन्न हैं; अतएव वे बिना किसी सहायक शब्द के प्रयुक्त होते हैं। उदाहरण लीजिए—

कर्त्ता एक वचन—घोड़ों (व्रज०) घोड़ा (खड़ी बोली) घरु (व्रज० नपुंसक लिंग)।

कर्त्ता बहुवचन—घोड़े (<घोड़इ< घोड़हि = तृतीया बहुवचन, 'मैं' के समान प्रथमा में प्रयुज्यमान)।

करण—आँखों (<अक्खिहिं, खुसुरू वाको आँखों दीठा-अमीरखुसरो) कानों (<कण्णहिं)।

करण (- कर्ता)—मैं (ढोला मइं तुहुँ वारिआ; मैं सुन्यौ साहि बिन अंषि कीन-पृथ्वी०) तैं, मैंने, तैंने (दुहरी विभक्ति)।

अधिकरण एकवचन—घरे, आगे, हिंडोरे (बिहारीलाल), माथे (सूरदास)।

अपादान एकवचन—भुक्खा (= भूख से, बाँगड़ू) भूखन, भूखों (व्रज०, कन्नौजी)।

दूसरे बहिरंग मानी गई पश्चिमी पंजाबी में भी पश्चिमी हिंदी के समान सहायक शब्दों का प्रयोग होता है-घोड़े दा (= घोड़े का), घोड़े ने, घोड़े नूँ इत्यादि। इस से यह निष्कर्ष निकला कि बँगला आदि में पश्चिमी हिंदी से बढ़कर कुछ संयोगावस्थापन्न रूपावली नहीं मिलती; अतः उसके कारण दोनों में भेद मानना अयुक्त है।

सर्वनाम

अब हम हिंदी के सर्वनामों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। इनमें विशेषता यह है कि इनमें से कुछ तो संयोगावस्था में हैं और कुछ वियोगावस्था में। एक एक सर्वनाम को लेकर हम इस संबंध में विवेचन करेंगे।

(१) **मैं, हम**—संस्कृत के अस्मद् शब्द का करण कारक का रूप संस्कृत में 'मया', प्राकृत में 'मइ' और अपभ्रंश में 'मइँ' होता है, जिससे हिंदी का 'मैं' शब्द बना है। संस्कृत के अस्मद् शब्द के कर्ता कारक का रूप संस्कृत में अहं, प्राकत में 'अम्हि' और अपभ्रंश में 'हउँ' होता है, जिससे हिंदी का 'हौं' शब्द बना है। अतएव यह स्पष्ट है कि कविता का हौं (= मैं) प्रथमा का परंपरागत रूप है और आधुनिक 'मैं' तृतीया से बना है। बहुवचन में संस्कृत के 'वयं' का रूप लुप्त हो गया है, यद्यपि प्राकृत में वयं का वअं और पाली में मयं रूप मिलता है। पर अपभ्रंश में यह रूप नहीं देख पड़ता। बहुवचन में प्राकृत में, अम्हे, अम्हो और अपभ्रंश में अम्हइँ, अम्हेइँ आदि रूप मिलते हैं। अ का लोप होकर और म—ह में विपर्यय होकर 'हम' रूप बन गया है। मार्कंडेय ने अपने प्राकृत सर्वस्व के १७ वें पाद के ४८ वें सूत्र में अस्मद् के स्थान में 'हमु' आदेश का उल्लेख किया है। परंतु उन्होंने यह रूप एक-वचन में स्वीकार किया है। अपभ्रंश के लिये इस प्रकार का वचन-व्यत्यय कोई नई बात नहीं। कारकग्राही या विकारी रूपों में हिंदी में दो प्रकार के रूप मिलते हैं। एक में हिंदी की विभक्ति लगती है और दूसरे में नही लगती। जैसे-कर्म कारक में मुझे और मुझको, हमें और हमको दोनों रूप होते हैं, पर अन्य कारकों में 'मुझ' के साथ विभक्ति अवश्य लगती है। मुज्झ और मुज्झे प्राकृत और अपभ्रंश दोनों में मिलते हैं, जिनसे हिंदी का मुझ रूप बना है। संबंध कारक में कृतः के केरो, करो रूपों के आरंभिक क के लुप्त हो जाने से रो या रा अंश बच रहा है, जो कई भाषाओं में अब तक षष्ठी विभक्ति का काम देता है। इस 'रा' प्रत्यय के 'मे' में लगने से 'मेरा' रूप बनता है और इसके अनुकरण पर बहुवचन का रूप बनता है। सारांश यह है कि अस्मद् से प्राकृत तथा अपभ्रंश द्वारा होते हुए ये सब रूप बने हैं। परंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि कारकग्राही रूपों में मुज्झ रूप स्वयं कारक-प्रत्यय सहित है; पर हिंदी में इस बात को भूलकर उसमें पुनः विभक्तियाँ लगाई गई हैं।

(२) **तू, तुम, आप**—इनमें से तू और तुम रूप युष्मद् से बने हैं। संस्कृत के युष्मद् शब्द का कर्ता एकवचन रूप प्राकृत में तुं, तुमं, और अपभ्रंश में तुह होता है, जिससे तू या तूँ और तुम बने हैं। इसी प्रकार कारकग्राही रूप भी प्राकृत और अपभ्रंश के तुज्झ के रूप से बने हैं। 'आप' रूप संस्कृत के आत्मन् शब्द से निकला है, जिसका प्राकृत और अपभ्रंश रूप अप्पण

होता है; और जो इसी अथवा अप्पन, अपन आदि रूपों में राजपूताने तथा मध्य प्रदेश आदि में अब तक प्रचलित है। शेष सब बातें में और हम के समान ही हैं।

(३) **यह**—संस्कृत के एतद् शब्द के कर्ता का एकवचन एषः होता है, जिसका प्राकृत में एसो और अपभ्रंश में एहो होता है। इसी से 'यह' के भिन्न भिन्न रूप जैसे–ई, यू, ए, एह आदि बने हैं। इस 'यह' का बहुवचन ये होता है, जो इस एतद् शब्द के अपभ्रंश रूप 'एइ' से बना है। कुछ लोग इसे संस्कृत 'इदम्' से भी निकालते हैं, जिसका प्राकृत रूप अयं और अपभ्रंश 'आअ' होता है। इसका कारक-चिह्नग्राही रूप एतद् के प्राकृत रूप एसो, एस, एअस्स, अपभ्रंश 'एइसु' अथवा 'इदम्' के प्राकृत रूप अस्स और अपभ्रंश 'अयसु' से निकला है। संबंध कारक का रूप भी इसी कारक-चिह्न-ग्राही रूप के अनुसार होता है; केवल विभक्ति ऊपर से लगती है। सर्वनामों में यह विचित्रता है कि उनका संबंध कारक का रूप संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के षष्ठ्यंत रूप से बनता है। पर इसमें कारक प्रत्यय का समावेश शब्द में हो जाता है और पुनः विभक्ति लगती है।

(४) **वह, वे**– ये संस्कृत के अदस् शब्द से निकले हैं जिनका प्राकृत रूप 'अह' 'अमू' और अपभ्रंश रूप 'ओइ' (बहुवचन) होता है जिससे अ, वै, ओ, वो, वह, उह आदि रूप बने हैं। कारक-चिह्नग्राही तथा संबंधकारक का रूप प्राकृत 'अमुस्स' से निकला है।

(५) **सो, ते**—ये संस्कृत सः, प्राकृत सो, अपभ्रंश सो से निकले हैं। बहुवचन संस्कृत का 'ते' है ही। कारक-चिह्नग्राही तथा संबंध कारक का रूप संस्कृत तस्य, प्राकृत तस्स, तास, अपभ्रंश तासु, तसु से बना है।

(६) **जो**—संस्कृत यः, प्राकृत जो, अपभ्रंश जु। 'जो' प्राकृत से सीधा आया है। संबंध का विकारी रूप यस्य, जस्स-जास, जसु-जासु से निकला है।

(७) **कौन**—संस्कृत कः, प्राकृत को, अपभ्रंश कवणु से बना है; और **किस**—संस्कृत कस्य, प्राकृत कस्स, कास, अपभ्रंश कासु से निकला है।

(८) **क्या**—संस्कृत किम्, अपभ्रंश काइँ (बहुव०) और काहि प्राकृत के अपादान कारक रूप 'काहे' से सीधा आया है।

(९) **कोई**—संस्कृत कोऽपि, प्राकृत कोवि, अपभ्रंश कोवि अथवा को + हि के 'ह' के लोप हो जाने से बना है; औरकिसी कस्य, कस्स, कासु + ही (सं० हि) से व्युत्पन्न है।

इन सब सर्वनामों में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, यह विशेषता है कि इन सब का विकारी रूप षष्ठी या कहीं कहीं सप्तमी के रूप से बना है और उनके आदि कारक प्रत्यय उनके साथ में लगे हुए रहकर भी आधुनिक भाषाओं में आकर अपने व्यापार से च्युत हो गए हैं, इसलिये नई विभक्तियाँ लगाकर उन्हें कार्यकारी बनाया गया है। सब के बहुवचन एक ही प्रकार से 'न' या 'न्ह' से बने हैं। ये सब रूप एक ही ढंग से बने हैं। इनका कोई अपना स्वतंत्र इतिहास नहीं है, सब एक ही साँचे में ढले हैं।

आधुनिक हिंदी में वास्तविक तिङंत (साध्यावस्थापन्न) क्रियाओं का बहुत कुछ लोप हो गया है। व्रज भाषा और अवधी में तो इनके रूप मिलते हैं, पर खड़ी बोली में यह बात नहीं रह गई है। हाँ, आज्ञा या विधि की क्रियाएँ अवश्य इसमें भी शुद्ध साध्यावस्थापन्न हैं जिनमें लिंग भेद नहीं होता। अब हिंदी में अधिकांश क्रियाएँ दो प्रकार से बनती हैं—एक तो 'है' की सहायता से और दूसरे भूत-कालिक कृदंत के रूपों से। 'है' पहले वास्तविक क्रिया थी और अब भी 'रहना' के अर्थ में उसका प्रयोग होता है; जैसे—'वह है'। पर इसका अधिकतर कार्य दूसरी क्रियाओं की सहायता करके उनके भिन्न भिन्न रूप बनाना तथा कालों की व्यवस्था करना है। जैसे—'वह जाता है' 'मैं गया था' इत्यादि। नीचे व्रज भाषा और अवधी के उदाहरण देकर हम यह दिखलाते हैं कि कैसे उन दोनों भाषाओं में पहले स्वतंत्र क्रियाएँ थीं और अब उनका लोप हो जाने पर उनका स्थान कृदंत क्रियाओं ने ग्रहण कर लिया है और उनका कार्य सहायक क्रिया 'है' के द्वारा संपादित होता है।

क्रियाएँ

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकवचन						
उ० पु०	चलामि	चलामि	चलौं	चलौं	चलौं	चलता हूँ
म० पु०	चलसि	चलसि	चलहि	चलै	चलै	चलता है
			चलइँ			
अ० पु०	चलति	चलइ	चलहि,	चलै	चलै	चलता है
			चलइ			
बहुवचन						
उ० पु०	चलामः	चलमो	चलहुँ,	चल	चलें	चलते हैं
			चलिहुँ			
म० पु०	चलथ	चलह	चलहु	चलौ	चलहु	चलते हैं
अ० पु०	चलति	चलति	चलहि	चलै	चलें	चलते हैं
			चलइँ			

इन उदाहरणों में वर्त्तमान काल के 'चलता', 'चलती' आदि क्रियांश वर्त्तमानकालिक धातुज विशेषण हैं। सं० चलन् (चलन्त) चलन्ती आदि से इनकी उत्पत्ति हुई है। इनको देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि पहले 'है' का भाव क्रियाओं में ही सम्मिलित था, पर पीछे से खड़ी बोली में ये क्रियाएँ कृदंत रूप में आ गईं और भिन्न भिन्न पुरुषों, वचनों, कालों, प्रयोगों आदि का रूप सूचित करने के लिये 'है' के रूप साथ में लगाए जाने लगे। यही व्यवस्था भविष्यत् काल की भी है। हाँ, उसमें भेद यह है कि व्रज भाषा में उसके दोनों रूप मिलते हैं, पर अवधी तथा खड़ी बोली में एक ही रूप मिलता है। यह बात भी नीचे दिए हुए कोष्ठक से स्पष्ट हो जाती है।

पुरुष	संस्कृत	प्राकृत	अपभ्रंश	व्रज भाषा	अवधी	खड़ी बोली
एकव०						
उ० पु०	चलिष्यामि	चलिस्समि,	चलिस्सउँ,	चलिहउँ	चलिहउँ	
		चलिहिमि	चलिहिउँ	चलूँगो		चलूँगा
एकव०						
म० पु०	चलिष्यसि	चलिस्ससि,	चलिस्सहि,	चलिहै,	चलिहहि	
			चलिसइ			
		चलिहिसि	चलिहिहि	चलैगो		चलेगा
			चलिहइ			
अ० पु०	चलिष्यति	चलिसइ	,, ,,	चलिहै,	चलिहहि	
		चलिहिइ	,, ,,	चलैगो		चलेगा
बहुव०						
उ० पु०	चलिष्यामः	चलिस्सामो	चलिस्सहुँ	चलिहैं,	चलिहहिं	
		चलिहिमो	चलिहिउँ	चलैंगे		चलेंगे
म० पु०	चलिष्यथ	चलिस्सह,	चलिस्सहु,	चलिहौ,	चलिहौ	चलोगे
		चलिहिह	चलिहिहु	चलैंगे		
अ० पु०	चलिष्यंति	चलिस्संति,	चलिस्सहिं	चलिहैं,	चलिहहिं	
		चलिहिंति	चलिहिहिं	चलैंगे		चलेंगे

भूत काल के रूप सब से विचित्र हैं। ये सब संस्कृत के कृदंतों से बने हैं; जैसे—संस्कृत चलितः, प्राकृत चलिओ, अपभ्रंश चलिअ से 'चला' बना है। कृदंत होने के कारण ये विशेषणवत् प्रयुक्त होते हैं; इसलिये इनके रूपों में लिंग और वचन के कारण विकार होता है; जैसे—

पुरुष	व्रज भाषा		अवधी		खड़ी बोली	
	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०	पुं०	स्त्री०
एकवचन						
उ० पु०	चल्यो	चली	चलेउँ (चल्यों)	चलिउँ	चला	चली
म० पु०	,,	,,	चलिस, चले (चल्यो)	चलिसि, चली	चले	चली
अ० पु०	,,	,,	चला	चली	चला	चली
बहुवचन						
उ० पु०	चले	चलीं	चलेन्हि	चलीं	चले	चलीं
म० पु०	चले	,,	चलेहु, (चल्यो)	चलिहु, चलिउ	चले	चलीं
अ० पु०	चले	,,	चलेन्हि	चलो	चले	चलीं

ये उदाहरण साधारण भूतकाल के हैं। पर यहाँ यह जान लेना उचित है कि इनका प्रयोग तीन प्रकार से होता है—कर्तरि, कर्मणि और भावे। संस्कृत में 'स चलितः', प्राकृत में 'सो चलिओ', अपभ्रंश में 'सो चलिअ' हुआ, जिससे हिंदी का 'वह चला' बना। यहाँ 'वह' कर्त्ता है और 'चला' कृदंत क्रिया है। कर्ता के अनुशासन में क्रिया के होने से इसका लिंग और वचन कर्ता के अनुसार होता है; जैसे—वह चली, वे चलीं। इस प्रकार के प्रयोग को कर्तरि प्रयोग कहते हैं। परंतु यदि क्रिया सकर्मक होती है, तो वहाँ कर्मणि प्रयोग होता है। संस्कृत में 'स मारितः' का अर्थ 'स चलितः' के समान यह नहीं होता कि 'उसने मारा', वरन् उसका अर्थ होता है—'वह मारा गया'। यदि हम यह कहना चाहें कि 'उसने उसको मारा' तो हमें 'तेन सः मारितः' कहना होगा। यहाँ क्रिया का अनुशासन 'तेन' से न होकर 'सः' से होता है। इसी प्रकार 'वह मार्‍यो' का अर्थ 'सः मारितः' के समान होगा। परंतु यदि 'उसने मारा' कहना होगा, तो 'वाने मार्‍यो' कहा जायगा। फिर 'वाने मानुस मार्‍यो' 'वाने स्त्री मारी' इस प्रकार के प्रयोग होंगे। अतएव यहाँ भी क्रिया का अनुशासन कर्ता नहीं वरन् कर्म करता है। इस प्रकार के प्रयोगों को कर्मणि प्रयोग कहते हैं। परंतु जहाँ कर्म के साथ 'को' विभक्ति लगा दी जाती है, वहाँ क्रिया स्वतंत्र हो जाती है। जैसे-उसने लड़की को मारा। ऐसे प्रयोग भावे प्रयोग कहलाते हैं। सकर्मक क्रियाओं के साथ या तो कर्मणि या भावे प्रयोग होता है और अकर्मक क्रियाओं के साथ कर्तरि प्रयोग। वर्तमान और भविष्य कृदंतों में केवल कर्तरि प्रयोग होता है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि हिंदी में कृदंत क्रियाओं का बहुत प्रयोग होता है। इन्हीं से तीनों कालों के रूप बनते हैं और 'है' के रूपों को सहायक बनाकर वर्त्तमान-काल और भूतकाल में उनका व्यापार स्पष्ट किया जाता है। जैसे—चलता है, चला है, चला था, चलता था। अतएव 'है' क्रिया हिंदी के भूत और वर्त्तमान कालों को सूचित करने के लिये नितांत आवश्यक है।

यह 'है' कहाँ से आया, अब इसका संक्षेप में विवेचन किया जाता है।

(१) 'है' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से बताई जाती है—एक तो भू धातु से और दूसरी अस् धातु से। भू का प्राकृत और अपभ्रंश में 'हो' होता है; जैसे-भवति का हवइ, हवेइ, होइ आदि। पर अस् का 'अच्छ' तो होता है, 'अह' नहीं होता। प्राकृतों में थ और ध का तो ह में परिवर्तन हो जाता है, पर स का ह होना नहीं मिलता। परंतु साथ ही हिंदी में अहै, अहेउँ, अहेस, अहो आदि रूप भी मिलते हैं, जो भू, हुव, हुअ से तब तक बने नहीं जान पड़ते, जब तक यह न मान लिया जाय कि हुअ से अ का विपर्यय हो गया है अथवा उसका आगम हुआ है। इस अवस्था में यही मान लेना चाहिए कि भू से आधुनिक हिंदी के 'हो' धातु से ही ये भिन्न भिन्न रूप बने हैं। अथवा जिस प्रकार 'करिष्यति' से > करिस्सदि > करिसइ > करिहइ > करिहै बनने में 'स' का 'ह' हो गया है, उसी प्रकार 'अस्' के 'स' का 'ह' होना मानकर भी इन रूपों की सिद्धि कर सकते हैं।

(२) 'था' के विषय में भी विद्वानों में दो मत हैं। कुछ लोग इसकी व्युत्पत्ति स्था धातु से मानते हैं, जिसका प्राकृत और अपभ्रंश में ठा या था रूप हो जाता है। हमारी हिंदी में भी स्थान का थान रूप बनता है। दूसरे लोग कहते हैं कि यह अस् धातु के 'स्थ' रूप से बना है। हमें पहला मत ठीक जान पड़ता है। 'स्था' धातु का सामान्य भूत (लुङ्) में "अस्थात्" रूप होता है। उससे उसी काल का 'था' रूप बड़ी सुगमता से व्युत्पन्न हो सकता है। दूसरा मत इसलिये ठीक नहीं है कि "स्थ" वर्त्तमान काल के मध्यम पुरुष का बहुवचन है। उससे भूतकालिक एकवचन 'था' की उत्पत्ति मानना द्रविड़ प्रणायाम करना है।

(३) गा—संस्कृत के गम् धातु का कृदंत रूप गतः होता है। इसका प्राकृत गओ या गअ होता है। इसी ग + अ = गा से भविष्यत् काल का चिह्न 'गा' बनता है। 'चलेगा' में 'गा' की क्या करतूत है, सो देखिए। 'चलिष्यति' चलिस्सदि > चलिस्सइ > चलिसइ > चलि-

हइ > चलिहि > चलिइ > चली (भोजपुरिया) रूप भी बनता है और चलि > चले भी बनता है। यह पिछला 'चले' यद्यपि स्वयं भविष्यत् काल का बोधक है, तथापि इतना घिस गया है कि पहचाना तक नहीं जाता। अतः उसमें 'गा' जोड़कर उसे और व्यक्त बनाते हैं। इस अवस्था में इसका अक्षरार्थ यही हो सकता है कि 'चलने के निमित्त गया'।

हम यहीं पर यह विवेचन समाप्त करते हैं। हमने मुख्य मुख्य बातों का दिग्दर्शन करा दिया। भविष्य की खोज का मार्ग भी जहाँ तहाँ दिखा दिया है, और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं तथा हिंदी के विकास का रूप साधारणतः उपस्थित कर दिया है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भाषाओं के विकास का इतिहास भी बड़ा ही मनोरंजक और चित्ताकर्षक है। जिस प्रकार जातियों का उत्थान और पतन होता है तथा भिन्न भिन्न अवस्थाओं के प्रभाव में पड़कर वे अपना रूप बदलती और नए वस्त्राभूषणों से आभूषित होती हैं, उसी प्रकार भाषाएँ भी अपने रूप बदलती है। भारतवर्ष की भाषाओं के इतिहास की अभी बहुत कम खोज हुई है; पर इसके लिये सामग्री इतनी अधिक उपस्थित है कि एक नहीं सैकड़ों विद्वानों का वर्षों तक सब समय इसके रहस्यों के उद्‌घाटन में लग सकता है। जिस प्रकार भारतीयआर्य जाति प्राचीनता के भव्य भाव से गौरवपूर्ण हो रही है और उसका अभी तक कोई शृंखलाबद्ध पूर्ण इतिहास नहीं उपस्थित हो सका है, उसी प्रकार उसकी भिन्न भिन्न भाषाओं की आदि से लेकर अब तक की सब ऐतिहासिक शृंखलाओं का भी पता नहीं लगा है। आशा है, हिंदी-भाषा के मुख्य मुख्य तथ्यों का यह परिचय इस खोज में प्रोत्साहन देने और इसकी खोज का भावी मार्ग सुगम बनाने में सहायक होगा। भारतीय विद्वान् ही अपनी भाषाओं के तथ्यों और रहस्यों को भली भाँति समझ सकते हैं; अतएव उन्हीं को इस काम में दत्तचित्त होकर अपने गौरव की रक्षा करना और अपनी भाषाओं का इतिहास स्वयं उपस्थित करना चाहिए।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचम् उत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः॥

अन्य जन वाणी को देखते हुए भी नहीं देखता, सुनते हुए भी नहीं सुनता। पर वाणी के मर्मज्ञ वैयाकरण को वाणी उसी प्रकार अपने अंग प्रत्यंग दिखला देती है जिस प्रकार पति के लिये उत्सुक सुवसना नव वधू दूसरों से तो परदा करती है, किंतु पति से किसी अंग का गोपन नहीं करती।

हिंदी साहित्य का विकास

जब कि प्रत्येक देश का साहित्य वहाँ की जनता की चित्तवृत्ति का स्थायी प्रतिबिंब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्त्तन के साथ साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है। आदि से अंत तक इन्हीं चित्तवृत्तियों की परंपरा को परखते हुए साहित्य-परंपरा के साथ उनका सामंजस्य दिखाना ही 'साहित्य का इतिहास' कहलाता है। जनता की चित्तवृत्ति बहुत कुछ राजनीतिक, सामाजिक, सांप्रदायिक तथा धार्मिक परिस्थिति के अनुसार होती है। अतः कारण-स्वरूप इन परिस्थितियों का किंचित् दिग्दर्शन भी साथ ही साथ आवश्यक होता है। इस दृष्टि से हिंदी साहित्य का विवेचन करने में यह बात ध्यान में रखनी होगी कि किसी विशेष समय में लोगों में रुचि-विशेष का संचार और पोषण किधर से और किस प्रकार हुआ। उपर्युक्त व्यवस्था के अनुसार हम हिंदी-साहित्य के ९०० वर्षों के इतिहास को चार कालों में विभक्त कर सकते हैं—

आदि काल—(वीरगाथा-काल, संवत् १०५०--१३७५)
पूर्व-मध्य काल—(भक्ति-काल, संवत् १३७५—१७००)
उत्तर मध्य काल—(रीति-काल, संवत् १७०० —१९००)
आधुनिक काल—(गद्य काल, संवत् १९००--१९८४)

यद्यपि इन कालों की रचनाओं की विशेष प्रवृत्ति के अनुसार ही इनका नामकरण किया गया है, पर यह न समझना चाहिए कि किसी विशेष काल में और प्रकार की रचनाएँ होती ही नहीं थीं। उदाहरण के लिये जैसे भक्ति-काल या रीति-काल को लें तो वीर रस के अनेक काव्य मिलेंगे जिनमें वीर राजाओं की प्रशंसा उसी ढंग की मिलेगी जिस ढंग की वीरगाथा-काल में हुआ करती थी। अतः प्रत्येक काल का वर्णन यहाँ इस रीति पर किया जायगा कि पहले तो उक्त काल की विशेष प्रवृत्ति-सूचक उन रचनाओं का वर्णन होगा जो उस काल के लक्षण के अंतर्गत होंगी; पीछे संक्षेप में उनके अतिरिक्त और प्रकार की ध्यान देने योग्य रचनाओं का उल्लेख रहेगा।

आदि काल

(वीरगाथा-काल)

१०५०-१३७५

प्राकृत काल की अंतिम अपभ्रंश अवस्था के उपरांत ही विक्रम संवत् १०५० से हिंदी साहित्य का अभ्युदय माना जा सकता है। अतः हिंदी साहित्य के प्रारंभिक स्वरूप की झलक पाने के लिये हमें अपभ्रंश की रचनाओं की ओर ध्यान देना पड़ता है। ये रचनाएँ अधिकांश फुटकर पद्यों के रूप में हैं जो जनता के बीच कहे सुने भी जाते थे और राजसभाओं में पढ़े भी जाते थे। जन-साधारण के बीच प्रचलित पद्य प्रायः नीति और शृंगार संबंधी ही मिलते हैं। राजसभाओं में सुनाए जानेवाले नीति, शृंगार आदि विषय प्रायः दोहों में कहे जाते थे और वीर रस संबंधी पद्य छप्पय में। राजाश्रित कवि अपने राजाओं के शौर्य, पराक्रम और प्रताप का वर्णन अनूठी उक्तियों के साथ किया करते थे और कभी कभी युद्ध-क्षेत्र में जाकर तलवार चलाते और दूसरों को अपनी वीरोल्लासिनी कविताओं से उत्साहित करते थे। ऐसे ही कवियों की रचनाओं के रक्षित रहने का अधिक सुबीता था। वे राजकीय पुस्तकालयों में भी रक्षित रहती थीं और भट्ट-चारण जीविका के विचार से उन्हें अपने उत्तराधिकारियों के पास भी छोड़ जाते थे। इसी रक्षित परंपरा का विकास हमारे हिंदी साहित्य के प्रारंभिक काल में मिलता है। अतः इस काल को हम वीरगाथा-काल कह सकते हैं।

भारत के इतिहास में यह वह समय था जब कि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिम प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे जहाँ हिंदुओं के बड़े बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के ध्वस्त होने पर हर्षवर्द्धन (मृत्यु संवत् ७०४) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बल-वैभव का केंद्र हो रहा था। कन्नौज, दिल्ली, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी बड़ी राजधानियाँ उधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। प्रारंभिक काल का जो साहित्य हमें उपलब्ध है उसका आविर्भाव उसी भूभाग म हुआ। अतः यह स्वाभाविक है कि उसी भूभाग की जनता की चित्तवृत्ति की छाप उस साहित्य पर हो। हर्षवर्द्धन के उपरांत ही साम्राज्य-भावना देश से अंतर्हित हो गई थी और खंड खंड हो कर जो गहरवार, चौहान, चंदेल और परिहार आदि राजपूत-राज्य पश्चिम की ओर प्रतिष्ठित थे, वे अपने प्रभाव की वृद्धि के लिये परस्पर लड़ा करते थे। लड़ाई किसी आवश्यकता-वश नहीं होती थी; कभी कभी तो शौर्य-प्रदर्शन मात्र के लिये यों ही मोल ली जाती थी। बीच बीच में मुसलमानों के भी हमले होते रहते थे। सारांश यह कि जिस समय से हमारे हिंदी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पीछे पड़ गई थीं।

महमूद गजनवी (मृत्यु संवत् १०८७) के लौटने के पीछे गजनवी सुलतानों का एक हाकिम लाहौर में रहा करता था और वहाँ से लूट मार के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों पर, विशेषतः राजपूताने पर, चढ़ाइयाँ हुआ करती थीं। इन चढ़ाइयों का वर्णन फारसी तवारीखों में नहीं मिलता, पर कहीं कहीं संस्कृत ऐतिहासिक काव्यों में मिलता है। साँभर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लभराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध करने में मारा गया था। अजमेर बसानेवाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लाँघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब आना सागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहाँ म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था, इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहाँ अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवा दिया जो आना सागर कहलाया। आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्त्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसलदेव आर्य्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिये उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और हाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्य्यावर्त्त के एक बड़े भूभाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली के अशोक लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि० सं० १२२० के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गोरी की पृथ्वीराज पर पहली चढ़ाई (सं० १२४७) के पहले भी गोरियों की सेना ने नाडौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर लौटना पड़ा था। इसी प्रकार महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने और दिल्ली तथा अजमेर पर मुसलमानों का अधिकार हो जाने के पीछे भी बहुत दिनों तक राजपूताने आदि में कई स्वतंत्र हिंदू राजा थे जो बराबर मुसलमानों से लड़ते रहे। इनमें सबसे प्रसिद्ध रणथंभौर के महाराज हम्मीरदेव हुए हैं जो महाराज पृथ्वीराज चौहान की वंश-परंपरा में थे। वे मुसलमानों से निरंतर लड़ते रहे और उन्होंने उन्हें कई बार हराया था। सारांश यह कि पठानों के शासन-काल तक हिंदू बराबर स्वतंत्रता के लिये लड़ते रहे।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपये पानेवाले कवियों का समय बीत चुका था। राज-दरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नहीं रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या-हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण

आलाप करता या रण-क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरा करता था, वही सम्मान पाता था।

इस दशा में काव्य और साहित्य के और भिन्न भिन्न अंगों की पूर्त्ति और समृद्धि का सामुदायिक प्रयत्न कठिन था। उस समय तो केवल वीरगाथाओं की उन्नति संभव थी। इस वीरगाथा को हम दोनों रूपों में पाते हैं—मुक्तक के रूप में भी और प्रबंध के रूप में भी। फुटकर रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध-काव्यों का ही उल्लेख किया जाता है। जैसे योरप में वीरगाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा, वैसे ही यहाँ भी था। किसी राजा की कन्या के रूप का संवाद पाकर दलबल के साथ चढ़ाई करना और प्रतिपक्षियों को पराजित कर उस कन्या को हरकर लाना वीरों का गौरव और अभिमान का काम माना जाता था। इस प्रकार इन काव्यों में शृंगार का भी थोड़ा मिश्रण रहता था, पर गौण रूप से; प्रधान रस वीर ही रहता था। शृंगार केवल सहायक के रूप में रहता था। जहाँ राजनीतिक कारणों से भी युद्ध होता था, वहाँ भी उन कारणों का उल्लेख न कर कोई रूपवती स्त्री ही कारण कल्पित करके रचना की जाती थी। जैसे शहाबुद्दीन के यहाँ से एक रूपवती स्त्री का पृथ्वीराज के यहाँ आना ही लड़ाई की जड़ लिखी गई है। हम्मीर पर अलाउद्दीन की चढ़ाई का भी ऐसा ही कारण कल्पित किया गया है। इस प्रकार इन काव्यों में प्रथानुकूल कल्पित घटनाओं की बहुत अधिक योजना रहती थी।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वीरकाव्यों के पूर्व की रचना के कुछ फुटकर दोहे मिलते हैं जिनकी भाषा अपभ्रंश के नियमों से सर्वथा बद्ध नहीं है। इस भाषा को यद्यपि हम प्रचलित देश-भाषा का ठीक ठीक रूप नहीं मान सकते, पर उसमें देशभाषा का अधिक आश्रय स्पष्ट दिखाई पड़ता है। हेमचंद्र ने अपभ्रंश के जो दोहे दिए हैं, वे सबके सब नागर अपभ्रंश में नहीं हैं। उनमें भिन्न भिन्न स्थानों के रूप और प्रयोग मिलते हैं। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि बौद्धों और जैनों ने अपने धर्मोपदेश के लिये देशभाषाओं का अवलंबन किया था। जैनों में प्राकृत और अपभ्रंश के पठन-पाठन का क्रम बराबर चला आता है। सबसे प्राचीन रचनाओं के नमूने जैन ग्रंथों में ही मिलते हैं। विक्रम संवत् ६९० में देवसेन नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने श्रावकाचार नाम की एक पुस्तक दोहों में बनाई थी। इसकी भाषा अपभ्रंश के कटघरे से बाहर निकली हुई है और कहीं कहीं पीछे की प्रचलित काव्य-भाषा से बिल्कुल मिलती जुलती है। जैसे—

जो जिण सासण भाषियउ सो मइ कहियउ सारु।
जो पाले सइ भाउ करि सो तरि पावइ पारु॥

इसी प्रकार के फुटकर दोहे हेमचंद्र के व्याकरण तथा कुमारपाल-प्रतिबोध, प्राकृत-पिंगलसूत्र आदि ग्रंथों में भी पाए जाते हैं जिनमें कई स्थानों (पूरब और पच्छिम) के प्रयोग मिलते हैं। ये दोहे किसी एक समय के बने नहीं है, मुंज और भोज (सं० १०३६) के समय से लेकर हम्मीरदेव (सं० १३५३) के समय तक के हैं। यदि जन-श्रुतियों पर कुछ विश्वास किया जाय तो हिंदी भाषा में ग्रंथ-रचना का पता विक्रम की आठवी शताब्दी से लगता है। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि भोजराज के पूर्वपुरुष राजा मान संवत् ७७० में राज्य करते थे। उनके दरबार के पुष्य बंदीजन नामक एक कवि ने दोहों में एक अलंकार ग्रंथ लिखा था। पर इस पुस्तक का कोई पता नहीं। जो उल्लेख-योग्य ग्रंथ मिलते हैं, वे वीरगाथा के रूप में ही हैं। अतः इन्हींकी परंपरा और इन्हीके स्वरूप का कुछ वर्णन आवश्यक है।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं—प्रबंधकाव्य के साहित्यिक रूप में और वीरगीतों (Ballads) के रूप में। साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो सबसे प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है पृथ्वीराजरासो। वीरगीत के रूप में हमें सबसे पुरानी पुस्तक वीसलदेवरासो मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है। जो रचना कई सौ वर्षों से लोगों में बराबर गाई जाती रही हो, उसकी भाषा अपने मूल रूप में नहीं रह सकती। इसका प्रत्यक्ष उदाहरण 'आल्हा' है जिसके

गानेवाले प्रायः समस्त उत्तरीय भारत में पाए जाते हैं।

यहाँ पर वीर-काल के उन ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है जिनकी या तो प्रतियाँ मिलती हैं या कही उल्लेख मात्र पाया जाता है।

(१) **खुमानरासो**—संवत् ८१० और १००० के बीच में चितौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बाप्पा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा अलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। खुम्माण की सहायता के लिये बहुत से राजा आए और चित्तौड़ की रक्षा हो गई। खुम्माण ने २४ युद्ध किए और वि० सं० ८६९ से ८९३ तक राज्य किया। यह समस्त वर्णन 'दलपत विजय' नामक किसी कवि के रचित खुमानरासो के आधार पर लिखा गया जान पड़ता है। पर इस समय खुमानरासो की जो प्रति प्राप्त है, वह अपूर्ण है और उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन है। कालभोज (बाप्पा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश-परंपरा इस प्रकार है—कालभोज (बाप्पा), खुम्माण, मत्तट, भर्तृपट्ट, सिंह, खुम्माण (दूसरा), महायक, खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि० सं० ७९१ से ८१० है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी भर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि० सं० ९९९ और १००० के मिले हैं। अतएव इन १९० वर्षों का औसत लगाने पर तीनों खुम्माणों का समय अनुमानतः इस प्रकार ठहराया जा सकता है—

खुम्माण (पहला)—वि० सं० ८१०—८३५
खुम्माण (दूसरा)—वि० सं० ८७०—९००
खुम्माण (तीसरा)—वि० सं० ९६५—९९०

अब्बासिया वंश का अलमामूँ वि० सं० ८७० से ८९० तक खलीफा रहा। इस समय के पूर्व खलीफाओं के सेनापतियों ने सिंध देश की विजय कर ली थी और उधर से राजपूताने पर मुसलमानों की चढ़ाइयाँ होने लगी थीं। अतएव यदि किसी खुम्माण से अलमामूँ की सेना से लड़ाई हुई होगी तो वह दूसरा खुम्माण रहा होगा और उसी के नाम पर खुमानरासो की रचना हुई होगी। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय जो खुमानरासो मिलता है, उसमें कितना अंश पुराना है। उसमें महाराणा प्रतापसिंह तक का वर्णन मिलने से यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जिस रूप में यह ग्रंथ अब मिलता है वह उसे वि० संवत् की सत्रहवीं शताब्दी में प्राप्त हुआ होगा। शिवसिंहसरोज के कथनानुसार एक अज्ञातनामा भाट ने खुमानरासो नामक एक काव्य-ग्रंथ लिखा था जिसमें श्रीरामचंद्र से लेकर खुमान तक के युद्धों का वर्णन था। यह नहीं कहा जा सकता कि दलपत-विजय असली खुमानरासो का रचयिता था अथवा उसके पिछले परिशिष्ट का।

(२) **बीसलदेवरासो**—नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम बीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'बीसलदेवरासो' नामक एक छोटा सा (१०० पृष्ठों का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगीत के रूप में है। ग्रंथ में निर्माण-काल यों दिया है—

बारह सै बहोत्तराँ मँझारि।
जेठ बदी नवमी बुधवारि॥
'नाल्ह' रसायण आरंभइ।
सारदा तुठी ब्रह्मकुमारि॥

'बारह सै बहोत्तर' का स्पष्ट अर्थ १२१२ है। 'बहोत्तर' शब्द 'बरहोत्तर' 'द्वादशोत्तर' का रूपांतर है जिसका अर्थ 'द्वादशोत्तर बारह सै' अर्थात् १२१२ होगा। गणना करने पर विक्रम संवत् १२१२ में ज्येष्ठ बदी नवमी को बुधवार ही पड़ता है। कवि ने अपने रासो में सर्वत्र वर्तमान काल का ही प्रयोग किया है जिससे वह बीसलदेव का समकालीन जान पड़ता है। विग्रहराज चतुर्थ (बीसलदेव) का समय भी १२२० के आसपास है। इसके शिलालेख भी संवत् १२१० और १२२० के प्राप्त हैं। बीसलदेवरासो में चार खंड हैं। यह काव्य लगभग २००० चरणों में समाप्त हुआ है। इसकी कथा का सार यों है—

खंड १—मालवा के भोज परमार की पुत्री राजमती से (साँभर के) बीसलदेव का विवाह होना।

खंड २—बीसलदेव का उड़ीसा-विजयार्थ प्रस्थान तथा वहाँ पहुँचकर विजय-लाभ करना।

खंड ३—राजमती का विरह-वर्णन तथा बीसलदेव का उड़ीसा से लौटना।

खंड ४—भोज का अपनी पुत्री को अपने घर लिवा ले जाना तथा बीसलदेव का वहाँ जाकर राजमती को फिर चित्तौड़ लाना।

दिए हुए संवत् के विचार से कवि अपने चरितनायक का समसामयिक जान पड़ता है। पर वर्णित घटनाएँ, विचार करने पर, बीसलदेव के बहुत पीछे की लिखी जान पड़ती हैं, जब कि उनके संबंध में कल्पना को गुंजाइश हुई। यह घटनात्मक काव्य नही है, वर्णनात्मक है। इसमें दो ही घटनाएँ हैं—बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमें से पहली बात तो कल्पना-प्रसूत प्रतीत होती है। बीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अतः उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। बीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी। यह बात परंपरा से अवश्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराजरासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों की उपाधि ही भोज रही हो और उस आधार पर कवि ने उसका केवल यह उपाधिसूचक नाम ही दे दिया हो, असली नाम न दिया हो। कदाचित् इन्ही में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। परमार-कन्या के संबंध में कई स्थानों पर जो वाक्य आए हैं, उन पर ध्यान देने से यह सिद्धांत पुष्ट होता है कि राजा भोज का नाम कहीं पीछे से न मिलाया गया हो। जैसे,—"जनमी गोरी तू जेसलमेर;" "गोरड़ी जेसलमेर की"। आबू के परमार भी राजपूताने में फैले हुए थे। अतः राजमती का उनमें से किसी सरदार की कन्या होना भी संभव है। पर भोज के अतिरिक्त और भी नाम इसी प्रकार जोड़े हुए मिलते हैं; जैसे—'माघ अचारज, कवि कालिदास'।

जैसा पहले कह आए हैं, अजमेर के चौहान राजा बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) बड़े वीर और प्रतापी थे और उन्होंने मुसलमानों के विरुद्ध कई चढ़ाइयाँ की थीं और कई प्रदेशों को मुसलमानों से खाली कराया था। दिल्ली और हाँसी के प्रदेश इन्ही ने अपने राज्य में मिलाए थे। इसके वीरचरित का बहुत कुछ वर्णन इनके राजकवि सोमदेव-रचित "ललितविग्रहराज नाटक" (संस्कृत) में मिलता है जिसका कुछ अंश बड़ी बड़ी शिलाओं पर खुदा हुआ मिला है और राजपूताना म्यूजियम में सुरक्षित है। पर 'नाल्ह' के इस बीसलदेव रासो में, जैसा कि होना चाहिए था, न तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाइयों का वर्णन है, न उसके शौर्य-पराक्रम का। शृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर विदेश जाने का (प्रोषितपतिका के वर्णन के लिये) मनमाना वर्णन है। अतः इस छोटी सी पुस्तक को बीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते है कि यह कोई काव्यग्रंथ नही है, केवल गाने के लिये रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है।

भाषा की परीक्षा करके देखते हैं तो वह साहित्यिक नहीं है, राजस्थानी है। जैसे, सूकइ छै (=सूखता है), पाटण थीं (=पाटन से), भोज तणा (=भोज का), खंड खंडरा (=खंड खंड का) इत्यादि। इस ग्रंथ से एक बात का आभास अवश्य मिलता है। शिष्ट काव्य भाषा में व्रज और खड़ी बोली के प्राचीन रूप का ही राजस्थान में भी व्यवहार होता था। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिंदी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। बीसलदेवरासो में बीच बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की चीज होने के कारण इसकी

भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरफार होता आया है। पर लिखित रूप में रक्षित होने के कारण इसका पुराना ढाँचा बहुत कुछ बचा हुआ है। उदाहरण के लिये—मेलवि = मिलाकर, जोड़कर। चितह = चित्त में। रणि = में। प्रापिजइ = प्राप्त करें। ईणी विधि = इस विधि। ईसउ = ऐसा। इसी प्रकार 'नयर' (नगर), 'पसाउ' (प्रसाद), 'पयोहर' (पयोधर) आदि प्राकृत शब्द भी हैं जिनका प्रयोग कविता में अपभ्रंश-काल से लेकर पीछे तक होता रहा।

इसमें आए हुए कुछ फारसी, अरबी, तुरकी शब्दों की ओर भी ध्यान जाता है। जैसे—महल, इनाम, नेजा, ताजनो (ताजियाना) आदि। जैसा कहा जा चुका है, पुस्तक की भाषा में फेरफार अवश्य हुआ है; अतः ये शब्द पीछे से मिले हुए भी हो सकते हैं और कवि द्वारा व्यवहृत भी। कवि के समय से पहले ही पंजाब में मुसलमानों का प्रवेश हो गया था और वे इधर उधर जीविका के लिये फैलने लगे थे। अतः ऐसे साधारण शब्दों का प्रचार कोई आश्चर्य की बात नहीं। बीसलदेव के सरदारों में ताजुद्दीन मियाँ भी मौजूद हैं—

महल पलाण्यो ताजदीन।
खुरसाणी चढ़ि चाल्यो गौंड़॥

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह पुस्तक न तो वस्तु के विचार से और न भाषा के विचार से अपने असली और मूल रूप में कही जा सकती है। रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा ने इसे हम्मीर के समय की रचना कहा है (राजपूताने का इतिहास, भूमिका पृष्ठ १६)। यह नरपति नाल्ह की पोथी का विकृत रूप अवश्य है जिसके आधार पर हम भाषा और साहित्य संबंधी कई तथ्यों पर पहुँचते हैं। ध्यान देने की पहली बात है राजपूताने के एक भाट का अपनी राजस्थानी में हिंदी का मेल करना। जैसे, "मोती का आखा किया"। "चंदनकाठ को माँड़वो"। "सोना की चौरी, मोती की माल" इत्यादि। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि प्रादेशिक बोलियों के साथ साथ ब्रज या मध्य देश की भाषा का आश्रय लेकर एक सामान्य साहित्यिक भाषा भी स्वीकृत हो चुकी थी जो चारणों में पिंगल भाषा के नाम से पुकारी जाती थी। अपभ्रंश के योग से शुद्ध राजस्थानी भाषा का जो साहित्यिक रूप था, वह डिंगल कहलाता था। हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम केवल पिंगल भाषा में लिखे हुए ग्रंथों का ही विचार कर सकते है। दूसरी बात जो कि साहित्य से संबंध रखती है, वीर और शृंगार का तारतम्य है। इस ग्रंथ में शृंगार की ही प्रधानता है, वीर रस का किंचित् आभास मात्र है। संयोग और वियोग के गीत ही कवि ने गाए हैं।

(३) चंद बरदाई (संवत् १२२५—१२४९)—ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराजरासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट् महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि थे। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओं के लिये एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। ऐसा कहा जाता है कि इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं, उनके सखा और सामंत भी थे; तथा षड्भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदःशास्त्र, ज्योतिष, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे। इन्हें जालंधरी देवी का इष्ट था जिनकी कृपा से ये अदृष्ट-काव्य भी कर सकते थे। इनका जीवन पृथ्वीराज के जीवन के साथ ऐसा मिला जुला था कि अलग नहीं किया जा सकता। युद्ध में, आखेट में, सभा में, यात्रा में ये सदा महाराज के साथ रहते थे; और जहाँ जो बातें होती थीं, सब में सम्मिलित रहते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें ६९ समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का व्यवहार हुआ है। मुख्य छंद हैं, कवित्त (छप्पय), दूहा, तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण के पुत्र ने पूरा किया है, वैसे

ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हन द्वारा पूर्ण किया जाना कहा जाता है। रासो के अनुसार जब शहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके गजनी ले गया, तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हन के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हन के हाथ में रासो के सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है—

पुस्तक जल्हन हत्थ दै चलि गज्जन नृप काज।

❀ ❀ ❀ ❀

रघुनाथचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि।
पृथ्वीराज सुजस कवि चंद कृत चंद नंद उद्धरिय तिमि॥

पृथ्वीराजरासो में आबू के यज्ञकुंड से चार क्षत्रिय कुलों की उत्पत्ति तथा चौहानों के अजमेर में राज्यस्थापन से लेकर पृथ्वीराज के पकड़े जाने तक का सविस्तर वर्णन है। इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुँवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ था। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं—सुंदरी और कमला। सुंदरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए। अनंगपाल ने अपने नाती पृथ्वीराज को गोद लिया जिससे अजमेर और दिल्ली का राज्य एक हो गया। जयचंद को यह बात अच्छी न लगी। उसने एक राजसूय यज्ञ करके सब राजाओं को यज्ञ के भिन्न भिन्न कार्य करने के लिये निमंत्रित किया; और इस यज्ञ के साथ ही अपनी कन्या संयोगिता का स्वयंवर रचा। राजसूय यज्ञ में सब राजा आए, पर पृथ्वीराज नहीं आए। इस पर जयचंद ने चिढ़कर पृथ्वीराज की एक स्वर्णमूर्ति द्वारपाल के रूप में द्वार पर रखवा दी।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था, अतः जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई, तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकाल कर गंगा किनारे के एक महल में भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ-विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व-विवाह किया और अंत में वे उसे हर ले गए। रास्ते में जयचंद की सेना से बहुत युद्ध हुआ, पर संयोगिता को लेकर पृथ्वीराज कुशलपूर्वक दिल्ली पहुँच गए; और वहाँ भोगविलास में ही उनका सारा समय बीतने लगा, राज्य की रक्षा का ध्यान न रह गया।

बल का बहुत कुछ ह्रास तो जयचंद तथा और राजाओं के साथ लड़ते लड़ते हो चुका था और बड़े बड़े सामंत मारे जा चुके थे। अच्छा अवसर देख शहाबुद्दीन चढ़ आया, पर हार गया और पकड़ा गया। पृथ्वीराज ने उसे छोड़ दिया। वह बार बार चढ़ाई करता रहा और अंत में पृथ्वीराज पकड़कर गजनी भेज दिए गए। कुछ काल पीछे कवि चंद भी गजनी पहुँचे। एक दिन चंद के इशारे पर पृथ्वीराज ने शब्दवेधी बाण द्वारा शहाबुद्दीन को मारा और फिर दोनों एक दूसरे को मारकर मर गए। शहाबुद्दीन और पृथ्वीराज के वैर का कारण यह लिखा गया है कि शहाबुद्दीन अपने यहाँ की एक सुंदरी पर आसक्त था जो एक दूसरे पठान सरदार हुसेनशाह को चाहती थी। जब ये दोनों शहाबुद्दीन से तंग हुए, तब हारकर पृथ्वीराज के पास भाग आए। शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के यहाँ कहला भेजा कि उन दोनों को अपने यहाँ से निकाल दो। पृथ्वीराज ने उत्तर दिया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है, अतः इन दोनों की हम बराबर रक्षा करेंगे। इसी वैर से शहाबुद्दीन ने दिल्ली पर चढ़ाइयाँ कीं। यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं।

ऊपर लिखे वृत्तांत और रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ मेल न खाने के कारण

अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के पृथ्वीराज के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में संदेह किया है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ एक जाली ग्रंथ ठहराया है। रासा में चंगेज, तैमूर आदि कुछ पीछे के नाम आने से यह संदेह और भी पुष्ट किया गया है। प्रसिद्ध इतिहासज्ञ रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा रासो में वर्णित घटनाओं तथा संवतों को बिलकुल भाटों की कल्पना मानते है। पृथ्वीराज की राजसभा के काश्मीरी कवि जयानक ने संस्कृत में 'पृथ्वीराज-विजय' नामक एक काव्य लिखा है जो पूरा नहीं मिला है। उसमें दिए हुए संवत् तथा घटनाएँ ऐतिहासिक खोज के अनुसार ठीक ठहरती हैं। उसमें पृथ्वीराज की माता का नाम कर्पूरदेवी लिखा है जिसका समर्थन हाँसी के शिलालेख से भी होता है। उक्त ग्रंथ अत्यंत प्रामाणिक और समसामयिक रचना है। उसके अनुसार सोमेश्वर का दिल्ली के तोमर राजा अनंगपाल की पुत्री से विवाह होना और पृथ्वीराज का अपने नाना की गोद जाना, राणा समरसिंह का पृथ्वीराज का समकालीन होना और उनके पक्ष में लड़ना आदि बातें असंगत सिद्ध होती हैं। इसी प्रकार आबू के यज्ञ से चौहान आदि चार अग्निकुलों की उत्पत्ति की कथा भी शिलालेखों की जाँच करने पर कल्पित ठहरती है, क्योंकि इनमें से सोलंकी आदि कई कुलों के प्राचीन राजाओं के शिलालेख मिले हैं जिनमें वे चंद्रवंशी आदि कहे गए हैं; अग्निकुल का कहीं कोई उल्लेख नहीं है।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् ११९५ में, दिल्ली गोद जाना ११२२ में, कन्नौज जाना ११५१ में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध ११५८ में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् मिलते हैं, उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नहीं है। अब तक ऐसे दानपत्र या शिलालेख जिनमें पृथ्वीराज, जयचंद और परमर्दिदेव (महोबे के राजा परमाल) के नाम आए हैं, इस प्रकार मिले हैं—

पृथ्वीराज के ४ जिनके संवत् १२२४ और १२४४ के बीच में हैं। जयचंद के १२ जिनके संवत् १२२४ और १२४३ के बीच में हैं। परमर्दिदेव के ६ जिनके संवत् १२२३ और १२५८ के बीच में हैं। इनमें से एक संवत् १२३९ का है जिसमें पृथ्वीराज और परमर्दिदेव (राजा परमाल) के युद्ध का वर्णन है।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है, उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से हो जाती है। फारसी इतिहासों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध ५८७ हिजरी (वि० सं० १२४८—ई० सन् ११९१) में हुआ। अतः इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या ने रासो के पक्ष समर्थन में इस बात की ओर ध्यान दिलाया कि रासो के सब संवतों में यथार्थ संवतों से ९०-९१ वर्ष का अंतर एक नियम से पड़ता है। उन्होंने यह विचार उपस्थित किया कि यह अंतर भूल नहीं है, बल्कि किसी कारण से रखा गया है। इसी धारणा को लिए हुए उन्होंने रासो के इस दोहे को पकड़ा—

> एकादस सै पचदह विक्रम साक अनंद।
> तिहि रिपुजय पुरहरन को भए पृथिराज नरिंद॥

और "विक्रम साक अनंद" का अर्थ किया—अ = शून्य और नंद = ९ अर्थात् ९० रहित विक्रम संवत्। अब क्यों ये ९० वर्ष घटाए गए, इसका वे कोई उपयुक्त कारण नहीं बता सके। नंदवंशी शूद्र थे, इसलिये उनका राजत्व-काल राजपूत भाटों ने निकाल दिया। इस प्रकार की विलक्षण कल्पना करके वे रह गए। पर इन कल्पनाओं से किसी प्रकार समाधान नहीं होता। आज तक और कहीं प्रचलित संवत् में से कुछ काल निकाल कर संवत् लिखने की प्रथा नहीं पाई गई। फिर यह अवश्य विचारणीय है कि जिस किसी ने प्रचलित विक्रम संवत् में से ९०-९१ वर्ष निकालकर पृथ्वीराजरासो में संवत् दिए हैं, उसने क्या ऐसा जान बूझकर किया है अथवा धोखे या भ्रम में पड़कर। ऊपर जो दोहा उद्धृत किया गया है, उसमें 'अनंद' के स्थान पर कुछ लोग 'अनिंद' पाठ का होना अधिक उपयुक्त मानते हैं। इसी रासो में एक दोहा यह भी मिलता है—

एकादस पै पंचदह विक्रम जिम ध्रमसुत्त ।
त्रतिय साक प्रथिराज कौ लिष्यौ विप्र गुन गुत्त ॥

इससे भी नौ के गुप्त करने की बात कही गई है, पर कितने में से नौ कम करने से यह तीसरा शक बनता है यह नहीं कहा है और न यही कहीं कहा है कि इस तीसरे शक के चलाने का क्या कारण है।

पर बात संवत् ही तक नहीं है। इतिहास-विरुद्ध कल्पित घटनाएँ जो भरी पड़ी है उनके लिए क्या कहा जा सकता है? माना कि रासो इतिहास नहीं है, काव्य ग्रंथ है। पर काव्य ग्रंथों में सत्य घटनाओं में बिना किसी प्रयोजन के उलट-फेर नहीं किया जाता। जयानक का पृथ्वीराजविजय भी तो काव्य ग्रंथ ही है; फिर उसमें क्यों घटनाएँ और नाम ठीक ठीक हैं? इस संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ कहने की जगह नहीं कि ये सब गड़बड़ अंश प्रक्षिप्त हैं और पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध जो ग्रंथ आजकल मिलता है उसमें बहुत ही अल्प अंश चदकृत हो सकता है।

भाषा की कसौटी पर यदि ग्रंथ को कसते हैं तो और भी निराश होना पड़ता है क्योंकि वह बिलकुल बेठिकाने है—उसमें व्याकरण आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। दोहों की और कुछ कुछ कवित्तों (छप्पयों) की भाषा तो ठिकाने की है; पर त्रोटक आदि छोटे छंदों में तो कहीं कहीं अनुस्वारांत शब्दों की ऐसी मनमानी भरमार है जैसे किसी ने संस्कृत-प्राकृत की नकल की हो। कहीं कहीं तो भाषा आधुनिक साँचे में ढली सी दिखाई पड़ती है, क्रियाएँ नए रूपों में मिलती हैं। पर साथ ही कहीं कहीं भाषा अपने असली प्राचीन साहित्यिक रूप में भी पाई जाती है जिसमें प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के साथ साथ शब्दों के रूप और विभक्तियों के चिह्न पुराने ढंग के हैं। इस दशा में भाटों के इस वाग्जाल के बीच कहाँ पर कितना अंश असली है इसका निर्णय असंभव होने के कारण यह ग्रंथ न तो भाषा के इतिहास के और न साहित्य के इतिहास के जिज्ञासुओं के काम का रह गया है, पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि पृथ्वीराज के समय में चंद नाम का राजकवि था और उसने सुंदर छंदों में ग्रंथ लिखे थे। पृथ्वीराज-विजय के पाँचवें सर्ग में विग्रहराज के पुत्र चंद्रराज का वर्णन करता हुआ जयानक लिखता है—

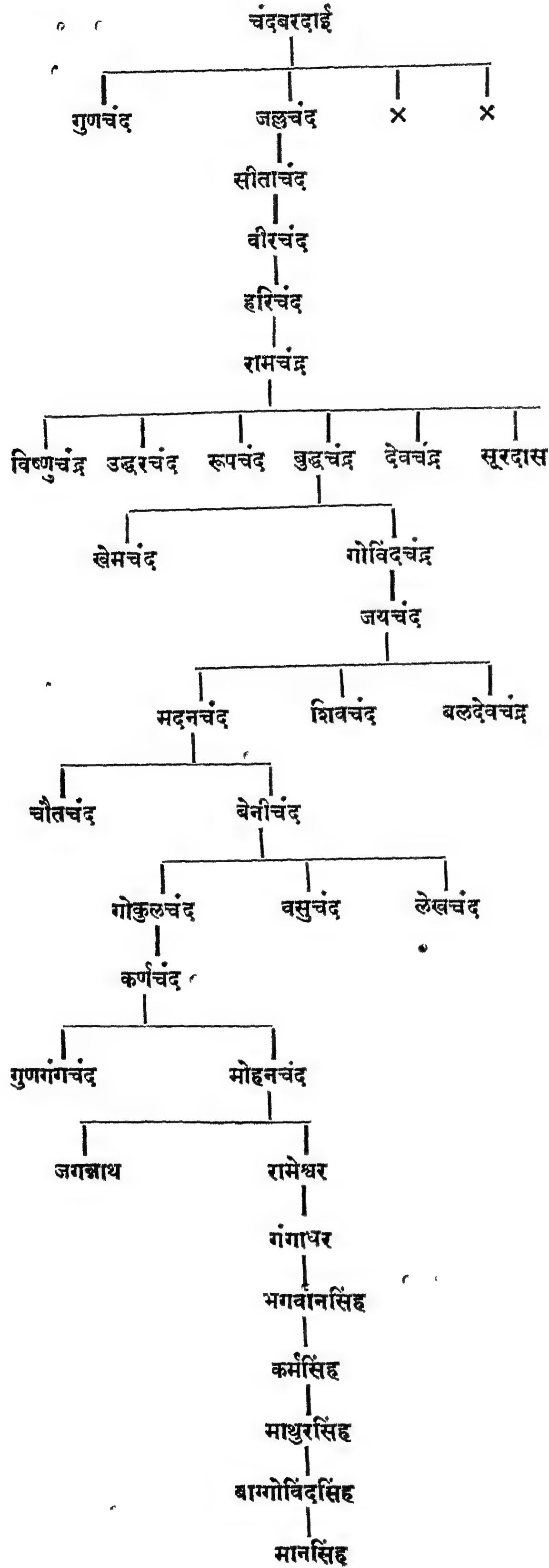
तनयश्चन्द्रराजस्य चन्द्रराज इवाभवत्।
संग्रहं यस्सुवृत्तानां सुवृत्तानामिव व्यधात्॥ १५ ॥

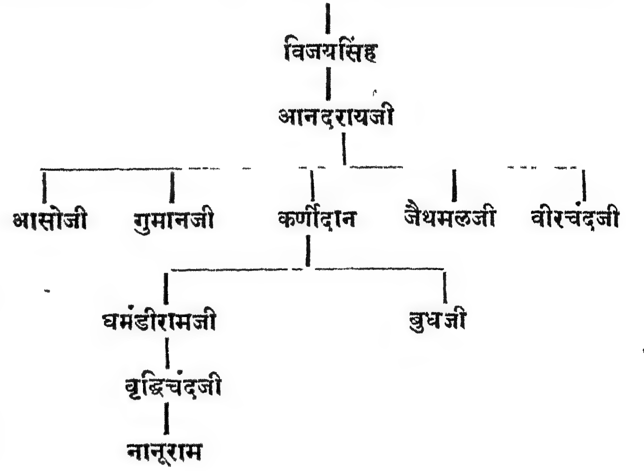
अर्थात् उसका पुत्र ग्रंथकार चंद्रराज के समान सुवृत्तों (अच्छे छंदों और आचरणशील पुरुषों) का संग्रह करनेवाला हुआ। इस श्लोक की टीका करते हुए सोलराज का पौत्र तथा तोनराज का पुत्र जोनराज, जो काश्मीर में जैनुल आबदीन चौथे के समय (सं० १४७४-१५२४) में हुआ था, यह लिखता है—

"चंद्रराजाख्यश्चंद्रो ग्रंथकारस्य इवास्य पुत्रः चन्द्रराजाख्यो भवत् शोभमानां वृत्तानां वसन्ततिलकादीनामिव सुवृत्तानां सदाचाराणां पुरुषाणां यस्संग्रहमकरोत्।" इससे स्पष्ट है कि चंद्रराज ग्रंथकार ने सुललित छंदों में ग्रंथ रचे थे। संभवतः यह हमारा चंदबरदाई ही था जो जयानक का समकालीन था। किसी दूसरे चंद्र से इसका तात्पर्य नहीं ज्ञात होता। यदि यह अनुमान ठीक है तो चंदबरदाई ने कई ग्रंथ लिखे होंगे। वे सब अब या तो कालकवलित हो गए या कहीं छिपे पड़े होंगे।

महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने सन् १६०६ से १६१३ तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन यात्राएँ की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी ने छापा है। उस विवरण में पृथ्वीराजरासो के विषय में बहुत कुछ लिखा है। उनका कहना है कि कोई कोई तो चंद के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं, पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर में हुआ था। कहते हैं कि चंद पृथ्वीराज के पिता सोमेश्वर के समय में राजपूताने में आया और पहले सोमेश्वर का दरबारी और पीछे से पृथ्वीराज का मंत्री, सखा और राजकवि हुआ। पृथ्वीराज ने नागौर बसाया था और वहीं बहुत सी भूमि चंद को दी थी। शास्त्रीजी का कहना है कि नागौर में अब तक चंद के वंशज रहते हैं। इसी वंश के वर्तमान प्रतिनिधि नानूराम भाट से शास्त्रीजी की भेंट हुई। उनसे

उन्हें चंद का वंश-वृक्ष प्राप्त हुआ जो इस प्रकार है—





नानूराम का कहना है कि चंद के चार लड़के थे जिनमें से एक मुसलमान हो गया। दूसरे का कुछ पता नहीं, तीसरे के वंशज अंभोर में जा बसे और चौथे जल्ह का वंश नागौर में चला। पृथ्वीराजरासो में चंद के लड़कों का उल्लेख इस प्रकार है—

दहति पुत्र कविचंद के सुंदर रूप सुजान।
इक्क जल्ह गुन बावरो, गुन समुंद ससिमान॥

पृथ्वीराजरासो में कवि चंद के दसों पुत्रों के नाम दिए हैं। 'सूरदास' की साहित्यलहरी की टीका में एक पद ऐसा आया है जिसमें सूर की वंशावली दी है। वह पद यह है—

प्रथम ही प्रथु यज्ञ तें भे प्रगट अद्भुत रूप।
ब्रह्मराव विचारि ब्रह्मा राखु नाम अनूप॥
पान पय देवी दियो सिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति अधिकाय॥
पारि पायँन सुरन के सुर सहित अस्तुति कीन।
तासु वंस प्रसंस में भौ चंद चारु नवीन॥
भूप पृथ्वीराज दीन्हों तिन्हें ज्वाला देस।
तनय ताके चार कीनो प्रथम आप नरेस॥
दूसरे गुनचंद ता सुत सीलचंद सरूप।
वीरचंद प्रताप पूरन भयो अद्भुत रूप॥
रंथभौर हमीर भूपति सँगत खेलत जाय।
तासु वंस अनूप भो हरिचंद अति विख्याय॥
आगरे रहि गोपचल में रह्यौ ता सुत वीर।
पुत्र जनमे सात गंभीभटहातके राम॥

कृष्णचंद उदारचंद जु रूपचंद सुभाइ।
बुद्धिचंद प्रकाश चौथे चंद भे सुखदाइ॥
देवचंद प्रबोध संसृतचंद ताको नाम।
भयो सप्तो नाम सूरजचंद मंद निकाम॥

इन दोनों वंशावलियों के मिलाने पर मुख्य भेद यह प्रकट होता है कि नानूराम ने जिनको जल्लालचंद की वंश-परंपरा में बताया है सूरदासजी उन्हें गुणचंद की परंपरा में कहते हैं। बाकी नाम प्रायः मिलते हैं।

नानूराम का कहना है कि चंद ने तीन या चार हजार श्लोकसंख्या में अपना काव्य लिखा था। उसके पीछे उनके लड़के ने अंतिम दस समयों को लिखकर उस ग्रंथ को पूरा किया। पीछे से और लोग उसमें अपनी रुचि अथवा आवश्यकता के अनुसार जोड़ तोड़ करते रहे। अंत में अकबर के समय में इसने एक प्रकार से परिवर्तित रूप धारण किया। अकबर ने इस प्रसिद्ध ग्रंथ को सुना था। उसके इस प्रकार उत्साह-प्रदर्शन पर, कहते हैं कि, उस समय रासो नामक अनेक ग्रंथों की रचना की गई। जो कुछ हो, नानूराम का कहना है कि असली पृथ्वीराजरासो की प्रतिलिपि मेरे पास है। उन्होंने महोबा समय की नकल महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री को दी थी। इस समय को उन्होंने अपनी रिपोर्ट में ज्यों का त्यों छाप दिया है। हम इसकी प्रतिलिपि नीचे देते हैं जिसमें यह विदित हो जाय कि यह असली रासो कैसा है—

दुहरा (दोहा)

मौहब राज चंदेल कर। वोहो बलवंत राजान॥
पंचस दिप के प्रचंड। महावीर बलवान॥ १॥

छंद पध्धरी

मोहबे राज चंदेल कीन। धामलां भाग बिसराम लीन॥
आरंभ वावना किया संज। निरमला निरउना भाग भंज॥ २॥
तहाँ देष रूप दरपत अनूप। देषे बिकसित सुगंद चूप॥
नौ नौ प्रकास फुलवार रूप। आरंब षूब ना देष भूप॥ ३॥
मकान रच्या च्यार घायलापूर। अत्यंत महा विकराल सूर॥
अतीतराय अद्‌भुत चहुँवाँन। लंगरी चंड पंडरी' नान'॥४॥
तिन पास च्यार षिजमत्त होय। तवि बाग बनाई थके जोय॥
तहाँ बाग मंझ परवेश कीन। सुलताँन मज्झ सौगंध ल्हीन॥५॥
रहियत्त रषवारो बागवान। देपे साँवत बरजे तमाम॥
उतरो नहीं इत बाग माँहि। चंदेलराय कौ हुकम नाँहि॥६॥
हम बागवान बर्जंत तोय। इन बाग मंझ उतरे न कोय॥
इकह सावंत बोलत बयन। मो मती बरज इक रह बरन॥७॥
मो दिली थान प्रथीराज भूप। संभरी सिंघ ना मोह दूत॥
मोह सिह घाव चालंत राह। उज्जार बाग कौ कराँ नाह॥८॥
उतरे जहाँ बादल अवास। पुकार होय ना राय पास॥
चालत नहीं दिन च्यार हेक। तुम राय जाय बल कर भिसेष॥९॥
तब बागवान उच्चरत बैन। उन दई बान कावल केन॥
पर सुनी गाल चहुवान कोन। षग तोल सीस मेल्यो भवन्न॥१०॥
तब चलि मालनि करि पुकार। चंदेलराय राजा मँझार॥
चंदेलराय तोय फ्रियाद्। मोय सभय मार कीनो विषाद॥११॥
चंदेलराय उच्चरत एम। मोह राज महँ कहो कह केम॥
ऐसो जु कूँ बलवंत सूर। फुरमाय राय बोलब हजूर॥१२॥
कहियत्त मालनि महरवाँन। चहुँवाँन वंस मैं दिली थाँन॥
सादल महल मे बसे जाय। षिजमत्तदार समुसियत धाय॥१३॥
कर हुँकम राय पट्ठाय दूत। पंच सूर केम केहरिय कूत॥
चाले सुदूत भागन सदेव। जांनंत एक सावंत भेव॥१४॥
पैठे सु जाय बागन मझार। षिजमत्त धाव सांवंत सार॥
ललकार करन पच्चीस तांम। सुन उठे च्यार सावंत नाम॥१५॥
धावना पूर अद्‌भुत अपार। छोड़े बिषार' षिजमत्तदार॥
कर कोप कम्ह बोले चहुवाँन। धिरकार तोय छत्रि प्रवाँन॥१६॥
धादला हैबरा मिन कन्न। धिक्कार तोय भाता समन्न॥
मुज पास आव देहत्त बीर। जीवत्त जाय तुम जवा भीर॥१७॥
धिक्कार तोय राजन समेत। तोय राय तेय सिर रेत रेत॥
अब आव पास'मोय करहु हत्थ। तुम संग किते छत्री सुअत्थ॥१८॥
षगतोल बोल चांवड राय। पुंडीर राय छत्रिय सवाय॥
लंगरी अंग बोहोत्तरिय घाव। अत्तीतराय संग्राम भाव॥१९॥
सुवच्यार घाव कोपे स वाय। समसेर आँन कर मंझ लाय॥
पच्चीस मार पच्चास दिठ। पच्चास मार इक भाजरिट्ठ॥२०॥
इक सौ मारे, दोय सौ जुआय। दोय सौ जो मार दस सख आय॥
राय संग लोक ग्यारे हजार। पीछले लोक को कौन पार॥२१॥
संग्राम मंडे पुर मझार। सावंत फौज पर षाग झार॥२२॥

चौपाई

हुक पहुर मे साँवत सारे। लोक हजार पाँच तहँ मारे॥
त्ये साँवत पृथिराज पियारे। केते ई दल सँकर जुहारे॥२३॥
मारे लोक हजार अठारा। उमय हूर इकबीस सिंगारा॥
दोउ घरिय पचिसूँ पूँगे। धूम ध्यान के चुपट युगे द्व॥२४॥
तापिछ लोक च्यार दस मारे। पिछले पहुर पचास सँघारे॥
तब दलथंभ चंदेल जुहारे। साँवत युगे महल मझारे॥२५॥
महलन मध्ये घाव सियाये। फते फते कर सांमत आये॥२६॥

कवत (छप्पय)

लूटन नगर मौहबो ऑन चहुँवान दी रायत।
मोह चित्त आनंद जित चहुँवान न पावत॥
पुलरे चहुवाँ जान करब अरुपडव।
सिरजीत अ प्रबल मारि जिसे नव पंडव॥२७॥
धिन सॉवत मनुसूर समद से नर पड हूके।
मझदेस मारवि नॉव सँमर सूँ सूके॥
चक्रवंत चहुँवान तास घर छत्रिय धक नर।
सिष्ट सितसा पुरिस भव में राजन् इमस भर॥
मोहौब मझार संग्राभ सुध इधक इधक जस जस उचर।
सॉवत इस प्रथिराजरा बरदायि चंद कीरत्तिकर॥२८॥

दोहरा (दोहा)

सुनिह वात भ्रातन द्रिगन उपकरंत अम्भेर।
मांनूं क्रोध मे कोप कर कर में कर समसेर॥२९॥

छंदजात भुजंगी

सिर कोपियो राय चंदेल भ्रात।
लंघुन्नत किमिर चाले सुरात॥
अंस बंस छत्तीस संग्राम सूरं।
महाभूप साथे सुगहं हजूरं॥३०॥
तहँ संग सूर असुरं अपारं।
महाभारत एम सासूर भारं॥
तिहँ जात कुल नाम साँवत होई।
मह प्रकट नरमि रँभ ताल जोई॥३१॥
तहँ जुद्ध संग्राम सांवत प्रवान।
एहि पौह मलिरना कौन ज्यांन॥
तिंह मार षग्गं करूं टूक टुकं।
नहीं अैरकं मीर ना नाह ढक्कं॥३२॥
अति क्रोध कं कोप फौजान चालं।
जिमि इंद्र घटान सावन कलानं॥
अगलान पानि पिछलान कोय।
तिह मंनु संग्राम भारत्थ जोय॥३३॥
तह चलिय भालहे माल डंडे।
तहाँ मार बलवाँन किय पंड पंडे॥
असि भिंह फौज चलाई तहारं।
तपे जो मना जोर सौहाल झारं॥३४॥
तिंह मोहोब बान कव्बान कस्ते।
पगव्बार तो वार सोभा रसस्ते॥
हस्ती घूमते चले फौजान मध्यं।
परी पीठ पापर कसे तेग बध्यं॥३५॥
यहि विधना फोज सावंत घेरे।
तहाँ लोक महलन को और दौरे॥
तिंह राय नोनंम भारत्थ होई।
महाभीर बलवान मरिया न सोई॥३६॥
महल मंझ सावंत निचित्त सोही।
मानो डरे नासक्त नासे महोही॥
तब उच्चरे भने भारत्थ रायं।
लघुभ्रात कुंजीत केहाँ दिस्स जायं॥३७॥
तुजे मार पंगा धरा टूक डारे।
मेरे भ्रांत नैपंच दस सीस सारे॥
असाँ वान जवान भारत्थ उचारे।
तुम लोक हजार पचास मारे॥३८॥
असा कौन बलवान मोय थान आवे।
तुझे धावना भ्रांत भवना सिवावे॥
तुजं सांमने मुज्झ सों पाव मंडं।
तुजं मार पग्गाँ करूँ पंड पंडं॥३९॥
इसो कौन बलवाँन तुम कौन सूरं।
तुम किसे ना पास छत्री हजूरं॥
बक बोल सावंत बयने उचारं।
मुझ राय चहुवाँन ना सूर भारं॥४०॥
मै हथां नहि दांन दिल्ली हजूरी।
प्रथीराजरि पास खिजमत्त पूरी॥

तहाँ परारे महा बैन बोले।
मैहे ता सरूपं पग्ग तोले ॥४१॥
तब होय साँवंत क्रोधं अपारं।
करे तोलवे चंद्र वेधे त्रिवारं ॥
पगं मेटियं घाव अनबार तेनं।
तहाँ जुद्ध संग्राम नाकोड मंडन ॥४२॥
दल सांम हहालिया सूरभिरं।
मनु आप संग्राम सावंत धिरं ॥
तिह मार साँवंत अनन्न तोले।
हहक्कार हक्कार झक्कार बोले ॥४३॥
दूले ऊलटे एम साँवंत ओरं।
तहाँ मार संग्राम साँवंत जोरं ॥
तबे चालिये वांन प्रम्मान बेनं।
जिनू सांमुहे च्यार साँवंत मेनं ॥४४॥
दले टुट्ट टूकं तिहाँ पाग झाटं।
तहाँ चंड पुंडीर चाले निहाटं ॥
वहे च्यार तरवार एके सिरसि।
इमे राय चहुवॉन अतीत सौसि ॥४५॥
महा जुद्ध होपे संग्राम सूरं।
तहाँ झुक्किये भान आजेक सरं ॥
तहाँ सामिये कौन नामीर ढक्कं।
महाभारथि तास कै कंठ सुक्कं ॥४६॥
तनं गां आला बहु जुद्ध जीपं।
वहे फूल धारा मणु बीजदीपं ॥
तां समिय सूर अनेक हारे।
इना च्यार खर्ब बहु लोक मारे ॥४७॥
वहे रक्त नाला न दिज्जेम नीरं।
भये जोगनि सट्ट त्रपत्र तिमीरं ॥
परे सूर गयद सानेक वारि।
सबे च्यार समसी सन्यास मारि ॥४८॥
देपे सूरना हाथ भारत्थराई।
तये राय नौ लोक भागे न जाई ॥
जिनूँ मार पग्गाँ सभे दल ठाई।
महाभारथ पूब तरवार वाही ॥४९॥
इमे पाछली भौन भारत्थ जाढ़े।
तहाँ पास संग्राम सावंत ठाढ़े ॥
जिनूँ मार पग्गाँ सबे दल ढायौ।
अनुजस सामंत चंदेल गायौ ॥५०॥

पृथ्वीराजरासो का यह संदर्भ कहाँ तक असली है इसके विषय में कुछ कहना बड़ा कठिन है। यह नहीं बताया गया है कि यह असली रासो कागज, भोजपत्र अथवा किस चीज पर लिखा है, उसमें कोई लिपि-काल दिया है या नहीं और उसके अक्षर कैसे हैं। फिर महोबा समय की भाषा-शैली तथा शब्द-प्रयोगों को देखकर बहुत संदेह होता है। फिर यह भी बात विचारणीय है कि काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने पृथ्वीराजरासो का जो संस्करण निकाला है उसमें महोबा समय को संदिग्ध बताया गया है—उसके चंद के लिखे हुए होने या उसके आधार पर पुनः संकलित होनेमें संदेह प्रकट किया गया है। बंगाल की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में दो खंडों में पृथ्वीराजरासो की एक प्रति है। उसकी पुष्पिका में उसका रचयिता चंद बताया गया है। पर इस प्रति में और काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रति में आकाश पाताल का अंतर है। एक खंड में महोबा युद्ध का वर्णन है और दूसरे खंड में संयोगिता स्वयंवर की कथा है। पहले खंड को काशी नागरी-प्रचारिणी सभा ने परमालरासो के नाम से प्रकाशित किया है। दूसरे खंड का नाम पंगरासो रखा गया है, पर वह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ। सारांश यह कि अभी तक असली रासो का ठीक ठीक पता नहीं लगा है। जो ग्रंथ पृथ्वीराजरासो के नाम से प्रसिद्ध माना जाता है, उसमें प्रक्षिप्त अंश बहुत है और उसमें से असली अंश को अलग करना बहुत कठिन है। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि उसमें प्राचीन छंद वर्तमान हैं और उन्हें असली रासो का अंश मानना ठीक होगा। सबसे प्राचीन प्रति जो इस ग्रंथ की लिखी मिली है उसका लिपि काल संवत् १६४२ है।

(४-५) भट्ट केदार, मधुकर कवि (संवत १२२४-१२४३) जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज

पृथ्वीराज को कीर्त्तिमान् किया है उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के सम्राट् जयचंद का गुण गाया है। रासो में चंद और भट्ट केदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्ट केदार ने 'जयचंदप्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था। इसी प्रकार का 'जयमयंकजसचंद्रिका' नामक एक बड़ा ग्रंथ मधुकर कवि ने भी लिखा था। पर दुर्भाग्य से ये दोनों ग्रंथ आज उपलब्ध नहीं हैं। केवल इनका उल्लेख सिंघायच दयालदास कृत 'राठौड़ाँरी ख्यात' में मिलता है जो बीकानेर के राजपुस्तक-भांडार में सुरक्षित है। इस ख्यात में लिखा है कि दयालदास ने आदि से लेकर कन्नौज तक का वृत्तांत इन्हीं दोनों ग्रंथों के आधार पर लिखा है।

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो गहरवारों (राठौरों) का विशाल साम्राज्य जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्रायः सारा मध्य देश काशी से कन्नौज तक था और दूसरा चौहानों का जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नहीं कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-सम्पन्न और देश के प्रधान भाग पर था। गहरवारों की दो राजधानियाँ थीं—कन्नौज और काशी। इसीसे कन्नौज के गहरवार राजा काशिराज कहलाते थे। जिस प्रकार पृथ्वीराज का प्रभाव राजपूताने के राजाओं पर था उसी प्रकार जयचद का प्रभाव बुंदेलखंड के राजाओं पर था। कालिंजर या महोबे के चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) जयचंद के मित्र या सामंत थे जिसके कारण पृथ्वीराज ने उन पर चढ़ाई की थी। चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

(६) जगनिक (सं० १२३०)। ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिंजर के राजा परमाल के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोबे के दो देशप्रसिद्ध वीरों—आल्हा और ऊदल (उदयसिंह)—के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्मक काव्य के रूप में लिखा था जो इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीरगीतों का प्रचार क्रमशः सारे उत्तरीय भारत में—विशेषतः उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे—हो गया। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नहीं है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिंदी भाषा प्रांतों के गाँव गाँव में सुनाई पड़ते हैं। ये गीत 'आल्हा' के नाम से प्रसिद्ध हैं और बरसात में गाए जाते हैं। गाँवों में जाकर देखिए तो मेघ गर्जन के बीच में किसी अल्हैत के ढोल के गंभीर घोष के साथ यह वीर-हुंकार सुनाई देगी—

> बारह बरिस लै कूकर जीएँ, औ तेरह लै जिएँ सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीएँ, आगे जीवन के धिक्कार॥

इस प्रकार साहित्यिक रूप में न रहने पर भी जनता के कंठ में जगनिक के संगीत की वीरदर्प-पूर्ण प्रतिध्वनि अनेक बल खाती हुई अब तक चली आ रही है। इस दीर्घ काल यात्रा में उसका बहुत कुछ कलेवर बदल गया है। देश और काल के अनुसार भाषा में ही परिवर्त्तन नहीं हुआ है, वस्तु में भी बहुत अधिक परिवर्त्तन होता आया है। बहुत से नए अस्त्रों (जैसे, बंदूक, किरिच) देशों और जातियों (जैसे, फिरंगी) के नाम सम्मिलित हो गए हैं और बराबर होते जाते हैं। यदि यह ग्रंथ साहित्यिक प्रबंध-पद्धति पर लिखा गया होता तो कहीं न कहीं राजकीय पुस्तकालयों में इसकी कोई प्रति रक्षित मिलती। पर यह गाने के लिये ही रचा गया था इससे पंडितों और विद्वानों के हाथ इसकी रक्षा की ओर नहीं बढ़े, जनता ही के बीच इसकी गूँज बनी रही—पर यह गूँज मात्र है, मूल शब्द नहीं। आल्हा का प्रचार यों तो सारे उत्तर भारत में है पर बैसवाड़ा इसका केंद्र माना जाता है। वहाँ इसके गानेवाले बहुत अधिक मिलते हैं। बुंदेलखंड में—विशेषतः महोबे के आस पास—भी इसका चलन बहुत है।

इन गीतों के समुच्चय को सर्वसाधारण 'आल्हाखंड' कहते हैं जिससे अनुमान होता है कि आल्हा संबंधी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड

के अंतर्गत थे जो चदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। आल्हा और ऊदल परमाल के सामंत थे और बनाफर शाखा के क्षत्रिय थे। इन गीतों का एक संग्रह 'आल्हखंड' के नाम से छपा है। फर्रुखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि० चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके ६०-७० वर्ष पूर्व छपवाया था।

(७) **सारंगधर** (सं० १३५३ के लगभग)। महाराज पृथ्वीराज के मारे जाने पर शहाबुद्दीन ने पृथ्वीराज के पुत्र गोविंदराज को अपनी अधीनता स्वीकार कराके अजमेर की गद्दी पर बिठाया। महाराज पृथ्वीराज के भाई हरिराज ने मुसलमानों की अधीनता स्वीकार करने के कारण गोविंदराज से अजमेर छीन लिया जिससे वे रणथंभोर चले आए और उन्होंने वहाँ राज्य स्थापित किया। इन्हीं गोविंदराज के वंशज सुप्रसिद्ध वीर हम्मीरदेव हुए जो मुसलमानों से बराबर लड़ते रहे और अंत में संवत् १३५८ में अलाउद्दीन की दूसरी चढ़ाई में मारे गए। पहली चढ़ाई अलाउद्दीन ने संवत् १३५७ में की थी जिसमें उसे हार खाकर भागना पड़ा था। हम्मीर अपना वंश-परंपरागत साम्राज्य मुसलमानों से छीनने का बराबर प्रयत्न करते रहे जिससे उन्हें बहुत लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं थीं और उनकी वीरता के फुटकर पद्य देश में चारों ओर उनके समय में ही फैल गए थे। प्राकृत पिंगलसूत्र में अपभ्रंश के ऐसे बहुत से पद्य छंदों के उदाहरण में उद्धृत मिलते हैं—

कोहे चलिअ हम्मीर वीर गअजुह संजुत्ते।
किअउ कट्ठ हा कंद मुच्छि मेच्छिअ के पुत्ते * ॥
हम्मीर वीर जब रण चलिआ। तुरअ तुरअहि जुज्झिया।
अप्प पर णइ बुज्झिया ॥

ये फुटकर पद्य अवश्य किसी अपभ्रंश के बड़े काव्य के अंश जान पड़ते हैं जिसमें हम्मीर की वीरता का विस्तृत वृत्त रहा होगा।

नयचंद्र सूरि ने 'हम्मीर महाकाव्य' नाम का वृहद् ग्रंथ संस्कृत में लिखा है। इसी प्रकार शारंगधर के नाम से भी हम्मीररासो और हम्मीरकाव्य दो भाषा काव्य-ग्रंथ प्रसिद्ध हैं। पर आजकल जो हम्मीररासो नाम की पुस्तक मिलती है वह पीछे की रचना है, समकालीन नहीं। यदि सारंगधर हम्मीर के दरबारी कवि थे और उन्होंने संवत् १३५७ में हम्मीर काव्य या हम्मीररासो की रचना की थी तो ऊपर उद्धृत पद्य संभवतः उन्हीं ग्रंथों में से किसी एक के होंगे।

(८) **नल्लसिंह भट्ट** (सं० १३५५) इनका विजयपाल-रासो नाम का एक ग्रंथ मिला है जिसमें संवत् १०९३ ई० में वर्त्तमान करौली के विजयपाल नामक राजा के युद्धों का वर्णन है। ग्रंथ की भाषा प्राकृत अपभ्रंश मिली हुई है।

मोटे हिसाब से वीरगाथा-काल महाराज हम्मीर के समय तक ही समझना चाहिए। उसके उपरांत मुसलमानों का साम्राज्य भारत में स्थिर हो गया और हिंदू राजाओं को न तो आपस में लड़ने का उतना उत्साह रहा, न मुसलमानों से। जनता की चित्तवृत्ति बदलने लगी और विचारधारा दूसरी ओर चली। मुसलमानों के न जमने तक तो उन्हें हटाकर अपने धर्म की रक्षा का वीर-प्रयत्न होता रहा, पर मुसलमानों के जम जाने पर अपने धर्म के उस व्यापक और हृदयग्राह्य रूप के प्रचार की ओर ध्यान हुआ जो सारी जनता को आकर्षित रखे और धर्म से विचलित न होने दे।

इस प्रकार स्थिति के साथ ही साथ भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हो गया। पर इससे यह न समझना चाहिए कि हम्मीर के पीछे किसी वीरकाव्य की रचना ही नहीं हुई। समय समय पर इस प्रकार के अनेक काव्य लिखे गए। हिंदी-साहित्य के इतिहास की एक विशेषता यह भी रही है कि एक विशिष्ट काल में काव्य-सरिता जिस रूप में वेग से प्रवाहित हुई वह यद्यपि आगे चलकर मंद गति से बहने लगी, पर ९०० वर्षों के हिंदी-साहित्य के इतिहास में हम उसे कभी सर्वथा सूखी हुई नहीं पाते।

* मूर्च्छित होकर म्लेच्छों के पुत्रों ने कष्ट से बड़ा क्रंदन किया।

पूर्व मध्यकाल

(भक्तिकाल)

१३७५-१७००

देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू-जनता के हृदय में गौरव, अभिमान और उत्साह के लिये वह अवकाश न रह गया। उनके सामने ही उनके देवमंदिर गिराए जाते थे, देवमूर्त्तियाँ और पूज्य पुरुषों का अपमान होता था और वे कुछ भी नहीं कर सकते थे। ऐसी दशा में अपनी वीरता के गीत न तो वे गा ही सकते थे और न बिना लज्जित हुए सुन ही सकते थे। अपने पौरुष से हताश जाति के लिये भगवान् की शक्ति और करुणा को ध्यान में लाने के अतिरिक्त सांत्वना का दूसरा मार्ग ही क्या था? काल के प्रतिनिधि कवि जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिये भक्ति का एक नया मैदान खोलने लगे। क्रमशः भक्ति का प्रवाह ऐसा विस्तृत और प्रबल होता गया कि उसकी लपेट में केवल हिंदू जनता ही नहीं, देश में बसनेवाले सहृदय मुसलमानों में से भी न जाने कितने आ गए। प्रेम स्वरूप ईश्वर को सामने लाकर भक्त कवियों ने हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को मनुष्यता के एक सामान्य रूप में दिखाया और भेदभाव के दृश्यों को हटाकर पीछे कर दिया।

भक्ति का जो सोता दक्षिण की ओर से धीरे धीरे उत्तर भारत की ओर पहले से ही आ रहा था उसे राजनीतिक परिवर्त्तन के कारण शून्य पड़ते हुए जनता के हृदय-क्षेत्र में फैलने के लिये पूरा स्थान मिला। रामानुजाचार्य्य (संवत् १०७३) ने शास्त्रीय पद्धति से जिस भक्ति का निरूपण किया था उसकी ओर जनता आकर्षित होती चली आ रही थी।

गुजरात में स्वामी माध्वाचार्य्य जी (संवत् १२५४–१३३३) ने अपना द्वैतवादी वैष्णव संप्रदाय चलाया जिसकी ओर बहुत से लोग झुके। देश के पूर्वभाग में जयदेव जी के कृष्णप्रेम-संगीत की गूँज चली आ रही थी जिसके सुर में मिथिला के कोकिल (विद्यापति) ने अपना सुर मिलाया। उत्तर या मध्यभारत में एक ओर तो ईसा की १५ वीं शताब्दी में रामानुजाचार्य्य की शिष्य-परंपरा में स्वामी रामानंद हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर जोर दिया और एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया, दूसरी ओर वल्लभाचार्य्य ने प्रेम-मूर्ति कृष्ण को लेकर जनता को रसमग्न किया। इस प्रकार रामोपासक और कृष्णोपासक भक्तों की परंपरा चली जिसमें आगे चलकर हिंदी काव्य को प्रौढ़ता पर पहुँचाने वाले जगमगाते रत्नों का विकास हुआ।

एक ओर तो प्राचीन सगुण उपासना का यह काव्य-क्षेत्र तैयार हुआ, दूसरी ओर मुसलमानों के बस जाने से देश में जो नई परिस्थिति उत्पन्न हुई उसकी दृष्टि से हिंदू मुसलमान दोनों के लिए एक "सामान्य भक्तिमार्ग" का विकास भी होने लगा। यह सामान्य भक्तिमार्ग एकेश्वर-वाद का एक अनिश्चित स्वरूप लेकर खड़ा हुआ, जो कभी ब्रह्मवाद की ओर ढलता था और कभी पैगंबरी खुदावाद की ओर। यह "निर्गुण पंथ" के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसकी ओर ले जानेवाली सबसे पहली प्रवृत्ति जो लक्षित हुई वह ऊँच नीच और जाति पाँति के भाव का त्याग और ईश्वर की भक्ति के लिये मनुष्य मात्र के समान अधिकार का स्वीकार था। जिस प्रकार इस भाव का सूत्रपात बंग देश में चैतन्य महाप्रभु द्वारा हुआ उसी प्रकार महाराष्ट्र और मध्यदेश में नामदेव और रामानंद जी द्वारा हुआ। यद्यपि महाराष्ट्र देश में नामदेव का जन्मकाल शक संवत् ११९२ प्रसिद्ध है पर उनकी रचनाओं को देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे मुसलमानों के आकर बसने के बहुत दिन पीछे, रामानंदजी के समय में या उसके कुछ पहले हुए। ये दक्षिण के नरसी बमनी (सतारा जिला) नामक स्थान के रहनेवाले दरजी थे। इनकी भक्ति के अनेक चमत्कार भक्तमाल में लिखे हैं; जैसे—ठाकुरजी का इनके हाथ से दूध पीना, अविंद नागनाथ के शिवमंदिर के द्वार का इनकी ओर घूम जाना इत्यादि। इनके माहात्म्य ने यह सिद्ध कर दिखाया कि भक्तिमार्ग में 'जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि का होई'। यद्यपि ये सगुणोपासक और मूर्त्ति-पूजक थे, शिव आदि रूपों में भी ईश्वर की भक्ति करते, गणिका, गीध, अजामिल, शबरी, केवट आदि की

सुगति के गीत गाते तथा अवतारों की वंदना करते थे—

अंबरीष को दियो अभयपद, राज विभीषन अधिक कर्यो।
नव निधि ठाकुर दई सुदामहि, ध्रुव जो अटल अजहूँ न टर्यो॥
भगत हेत मार्यो हरनाकुस, नृसिंह रूप है देह धर्यो।
नामा कहै भगति-बस केसव अजहूँ बलि के द्वार खरो॥

पर मुसलमानों के अत्याचार से पीड़ित होकर उन्होंने स्थान स्थान पर मुसलमानों को 'राम रहीम' की एकता समझाने के लिये ब्रह्मज्ञान आदि भी कहा है जैसे—

आपुन देव, देहरा आपुहि आपु लगावै पूजा।
जल तें तरंग, तरंग तें है जल, कहन सुनन को दूजा॥
आपुहि गावै आपहि नाचै आपु बजावै तूरा।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा, तू पूरा॥

इससे निर्गुणवादी भी अपनी परंपरा के आदि में इनका नाम लेते हैं। गुरु नानक ने अपने ग्रंथ साहब में इनके बहुत से पद उद्धृत किए हैं। नामदेव ने बड़ी भक्ति के साथ भगवान् की अवतार-लीला के पद गाए हैं।

दशरथ राय-नंद राजा मेरा रामचंद।
प्रणवै नामा तत्त्व रस अमृत पीजै।

× × ×

धनि धनि मेघा-रोमावली, धनि धनि कृष्ण ओढ़े कावँली।
धनि धनि तू माता देवकी, जिह गृह रमैया कँवलापती॥
धनि धनि बनखँड वृंदाबना, जहँ खेलै श्रीनारायना।
बेनु बजावैं, गोधन चारैं, नामे का स्वामी आनंद करै॥

पर कहीं कहीं अक्खड़ी बोली में ज्ञानचर्चा भी की है जिसका अनुकरण कबीर आदि निर्गुण पंथियों ने किया।

माइ न होती, बाप न होता, कर्म न होती काया।
हम नहिं होते, तुम नहिं होते, कौन कहाँ ते आया॥
चंद न होता, सूर न होता, पानी पवन मिलाया।
शास्त्र न होता, वेद न होता करम कहाँ ते आया॥

× × +

पांडे तुम्हारी गायत्री लोधें का खेत खाती थी।
लै करि ठेंगा ठँगरी तोरी लंगत लंगत आती थी॥
पांडे तुम्हरा महादेव धौल बलद चढ़ा आवत देखा था।
पांडे तुम्हरा रामचंद सो भी आवत देखा था॥

रावन सेंती सरबर होई घर की जोय गँवाई थी।
हिंदू अंधा, तुरकौ काना, दुहौ ते ज्ञानी सयाना॥
हिंदू पूजै देहरा मुसलमान मसीद।
नामा सोई सेविया जहँ देहरा न मसीत॥

इन्होंने फारसी शब्दों और वाक्यों से भरे पद भी कुछ कहे हैं। जैसे—

दरियाव तू, दिहंद तू, बिसियार तू धनी।
देहि लेहि एक तू दीगर कोई नहीं॥

नामदेव की रचना के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'निर्गुण पंथ' के लिये मार्ग दिखानेवाले भी सगुणोपासक दोरंगी भक्त थे जो कभी कभी मौज में आकर ब्रह्मज्ञान का उपदेश भी करते थे। जहाँ तक पता चलता है 'निर्गुण मार्ग' के प्रधान प्रवर्त्तक कबीरदास ही थे जिन्होंने एक ओर तो स्वामी रामानंद जी के शिष्य होकर भारतीय अद्वैतवाद की कुछ स्थूल बातें ग्रहण कीं और दूसरी ओर कुछ सूफी फकीरों के संस्कार प्राप्त किए। इसी से इनके तथा 'निर्गुणवाद'वाले और दूसरे संतों के वचनों में कहीं भारतीय अद्वैतवाद की झलक मिलती है, कहीं सूफियों के प्रेमतत्त्व की और कहीं पैगंबरी कट्टर खुदावाद की। अतः तात्त्विक दृष्टि से न तो हम इन्हें पूरे अद्वैतवादी कह सकते हैं और न एकेश्वरवादी। दोनों का मिला जुला भाव इनकी बानी में मिलता है। इनका लक्ष्य एक ऐसी सामान्य भक्ति-पद्धति का प्रचार था जिसमें हिंदू और मुसलमान दोनों योग दे सकें और भेदभाव का कुछ परिहार हो। बहुदेवोपासना, अवतार और मूर्तिपूजा का खंडन ये मुसलमानी जोश के साथ करते थे और मुसलमानों की कुरबानी (हिंसा), नमाज, रोजा आदि की असारता दिखाते हुए ब्रह्म, माया, जीव, अनहद नाद, सृष्टि, प्रलय आदि की चर्चा पूरे हिंदू ब्रह्मज्ञानी बन कर करते थे। सारांश यह कि ईश्वर-पूजा की उन भिन्न भिन्न बाह्य विधियों पर से ध्यान हटाकर, जिनके कारण धर्म में भेदभाव फैला हुआ था, ये शुद्ध ईश्वरप्रेम और सात्त्विक जीवन का प्रचार करना चाहते थे।

इस प्रकार देश में सगुण और निर्गुण के नाम से भक्तिकाव्य की दो धाराएँ विक्रम की १५ वीं शताब्दी के अंतिम भाग से लेकर १७ वीं शताब्दी के अंत तक समानांतर चलती रहीं। भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा की कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर ही की मिलती है अतः पहले निर्गुण मत के संतों का उल्लेख उचित ठहरता है। यह निर्गुण धारा दो शाखाओं में विभक्त हुई—एक तो ज्ञानाश्रयी शाखा और दूसरी शुद्ध प्रेममार्गी शाखा (सूफियों की)।

पहली शाखा भारतीय ब्रह्मज्ञान को लेकर उपासना-क्षेत्र में अग्रसर हुई और सगुण के खंडन में उसी जोश के साथ तत्पर रही जिस जोश के साथ पैगंबरी मत बहुदेवोपासना और मूर्तिपूजा आदि के खंडन में रहता है। इस शाखा की रचनाएँ साहित्यिक नहीं हैं—स्फुट भजनों या पदों के रूप में हैं जिनकी भाषा और शैली अधिकतर अव्यवस्थित और ऊटपटाँग है। कबीर आदि दो एक प्रतिभासंपन्न संतों को छोड़ औरों में ज्ञानमार्ग की सुनी सुनाई बातों का पिष्टपेषण भद्दी तुकबंदियों में है। भक्तिरस में मग्न करनेवाली सरसता भी बहुत कम पाई जाती है। बात यह है कि इस पंथ का प्रभाव शिष्ट और शिक्षित जनता पर नहीं पड़ा क्योंकि उसके लिये न तो इस पंथ में कोई नई बात थी, न नया आकर्षण। संस्कृत बुद्धि, संस्कृत हृदय और संस्कृत वाणी का वह विकास इस शाखा में नहीं पाया जाता जो शिक्षित समाज को अपनी ओर आकर्षित करता। पर अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन संत महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडंबरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न कर इन्होंने उसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया। पाश्चात्यों ने इन्हें जो "धर्मसुधारक" की उपाधि दी है वह इसी बात को ध्यान में रखकर।

दूसरी शाखा शुद्धप्रेममार्गी सूफी कवियों की है जिनकी प्रेमगाथाएँ वास्तव में साहित्य-कोटि के भीतर आती हैं। इस शाखा के सब कवियों ने कल्पित कहानियों के द्वारा प्रेममार्ग का महत्व दिखाया है। इन साधक कवियों ने लौकिक प्रेम के बहाने उस 'प्रेमतत्व' का आभास दिया है जो प्रियतम ईश्वर से मिलानेवाला है। इन प्रेम कहानियों का विषय तो वही साधारण होता है अर्थात् किसी राजकुमार का किसी राजकुमारी के अलौकिक सौंदर्य की बात सुनकर उसके प्रेम में पागल होना और घर बार छोड़कर निकल पड़ना तथा अनेक कष्ट और आपत्तियाँ झेलकर अंत में उस राजकुमारी को प्राप्त करना। पर "प्रेम की पीर" की जो व्यंजना होती है वह ऐसे विश्वव्यापक रूप में होती है कि वह प्रेम इस लोक से परे दिखाई पड़ता है। इन प्रेम-प्रबंधों में खंडन मंडन की बुद्धि को किनारे रखकर मनुष्य के हृदय को स्पर्श करने का ही प्रयत्न किया गया है जिससे इनका प्रभाव हिंदुओं और मुसलमानों पर समान रूप से पड़ता है। बीच बीच में रहस्यमय परोक्ष की ओर जो मधुर संकेत मिलते हैं वे अत्यंत हृदयग्राही हैं। कबीर में जो थोड़ा बहुत रहस्यवाद मिलता है वह रूखा है। पर इन प्रेम-प्रबंधकारों ने जिस रहस्यवाद का आभास बीच बीच में दिया है उसके संकेत अत्यंत सुन्दर और मर्मस्पर्शी हैं। इन्होंने प्रबंधरचना के लिये दो बहुत ही सीधे और साधारण छंद चुने हैं—चौपाई और दोहा। चौपाई-दोहे का यही क्रम आगे चल कर गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी अपने जगत्प्रसिद्ध रामचरितमानस के लिये चुना। शुद्धप्रेममार्गी सूफी कवियों की शाखा में सब से प्रसिद्ध जायसी हुए जिनकी पद्मावत हिंदी काव्य क्षेत्र में एक अद्भुत रत्न है। इस संप्रदाय के सब कवियों ने पूरबी हिंदी अर्थात् अवधी का व्यवहार किया है जिसमें गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपना रामचरितमानस लिखा है।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, भक्ति के उत्थानकाल के भीतर हिंदी भाषा में कुछ विस्तृत रचना पहले पहल कबीर की ही मिलती है, अतः पहले निर्गुण संप्रदाय की ज्ञानाश्रयी शाखा का संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है जिसमें सर्वप्रथम कबीरदास जी सामने आते हैं।

(१) निर्गुण धारा

(क) ज्ञानाश्रयी शाखा

(१) कबीर—इनकी उत्पत्ति के संबंध में अनेक प्रकार के प्रवाद प्रचलित हैं। कहते हैं, काशी में स्वामी रामानंद का एक भक्त ब्राह्मण था जिसकी विधवा कन्या को स्वामी जी ने पुत्रवती होने का आशीर्वाद भूले से दे दिया। फल यह हुआ कि उसे एक बालक उत्पन्न हुआ जिसे वह लहरतारा के ताल के पास फेंक आई। अली या नीरू नाम का एक जुलाहा उस बालक को अपने घर उठा लाया और पालने लगा। यही बालक आगे चलकर कबीरदास हुआ। कबीर का जन्म-काल जेठ सुदी पूर्णिमा सोमवार विक्रम संवत् १४५६ माना जाता है। कहते हैं कि आरंभ से ही कबीर में हिंदू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति लक्षित होती थी जिसे उसके पालनेवाले माता पिता न दबा सके। वे 'राम राम' जपा करते थे और कभी कभी माथे में तिलक भी लगा लेते थे। इससे सिद्ध होता है कि उस समय में स्वामी रामानंद का प्रभाव खूब बढ़ रहा था जिससे छोटे बड़े, ऊँच नीच सब तृप्त हो रहे थे। अतः कबीर पर भी भक्ति का यह संस्कार बाल्यावस्था से ही यदि पड़ने लगा हो तो कोई आश्चर्य नहीं। रामानंद जी के माहात्म्य को सुनकर कबीर के हृदय में शिष्य होने की लालसा जगी होगी। ऐसा प्रसिद्ध है कि एक दिन वे एक पहर रात रहते ही उस (पंचगंगा) घाट की सीढ़ियों पर जा पड़े जहाँ से रामानंद जी स्नान करने के लिये उतरा करते थे। स्नान को जाते समय अँधेरे में रामानंद जी का पैर कबीर के ऊपर पड़ गया। रामानंद जी चट बोल उठे "राम राम कह"। कबीर ने इसी को गुरुमंत्र मान लिया और वे अपने को रामानंद जी का शिष्य कहने लगे। वे साधुओं का सत्संग भी रखते थे और जुलाहे का काम भी करते थे।

कबीरपंथ में मुसलमान भी हैं। उनका कहना है कि कबीर ने प्रसिद्ध सूफी मुसलमान फकीर शेख तकी से दीक्षा ली थी। वे उस सूफी फकीर को ही कबीर का गुरु मानते हैं *। आरंभ से ही कबीर हिंदूभाव की उपासना की ओर आकर्षित हो रहे थे। अतः उन दिनों, जब कि रामानंद जी की बड़ी धूम थी, अवश्य वे उनके सत्संग में भी सम्मिलित होते रहे होंगे। जैसा आगे कहा जायगा, रामानुज की शिष्य-परंपरा में होते हुए भी रामानंदजी भक्ति का एक अलग उदार मार्ग निकाल रहे थे जिसमें जातिपाँति का भेद और खानपान का आचार दूर कर दिया गया था। अतः इसमें कोई संदेह नहीं कि कबीर को 'राम नाम' रामानंद जी से ही प्राप्त हुआ। पर आगे चलकर कबीर के 'राम' रामानंद के 'राम' से भिन्न हो गए। अतः कबीर को वैष्णव संप्रदाय के अंतर्गत नहीं ले सकते। कबीर ने दूर दूर तक देशाटन किया और सूफी मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया जिससे उनकी प्रवृत्ति अद्वैतवाद की ओर दृढ़ हुई जिसके स्थूल रूप का कुछ परिज्ञान उन्हें रामानंद जी के सत्संग से पहले ही से था। फल यह हुआ कि कबीर के राम धनुर्धर साकार राम नहीं रह गए, वे ब्रह्म के पर्याय हुए—

"दसरथ-सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना।"

सारांश यह कि जो ब्रह्म हिंदुओं की विचार-पद्धति में ज्ञानमार्ग का निरूपण था वह सूफियों के प्रभाव से

---

* ऊँजी के पीर और शेख तकी चाहे कबीर के गुरु न रहे हों पर उन्होंने उनके सत्संग से बहुत सी बातें सीखीं इसमें कोई संदेह नहीं। कबीर ने शेख तकी का नाम लिया है पर उस आदर के साथ नहीं जिस आदर के साथ गुरु का नाम लिया जाता है, जैसे, "घटघट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख"। इस वचन में तो कबीर ही शेख तकी को उपदेश देते जान पड़ते हैं। कबीर ने मुसलमान फकीरों का भी सत्संग किया था, इसका उल्लेख उन्होंने किया है। वे झूसी, जौनपुर, मानिकपुर आदि गए थे जो मुसलमान फकीरों के प्रसिद्ध स्थान थे—

मानिकपुर हि कबीर बसेरी। मदहति सुनी सेख तकि केरी॥
ऊजी सुनी जौनपुर थाना। झूँसी सुनि पीरन के नामा॥

पर सबकी बातों का संचय करके भी अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी ज्ञानी या बड़ा मानने के लिये तैयार नहीं थे, सबको अपना ही वचन मानने को कहते थे—

सेख अकरदीं सकरदीं तुम मानहु वचन हमार।
आदि अंत औ जुग जुग देखहु दृष्टि पसार॥

प्रेम और उपासना का विषय हुआ। यद्यपि कबीर की बानी 'निर्गुण बानी' कहलाती है पर उपासना-क्षेत्र में ब्रह्म निर्गुण नहीं बना रह सकता। सेव्य-सेवक भाव में स्वामी में कृपा, क्षमा, औदार्य्य आदि गुणों का आरोप हो ही जाता है। इसी लिये कबीर के वचनों में कहीं तो निरुपाधि निर्गुण ब्रह्मसत्ता का संकेत मिलता है, जैसे—

पंडित मिथ्या करहु विचारा। ना वह सृष्टि न सिरजनहारा॥
जोति सरूप काल नहिं उहँवा, बचन न आहि सरीरा।
थूल अथूल पवन नहिं पावक रवि ससि धरनि न नीरा॥

और कहीं सर्ववाद की झलक मिलती है, जैसे—

आपुहि देवा आपुहि पाती। आपुहि कुल आपुहि है जाती॥

और कहीं भेदयुक्त ईश्वर की, जैसे—

साईं के सब जीव हैं कीरी कुंजर दोय।

सारांश यह कि कबीर में ज्ञानमार्ग की जहाँ तक बातें हैं वे सब हिंदू शास्त्रों का हैं जिनका संचय उन्होंने रामानंदजी के उपदेशों से किया। माया, जीव, ब्रह्म, तत्त्वमसि, आठ मैथुन (अष्ट मैथुन), त्रिकुटी, छः रिपु इत्यादि शब्दों का परिचय उन्हें अध्ययन द्वारा नहीं सत्संग द्वारा ही हुआ, क्योंकि वे, जैसा कि प्रसिद्ध है, कुछ पढ़े लिखे न थे। उपनिषद् की ब्रह्मविद्या के संबंध में वे कहते हैं—

तत्त्वमसी इनके उपदेसा। ई उपनीषद कहैं सँदेसा।
जागबलिक औ जनक सँबादा। दत्तात्रेय वहै रस स्वादा॥

यहीं तक नहीं, वेदांतियों के कनक-कुंडल न्याय आदि का व्यवहार भी इनके वचनों में मिलता है—

गहना एक कनक तें गहना, इन महँ भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ करि थापिन, इक निमाज, इक पूजा॥

इसी प्रकार वैष्णव संप्रदाय से उन्होंने अहिंसा का तत्त्व ग्रहण किया जो कि पीछे होनेवाले सूफी फकीरों को भी मान्य हुआ। हिंसा के लिये वे मुसलमानों को बराबर फटकारते रहे—

दिन भर रोजा रहत है राति हनत हैं गाय।
यह तो खून वह बंदगी, कैसे खुसी खुदाय।
अपनी देखि करत नहिं अहमक, कहत हमारे बड़न किया।
उसका खून तुम्हारी गरदन जिन तुमको उपदेश दिया॥
बकरी पाती खाति है ताकी काढ़ी खाल।
जो नर बकरी खात हैं तिनका कौन हवाल॥

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ज्ञानमार्ग की बातें कबीर ने हिंदू साधु-संन्यासियों से ग्रहण की जिनमें सूफियों के सत्संग से उन्होंने 'प्रेमतत्त्व' का मिश्रण किया और अपना एक अलग पंथ चलाया। उपासना के बाह्यस्वरूप पर आग्रह करनेवाले और कर्मकांड को प्रधानता देनेवाले पंडितों और मुल्लाओं दोनों को उन्होंने खरी खरी सुनाई और 'राम-रहीम' की एकता समझाकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना-विधि के कारण मनुष्य मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है उसे दूर करने का प्रयत्न उनकी वाणी बराबर करती रही। यद्यपि वे पढ़े लिखे न थे पर उनकी प्रतिभा बड़ी प्रखर थी जिससे उनके मुँह से बड़ी चुटीली और व्यंग्य-चमत्कारपूर्ण बातें निकलती थीं। इनकी युक्तियों में विरोध और असंभव का चमत्कार लोगों को बहुत आकर्षित करता था, जैसे-

है कोइ गुरुज्ञानी जगत महँ उलटि बेद बूझै।
पानी महँ पावक बरै, अंधहि आँखिन्ह सूझै॥
गाय तो नाहर को धरि खायो, हरिना खायो चीता।

अथवा—

नैया बिच नदिया डूबति जाय।

अनेक प्रकार के रूपकों और अन्योक्तियों द्वारा ही इन्होंने ज्ञान की बातें कही हैं, जो नई न होने पर भी वाग्वैचित्र्य के कारण अपढ़ लोगों को चकित किया करती थीं। अनूठी अन्योक्तियों द्वारा ईश्वर-प्रेम की व्यंजना सूफियों में बहुत प्रचलित थी। जिस प्रकार कुछ वैष्णवों में 'माधुर्य' भाव से उपासना प्रचलित थी उसी प्रकार सूफियों में भी ब्रह्म को सर्वव्यापी प्रियतम या माशूक मानकर हृदय के उद्गार प्रदर्शित करने की प्रथा थी जिसको कबीरदास ने ग्रहण किया। कबीर की वाणी में स्थान स्थान पर रहस्यवाद का जो झलक मिलती है वह सूफियों के सत्संग का प्रसाद है। कहीं इन्होंने ब्रह्म को खसम या पति मान कर अन्योक्ति बाँधी है और कहीं स्वामी या मालिक; जैसे—

मुझको क्या तू ढूँढ़े बंदे मै तो तेरे पास मे।

अथवा—

साँईं के सँग सासुर आई ॥

संग न सूती, स्वाद न माना, गा जीवन सपने की नाईं।
जना चारि मिलि लगन सुधायो, जना पाँच मिलि माँड़ो छायो।
भयो विवाह चली बिनु दूलह, बाट जात समधी समझाई॥

कबीर अपने श्रोताओं पर यह अच्छी तरह भासित करना चाहते थे कि हमने ब्रह्म का साक्षात्कार कर लिया है, इसी से वे प्रभाव डालने के लिये बड़ी लंबी चौड़ी गर्वोक्तियाँ भी कभी कभी कहते थे। कबीर ने मगहर में जाकर शरीर त्याग किया जहाँ इनकी समाधि अब तक बनी है। इनका मृत्युकाल संवत् १५७५ माना जाता है जिसके अनुसार इनकी आयु १२० वर्ष की ठहरती है। कहते हैं कि कबीरजी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य धर्मदास ने संवत् १५२१ में किया था जब कि उनके गुरु की आयु ६४ वर्ष की थी। कबीरजी की वचनावली की सब से प्राचीन प्रति, जिसका अब तक पता लगा है, संवत् १५६१ की लिखी है।

कबीर की वाणी का संग्रह बीजक के नाम से प्रसिद्ध है जिसके तीन भाग किए गए हैं—रमैनी, सबद और साखी। इसमें वेदांत-तत्व, हिंदू मुसलमानों को फटकार, संसार की अनित्यता, हृदय की शुद्धि, माया, छूआछूत, साधारण उपदेश आदि अनेक फुटकर प्रसंग हैं। भाषा मिली जुली है—खड़ी बोली, अवधी, पूरबी (बिहारी) आदि कई बोलियों का मेल है। ब्रजभाषा का पुट भी कहीं कहीं मिलता है, पर बहुत ही कम। भाषा सुसंस्कृत और साहित्यिक न होने पर भी प्रतिभा का चमत्कार इनकी उक्तियों में स्पष्ट पाया जाता है।

(२) धर्मदास—ये बांधवगढ़ के रहनेवाले और जाति के बनिये थे। बाल्यावस्था से ही इनके हृदय में भक्ति का अंकुर था और ये साधुओं का सत्संग, दर्शन, पूजा, तीर्थाटन आदि किया करते थे। मथुरा से लौटते समय कबीरदास के साथ इनका साक्षात्कार हुआ। उन दिनों संत समाज में कबीर की पूरी प्रसिद्धि हो चुकी थी। कबीर के मुख से मूर्त्तिपूजा, तीर्थाटन, देवार्चन आदि का खंडन सुनकर इनका झुकाव 'निर्गुण संत मत' की ओर हुआ। अंत में ये कबीर से सत्यनाम की दीक्षा लेकर उनके प्रधान शिष्यों में हो गए और संवत् १५७५ में कबीरदास के परलोकवास पर उनकी गद्दी इन्हीं को मिली। कहते हैं कि कबीरदास के शिष्य होने पर इन्होंने अपनी सारी संपत्ति, जो बहुत अधिक थी, लुटा दी। ये कबीरदास को गद्दी पर बीस वर्ष के लगभग रहे और अत्यंत वृद्ध होकर इन्होंने शरीर छोड़ा। इनकी शब्दावली का भी संतों में बड़ा आदर है। इनकी रचना थोड़ी होने पर भी कबीर की अपेक्षा अधिक सहृदयतापूर्ण है, उसमें कठोरता और कर्कशता नही है। इन्होंने पूरबी भाषा का ही व्यवहार किया है। इनकी अन्योक्तियों के व्यंग्य-चित्र अधिक मार्मिक हैं क्योंकि इन्होंने खंडन मंडन से विशेष प्रयोजन न रख प्रेमतत्त्व को ही लेकर अपनी वाणी का प्रसार किया है। उदाहरण के लिये कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

झरि लागै महलिया गगन घहराय।
खन गरजै, खन बिजुली चमकै, लहरि उठै, सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसैं, प्रेम अनंद ह्वै साधु नहाय॥
खुली केवरिया, मिटी अँधियरिया, धनि सतगुरु जिन दिया लखाय।
धरमदास विनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय॥

मितऊ मड़ैया सूनी करि गैलो।
अपन बलम परदेस निकरि गैलो, हमरा के किछुवौ न गुन दै गैलो।
जोगिन होइके मैं बन बन ढूँढ़ौं, हमरा के बिरह-वैराग दै गैलौ॥
संग की सखी सब पार उतरि गइली, हम धनि ठाढ़ी अकेली रहि गैलौं।
धरमदास यह अरज करतु है सार सबद सुमिरन दै गैलो॥

(३) गुरु नानक—गुरु नानक का जन्म सं० १५२६ कार्त्तिकी पूर्णिमा के दिन तिलवंडी ग्राम जिला लाहौर में हुआ। इनके पिता कालूचंद खत्री जिला लाहौर तहसील शरकपुर के तिलवंडी नगर के सूबा बुलार पठान के कारिंदा थे। इनकी माता का नाम तृप्ता था। नानक जी बाल्यावस्था से ही अत्यंत साधु स्वभाव के थे। सं० १५४५ में इनका विवाह गुरदासपुर के मूलचंद खत्री की कन्या सुलक्षणी से हुआ। सुलक्षणी से इनके दो पुत्र

श्रीचंद और लक्ष्मीचंद हुए। श्रीचंद आगे चलकर उदासी संप्रदाय के प्रवर्त्तक हुए।

नानक जी के पिता ने उन्हें व्यवसाय में लगाने का बहुत उद्योग किया पर वे सांसारिक व्यवहारों में दत्तचित्त न हुए। एक बार इनके पिता ने व्यवसाय के लिये कुछ धन दिया जिसको इन्होंने साधुओं और गरीबों को बाँट दिया। पंजाब में मुसलमान बहुत दिनों से बसे थे जिस से वहाँ उनके कट्टर एकेश्वरवाद का संस्कार धीरे धीरे प्रबल हो रहा था। लोग बहुत से देवी-देवताओं की उपासना की अपेक्षा एक ईश्वर की उपासना को महत्व और सभ्यता का चिह्न समझने लगे थे। शास्त्रों के पठन-पाठन का क्रम मुसलमानो के प्रभाव से प्रायः उठ गया था जिससे धर्म और उपासना के गूढ़ तत्त्व समझने की शक्ति नहीं रह गई थी। अतः जहाँ बहुत से लोग जबर-दस्ती मुसलमान बनाए जाते थे वहाँ कुछ लोग शौक़ से भी मुसलमान बनते थे। ऐसी दशा में कबीर द्वारा प्रवर्त्तित निर्गुण संतमत एक बड़ा भारी सहारा समझ पड़ा।

गुरु नानक आरंभ ही से भक्त थे अतः उनका ऐसे मत की ओर आकर्षित होना स्वाभाविक था जिसकी उपासना का स्वरूप हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को समान रूप से ग्राह्य हो। उन्होंने घरबार छोड़ बहुत दूर दूर के देशों में भ्रमण किया जिससे उपासना का सामान्य स्वरूप स्थिर करने में उन्हें बड़ी सहायता मिली। अंत में कबीरदास की निर्गुण उपासना का प्रचार उन्होंने पंजाब में आरंभ किया और वे सिख-संप्रदाय के आदि गुरु हुए। कबीरदास के समान वे भी कुछ विशेष पढ़े लिखे न थे, भक्तिभाव से पूर्ण होकर जो भजन गाया करते थे उनका संग्रह (संवत् १६६१) ग्रंथसाहब में किया गया है। ये भजन कुछ तो पंजाबी भाषा में हैं और कुछ देश की सामान्य काव्यभाषा हिंदी में हैं। यह हिंदी वही देश की काव्यभाषा या ब्रजभाषा है अथवा खड़ी बोली जिसमें कहीं कहीं पंजाबी के रूप भी आ गए हैं; जैसे—चल्या, रह्या। भक्ति या विनय के सीधे सादे भाव सीधी सादी भाषा में कहे गए हैं, कबीर के समान अशिक्षितों पर प्रभाव डालने के लिये टेढ़े मेढ़े रूपकों में नहीं। इससे इनकी प्रकृति की सरलता और अहंभावशून्यता का परिचय मिलता है। इनका देहांत संवत् १५९६ में हुआ। संसार की अनित्यता, भगवद्भक्ति और सत् स्वभाव के संबंध में उदाहरण स्वरूप दो पद दिए जाते हैं—

इस दम दा मैनू की बे भरोसा, आया आया, न आया न आया।
यह संसार रैन दा सुपना कहीं देखा, कहीं नाहिं दिखाया॥
सोच विचार करे मत मन मे जिसने ढूँढा उसने पाया।
नानक भक्तन दे पद परसे निस दिन रामचरन चित लाया॥

जो नर दुख में दुख नहिं मानै।
सुख सनेह अरु भय नहिं जाके कंचन माटी जानै।
नहिं निंदा नहिं अस्तुति जाके, लोभ मोह अभिमाना।
हरष सोक तें रहै नियारो, नाहिं मान अपमाना।
आसा मनसा सकल त्यागि कै जग तें रहै निरासा।
काम क्रोध जेहि परसै नाहिंन तेहि घट ब्रह्म-निवासा।
गुरु किरपा जेहि नर पै कीन्हीं तिन यह जुगुति पिछानी।
नानक लीन भयो गोविंद सों ज्यों पानी सँग पानी।

(४) दादू दयाल—यद्यपि सिद्धांत दृष्टि से दादू कबीर के मार्ग के ही अनुयायी हैं पर उन्होंने अपना एक अलग पंथ चलाया जो दादू पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। दादूपंथी लोग इनका जन्म संवत् १६०१ में गुजरात के अहमदाबाद नामक स्थान में मानते हैं। इनकी जाति के संबंध में भी मतभेद है। कुछ लोग इन्हें गुजराती ब्राह्मण मानते हैं और कुछ लोग मोची या धुनिया। कबीर साहब की उत्पत्ति-कथा से मिलती जुलती दादू-दयाल की उत्पत्ति-कथा भी दादूपंथी लोग कहते हैं। उनके अनुसार दादू बच्चे के रूप में साबरमती नदी में बहते हुए लोदीराम नामक एक नागर ब्राह्मण को मिले थे। चाहे जो हो, अधिकतर ये नीची जाति के ही माने जाते हैं। दादूदयाल का गुरु कौन था, यह ज्ञात नहीं। पर कबीर का इनकी पदावली में बहुत जगह नाम आया है और इसमें कोई संदेह नहीं कि ये उन्हीं के मतानुयायी थे।

दादूदयाल १४ वर्ष तक आमेर में रहे। वहाँ से मारवाड़, बीकानेर आदि स्थानों में घूमते हुए संवत्

१६५६ में नराना में (जयपुर से २० कोस दूर) आकर रह गए। वहाँ से तीन चार कोस पर भराने की पहाड़ी है। वहाँ भी ये अंतिम समय में कुछ दिनों तक रहे और वहीं संवत् १६६० में शरीर छोड़ा। यह स्थान दादू-पंथियों का प्रधान अड्डा है और वहाँ उनके कपड़े और पोथियाँ अब तक रखी हैं। और निर्गुणपंथियों के समान दादूपंथी लोग भी अपने को निरंजन निराकार का उपासक बताते हैं। ये लोग न तिलक लगाते है न कंठी पहनते हैं, हाथ में एक सुमिरनी रखते हैं और 'सत्तराम' कहकर अभिवादन करते हैं।

इनकी बानी अधिकतर कबीर की साखी से मिलते जुलते दोहों में है, कहीं कहीं गाने के पद भी हैं। भाषा मिली जुली पच्छिमी हिंदी है जिसमें राजस्थानी का मेल भी है। इन्होंने कुछ पद गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी में भी कहे हैं। कबीर के समान पूरबी हिंदी का व्यवहार इन्होंने नहीं किया है। इनकी रचना में अरबी फारसी के शब्द अधिक आए हैं। निर्गुण मत की बानियों में खड़ी बोली की क्रियाओं की ओर सामान्यतः अधिक झुकाव पाया जाता है। यह बात दादू की रचना में भी है। दादू की बानी में यद्यपि उक्तियों का वह चमत्कार नहीं है जो कबीर की बानी में मिलता है, पर प्रेम भाव का निरूपण अधिक सरस और गंभीर है। कबीर के समान खंडन और वाद विवाद से इन्हें रुचि नहीं थी। इनकी बानी में भी वे ही प्रसंग हैं जो निर्गुणमार्गियों की बानियों में साधारणतः आया करते हैं, जैसे, ईश्वर की व्यापकता, सतगुरु की महिमा, जाति पाँति का निराकरण, हिंदू मुसलमानों का अभेद, संसार की अनित्यता, आत्मबोध इत्यादि। इनकी रचना का कुछ अनुमान नीचे उद्धृत पद्यों से हो सकता है—

घीव दूध में रमि रह्यो व्यापक सब ही ठौर।
दादू बकता बहुत हैं, मथि काढ़ैं ते और॥
यह मसीत यह देहरा सतगुरु दिया दिखाइ।
भीतर सेवा बंदगी बाहिर काहे जाइ॥
दादू देख दयाल को सकल रहा भरपूर।
रोम रोम में रमि रह्या, तू जनि जानै दूर॥
केते पारिख पचि मुए कीमति कही न जाइ।
दादू सब हैरान हैं गूँगे का गुड़ खाइ॥
जब मन लागे राम सों तब अनत काहे को जाइ।
दादू पाणी लूण ज्यों ऐसै रहै समाइ॥

भाई रे! ऐसा पंथ हमारा।
द्वै पख रहित पंथ गह पूरा अवरण एक अधारा।
बाद विवाद काहु सौं नाहीं मैं हूँ जग थें न्यारा।
सम दृष्टी सूँ भाई सहज में आपहि आप बिचारा।
मैं, तै, मेरी, यह मति नाही निरबैरी निरबिकारा।
काम कलपना कदे न कीजे पूरण ब्रह्म पियारा।
एहि पथ पहुँचि पार गहि दादू, सो तत सहज सँभारा॥

(५) **सुंदरदास**—ये खंडेलवाल बनिए थे और चैत्र शुक्ल ६ संवत् १६५३ में द्यौसा नामक स्थान में (जयपुर राज्य) उत्पन्न हुए थे। इनके पिता का नाम परमानंद और माता का सती था। जब ये ६ वर्ष के थे तब दादूदयाल द्यौसा में गए थे। तभी से ये दादूदयाल के शिष्य हो गए और उनके साथ रहने लगे। संवत् १६६० में दादूदयाल का देहांत हुआ। तब तक ये नराना में रहे। फिर जगजीवन साधु के साथ अपने जन्मस्थान द्यौसा में आ गए। वहाँ संवत् १६६३ तक रहकर फिर जगजीवन के साथ काशी चले आए। वहाँ तीस वर्ष की अवस्था तक ये संस्कृत व्याकरण, वेदांत और पुराण आदि पढ़ते रहे। संस्कृत के अतिरिक्त ये फारसी भी जानते थे। काशी से लौटने पर ये राजपुताने के फतहपुर (शेखावाटी) नामक स्थान में आ रहे। वहाँ के नवाब अलिफखाँ इन्हें बहुत मानते थे। इनका देहांत कार्त्तिक शुक्ल ८ संवत् १७४६ में साँगानेर में हुआ।

इनका डील डौल बहुत अच्छा, रंग गोरा और रूप बहुत सुंदर था। स्वभाव अत्यंत कोमल और मृदुल था। ये बाल ब्रह्मचारी थे, और स्त्री की चर्चा से सदा दूर रहते थे। निर्गुण पंथियों में ये ही एक ऐसे व्यक्ति हुए हैं जिन्हें समुचित शिक्षा मिली थी और जो काव्यकला की रीति आदि से अच्छी तरह परिचित थे। अतः इनकी रचना साहित्यिक और सरस है। भाषा भी काव्य की

मँजी हुई ब्रजभाषा है। भक्ति और ज्ञानचर्चा के अतिरिक्त नीति और देशाचार आदि पर भी इन्होंने बड़े सुंदर पद्य कहे हैं। और संतों ने केवल गाने के पद और दोहे कहे हैं, पर इन्होंने सिद्धहस्त कवियों के समान बहुत से कवित्त और सवैये रचे है। यों तो छोटे मोटे इनके अनेक ग्रंथ हैं, पर 'सुंदरविलास' ही सबसे अधिक प्रसिद्ध है जिसमें कवित्त, सवैये ही अधिक है। इन कवित्त-सवैयों में यमक अनुप्रास और अर्थालंकार आदि की योजना बराबर मिलती है। इनकी रचना काव्य-पद्धति के अनुसार होने के कारण और संतों की रचना से भिन्न प्रकार की दिखाई पड़ती है। संत तो ये थे ही पर कवि भी थे इससे समाज की रीति नीति और व्यवहार आदि पर भी पूरी दृष्टि रखते थे। भिन्न भिन्न प्रदेशों के आचार पर इनकी बड़ी विनोदपूर्ण उक्तियाँ हैं, जैसे गुजरात पर—"आभड़ छोत अतीत सों होत बिलार औ कूकर चाटत हाँड़ी"; मारवाड़ पर—"बृच्छ न नीर न उत्तम चीर सुदेसन में गत देस है मारू"। दक्षिण पर—"राँधत प्याज, बिगारत नाज, न आवत लाज करैं सबं भच्छन"। पूरब के देस पर—"बाम्हन छत्रिय बैस रु सूदर चारोइ बर्न के मच्छ बघारत"।

इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

गेह तज्यो अरु नेह तज्यो पुनि खेह लगाय कै देह सँवारी।
मेह सहे सिर, सीत सहे तन, धूप समै जो पँचागिनि बारी॥
भूख सही रहि रूख तरे, पर सुंदरदास सबै दुख भारी।
डासन छाँड़िकै कासन ऊपर आसन मार्‌यौ, पै आस न मारी॥

व्यर्थ की तुकबंदी और ऊटपटांग बानी इनको रुचिकर न थी। इसका पता इनके इस कवित्त से लगता है—

बोलिए तौ तब जब बोलिबे की बुद्धि होय,
ना तौ मुख मौन गहि चुप होय रहिए।
जोरिए तौ तब जब जोरिबे की रीति जानै,
तुक छंद अरथ अनूप जामें लहिए॥
गाइए तौ तब जब गायबे को कंठ होय,
श्रवण के सुनत ही मनै जाय गहिए।
तुकभंग, छंदभंग, अरथ मिलै न कछु,
सुंदर कहत ऐसी बानी नहिं कहिए॥

सुशिक्षा द्वारा विस्तृत दृष्टि प्राप्त होने से इन्होंने और निर्गुणवादियों के समान लोकधर्म की उपेक्षा नहीं की है। पातिव्रत्य का पालन करनेवाली स्त्रियों, रणक्षेत्र में कठिन कर्त्तव्य पालन करनेवाले शूरवीरों आदि के प्रति इनके विशाल हृदय में सम्मान के लिये पूरी जगह थी। दो उदाहरण अलम् हैं—

पति ही सूँ प्रेम होय, पति ही सूँ नेम होय,
पति ही सूँ छेम होय, पति ही सूँ रत है।
पति ही है जज्ञ जोग, पति ही है रस भोग,
पति ही सूँ मिटै सोग, पति ही को जत है॥
पति ही है ज्ञान ध्यान, पति ही है पुन्यदान,
पति ही है तीर्थ न्हान पति ही को मत है।
पति बिनु पति नाहिं, पति बिनु गति नाहिं,
सुंदर सकल बिधि एक पतिव्रत है॥

———

सुनत नगारे चोट बिगसै कमलमुख,
अधिक उछाह फूल्यो मात है न तन में।
फेरै जब साँग तब कोऊ नहिं धीर धरै,
कायर कँपायमान होत देखि मन में॥
कूदि के पतंग जैसे परत पावक माहिं,
ऐसे टूटि परैं बहु सावत के गन में।
मारि घमसान करि सुंदर जुहारे स्याम,
सोई सूरबीर रुपि रहै जाय रन में॥

इसी प्रकार इन्होंने जो सृष्टि तत्त्व आदि विषय कहे हैं वे भी औरों के समान मनमाने और ऊटपटाँग नहीं हैं, शास्त्र के अनुकूल हैं। उदाहरण के लिये नीचे का पद्य लीजिए जिसमें ब्रह्म के आगे और सब क्रम सांख्य के अनुकूल है—

ब्रह्म तें पुरुष अरु प्रकृति प्रगट भई,
प्रकृति तें महत्तत्त्व पुनि अहंकार है।
अहंकार हू तें तीन गुण सत रज तम,
तमहू तें महाभूत विषय-पसार है॥
रजहू तें इंद्री दस पृथक् पृथक् भईं,
सत्त हू तें मन आदि देवता विचार है।
ऐसे अनुक्रम करि सिष्य सूँ कहत गुरु,
सुंदर सकल यह मिथ्या भ्रम जार है॥

(६) **मलूकदास**—मलूकदास का जन्म लाला सुंदरदास खत्री के घर में वैशाख कृष्ण ५ संवत् १६३१ में कड़ा जिला इलाहाबाद में हुआ। इनकी मृत्यु १०८ वर्ष की अवस्था में संवत् १७३९ में हुई। ये औरंगजेब के समय में दिल के अंदर खोजनेवाले निर्गुण मत के नामी संतों में हुए हैं और इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान, पटना, नैपाल और काबुल तक में कायम हुई। इनके संबंध में बहुत से चमत्कार या करामातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि एक बार इन्होंने एक डूबते हुए शाही जहाज को पानी के ऊपर उठाकर बचा लिया था और रुपयों का तोड़ा गंगा जी में तैराकर कड़े से इलाहाबाद भेजा था।

आलसियों का यह मूल मंत्र—

अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कहि गए सबके दाता राम॥

इन्हीं का है। इनकी दो पुस्तकें प्रसिद्ध हैं—रत्नखान और ज्ञानबोध। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को उपदेश देने में प्रवृत्त होने के कारण दूसरे निर्गुणमार्गी संतों के समान इनकी भाषा में भी फारसी और अरबी शब्दों का बहुत प्रयोग है। इसी दृष्टि से बोलचाल की खड़ी बोली का पुट इन सब संतों की बानी में एक सा पाया जाता है। इन सब लक्षणों के होते हुए भी इनकी भाषा सुव्यवस्थित और सुंदर है। कहीं कहीं अच्छे कवियों का सा पद-विन्यास और कवित्त आदि छंद पाए जाते हैं। कुछ पद्य बिलकुल खड़ी बोली में है। आत्मबोध, वैराग्य, प्रेम आदि पर इनकी बानी बड़ी मनोहर है। दिग्दर्शन मात्र के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

अब तो अजपा जपु मन मेरे।
सुर नर असुर टहलुवा जाके मुनि गंधर्व हैं जाके चेरे।
दस औतार देखि मत भूलौ, ऐसे रूप घनेरे।
अलख पुरुष के हाथ बिकाने जब तें नैननि हेरे।
कह मलूक तू चेत अचेता काल न आवै नेरे॥

नाम हमारा खाक है, हम खाकी बंदे।
खाकहि से पैदा किए अति गाफिल गंदे॥
कबहूँ न करते बंदगी, दुनिया में भूले।
आसमान को ताकते घोड़े चढ़ फूले॥

सबहिन के हम सबै हमारे। जीव जंतु मोहिं लगैं पियारे॥
तीनों लोक हमारी माया। अंत कतहुँ से कोई नहिं पाया॥
छत्तिस पवन हमारी जाति। हमहीं दिन औ हमहीं राति॥
हमहीं तरवर कीट पतंगा। हमहीं दुर्गा, हमहीं गंगा॥
हमहीं मुल्ला, हमहीं काजी। तीरथ बरत हमारी बाजी॥
हमहीं दसरथ, हमहीं राम। हमरै क्रोध औ हमरै काम॥
हमही रावन, हमहीं कंस। हमहीं मारा अपना बंस॥

(७) **अक्षर अनन्य**—संवत् १७१० में इनके वर्तमान रहने का पता लगता है। ये दतिया रियासत के अंतर्गत सेनुहरा के कायस्थ थे और कुछ दिनों तक दतिया के राजा पृथ्वीचंद के दीवान थे। पीछे ये विरक्त होकर पन्ना में रहने लगे। प्रसिद्ध छत्रसाल इनके शिष्य हुए। एक बार वे छत्रसाल से किसी बात पर अप्रसन्न होकर जंगल में चले गए। पता लगने पर जब महाराज छत्रसाल क्षमा-प्रार्थना के लिये इनके पास गए तब इन्हें एक झाड़ी के पास खूब पैर फैलाकर लेटे हुए पाया। महाराज ने पूछा "पाँव पसारा कब से?" चट उत्तर मिला—"हाथ समेटा जब से"। ये विद्वान् थे और वेदांत के अच्छे ज्ञाता थे। इन्होंने योग और वेदांत पर कई ग्रंथ राजयोग, विज्ञानयोग, ध्यानयोग, सिद्धांतबोध, विवेकदीपिका, ब्रह्मज्ञान, अनन्यप्रकाश आदि लिखे और दुर्गा सप्तशती का भी हिंदी पद्यों में अनुवाद किया। राजयोग के कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यह भेद सुनौ पृथिचंदराय। फल चारहु को साधन उपाय॥
यह लोक सधै सुख पुत्र बाम। परलोक नसै बस नरकधाम॥
परलोक लोक दोउ सधै जाय। सोइ राजजोग सिद्धांत आय॥
निज राज जोग ज्ञानी करंत। हठि मूढ़ धर्म साधत अनंत॥

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, निर्गुणमार्गी संत कवियों की परंपरा में थोड़े ही ऐसे हुए हैं जिनकी रचना साहित्य के अंतर्गत आ सकती है। शिक्षितों का समावेश कम होने से इनकी बानी अधिकतर सांप्रदायिकों के ही काम की है। उसमें मानवजीवन की भावनाओं की वह विस्तृत व्यंजना नहीं है जो साधारण जनसमाज को

आकर्षित कर सके। इस प्रकार के संतों की परंपरा यद्यपि बराबर चलती रही और नए नए पंथ भी निकलते रहे पर देश के सामान्य साहित्य पर उनका कोई प्रभाव न रहा। दादूदयाल की शिष्य-परंपरा में जगजीवनदास या जगजीवन साहब हुए जो संवत् १८१८ के लगभग वर्त्तमान थे। ये चंदेल ठाकुर थे और कोटवा (बाराबंकी) के निवासी थे। इन्होंने अपना एक अलग 'सत्यनामी' संप्रदाय चलाया। इनकी बानी में साधारण ज्ञान-चर्चा है। इनके शिष्य दूलमदास हुए जिन्होंने एक शब्दावली लिखी। उनके शिष्य तोंवरदास और पहलवानदास हुए। तुलसी साहब, गोविंद साहब, भीखा साहब, पलटू साहब आदि अनेक सत हुए हैं। प्रयाग के बलवेडियर प्रेस ने इस प्रकार के बहुत से संतों की बानियाँ प्रकाशित की हैं।

(ख) प्रेममार्गी (सूफी) शाखा।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस काल के निर्गुणोपासक भक्तों की दूसरी शाखा उन सूफी कवियों की है जिन्होंने प्रेमगाथाओं के रूप में उस प्रेमतत्व का वर्णन किया है जो ईश्वर को मिलानेवाला है तथा जिसका आभास लौकिक प्रेम के रूप में मिलता है। इस संप्रदाय के साधु कवियों का अब वर्णन किया जाता है—

(१) कुतबन—ये चिश्ती वंश के शेख़ बुरहान के शिष्य थे और शेरशाह के पिता हुसैनशाह के आश्रित थे। अतः इनका समय विक्रम की सोलहवीं शताब्दी का मध्यभाग (संवत १५५०) था। इन्होंने 'मृगावती' नाम की एक कहानी चौपाई-दोहे के क्रम से सन् ९०९ हिजरी (संवत् १५५८ में) लिखी जिसमें चंद्रनगर के राजा गणपति देव के राजकुमार और कंचनपुर के राजा रूपमुरारि की कन्या मृगावती की प्रेम-कथा का वर्णन है। इस कहानी के द्वारा कवि ने प्रेममार्ग के त्याग और कष्ट का निरूपण करके साधक के भगवत्प्रेम का स्वरूप दिखाया है। बीच बीच में सूफियों की शैली पर बड़े सुंदर रहस्यमय आध्यात्मिक आभास हैं।

कहानी का सारांश यह है। चंद्रगिरि के राजा गणपति देव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरारि की मृगावती नाम की राजकुमारी पर मोहित हुआ। यह राजकुमारी उड़ने की विद्या जानती थी। अनेक कष्ट झेलने के उपरांत राजकुमार उसके पास तक पहुँचा। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर कहीं उड़ गई। राजकुमार उसकी खोज में योगी होकर निकल पड़ा। समुद्र से घिरी एक पहाड़ी पर पहुँच कर उसने रुकमिनी नाम की एक सुंदरी को एक राक्षस से बचाया। उस सुंदरी के पिता ने राजकुमार के साथ उसका विवाह कर दिया। अंत में राजकुमार उस नगर में पहुँचा जहाँ अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर मृगावती राज्य कर रही थी। वहाँ वह १२ वर्ष रहा। पता लगने पर राजकुमार के पिता ने घर बुलाने के लिये दूत भेजा। राजकुमार पिता का सँदेसा पाकर मृगावती के साथ चल पड़ा और उसने मार्ग में रुकमिनी को भी ले लिया। राजकुमार बहुत दिनों तक आनंदपूर्वक रहा पर अंत में आखेट के समय हाथी से गिरकर मर गया। उसकी दोनों रानियाँ प्रिय के मिलने की उत्कंठा में बड़े आनंद के साथ सती हो गईं—

> रुकमिनि कि पुनि वैसहि मरि गई।
> कुलवंती सत सों सति भई॥
> बाहर वह भीतर वह होई।
> घर बाहर को रहै न जोई॥
> बिधि कर चरित न जानै आनू।
> जो सिरजा सो जाहि निआनू॥

(२) मंझन—इनके संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल इनकी रची मधुमालती की एक खंडित प्रति मिली है जिससे इनकी कोमल कल्पना और स्निग्ध सहृदयता का पता लगता है। मृगावती के समान मधुमालती में भी पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के उपरांत एक दोहे का क्रम रखा गया है। पर मृगावती की अपेक्षा इसकी कल्पना भी विशद है और वर्णन भी अधिक विस्तृत और हृदयग्राही हैं। आध्यात्मिक प्रेमभाव की व्यंजना के लिये भी प्रकृति के अधिक दृश्यों

का समावेश मंझन ने किया है। कहानी भी कुछ अधिक जटिल और लंबी है जो अत्यंत संक्षेप में नीचे दी जाती है।

कनेसर नगर के राजा सूरजभान के पुत्र मनोहर नामक एक सोए हुए राजकुमार को अप्सराएँ रातो-रात महारस नगर की राजकुमारी मधुमालती की चित्र-सारी में रख आईं। वहाँ जागने पर दोनों का साक्षात्कार हुआ और दोनों एक दूसरे पर मोहित हो गए। पूछने पर मनोहर ने अपना परिचय दिया और कहा—"मेरा अनुराग तुम्हारे ऊपर कई जन्मों का है इससे जिस दिन मैं इस संसार में आया उसी दिन से तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में उत्पन्न हुआ।" बातचीत करते करते दोनों एक साथ सो गए और अप्सराएँ राजकुमार को उठाकर फिर उसके घर पर रख आईं। दोनों जब अपने अपने स्थान पर जगे तब प्रेम में बहुत व्याकुल हुए। राजकुमार वियोग से विकल होकर घर से निकल पड़ा और उसने समुद्र के मार्ग से यात्रा की। मार्ग में तूफान आया जिसमें इष्ट-मित्र इधर उधर बह गए। राजकुमार एक पटरे पर बहता हुआ एक जंगल में जा लगा, जहाँ एक स्थान पर एक सुंदरी स्त्री पलंग पर लेटी दिखाई पड़ी। पूछने पर जान पड़ा कि वह चितबिसराम-पुर के राजा चित्रसेन की कुमारी प्रेमा थी जिसे एक राक्षस उठा लाया था। मनोहर कुमार ने उस राक्षस को मारकर प्रेमा का उद्धार किया। प्रेमा ने मधुमालती का पता बताकर कहा कि मेरी वह सखी है, मैं उसे तुझसे मिला दूँगी। मनोहर को लिये हुए प्रेमा अपने पिता के नगर में आई। मनोहर के उपकार को सुनकर प्रेमा का पिता उसका विवाह मनोहर के साथ करना चाहता है। पर प्रेमा यह कहकर अस्वीकार करती है कि मनोहर मेरा भाई है और मैंने उसे उसकी प्रेमपात्री मधुमालती से मिलाने का वचन दिया है।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता रूपमंजरी के साथ प्रेमा के घर आई और प्रेमा ने उसके साथ मनोहर कुमार का मिलाप करा दिया। सबेरे रूपमंजरी ने चित्र-सारी में जाकर मधुमालती को मनोहर के साथ पाया। जगने पर मनोहर ने तो अपने को दूसरे स्थान में पाया और रूपमंजरी अपनी कन्या को भला बुरा कहकर मनोहर का प्रेम छोड़ने को कहने लगी। जब उसने न माना तब माता ने शाप दिया कि तू पक्षी हो जा। जब वह पक्षी होकर उड़ गई तब माता बहुत पछताने और बिलाप करने लगी, पर मधुमालती का कहीं पता न लगा। मधुमालती उड़ती उड़ती बहुत दूर निकल गई। कुँवर ताराचंद नाम के एक राजकुमार ने उस पक्षी की सुंदरता देख उसे पकड़ना चाहा। मधुमालती को ताराचंद का रूप मनोहर से कुछ मिलता जुलता दिखाई दिया इससे वह कुछ रुक गई और पकड़ ली गई। ताराचंद ने उसे एक सोने के पिंजरे में रखा। एक दिन पक्षी—मधुमालती—ने प्रेम की सारी कहानी ताराचंद से कह सुनाई जिसे सुन कर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं तुझे तेरे प्रियतम मनोहर से अवश्य मिलाऊँगा। अंत में वह उस पिंजरे को लेकर महारस नगर में पहुँचा। मधुमालती की माता अपनी पुत्री को पाकर बहुत प्रसन्न हुई और उसने मंत्र पढ़कर उसके ऊपर जल छिड़का। वह फिर पक्षी से मनुष्य हो गई। मधुमालती के माता पिता ने ताराचंद के साथ मधुमालती का ब्याह करने का विचार प्रकट किया। पर ताराचंद ने कहा कि "मधुमालती मेरी बहिन है और मैंने उससे प्रतिज्ञा की है कि मैं जैसे होगा वैसे मनोहर से मिलाऊँगा"। मधुमालती की माता सारा हाल लिखकर प्रेमा के पास भेजती है। मधुमालती भी उसे अपने चित्त की दशा लिखती है। वह दोनों पत्रों को लिए हुए दुःख कर रही थी कि इतने में उसकी एक सखी आकर संवाद देती है कि राजकुमार मनोहर योगी के वेश में आ पहुँचा है। मधुमालती का पिता अपनी रानी सहित दल बल के साथ राजा चित्रसेन (प्रेमा के पिता) के नगर में जाता है और वहाँ मधुमालती और मनोहर का विवाह हो जाता है। मनोहर, मधुमालती और ताराचंद तीनों बहुत दिनों तक प्रेमा के यहाँ अतिथि रहते हैं। एक दिन आखेट से लौटने पर ताराचंद प्रेमा और मधुमालती को एक साथ झूला झूलते देख प्रेमा पर मोहित होकर मूर्च्छित हो जाता है। मधुमालती और उसकी सखियाँ उपचार में लग जाती हैं।

इसके आगे प्रति खंडित है। पर कथा के झुकाव से अनुमान होता है कि प्रेमा और ताराचंद का भी विवाह हो गया होगा।

कवि ने नायक और नायिका के अतिरिक्त उपनायक और उपनायिका की भी योजना करके कथा को तो विस्तृत किया ही है, साथ ही प्रेमा और ताराचंद के चरित्र द्वारा सच्ची सहानुभूति, अपूर्व संयम और निःस्वार्थ भाव का चित्र दिखाया है। जन्म-जन्मांतर और योन्यंतर के बीच प्रेम की अखंडता दिखाकर मंझन ने प्रेमतत्त्व की व्यापकता और नित्यता का आभास दिया है। सूफियों के अनुसार यह सारा जगत् एक ऐसे रहस्यमय प्रेम-सूत्र में बँधा है जिसका अवलंबन करके जीव उस प्रेममूर्त्ति तक पहुँचने का मार्ग पा सकता है। सूफी सब रूपों में उसकी छिपी ज्योति देखकर मुग्ध होते हैं, जैसा कि मंझन कहते हैं—

देखत ही पहिचानेउ तोहीं। एही रूप जेहि छँदर्यो मोही।
एही रूप बुत अहै छपाना। एही रूप रब सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती औ सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ॥
एही रूप प्रगटे बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

ईश्वर का विरह सूफियों के यहाँ भक्त की प्रधान-संपत्ति है जिसके बिना साधना के मार्ग में कोई प्रवृत्त नहीं हो सकता, किसी की आँखें नहीं खुल सकतीं—

बिरह-अवधि अवगाह अपारा। कोटि माहिं एक परै त पारा॥
बिरह कि जगत अँबिरथा जाही?। बिरह-रूप यह सृष्टि सबाही॥
नैन बिरह-अंजन जिन सारा। बिरह रूप दरपन संसारा॥
कोटि माहिं बिरला जग कोई। जाहि सरीर बिरह दुख होई॥

रतन कि सागर सागरहि? गजमोती गज कोइ।
चँदन कि बन बन उपजै, बिरह कि तन तन होइ?

जिसके हृदय में यह विरह होता है उसके लिये यह संसार स्वच्छ दर्पण हो जाता है और इसमें परमात्मा के आभास अनेक रूपों में पड़ते हैं। तब वह देखता है कि इस सृष्टि के सारे रूप, सारे व्यापार उसी का विरह प्रकट कर रहे हैं। ये भाव प्रेममार्गी सूफी संप्रदाय के सब कवियों में पाए जाते हैं। मंझन की रचना का यद्यपि ठीक ठीक संवत् नहीं ज्ञात हो सका है पर यह निस्संदेह है कि इसकी रचना विक्रम संवत् १५५० और १५९५ (पद्मावत का रचना-काल) के बीच में और बहुत संभव है कि मृगावती के कुछ पीछे हुई। इस शैली के सबसे प्रसिद्ध और लोकप्रिय ग्रंथ "पद्मावत" में जायसी ने अपने पूर्व के बने हुए इस प्रकार के काव्यों का संक्षेप में उल्लेख किया है—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा॥
मधूपाछ मुगधावति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कहँ जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खंडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कहँ सुरपुर साधा। उषा लागि अनिरुध बर-बाँधा॥

इन पद्यों में जायसी के पहले के चार काव्यों का उल्लेख है—मुग्धावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष दो अभी नहीं मिले हैं। जिस क्रम से ये नाम आए हैं वह यदि रचना काल के क्रम के अनुसार माना जाय तो मधुमालती की रचना कुतबन की मृगावती के पीछे की ठहरती है।

(३) मलिक मुहम्मद जायसी—ये प्रसिद्ध सूफी फकीर शेख़ मोहिदी (मुहीउद्दीन) के शिष्य थे और जायस में रहते थे। इन्होंने शेरशाह के समय में अर्थात् संवत् १५९७ के लगभग अपने प्रसिद्ध ग्रंथ पद्मावत की रचना की थी। इन्होंने पुस्तक के आरंभ में रचना काल इस प्रकार दिया है—

सन् नौ सौ सैंतालिस अहा। कथा अरंभि बैन कबि कहा॥

और शेरशाह सूर की बड़ी प्रशंसा की है—

शेरशाह दिल्ली सुलतानू। चारहु खंड तपै जस भानू॥
ओही छाज राज औ पाटू। सब राजै भुइ धरा ललाटू॥

'पद्मावत' की हस्तलिखित प्रतियाँ अधिकतर फारसी अक्षरों में मिली हैं अतः बहुत से लोगों ने सन् ९२७ पढ़ा है, जो शेरशाह के राजत्वकाल से मेल नहीं खाता। 'पद्मावत' का जो एक पुराना अनुवाद बंग-भाषा में मिलता है, उसमें भी ९२७ ही दिया हुआ है। इससे कुछ लोग अनुमान करते हैं कि कदाचित् जायसी ने ग्रंथ ९२७में आरंभ किया हो पर किसी कारण वह रह

गया हो; पीछे शेरशाह के समय में पूरा किया गया हो। पर ऐसा अनुमान संगत नहीं प्रतीत होता। फारसी अक्षरों में "नौ सै सैंतालिस" का "नौसै सत्ताइस" पढ़ा जाना कोई असाधारण बात नहीं।

जायसी अपने समय के सिद्ध फकीरों में गिने जाते थे। अमेठी के राजघराने में इनका बहुत मान था क्योंकि इनकी दुआ से अमेठी के राजा को पुत्र हुआ था। इनकी कब्र अमेठी के राजा के कोट के सामने अब तक है। इस से जान पड़ता है कि इन्होंने वहीं शरीर छोड़ा था। ये काने और देखने में कुरूप थे। कोई राजा इनके रूप को देखकर हँसा। इस पर ये बोले "मोहिका हँसेसि कि कोहरहि?" इनके समय में ही इनके शिष्य फकीर इनके बनाए भावपूर्ण दोहे चौपाइयाँ गाते फिरते थे। इन्होंने दो पुस्तकें लिखीं—एक तो प्रसिद्ध 'पदमावत' और दूसरी 'अखरावट'। 'अखरावट' में वर्णमाला के एक एक अक्षर को लेकर सिद्धांत संबंधी तत्त्वों से भरी चौपाइयाँ कही गई हैं। इस छोटी सी पुस्तक में ईश्वर, सृष्टि, जीव, ईश्वर-प्रेम आदि विषयों पर विचार प्रकट किए गए हैं। पर जायसी की अक्षय कीर्ति का आधार है पदमावत, जिसके पढ़ने से यह प्रकट हो जाता है कि जायसी का हृदय कैसा कोमल और "प्रेम की पीर" से भरा हुआ था। क्या लोकपक्ष में क्या अध्यात्मपक्ष में दोनों ओर उसकी गूढ़ता, गंभीरता और सरसता विलक्षण दिखाई देती है।

कबीर ने अपनी झाड़ फटकार के द्वारा हिंदुओं और मुसलमानों का कट्टरपन दूर करने का जो प्रयत्न किया वह अधिकतर चिढ़ानेवाला सिद्ध हुआ, हृदय को स्पर्श करनेवाला नहीं। "मनुष्य मनुष्य के बीच जो रागात्मक संबंध है वह उसके द्वारा व्यक्त न हुआ। अपने नित्य के जीवन में जिस हृदय-साम्य का अनुभव मनुष्य कभी कभी किया करता है उसकी अभिव्यंजना उससे न हुई। कुतबन जायसी आदि इन प्रेम-कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन-दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिंदू-हृदय और मुसलमान हृदय आमने सामने करके अजनबीपन मिटानेवालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमान होकर हिंदुओं की कहानियाँ हिंदुओं ही की बोली में पूरी सहृदयता से कहकर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिणी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामंजस्य दिखा दिया। कबीर ने केवल भिन्न प्रतीत होती हुई परोक्ष सत्ता की एकता का आभास दिया था। प्रत्यक्ष जीवन की एकता का दृश्य सामने रखने की आवश्यकता बनी थी। यह जायसी द्वारा पूरी हुई।

'पदमावत' में प्रेमगाथा की परंपरा पूर्ण प्रौढ़ता को प्राप्त मिलती है। यह उस परंपरा में सब से अधिक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसकी कहानी में भी विशेषता है। इसमें इतिहास और कल्पना का योग है। चित्तौर की महारानी पद्मिनी या पद्मावती का इतिहास हिंदू-हृदय के मर्म को स्पर्श करनेवाला है। जायसी ने यद्यपि इतिहास-प्रसिद्ध नायक और नायिका ली है पर उन्होंने अपनी कहानी का रूप वही रखा है जो कल्पना के उत्कर्ष द्वारा साधारण जनता के हृदय में प्रतिष्ठित था। इस रूप में इस कहानी का पूर्वार्द्ध तो बिलकुल कल्पित है और उत्तरार्द्ध ऐतिहासिक आधार पर है। पदमावत की कथा संक्षेप में इस प्रकार है—

सिंहलद्वीप के राजा गंधर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप और गुण में जगत् में अद्वितीय थी। उसके योग्य वर कहीं न मिलता था। उसके पास हीरामन नाम का एक सूआ था जिसका वर्ण सोने के समान था और जो पूरा वाचाल और पंडित था। एक दिन वह पद्मावती से उसके वर न मिलने के विषय में कुछ कह रहा था कि राजा ने सुन लिया और बहुत कोप किया। सूआ राजा के डर से एक दिन उड़ गया। पद्मावती ने सुनकर बहुत विलाप किया।

सूआ वन में उड़ते उड़ते एक बहेलिए के हाथ पड़ गया जिसने बाजार में लाकर उसे चित्तौर के एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। उस ब्राह्मण को एक लाख देकर चित्तौर के राजा रतनसेन ने उसे लिया। धीरे धीरे रतनसेन उसे बहुत चाहने लगे। एक दिन जब राजा शिकार

को गए थे तब उनकी रानी नागमती ने, जिसे अपने रूप का बड़ा गर्व था, आकर सूए से पूछा कि "संसार में मेरे समान सुंदरी भी कहीं है ?" इस पर सूआ हँसा और उसने सिंहल की पद्मिनी का वर्णन करके कहा कि उसमें तुममें दिन और अँधेरी रात का अंतर है। रानी ने इस भय से कि कहीं यह सूआ राजा से भी न पद्मिनी के रूप की प्रशंसा करे उसे मारने की आज्ञा दे दी। पर चेरी ने राजा के भय से उसे मारा नहीं; अपने घर छिपा रखा। लौटने पर जब सूए के बिना राजा रतनसेन बहुत व्याकुल और क्रुद्ध हुए तब सूआ लाया गया और उसने सारी व्यवस्था कह सुनाई। पद्मिनी के रूप का वर्णन सुनकर राजा मूर्च्छित हो गया और अंत में वियोग से व्याकुल होकर उसकी खोज में घर से जोगी होकर निकल पड़ा। उसके आगे आगे राह दिखानेवाला वही हीरामन सूआ था और साथ में सोलह हजार कुँवर जोगियों के वेश में थे।

कलिंग से जोगियों का यह दल बहुत से जहाजों में सवार होकर सिंहल की ओर चला और अनेक कष्ट झेलने के उपरांत सिंहल पहुँचा। वहाँ पहुँचने पर राजा तो शिव के एक मंदिर में जोगियों के साथ बैठकर पद्मावती का ध्यान और जप करने लगा और हीरामन सूए ने जाकर पद्मावती से यह सब हाल कहा। राजा के प्रेम की सत्यता के प्रभाव से पद्मावती प्रेम में विकल हुई। श्रीपंचमी के दिन पद्मावती शिवपूजन के लिये उस मंदिर में गई; पर राजा उसके रूप को देखते ही मूर्च्छित हो गया, उसका दर्शन अच्छी तरह न कर सका। जागने पर राजा बहुत अधीर हुआ। इस पर पद्मावती ने कहला भेजा कि समय पर तो तुम चूक गए; अब तो इस दुर्गम सिंहलगढ़ तक चढ़ो तभी मुझे देख सकते हो। शिव से सिद्धि प्राप्त कर राजा रात को जोगियों सहित गढ़ में घुसने लगा, पर सबेरा हो गया और पकड़ा गया। राजा गंधर्वसेन की आज्ञा से रतनसेन को सूली देने ले जा रहे थे कि इतने में सोलह हजार जोगियों ने गढ़ को घेर लिया। महादेव, हनुमान् आदि सारे देवता जोगियों की सहायता के लिए आ गए। गंधर्वसेन की सारी सेना हार गई। अंत में जोगियों के बीच शिव को पहचान कर गंधर्वसेन उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला कि "पद्मावती आपकी है, जिसको चाहे दीजिए।" इस प्रकार रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया और कुछ दिनों के उपरांत दोनों चित्तौरगढ़ आ गए।

रतनसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पंडित था जिसे यक्षिणी सिद्ध थी। और पंडितों को नीचा दिखाने के लिये उसने एक दिन प्रतिपदा को द्वितीया कहकर यक्षिणी के बल से चंद्रमा दिखा दिया। जब राजा को यह कार्रवाई मालूम हुई तब उसने राघव चेतन को देश से निकाल दिया। राघव राजा से बदला लेने और भारी पुरस्कार की आशा से दिल्ली के बादशाह अलाउद्दीन के दरबार में पहुँचा और उसने दान में पाए हुए पद्मावती के एक कंगन को दिखाकर उसके रूप को संसार के ऊपर बताया। अलाउद्दीन ने पद्मिनी को भेज देने के लिये राजा रतनसेन को पत्र भेजा जिसे पढ़कर राजा अत्यंत क्रुद्ध हुआ और लड़ाई की तैयारी करने लगा। कई वर्ष तक अलाउद्दीन चित्तौरगढ़ घेरे रहा पर उसे तोड़ न सका। अंत में उसने छलपूर्वक संधि का प्रस्ताव भेजा। राजा ने स्वीकार करके बादशाह की दावत की। राजा के साथ शतरंज खेलते समय अलाउद्दीन ने पद्मिनी के रूप की एक झलक सामने रखे हुए एक दर्पण में देख पाई, जिसे देखते ही वह मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। प्रस्थान के दिन जब राजा बादशाह को बाहरी फाटक तक पहुँचाने गया तब अलाउद्दीन के छिपे हुए सैनिकों द्वारा पकड़ लिया गया और दिल्ली पहुँचाया गया।

पद्मिनी को जब यह समाचार मिला तब वह बहुत व्याकुल हुई; पर तुरंत एक वीर क्षत्राणी के समान अपने पति के उद्धार का उपाय सोचने लगी। गोरा बादल नामक दो वीर क्षत्रिय सरदार ७०० पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपाकर दिल्ली में पहुँचे और बादशाह के यहाँ संवाद भेजा कि पद्मिनी अपने पति से थोड़ी देर मिल कर तब आपके हरम में जायगी। आज्ञा मिलते ही एक ढँकी पालकी राजा की कोठरी के पास रख दी गई और

उसमें से एक लोहार ने निकलकर राजा की बेड़ियाँ काट दीं। रतनसेन पहले से ही तैयार एक घोड़े पर सवार होकर निकल आए। शाही सेना पीछे आते देख वृद्ध गोरा तो कुछ सिपाहियों के साथ उस सेना को रोकता रहा और बादल रतनसेन को लेकर चित्तौर पहुँच गया। चित्तौर आने पर पद्मिनी ने रतनसेन से कुंभलनेर के राजा देवपाल द्वारा दूती भेजने की बात कही जिसे सुनते ही राजा रतनसेन ने कुंभलनेर जा घेरा। लड़ाई में देवपाल और रतनसेन दोनों मारे गए।

रतनसेन का शव चित्तौर लाया गया। उसकी दोनों रानियाँ नागमती और पद्मावती हँसते हँसते पति के शव के साथ चिता में बैठ गईं। पीछे जब सेना सहित अलाउद्दीन चित्तौर में पहुँचा तब वहाँ राख के ढेर के सिवा और कुछ न मिला।

जैसा कहा जा चुका है, प्रेम-गाथा की परंपरा में पद्मावत सब से प्रौढ़ और सरस है। प्रेममार्गी सूफी कवियों की और कथाओं से इस कथा में यह विशेषता है कि इसके ब्योरों से भी साधना के मार्ग, उसकी कठिनाइयों और सिद्धि के स्वरूप आदि की पूरी व्यंजना होती है जैसा कि कवि ने स्वयं ग्रंथ की समाप्ति पर कहा है—

तन चितउर, मन राजा कीन्हा।
हिय सिंघल, बुधि पदमिनि चीन्हा॥
गुरू सुआ जेइ पंथ देखावा।
बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा?॥
नागमती यह दुनिया धंधा।
बाँचा सोइ न एहि चित बंधा॥
राघव दूत सोई सैतानू।
माया अलाउदीं सुलतानू॥

यद्यपि पदमावत की रचना संस्कृत प्रबंध काव्यों की सर्गबद्ध पद्धति पर नहीं है, फारसी की मसनवी-शैली पर है, पर शृंगार, वीर आदि के वर्णन चली आती हुई भारतीय काव्यपरंपरा के अनुसार ही हैं। पद्मिनी के रूप का जो वर्णन जायसी ने किया है वह पाठक को सौंदर्य्य की लोकोत्तर भावना में मग्न करनेवाला है। अनेक प्रकार के अलंकारों की योजना उसमें पाई जाती है। कुछ पद्य देखिए—

सरवर तीर पदमिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिनि झाँपि लीन्ह चहुँ पासा॥
ओनई घटा परी जग छाँहा। ससि कै सरन लीन्ह जनु राहा॥
भूलि चकोर दीठि मुख लावा। मेघ घटा महँ चंद देखावा॥

पद्मिनी के रूप-वर्णन में जायसी ने कहीं कहीं उस अनंत सौंदर्य्य की ओर, जिसके विरह में यह सारी सृष्टि व्याकुल सी है, बड़े ही सुंदर संकेत किए हैं—

बरुनी का बरनौं इमि बनी। साधे बान जानु दुइ अनी।
उन बानन्ह अस को जो न मारा। बेधि रहा सगरौ संसारा॥
गगन नखत जो जाहिं न गने। वै सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखी ठाढ़ देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुस तन ठाढ़े। सूतहिं सूत बेधे अस गाढ़े॥
बरुनि-बान अस ओपहँ बेधे रन बन ढाँख।
सौजहिं तन सब रोवाँ, पंखिहि तन सब पाँख॥

इसी प्रकार जोगी रतनसेन के कठिन मार्ग के वर्णन में साधक के मार्ग के विघ्नों (काम, क्रोध आदि विकारों) की व्यंजना की है—

ओहि मिलान जौ पहुँचै कोई। तब हम कहब पुरुष भल सोई॥
है आगे परबत कै बाटा। विषम पहार अगम सुठि घाटा॥
बिच बिच नदी खोह औ नारा। ठावहिं ठावँ बैठ बटपारा॥

(४) **उसमान**—ये जहाँगीर के समय में वर्तमान थे और गाजीपुर के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम शेख हुसैन था और ये पाँच भाई थे। और चार भाइयों के नाम थे—शेख अजीज, शेख मानुल्लाह, शेख फैजुल्लाह, शेख हसन। इन्होंने अपना उपनाम "मान" लिखा है। ये शाह निजामुद्दीन चिश्ती की शिष्यपरंपरा में हाजी बाबा के शिष्य थे। उसमान ने सन् १०२२ हिजरी अर्थात् सन् १६१३ ईसवी में "चित्रावली" नाम की पुस्तक लिखी। पुस्तक के आरंभ में कवि ने स्तुति के उपरांत पैगंबर और चार खलीफों की, बादशाह (जहाँगीर) की तथा शाह निजामुद्दीन और हाजी बाबा की प्रशंसा लिखी है। उसके आगे गाजीपुर नगर का वर्णन करके कवि ने अपना परिचय देते हुए लिखा है कि—

आदि हुता बिधि माथे लिखा। अच्छर चारि पढ़ै हम सिखा ॥
देखत जगत चला सब जाई। एक बचन पै अमर रहाई ॥
बचन समान सुधा जग नाहीं। जेहि पाए कवि अमर रहाहीं ॥
मोहूँ चाउ उठा पुनि हीए। होउँ अमर यह अमरित पीए।

कवि ने "जोगी ढूँढन खंड" में काबुल, बदख्शाँ, खुरासान, रूम, साम, मिस्र, इस्तंबोल, गुजरात, सिंहल-द्वीप आदि अनेक देशों का उल्लेख किया है। सबसे विलक्षण बात है जोगियों का अंगरेजों के द्वीप में पहुँचना—

बलंदीप देखा अँगरेजा। जहाँ जाइ जेहि कठिन करेजा ॥
ऊँच नीच धन-संपति हेरा। मद बराह भोजन जिन्ह केरा ॥

कवि ने इस रचना में जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जो जो विषय जायसी ने अपनी पुस्तक में रखे हैं उन विषयों पर उसमान ने भी कुछ कहा है। कहीं कहीं तो शब्द और वाक्य विन्यास भी वही है। पर विशेषता यह है कि कहानी बिलकुल कवि की कल्पित है जैसा कि कवि ने स्वयं कहा है—

कथा एक मैं हिये उपाई। कहत मीठ औ सुनत सोहाई ॥

कथा का सारांश यह है—

नैपाल के राजा धरनीधर पँवार ने पुत्र के लिये कठिन व्रत-पालन करके शिव पार्वती के प्रसाद से 'सुजान' नामक एक पुत्र प्राप्त किया। सुजान कुमार एक दिन शिकार में मार्ग भूल देव (प्रेत) की एक मढ़ी में जा सोया। देव ने आकर उसकी रक्षा स्वीकार की। एक दिन वह देव अपने एक साथी के साथ रूपनगर की राजकुमारी चित्रावली की वर्ष गाँठ का उत्सव देखने के लिये गया और अपने साथ सुजान कुमार को भी लेता गया। और कोई उपयुक्त स्थान न देख देवों ने कुमार को राजकुमारी की चित्रसारी में ले जाकर रख दिया और आप उत्सव देखने लगे। कुमार राजकुमारी का चित्र टँगा देख उस पर आसक्त हो गया और अपना भी एक चित्र बनाकर उसी की बगल में टाँगकर सो रहा। देव लोग उसे उठाकर फिर उसी मढ़ी में रख आए। जागने पर कुमार को चित्रवाली वाली घटना स्वप्न सी मालूम हुई; पर हाथ में रंग लगा देख उसके मन में घटना के सत्य होने का निश्चय हुआ और वह चित्रावली के प्रेम में विकल हो गया। इसी बीच में उसके पिता के आदमी आकर उसको राजधानी में ले गए। पर वहाँ वह अत्यंत खिन्न और व्याकुल रहता। अंत में अपने सहपाठी सुबुद्धि नामक एक ब्राह्मण के साथ वह फिर उसी मढ़ी में गया और वहाँ उसने बड़ा भारी अन्नसत्र खोल दिया।

राजकुमारी चित्रावली भी उसका चित्र देख प्रेम में विह्वल हुई और उसने अपने नपुंसक भृत्यों को जोगियों के वेश में राजकुमार का पता लगाने के लिये भेजा। इधर एक कुटीचर ने कुमारी की माँ हीरा से चुगली की और कुमार का वह चित्र धो डाला गया। कुमारी ने जब यह सुना तब उसने उस कुटीचर का सिर मुँड़ाकर उसे निकाल दिया। कुमारी के भेजे हुए जोगियों में से एक सुजान कुमार के उस अन्नसत्र तक पहुँचा और राजकुमार को अपने साथ रूपनगर ले आया। वहाँ एक शिवमंदिर में उसका कुमारी के साथ साक्षात्कार हुआ। पर ठीक इसी अवसर पर कुटीचर ने राजकुमार को अंधा कर दिया और एक गुफा में डाल दिया जहाँ उसे एक अजगर निगल गया। पर उसके विरह की ज्वाला से घबराकर उसने उसे चट उगल दिया। वहीं पर एक बनमानुस ने उसे एक अंजन दिया जिससे उसकी दृष्टि फिर ज्यों की त्यों हो गई। वह जंगल में घूम रहा था कि उसे एक हाथी ने पकड़ा। पर उस हाथी को भी एक पक्षिराज ले उड़ा और उसने घबराकर कुमार को समुद्र-तट पर गिरा दिया। वहाँ से घूमता घूमता कुमार सागरगढ़ नामक नगर में पहुँचा और राजकुमारी कवँलावती की फुलवारी में विश्राम करने लगा। राज-कुमारी जब सखियों के साथ वहाँ आई तब उसे देख मोहित हो गई और उसने उसे अपने यहाँ भोजन के बहाने बुलवाया। भोजन में अपना हार रखवाकर कुमारी ने चोरी के अपराध में उसे कैद कर लिया। इसी बीच में सोहिल नाम का कोई राजा कवँलावती के रूप की प्रशंसा सुन उसे प्राप्त करने के लिये चढ़ आया। सुजान कुमार ने उसे मार भगाया। अंत में सुजान कुमार ने कँवला-वती से चित्रावली के न मिलने तक समागम न करने

को प्रतिज्ञा करके विवाह कर लिया। कँवलावती को लेकर कुमार गिरनार की यात्रा के लिये गया।

इधर चित्रावली के भेजे एक जोगी-दूत ने गिरनार में उसे पहचाना और चट चित्रावली को जाकर संवाद दिया। चित्रावली का पत्र लेकर वह दूत फिर लौटा और सागरगढ़ में धुईं लगाकर बैठा। कुमार सुजान उस जोगी की सिद्धि सुन उसके पास आया और उसे जानकर उसके साथ रूपनगर गया। इसी बीच वहाँ पर सागरगढ़ के एक कथक ने चित्रावली के पिता की सभा में जाकर सोहिल राजा के युद्ध के गीत सुनाए जिन्हें सुन राजा को चित्रावली के विवाह की चिंता हुई। राजा ने चार चित्रकारों को भिन्न भिन्न देशों के राजकुमारों के चित्र लाने को भेजा। इधर चित्रावली का भेजा हुआ वह जोगी-दूत सुजान कुमार को एक जगह बैठाकर उसके आने का समाचार कुमारी को देने आ रहा था। एक दासी ने यह समाचार द्वेषवश रानी से कह दिया और वह दूत मार्ग ही में कैद कर लिया गया। दूत के न लौटने पर सुजान कुमार बहुत व्याकुल हुआ और चित्रावली का नाम ले लेकर पुकारने लगा। राजा ने उसे मारने के लिये मतवाला हाथी छोड़ा, पर उसने उसे मार डाला। इस पर राजा उस पर चढ़ाई करने जा रहा था कि इतने में भेजे हुए चार चित्रकारों में से एक चित्रकार सागरगढ़ से सोहिल के मारनेवाले पराक्रमी सुजान कुमार का चित्र लेकर आ पहुँचा। राजा ने जब देखा कि चित्रावली का प्रेमी वही सुजान कुमार है तब उसने अपनी कन्या चित्रावली के साथ उसका विवाह कर दिया।

कुछ दिनों में सागरगढ़ की कँवलावती ने विरह से व्याकुल होकर सुजान कुमार के पास हंस मिश्र को दूत बनाकर भेजा जिसने भ्रमर की अन्योक्ति द्वारा कुमार को कँवलावती के प्रेम का स्मरण कराया। इस पर सुजान कुमार ने चित्रावली को लेकर स्वदेश की ओर प्रस्थान किया और मार्ग में कँवलावती को भी साथ ले लिया। मार्ग में कवि ने समुद्र के तूफान का वर्णन किया है। अंत में राजकुमार अपने घर नैपाल पहुँचा और उसने वहाँ दोनों रानियों सहित बहुत दिनों तक राज्य किया।

जैसा कि कहा जा चुका है, उसमान ने जायसी का पूरा अनुकरण किया है। जायसी के पहले के कवियों ने पाँच पाँच चौपाइयों (अर्द्धालियों) के पीछे एक दोहा रखा है, पर जायसी ने सात सात चौपाइयों का क्रम रखा और यही क्रम उसमान ने भी रखा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कहानी की रचना भी आध्यात्मिक दृष्टि से हुई है। कवि ने सुजान कुमार को एक साधक के रूप में चित्रित ही नहीं किया है बलिक पौराणिक शैली का अवलंबन करके उसने उसे परम योगी शिव के अंश से उत्पन्न तक कहा है। महादेव जी राजा धरनीधर पर प्रसन्न होकर वर देते हैं कि—

देखु देत हौं आपन अंसा। अब तोरे होइहौ निज बंसा॥

कँवलावती और चित्रावली अविद्या और विद्या के रूप में कल्पित जान पड़ती हैं। सुजान का अर्थ ज्ञानवान् है। साधन काल में अविद्या को बिना दूर रखे विद्या (सत्य ज्ञान) की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीसे सुजान ने चित्रावली के प्राप्त न होने तक कँवलावती के साथ समागम न करने की प्रतिज्ञा की। जायसी की ही पद्धति पर नगर, सरोवर, यात्रा, दानमहिमा आदि का वर्णन चित्रावली में भी है। सरोवर-क्रीड़ा के वर्णन में एक दूसरे ढंग से कवि ने "ईश्वर की प्राप्ति" की साधना की ओर संकेत किया है। चित्रावली सरोवर के गहरे जल में यह कहकर छिप जाती है कि मुझे जो ढूँढ़ ले उसकी जीत समझी जायगी। सखियाँ ढूँढ़ती हैं और नहीं पाती हैं—

सरवर ढूँढ़ि सबै पचि रहीं। चित्रिनि खोज न पावा कहीं॥
निकसीं तीर भईं बैरागी। धरे ध्यान सब बिनवै लागीं॥
गुपुत तोहि पावहिं का जानीं। परगट महँ जो रहै छपानी॥
चतुरानन पढ़ि चारौ बेदू। रहा खोजि पै भाव न भेदू॥
हम अंधी जेहि आपु न सूझा। भेद तुम्हार कहाँ लौं बूझा॥
कौन सो ठाउँ जहाँ तुम नाहीं। हम चख जोति न देखहिं काहीं॥
पावै खोज तुम्हार सो जेहि दिखरावहु पंथ।
कहा होइ जोगी भए औ बहु पढ़े गरंथ॥

विरह वर्णन के अंतर्गत षट्ऋतु का वर्णन सरस और मनोहर है—

ऋतु बसंत नौतन बन फूला । जहँ तहँ भौंर कुसुम-रंग भूला ॥
आहि कहाँ सो भँवर हमारा । जेहि बिनु बसत बसंत उजारा ॥
रात बरन पुनि देखि न जाई । मानहुँ दवा दहूँ दिसि लाई ॥
रतिपति दुरद ऋतुपती बली । कानन-देह आइ दलमली ॥

(५) शेखनबी—ये जौनपुर जिले में दोसपुर के पास मऊ नामक स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६७६ में जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। इन्होंने "ज्ञानदीप" नामक एक आख्यान-काव्य लिखा जिसमें राजा ज्ञानदीप और रानी देवजानी की कथा है।

यहीं प्रेममार्गी सूफी कवियों की प्रचुरता की समाप्ति समझनी चाहिए। पर जैसा कहा जा चुका है काव्यक्षेत्र में जब कोई परंपरा चल पड़ती है तब उसके प्राचुर्य्य-काल के पीछे भी कुछ दिनों तक समय समय पर उस शैली की रचनाएँ थोड़ी बहुत होती रहती हैं पर उनके बीच कालांतर भी अधिक रहता है और जनता पर उनका प्रभाव भी वैसा नहीं रह जाता। अतः शेखनबी से प्रेम-गाथा-परंपरा समाप्त समझनी चाहिए। 'ज्ञानदीप' के उपरांत सूफियों की पद्धति पर जो कहानियाँ लिखी गईं उनका संक्षिप्त उल्लेख नीचे किया जाता है।

(६) कासिमशाह—ये दरियाबाद (बाराबंकी) के रहनेवाले थे और संवत् १७८८ के लगभग वर्त्तमान थे। इन्होंने "हंस जवाहिर" नामकी कहानी लिखी जिसमें राजा हंस और रानी जवाहिर की कथा है।

(७) नूर मुहम्मद—ये दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के समय में थे और पूरब में 'सबरहद' नामक स्थान के रहनेवाले थे। इन्होंने सन् ११५७ हिजरी (संवत् १८०१) में 'इंद्रावती' नामक एक सुंदर आख्यान काव्य लिखा जिसमें कालिंजर के राजकुमार 'राजकुँवर' और आगमपुर की राजकुमारी इंद्रावती की प्रेम-कहानी है। कवि ने प्रथानुसार उस समय के शासक मुहम्मद शाह की प्रशंसा इस प्रकार की है—

करौं मुहम्मदसाह बखानू । है सूरज देहली सुलतानू ॥
धरमपंथ जग बीच चलावा । निबर न सबरे सौं दुख पावा ॥
बहुतै सलातीन जग केरे । आइ सुहास बने हैं चेरे ॥
सब काहू पर दाया धरई । धरम सहित सुलतानी करई ॥

कवि ने अपनी कहानी की भूमिका इस प्रकार बाँधी है—

मन-दग सों इक राति मझारा । सूझि परा मोहिं सब संसारा ॥
देखेउँ एक नीक फुलवारी । देखेउँ तहाँ पुरुष औ नारी ॥
दोउ मुख सोभा बरनि न जाई । चंद सुरुज उतरे भुइँ आई ॥
तपी एक देखेउ तेहि ठाऊँ । पूछेउँ तासौं तिन्हकर नाऊँ ॥
कहा अहैं राजा औ रानी । इंद्रावति औ कुँवर गियानी ॥
आगमपुर इंद्रावती कुँवर कलिंजर राय ।
प्रेम हुँते दोउन्ह कहँ दीन्हा अलख मिलाय ॥

कवि ने जायसी के पहले के कवियों के अनुसार पाँच पाँच चौपाइयों के उपरांत दोहे का क्रम रखा है। इसी ग्रंथ को सूफी पद्धति का अंतिम ग्रंथ मानना चाहिए।

(८) फ़ाज़िलशाह—ये करम करीम के पौत्र और शाह करीम के पुत्र थे और छतरपुर नरेश महाराज प्रतापसिंह (सं० १९०५) के आश्रित थे। इन्होंने 'प्रेम-रतन' नामक की कहानी लिखी जिसमें नूरशाह और माहेमुनीर का किस्सा है। यह कहानी सूफी कवि-परंपरा के ठीक ठीक अनुकूल नहीं है।

फुटकल

आश्रयदाता राजाओं के चरित तथा पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यान-काव्य लिखने की जैसी परंपरा हिंदुओं में बहुत पहले से चली आती थी वैसी पद्यबद्ध कल्पित कहानियाँ लिखने की नहीं थी। ऐसी कहानियाँ यदि लिखी भी जाती थीं तो केवल लौकिक भाव से उनमें किसी प्रकार के आध्यात्मिक रहस्य की व्यंजना का उद्देश्य नहीं रहता था। पर अच्छे साहित्यकों और विद्वानों की प्रवृत्ति ऐतिहासिक या पौराणिक प्रबंधों की ओर ही अधिकतर रही, कल्पित कहानियों की ओर नहीं। कुछ कल्पित या प्रचलित कहानियाँ जो पद्य में लिखी गईं, ये हैं—

(१) लक्ष्मणसेन पद्मावती की कथा-दामो कविकृत, संवत् १५१६।

(२) ढोला मारू री चउपदी। (राजस्थानी या

मारवाड़ी भाषा) जयसलमेर नरेश के आश्रित हरराज कवि ने संवत् १६०७ में लिखी।

(३) रसरतन काव्य। प्रतापपुरा (मैनपुरी) निवासी मोहनदास कायस्थ के पुत्र पुहकर कवि ने संवत् १६७३ में लिखा।

(४) कनकमंजरी—औरंगजेब के सूबेदार निजामत खाँ के आश्रित कवि काशीराम कृत जिनका जन्म संवत् १७१५ में हुआ था। इसमें धनधीरसाह और उनकी रानी कनकमंजरी की कथा है।

(५) कामरूप की कथा—ओडछा नरेश महाराज पृथ्वीसिंह के आश्रित हरसेवक मिश्र कृत जो संवत् १८०८ में वर्त्तमान थे। इसमें राजकुमार कामरूप और राजकुमारी की प्रेम-कथा है।

(६) चंद्रकला—(सं० १८५३) प्रेमचंद्र कृत।

(७) प्रेम पयोनिधि—(सं० १९१२) मृगेंद्रकवि कृत जो सिख धर्मावलंबी और पटियाला-नरेश महाराज महेंद्रसिंह के आश्रित थे। इसमें राजा जगतप्रभाकर और राजा सहपाल की कन्या की कथा है।

जैसा ऊपर कह आए हैं हिंदू प्रबंधकारों की प्रवृत्ति अधिकतर पौराणिक या ऐतिहासिक आख्यानों की ओर ही रही। कवि नारायण देव ने संवत् १४५३ में "हरिचंद पुराण" लिखा जिसमें राजा हरिश्चंद्र की कथा है। यह परंपरा भक्ति-काल और रीति-काल तक जारी रही और रामचरितमानस, रामचंद्रिका आदि अनेक प्रसिद्ध प्रबंध काव्य लिखे गए जिनका उल्लेख यथास्थान होगा।

(२) सगुण धारा

(क) रामभक्ति–शाखा

जगत्प्रसिद्ध स्वामी शंकराचार्य्य जी ने जिस अद्वैत-वाद का निरूपण किया वह भक्ति के सन्निवेश के उपयुक्त न था। यद्यपि उसमें ब्रह्म की व्यावहारिक सगुण सत्ता का भी स्वीकार था पर भक्ति के सम्यक् प्रसार के लिए जैसे दृढ़ आधार की आवश्यकता थी वैसा दृढ़ आधार स्वामी रामानुजाचार्य्य जी ने (सं० १०७३) खड़ा किया। उनके विशिष्टाद्वैतवाद के अनुसार चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म के ही अंश जगत् के सारे प्राणी हैं जो उसीसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन होते हैं। अतः इन जीवों के लिए उद्धार का मार्ग यही है कि वे भक्ति द्वारा उस अंशी का सामीप्य-लाभ करने का यत्न करें। रामानुज जी की शिष्य-परंपरा देश में बराबर फैलती गई और जनता भक्ति मार्ग की ओर अधिक आकर्षित होती रही। रामानुज जी के संप्रदाय में विष्णु या नारायण की उपासना है। इस संप्रदाय में अनेक अच्छे साधु महात्मा बराबर होते गए।

विक्रम की १४ वीं शताब्दी में वैष्णव श्री संप्रदाय के प्रधान आचार्य्य श्री राघवानंद जी काशी में रहते थे। अपनी अधिक अवस्था होते देख वे बराबर इस चिंता में रहा करते कि मेरे उपरांत संप्रदाय के सिद्धांतों की रक्षा किस प्रकार हो सकेगी। उसी समय प्रयाग निवासी पुण्यसदन शर्म्मा के घर रामानंद जी का जन्म हुआ। रामानंद जी की माता का नाम सुशीला था। ६ वर्ष की अवस्था में यज्ञोपवीत संस्कार के उपरांत रामानंद जी विद्याभ्यास के लिये श्री राघवानंदजी के आश्रम में प्रविष्ट हुए। इनकी लोकोत्तर प्रतिभा और ज्ञान-गरिमा को देख अंत में राघवानंदजी आचार्य्यपद इन्हें प्रदान कर निश्चिंत हुए और थोड़े दिनों में परलोकवासी हुए। कहते हैं कि रामानंदजी ने सारे भारतवर्ष का पर्य्यटन करके अपने संप्रदाय का प्रचार किया। तत्त्व-दृष्टि से रामानुजाचार्य्य जी के मतावलंबी होने पर भी अपनी उपासना इन्होंने अलग की। इन्होंने उपासना के लिये वैकुंठनिवासी विष्णु का स्वरूप न लेकर लोक में लीला-विस्तार करनेवाले उनके अवतार राम का आश्रय लिया। इनके इष्ट देव 'राम' हुए और मूलमंत्र रामनाम। इस परिवर्तन के साथ ही साथ इन्होंने उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ भक्ति का अधिकारी माना और देशभेद, वर्णभेद, जातिभेद आदि का विचार भक्तिमार्ग से दूर रखा। रामानुज संप्रदाय की दीक्षा केवल द्विजातियों को दी जाती थी, पर स्वामी रामानंद ने राम-भक्ति का द्वार सब जातियों के लिये खोल दिया और एक उत्साही विरक्त दल का संघटन किया जो आज

भी 'बैरागी' के नाम से प्रसिद्ध है। अयोध्या, चित्रकूट आदि स्थानों में आज भी बैरागियों के मुख्य स्थान हैं।

भक्ति-मार्ग में इनकी इस उदारता का अभिप्राय यह कदापि नहीं है—जैसा कि कुछ लोग समझा और कहा करते है—कि रामानंद जी वर्णाश्रम के विरोधी थे। समाज के लिये वर्ण और आश्रम की व्यवस्था मानते हुए वे भिन्न भिन्न कर्तव्यों की योजना स्वीकार करते थे। केवल उपासना के क्षेत्र में उन्होंने सब का समान अधिकार स्वीकार किया। भगवद्भक्ति में वे किसी भेदभाव को आश्रय नही देते थे। यदि वे वर्णाश्रम के विरोधी होते तो अपने वेदांत सूत्र के भाष्य में "शूद्राधिकरण" के अंतर्गत शूद्रों को वेदाधिकार का निषेध न करते और न शास्त्र-विहित त्रिदंड संन्यास ग्रहण करते। तात्पर्य्य यह कि कर्म के क्षेत्र में शास्त्र-मर्य्यादा इन्हें मान्य थी—पर उपासना के क्षेत्र में किसी प्रकार का लौकिक प्रतिबंध ये नहीं मानते थे। सब जाति के लोगों को एकत्र कर रामभक्ति का उपदेश ये देने लगे और रामनाम की महिमा सुनाने लगे। उन्होंने गागरौनगढ़ में उपदेश करते हुए रामनाम की महिमा इस प्रकार कही—

यस्मिन्महापत्तिसरित्पतौ च, ब्रुडंतमालोक्य जहत्यनन्ते।
मित्राण्यपि त्राणमिदं करोति श्रीरामनामात इदं भजध्वम्॥

(श्री रामानंद-दिग्विजय ११-६२)

कहते हैं कि गागरौनगढ़ के अधिपति पीपा रामानंद जी के अनुयायी होकर विरक्त हो गए। स्वामी रामानंद जी विक्रम की १५वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में (सं० १४२५–१४५६) वर्त्तमान थे।

इनकी उपासना दास्यभाव की थी। अपने "वैष्णव-मतांतर भास्कर" नामक ग्रंथ में भक्ति के अंगों की भावना में उन्हाने कहा है—

मनोमिलिन्दस्तव पाद-पंकजे, रमाचिंते संरमतां भवे भवे।
यशः श्रुतौ ते ममकर्ण युग्मकं तद्भक्तसङ्गोऽस्तु सदा मम प्रभो॥

स्वामी रामानंद जी ने ब्रह्मसूत्र पर "आनंद भाष्य", "श्री मद्भगवद्गीता भाष्य", "वैष्णव मतांतर भास्कर", "श्री रामार्चन-पद्धति" आदि कई संस्कृत ग्रंथों की रचना की जिनमें से अब बहुतों का पता नहीं लगता। भाषा में भी समय समय पर विनय और स्तुति के पद आदि ये बनाकर गाया करते थे। केवल दो तीन पदों का पता अब तक लगा है। एक पद तो यह है जो हनुमानजी की स्तुति में है—

आरति कीजै हनुमान लला की। दुष्टदलन रघुनाथ-कला की॥
जाके बल भर ते महि काँपै। रोग सोग जाके सिमाँ न चाँपै॥
अंजनी-सुत महाबल-दायक। साधु संत पर सदा सहायक॥
बाएँ भुजा सब असुर सँघारी। दहिन भुजा सब संत उबारी॥
लछिमन धरति में मूर्छि पर्‍यो। पैठि पताल जमकातर तोर्‍यो॥
आनि सजीवन प्रान उबार्‍यो। मही सबन कै भुजा उपार्‍यो॥
गाढ़ परे कपि सुमिरौं तोहीं। होहु दयाल देहु जस मोहीं॥
लंकाकोट समुंदर खाई। जात पवन सुत बार न लाई॥
लंक प्रजारि असुर सब मार्‍यो। राजा रामजी के काज सँवार्‍यो॥
घंटा ताल झालरी बाजै। जगमत जोति अवधपुर छाजै॥
जो हनुमान जी की आरति गावै। बसि बैकुंठ परमपद पावै॥
लंक बिधंस कियो रघुराई। रामानंद (स्वामी) आरती गाई।
सुरनर मुनि सब करहिं आरती। जै जै जै हनुमान लाल की॥

(१) गोस्वामी तुलसीदास जी—यद्यपि स्वामी रामानंद जी की शिष्य-परंपरा के द्वारा देश के बड़े भाग में रामभक्ति की पुष्टि निरंतर होती आ रही थी और भक्त लोग फुटकल पदों में राम की महिमा गाते आ रहे थे पर साहित्य के क्षेत्र में इस भक्ति का परमोज्वल प्रकाश विक्रम की १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी द्वारा स्फुरित हुआ। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने भाषाकाव्य की सारी प्रचलित पद्धतियों के बीच अपना चमत्कार दिखाया। सारांश यह कि रामभक्ति का वह परम विशद साहित्यिक संदर्भ इन्हीं भक्तशिरोमणि द्वारा संघटित हुआ जिससे हिंदी काव्य की प्रौढ़ता का युग आरंभ हुआ।

गोस्वामी तुलसीदास जी के दो जीवनचरित्रों का पता अब तक लगा है। एक तो उनके शिष्य बाबा बेनी-माधवदास कृत गोसाईंचरित्र है जिसका उल्लेख शिवसिंह सरोज में भी है। खेद है कि यह ग्रंथ पूरा नहीं मिला है। जितना मिला है उतने में गोस्वामी जी का कुछ संक्षिप्त वृत्तांत आया है। दूसरा ग्रंथ, जिसकी

सूचना मर्य्यादा पत्रिका को ज्येष्ठ १९६९ की संख्या में श्रीयुत इंद्रदेव नारायण् जी ने दी थी, उनके एक दूसरे शिष्य महात्मा रघुवरदास जी का 'तुलसी चरित' कहा जाता है। इन दोनों के वृत्तांतों में परस्पर बहुत कुछ विरोध है। बाबा बेनीमाधवदास के अनुसार गोस्वामी जी के पिता जमुना के किनारे दुबे-पुरवा नामक गाँव के दूबे और मुखिया थे और इनके पूर्वज पत्यौजा ग्राम से वहाँ आए थे। पर बाबा रघुबरदास के 'तुलसीचरित' में लिखा है कि सरवार में मभौली से तेईस कोस पर कसया ग्राम में गोस्वामी जी के प्रपितामह परशुराम मिश्र—जो गाना के मिश्र थे—रहते थे। वे तीर्थाटन करते करते चित्रकूट पहुँचे और उसी ओर राजापुर में बस गए। उनके पुत्र शंकर मिश्र हुए। शंकर मिश्र के रुद्रनाथ मिश्र और रुद्रनाथ मिश्र के मुरारि मिश्र हुए जिनके पुत्र तुलाराम ही आगे चलकर भक्तचूड़ामणि गो० तुलसीदास जी हुए।

दोनों चरितों में गोस्वामी जी का जन्म संवत् १५५४ दिया हुआ है। बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में तो श्रावण शुक्ला सप्तमी तिथि भी दी हुई है। पर इस संवत् को ग्रहण करने से तुलसीदासजी की आयु १२६-१२७ वर्ष आती है जो पुनीत आचरण के महात्माओं के लिये असंभव तो नहीं कही जा सकती। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि गोस्वामी जी संवत् १५८३ के लगभग उत्पन्न हुए थे। मिरजापुर के प्रसिद्ध रामभक्त और रामायणी पंडित रामगुलाम द्विवेदी भक्तों की जनश्रुति के अनुसार इनका जन्म संवत् १५८९ मानते थे। इसी सब से पिछले संवत् को ही डा० ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है। इनका सरयूपारी ब्राह्मण होना तो दोनों चरितों में पाया जाता है, और सर्वमान्य है। "तुलसी परासर गोत दूबे पतिऔजा के" यह वाक्य प्रसिद्ध चला आता है और पंडित रामगुलाम ने भी इसका समर्थन किया है। उक्त प्रसिद्धि के अनुसार गोस्वामी जी के पिता का नाम आत्माराम दूबे और माता का हुलसी था। माता के नाम के प्रमाण में रहीम का यह दोहा कहा जाता है—

सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहति अस होय।
गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

तुलसीदासजी ने कवितावली में कहा है कि "मातु पिता जग जाइ तज्यो बिधिहू न लिख्यो कछु भाल भलाई।" इसी प्रकार विनयपत्रिका में भी ये वाक्य हैं "जनक जननि तज्यो जनमि, करम बिनु बिधिहु सृज्यो अवडेरे" तथा "तनु तज्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यो मातु पिता हू"। इन वचनों के अनुसार यह जनश्रुति चल पड़ी कि गोस्वामी जी अभुक्तमूल में उत्पन्न हुए थे इससे उनके मातापिता ने उन्हें त्याग दिया था। बाबा बेनीमाधव दास ने लिखा है कि गोस्वामीजी जब उत्पन्न हुए तब पाँच वर्ष के बालक के समान थे और उन्हें पूरे दाँत भी थे। वे रोए नहीं, केवल 'राम' शब्द उनके मुँह से सुनाई पड़ा। बालक को राक्षस समझ पिता ने उसकी उपेक्षा की। पर माता ने उसकी रक्षा के लिये उद्विग्न होकर उसे अपनी एक दासी मुनिया को पालने पोसने को दिया और वह उसे लेकर अपनी ससुराल चली गई। पाँच वर्ष पीछे जब मुनिया भी मर गई तब राजापुर में बालक के पिता के पास संवाद भेजा गया पर उन्होंने बालक लेना स्वीकार न किया। किसी प्रकार बालक का निर्वाह कुछ दिन हुआ। अंत में बाबा नरहरिदास ने उसे अपने पास रख लिया और शिक्षा-दीक्षा दी। इन्हीं गुरु से गोस्वामी जी रामकथा सुना करते थे। इन्ही अपने गुरु बाबा नरहरिदास के साथ गोस्वामीजी काशी में आकर पंचगंगा घाट पर स्वामी रामानंदजी के स्थान पर रहने लगे। वहाँ पर एक परम विद्वान् महात्मा शेषसनातनजी रहते थे जिन्होंने तुलसीदासजी को वेद, वेदांग, दर्शन, इतिहास पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामी जी फिर अपनी जन्मभूमि राजापुर को लौटे; पर वहाँ इनके परिवार में कोई नहीं रह गया था और घर भी गिर गया था।

यमुना पार के एक ग्राम के रहनेवाले भारद्वाज गोत्री एक ब्राह्मण यमद्वितीया को राजापुर में स्नान करने आए। उन्होंने तुलसीदासजी की विद्या, विनय और शील पर मुग्ध होकर अपनी कन्या इन्हें ब्याह दी। इसी

पत्नी के उपदेश से गोस्वामी जी का विरक्त होना और भक्ति की सिद्धि प्राप्त करना प्रसिद्ध है। तुलसीदास जी अपनी इस पत्नी पर इतने अनुरक्त थे कि एक बार उसके मायके चले जाने पर वे बढ़ी नदी पार करके उससे जाकर मिले। स्त्री ने उस समय ये दोहे कहे—

लाज न लागत आपको दौरे आएहु साथ।
धिक धिक ऐसे प्रेम को कहा कहौं मैं नाथ॥
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामे जैसी प्रीति।
तैसी जौ श्री राम महँ, होति न तौ भवभीति॥

यह बात तुलसीदास जी को ऐसी लगी कि वे तुरंत काशी आकर विरक्त हो गए। इस वृत्तांत को प्रियादास जी ने अपनी भक्तमाल की टीका में दिया है और रघुबर दासजी ने भी अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख किया है।

संवत् १५८० में गोस्वामी जी ने अपना घर छोड़ा और काशी से अयोध्या जाकर चार महीने रहे। फिर तीर्थ यात्रा करने निकले और जगन्नाथ पुरी, रामेश्वर, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए। वहाँ से ये कैलास और मानसरोवर तक निकल गए। इस लंबी यात्रा में इन्हें १८ वर्ष से ऊपर लगे। अंत में चित्रकूट आकर बहुत दिनों तक रहे जहाँ अनेक संतों से इनकी भेंट हुई। संवत् १६१६ में सूरदास जी भी इनसे मिलने यहीं आए थे और यहीं पर इन्होंने गीतावली रामायण और कृष्ण गीतावली लिखी। इसके अनंतर संवत् १६३१ में अयोध्या जाकर इन्होंने रामचरितमानस का आरंभ किया और उसे २ वर्ष ७ महीने में समाप्त किया। रामायण का कुछ अंश, विशेषतः किष्किंधा कांड, काशी में रचा गया। रामायण समाप्त होने पर ये अधिकतर काशी में ही रहा करते थे। वहाँ अनेक शास्त्रज्ञ विद्वान् इनसे आकर मिला करते थे क्योंकि इनकी प्रसिद्धि सारे देश में हो चुकी थी। ये अपने समय के सब से बड़े भक्त और महात्मा माने जाते थे। कहते हैं कि उस समय के प्रसिद्ध विद्वान् मधुसूदन सरस्वती से इनसे वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर इनकी स्तुति में उन्होंने यह श्लोक कहा था-

आनंदकानने कश्चिज्जङ्गमस्तुलसीतरुः।
कविता-मंजरी यस्य रामभ्रमरभूषिता॥

गोस्वामी जी के मित्रों और स्नेहियों में नवाब अब्दुर्रहीम खानखाना, महाराज मानसिंह, नाभाजी और मधुसूदन सरस्वती आदि कहे जाते हैं। 'रहीम' से इनसे समय समय पर दोहे में लिखा पढ़ी हुआ करती थी। काशी में इनके सबसे बड़े स्नेही और भक्त भदैनी के एक भुमिहार जमींदार टोडर थे जिनकी मृत्यु पर इन्होंने कई दोहे कहे हैं—

चार गाँव को ठाकुरो मन को महामहीप।
तुलसी या कलिकाल मे अथए टोडर दीप॥
तुलसी रामसनेह को सिर पर भारी भारु।
टोडर काँधा नहिं दियो, सब कहि रहे उतारु॥
रामधाम टोडर गए, तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यहै जानि संकोच॥

गोस्वामी जी की मृत्यु के संबंध में लोग यह दोहा कहा करते हैं—

संवत सोरह सै असी असी गंग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी तुलसी तज्यो सरीर॥

पर बाबा बेनीमाधवदास की पुस्तक में दूसरी पंक्ति इस प्रकार है—

श्रावण कृष्णा तीज शनि तुलसी तज्यो शरीर।

और यही ठीक तिथि है क्योंकि टोडर के वंशज अब तक इसी तिथि को गोस्वामी जी के नाम सीधा दिया करते है।

गोस्वामी जी के प्रादुर्भाव को हिंदी काव्य के क्षेत्र में एक चमत्कार समझना चाहिए। हिंदी-काव्य की शक्ति का पूर्ण प्रसार इन्हीं की रचनाओं में ही पहले पहल दिखाई पड़ा। वीरगाथा-काल के कवि अपने संकुचित क्षेत्र में काव्यभाषा के पुराने रूप को लेकर एक विशेष शैली की परंपरा निभाते आ रहे थे। चलती भाषा का संस्कार और समुन्नति उनके द्वारा नहीं हुई। भक्तिकाल में आकर भाषा के चलते रूप को समाश्रय मिलने लगा। कबीरदास ने चलती बोली में अपनी वाणी कही। पर वह बोली बेठिकाने की थी। उसका कोई नियत रूप न था। शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रंश का जो सामान्य रूप साहित्य के लिये स्वीकृत था उससे कबीर

का लगाव न था। उन्होंने पूरबी हिंदी के साथ खड़ी बोली के रूपों का विचित्र मिश्रण किया और एक अलग सधुकड़ी भाषा की नीवँ डाली। खड़ीबोली वा पंजाबी के रूपों का यत्रतत्र व्यवहार जैसा कि पहले कहा जा चुका है निर्गुणपंथी साधुओं की बानी का प्रधान लक्षण हुआ। इसका कारण यह है कि मुसलमानों की बोली पंजाबी या खड़ी बोली हो गई थी और निर्गुणपंथी साधुओं का लक्ष्य मुसलमानों पर भी प्रभाव डालने का था। उनकी भाषा में खड़ीबोली का पुट ही नहीं, अरबी और फारसी के शब्दों का भी मनमाना प्रयोग मिलता है। उनका कोई साहित्यिक लक्ष्य न था और वे पढ़े लिखे लोगों से दूर ही दूर अपना उपदेश सुनाया करते थे।

साहित्य की भाषा में, जो वीरगाथा-काल के कवियों के हाथ में बहुत कुछ अपने पुराने रूप में ही रही, प्रचलित भाषा के संयोग से नया जीवन सगुणोपासक कवियों द्वारा प्राप्त हुआ। भक्तवर सूरदास जी व्रज की चलती भाषा को परंपरा से चली आती हुई काव्यभाषा के बीच पूर्णरूप से प्रतिष्ठित करके साहित्यिक भाषा को लोकव्यवहार के मेल में ले आए। उन्होंने परंपरा से चली आती हुई काव्य-भाषा का तिरस्कार न करके उसे एक नया चलता रूप दिया। सूरसागर को ध्यानपूर्वक देखने से उसमें क्रियाओं के कुछ पुराने रूप, कुछ सर्वनाम (जैसे, जासु तासु जेहि तेहि) तथा कुछ प्राकृत के शब्द पाए जायँगे। सारांश यह कि वे परंपरागत काव्यभाषा को बिलकुल अलग करके एक बारगी नई चलती बोली लेकर नहीं चले। भाषा का एक शिष्ट सामान्य रूप उन्होंने रखा जिसका व्यवहार आगे चलकर बराबर कविता में होता आया। यह तो हुई व्रजभाषा की बात। इसके साथ ही पूरबी बोली या अवधी भी साहित्य-निर्माण की ओर अग्रसर होने लगी। जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस भाषा को साहित्य के क्षेत्र में ले आने का यश 'निर्गुण धारा की प्रेममार्गी शाखा' के मुसलमान कवियों को प्राप्त है जिनमें मुख्य मलिक मुहम्मद जायसी हैं। इस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय में काव्य भाषा के दो रूप प्रचलित पाए—एक व्रज और दूसरा अवधी।

भाषा-पद्य के स्वरूप को लेते हैं तो गोस्वामी जी के सामने कई शैलियाँ प्रचलित थीं जिनमें से मुख्य ये हैं—(क) वीरगाथा काल की छप्पय-पद्धति, (ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति, (ग) गग आदि भाटों की कवित्त-सवैया-पद्धति, (घ) कबीरदास की नीति-संबंधी बानी की दोहा पद्धति जो अपभ्रंश काल से चली आती थी, (ङ) और जायसी की दोहे चौपाई वाली प्रबंध-पद्धति। इस प्रकार काव्यभाषा के दो रूप और रचना की पाँच मुख्य शैलियाँ साहित्यक्षेत्र में गोस्वामी जी को मिलीं। तुलसीदास जी के रचना-विधान की सब से बड़ी विशेषता यह है कि वे अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से सब के सौंदर्य की पराकाष्ठा अपनी दिव्य वाणी में दिखाकर साहित्यक्षेत्र में प्रथम पद के अधिकारी हुए। हिंदी-कविता के प्रेमीमात्र जानते है कि उनका व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था। व्रजभाषा का जो माधुर्य्य हम सूरसागर में पाते हैं वही माधुर्य्य और भी संस्कृत रूप में हम गीतावली और कृष्णगीतावली में पाते हैं। ठेठ अवधी की जो मिठास हमें जायसी की पदमावत में मिलती है वही जानकीमंगल, पार्वतीमंगल, बरवा रामायण और रामलला नहछू में हम पाते हैं। यह सूचित करने की आवश्यकता नहीं कि न तो सूर का अवधी पर अधिकार था और न जायसी का व्रजभाषा पर।

प्रचलित रचना-शैलियों पर भी उनका इसी प्रकार का पूर्ण अधिकार हम पाते हैं।

(क) वीर-गाथा काल की छप्पय-पद्धति पर इनकी रचना यद्यपि थोड़ी है पर इनकी निपुणता पूर्ण-रूप से प्रदर्शित करती है; जैसे—

कतहुँ विटप भूधर उपारि परसेन बरक्खत।
कतहुँ बाजि सों बाजि मर्दि गजराज करक्खत॥
चरन-चोट चटकन चकोट अरि उर सिर बज्जत।
विकट कटक बिद्दरत बीर बारिद जिमि गज्जत॥

लंगूर लपेटत पटकि भट, 'जयति राम जय' उचरत।
तुलसीस पवननंदन अटल जुद्ध क्रुद्ध कौतुक करत॥

डिगति उर्वि अति गुर्वि, सर्व पब्बै समुद्र सर।
व्याल बधिर तेहि काल, बिकल दिगपाल चराचर॥
दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंठ मुक्ख भर।
सुरविमान हिमभानु संघटित होत परस्पर॥
चौंके बिरंचि संकर सहित, कोल कमठ अहि कलमल्यौ।
ब्रह्मांड खंड कियो चंड धुनि जबहिं राम सिवधनु दल्यौ॥

(ख) विद्यापति और सूरदास की गीत-पद्धति पर इन्होंने बहुत विस्तृत और बड़ी सुंदर रचना की है। सूरदासजी की रचना में संस्कृत की 'कोमल कांत पदावली' और अनुप्रासों की वह विचित्र योजना नहीं है जो गोस्वामी जी की रचना में है। दोनों भक्तशिरोमणियों की रचना में यह भेद ध्यान देने योग्य है और उस पर ध्यान अवश्य जाता है। गोस्वामी जी की रचना अधिक संस्कृत-गर्भित है। पर इसका यह अभिप्राय नहीं है कि इनके पदों में शुद्ध देशभाषा का माधुर्य्य नहीं है। इन्होंने दोनों प्रकार की मधुरता का बहुत ही अनूठा मिश्रण किया है। विनयपत्रिका के प्रारंभिक स्तोत्रों में जो संस्कृत पदविन्यास है उसमें गीतगोविंद के पदविन्यास से इस बात की विशेषता है कि वह विषम है और रस के अनुकूल कहीं कोमल और कहीं कर्कश देखने में आता है। हृदय के विविध भावों की व्यंजना गीतावली के मधुर पदों में देखने योग्य है। कौशल्या के सामने भरत अपनी आत्मग्लानि की व्यंजना किन शब्दों में करते हैं देखिए—

जौ हौं मातुमते महँ ह्वै हौं।
तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वैहौं।
क्यों हौं आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानिहै साँची।
महिमा-मृगी कौन सुकृती की खल-बच-बिसिपन्ह बाँची॥

इसी प्रकार चित्रकूट में राम के सम्मुख जाते हुए भरत की दशा का भी सुंदर चित्रण है—

बिलोके दूरि तें दोउ बीर।
मन अगहुँड़, तन पुलक शिथिल भयो, नयन-नलिन भरे नीर।
गड़त गोड़ मनो सकुच-पंक महँ, कढ़त प्रेमबल धीर॥

(ग) गंग आदि भाँटों की कवित्त-सवैया-पद्धति पर भी इसी प्रकार सारा रामचरित गोस्वामी जी कह गए हैं जिसमें नाना रसों का सन्निवेश अत्यंत विशद रूप में और अत्यंत पुष्ट और स्वच्छ भाषा में मिलता है। नाना रसमयी रामकथा तुलसीदास जी ने अनेक प्रकार की रचनाओं में कही है। कवितावली में रसानुकूल शब्द-योजना बड़ी सुंदर है। जो तुलसी दास जी ऐसी कोमल भाषा का व्यवहार करते हैं—

राम को रूप निहारत जानकि; कंकन के नग की परछाहीं।
यातें सबै सुधि भूलि गई, कर टेकि रही, पल टारति नाहीं॥

गोरो गरूर गुमान भरो यह, कौसिक, छोटो सो ढोटो है काको?

जल को गए लक्खन, हैं लरिका, परिखौ, पिय, छाँह घरीक ह्वै ठाढ़े।
पोंछि पसेउ बयारि करौं, अरु पायँ पखारिहौं भूभुरि डाढ़े॥

वे ही वीर और भयानक के प्रसंग में ऐसी शब्दावली का व्यवहार करते हैं—

प्रबल प्रचंड बरिबंड बाहु दंड वीर,
धाए जातुधान, हनुमान लियो घेरि कै।
महाबल पुंज कुंजरारि ज्यों गरजि भट,
जहाँ तहाँ पटके लंगूर फेरि फेरि कै॥
मारे लात, तोरे गात, भागे जात, हाहा खात,
कहैं तुलसीस "राखि राम की सौं" टेरि कै॥
ठहर ठहर परे, कहरि कहरि उठैं,
हहरि हहरि हर सिद्ध हँसे हेरि कै॥

बालधी-बीसाल बिकराल ज्वाल लाल मानौ
लंक लीलिबे को काल रसना पसारी है।
कैधों ब्योम बीथिका भरे हैं भूरि धूमकेतु,
बीररस बीर तरवारि सी उघारी है॥

(घ) नीति के उपदेश की सूक्तिपद्धति पर बहुत से दोहे रामचरितमानस और दोहावली में मिलेंगे जिनमें बड़ी मार्मिकता से और कहीं कहीं बड़े रचना कौशल से व्यवहार की बातें कही गई हैं और भक्ति प्रेम की मर्यादा दिखाई गई है।

रीझि आपनी बूझि पर, खीझि विचार विहीन।
ते उपदेस न मानहीं, मोह-महोदधि मीन॥

लोगन भलो मनाव जो भलो होन की आस।
करत गगन को गेंडुवा सो सठ तुलसीदास ॥
की तोहि लागहिं राम प्रिय की तु राम प्रिय होहि।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सो कीबे तुलसी तोहि ॥

(ङ) जिस प्रकार चौपाई-दोहे के क्रम से जायसी ने अपना पदमावत नाम का प्रबंधकाव्य लिखा उसी क्रम पर गोस्वामी जी ने अपना परम प्रसिद्ध काव्य राम-चरित-मानस, जो लोगों के हृदय का हार रहता चला आया है, रचा। भाषा वही अवधी है, केवल पद-विन्यास का भेद है गोस्वामी जी शास्त्रपारंगत विद्वान थे अतः उनकी शब्द-योजना साहित्यिक और संस्कृत-गर्भित है। जायसी में केवल ठेठ अवधी का माधुर्य्य है, पर गोस्वामी जी की रचना में संस्कृत की कोमल पदावली का भी बहुत ही मनोहर मिश्रण है। नीचे दी हुई कुछ चौपाइयों में दोनों की भाषा का भेद स्पष्ट देखा जा सकता है।

जब हुँत कहिगा पंखि सँदेसी। सुनिउँ कि आवा है परदेसी ॥
तब हुँत तुम्ह बिनु रहै न जीऊ। चातक भइउँ कहत पिउ पीऊ ॥
भइउँ बिरह जरि कोइलि कारी। डार डार जो कूकि पुकारी ॥
—जायसी।

अमिय मूरिमय चूरन चारू। समन सकल भवरुज परिवारू ॥
सुकृत संभु तनु विमल विभूती। मंजुल मंगल मोद प्रसूती ॥
जन-मन-मंजु-मुकुर मल हरनी। किए तिलक गुन-गन-बस करनी ॥
—तुलसी।

सारांश यह कि हिंदी काव्य की सब प्रकार की रचना-शैली के ऊपर गोस्वामी जी ने अपना ऊँचा आसन प्रतिष्ठित किया है। यह उच्चता और किसी को प्राप्त नहीं।

अब हम गोस्वामी जी के वर्णित विषय के विस्तार का विचार करेंगे। यह विचार करेंगे कि मानव-जीवन की कितनी अधिक दशाओं का सन्निवेश उनकी कविता के भीतर है। इस संबंध में हम यह पहले ही कह देना चाहते हैं कि अपने दृष्टिविस्तार के कारण ही तुलसी दास जी उत्तरी भारत की समग्र जनता के हृदय-मंदिर में पूर्ण प्रेम और प्रतिष्ठा के साथ विराज रहे हैं। भारतीय जनता का प्रतिनिधि कवि यदि किसी को कह सकते हैं तो इन्हीं महानुभाव को। और कवि जीवन का कोई एक पक्ष लेकर चले हैं—जैसे, वीरकाल के कवि उत्साह को ;भक्तिकाल के दूसरे कवि प्रेम, भक्ति और ज्ञान को; अलंकार-काल के कवि दांपत्य प्रणय या शृंगार को। पर इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों और व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवद्भक्ति का उपदेश करती है, दूसरी ओर लोकपक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्त्तव्यों का सौंदर्य दिखा कर मुग्ध करती है। व्यक्तिगत साधना के साथ ही साथ लोकधर्म की अत्यंत उज्वल छटा इनमें वर्त्तमान है।

पहले कहा जा चुका है कि निर्गुण-धारा के संतों की बानी में किस प्रकार लोक-धर्म की अवहेलना छिपी हुई थी। सगुण-धारा के भारतीय पद्धति के भक्तों में कबीर, दादू आदि के लोक-धर्म-विरोधी स्वरूप को यदि किसी ने पहचाना तो गोस्वामी जी ने। उन्होंने देखा कि उनके वचनों से जनता की चित्तवृत्ति में ऐसे घोर विकार की आशंका है जिससे समाज विशृंखल हो जायगा, उसकी मर्य्यादा नष्ट हो जायगी। जिस समाज से ज्ञानसंपन्न शास्त्रज्ञ विद्वानों, अन्याय और अत्याचार के दमन में तत्पर वीरों, परिवारिक कर्त्तव्यों का पालन करनेवाले उच्चाशय व्यक्तियों, पति-प्रेम-परायणा सतियों, पितृभक्ति के कारण अपना सुख सर्वस्व त्यागनेवाले सत्पुरुषों, स्वामी की सेवा में मर मिटनेवाले सच्चे सेवकों, प्रजा का पुत्रवत् पालन करनेवाले शासकों आदि के प्रति श्रद्धा और प्रेम का भाव उठ जायगा उसका कल्याण कदापि नहीं हो सकता। गोस्वामीजी को निर्गुण-पंथियों की बानी में लोकधर्म की उपेक्षा का भाव स्पष्ट दिखाई पड़ा। साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि बहुत से अनधिकारी और अशिक्षित वेदांत के कुछ चलते शब्दों को लेकर, बिना उनका तात्पर्य समझे, योंही 'ज्ञानी' बने हुए, मूर्ख जनता को लौकिक कर्त्तव्यों से विचलित करना चाहते हैं और मूर्खता-मिश्रित अहंकार की वृद्धि कर रहे हैं। इसी दशा को लक्ष्य करके उन्होंने इस प्रकार के वचन कहे हैं—

श्रुति सम्मत हरिभक्तिपथ संजुत विरति विवेक।

तेहि परिहरहिं बिमोहबस कल्पहिं पंथ अनेक ॥
साखी सबदी दोहरा कहि कहनी उपखान ।
भगति निरूपहिं भगत-कलि निंदहिं वेद पुरान ॥
बादहि शूद्र द्विजन सन हम तुमतें कछु घाटि ।
जानहि ब्रह्म सो विप्रवर आँखि देखावहिं डाँटि ॥

प्राचीन भारतीय भक्ति-मार्ग के भीतर भी उन्होंने बहुत सी बढ़ती हुई बुराइयों को रोकने का प्रयत्न किया। शैवों वैष्णवों के बीच बढ़ते हुए विद्वेष को उन्होंने अपनी सामंजस्य-व्यवस्था द्वारा बहुत कुछ रोका जिसके कारण उत्तरीय भारत में वह ऐसा भयंकर रूप न धारण कर सका जैसा उसने दक्षिण में किया। यही तक नहीं, जिस प्रकार उन्होंने लोकधर्म और भक्ति-साधना को एक में सम्मिलित करके दिखाया उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और उपासना के बीच भी सामंजस्य उपस्थित किया। भक्ति की चरम सीमा पर पहुँच कर भी लोकपक्ष उन्होंने नहीं छोड़ा। लोकसंग्रह का भाव उनकी भक्ति का एक अंग था। कृष्णोपासक भक्तों में इस अंग की कमी थी। उनके बीच उपास्य और उपासक के संबंध की ही गूढ़ातिगूढ़ व्यंजना हुई; दूसरे प्रकार के लोक व्यापक नाना संबंधों के कल्याणकारी सौंदर्य की प्रतिष्ठा नहीं हुई। यही कारण है कि इनकी भक्तिरस-भरी वाणी जैसी मंगलकारिणी मानी गई वैसी और किसी की नहीं। आज राजा से रंक तक के घर में गोस्वामीजी का रामचरितमानस विराज रहा है और प्रत्येक प्रसंग पर इनकी चौपाइयाँ कही जाती हैं।

अपनी सगुणोपासना का निरूपण गोस्वामीजी ने कई ढंग से किया है। रामचरितमानस में नाम और रूप दोनों को ईश्वर की उपाधि कहकर वे उन्हें उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं—

नाम रूप दुइ ईस उपाधी। अकथ अनादि सुसामुझि साधी ॥
नाम रूप गति अकथ कहानी। समुझत सुखद न परत बखानी ॥
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ॥

दोहावली में भक्ति की सुगमता बड़े ही मार्मिक ढंग से गोस्वामीजी ने इस दोहे के द्वारा सूचित की है—

की तोहि लागहिं राम प्रिय, की तु राम-प्रिय होहि ।
दुइ महँ रुचै जो सुगम सोइ कीबे तुलसी तोहि ॥

इसी प्रकार रामचरितमानस के उत्तरकांड में उन्होंने ज्ञान की अपेक्षा भक्ति को कहीं अधिक सुसाध्य और आशुफलदायिनी कहा है।

गोस्वामीजी के रचे बारह ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनमें ६ बड़े और ६ छोटे हैं। दोहावली, कवित्तरामायण, गीतावली, रामचरितमानस, रामाज्ञा प्रश्नावली, विनयपत्रिका बड़े ग्रंथ हैं तथा रामलला-नहछू, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपिनी और कृष्णगीतावली छोटे। पंडित रामगुलाम द्विवेदी ने जो एक प्रसिद्ध भक्त और रामायणी हो गए हैं, इन्हीं बारह ग्रंथों को गोस्वामी जी कृत माना है। पर शिवसिंहसरोज में दस और ग्रंथों के नाम गिनाए गए हैं, यथा—रामसतसई, संकटमोचन, हनुमद्बाहुक, रामसलाका, छंदावली, छप्पय रामायण, कड़खा रामायण, रोलारामायण, झूलना रामायण और कुंडलिया रामायण। इनमें से कई एक तो मिलते ही नहीं। हनुमद्बाहुक को पंडित रामगुलामजी ने कवितावली के ही अंतर्गत लिया है। रामसतसई में सात सौ से कुछ अधिक दोहे हैं जिनमें से डेढ़ सौ के लगभग दोहावली के ही हैं। अधिकांश दोहे उसमें कुतूहलवर्द्धक चातुर्य्य लिए हुए और क्लिष्ट हैं। यद्यपि दोहावली में भी कुछ दोहे इस ढंग के हैं पर गोस्वामीजी ऐसे गंभीर, सहृदय और कला-मर्मज्ञ महापुरुष का ऐसे पद्यों का इतना बड़ा ढेर लगाना समझ में नहीं आता। जो हो, बाबा बेनीमाधवदास ने भी गोस्वामीजी के ग्रंथों में रामसतसई का उल्लेख किया है।

कुछ ग्रंथों के निर्माण के संबंध में जो जनश्रुतियाँ प्रसिद्ध हैं उनका उल्लेख भी यहाँ आवश्यक है। कहते हैं कि बरवा रामायण गोस्वामी जी ने अपने स्नेही मित्र अब्दुर्रहीम खानखाना के कहने पर उनके बरवों (बरवै नायिका भेद) को देखकर बनाया था। कृष्ण गीतावली वृंदावन की यात्रा के अवसर पर बनी कही जाती है। पर बाबा बेनीमाधवदास के 'गोसाईंचरित' के अनुसार रामगीतावली और कृष्णगीतावली दोनों ग्रंथ चित्रकूट में उस समय के कुछ पीछे लिखे गए जब सूरदासजी उनसे मिलने वहाँ गए थे। गोस्वामीजी के एक मित्र पंडित

गंगाराम ज्योतिषी काशी में प्रह्लादघाट पर रहते थे। रामाज्ञाप्रश्न उन्हीं के अनुरोध से बना माना जाता है। हनुमानबाहुक से तो प्रत्यक्ष है कि वह बाहुओं में असह्य पीड़ा उठने के समय रचा गया था। विनयपत्रिका के बनने का कारण यह कहा जाता है कि जब गोस्वामीजी ने काशी में रामभक्ति की गहरी धूम मचाई तब एक दिन कलिकाल प्रत्यक्ष तुलसीदासजी को आकर धमकाने लगा और उन्होंने राम के दरबार में रखने के लिये यह पत्रिका या अर्ज़ी लिखी।

गोस्वामीजी की सर्वांगपूर्ण काव्य-कुशलता का परिचय आरंभ में ही दिया जा चुका है। उनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता और गंभीरता के संबंध में इतना जान लेना और भी आवश्यक है कि उन्होंने रचना-नैपुण्य का भद्दा प्रदर्शन कहीं नहीं किया है और न शब्द चमत्कार आदि के खेलवाड़ों में वे फँसे हैं। अलंकारों की योजना उन्होंने ऐसे मार्मिक ढंग से की है कि वे सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यंजना को प्रस्फुटित करते हुए पाए जाते हैं, अपनी अलग चमक दमक दिखाते हुए नहीं। कहीं कहीं लंबे लंबे सांगरूपक बाँधने में अवश्य उन्होंने एक भद्दी परंपरा का अनुसरण किया है पर वह उतना अरुचिकर नहीं प्रतीत होता। भाषा को भावों के अनुरूप मोड़ने में तो वे अद्वितीय थे। उनकी सी भाषा की सफाई और किसी कवि में नहीं। सूरदास में ऐसे वाक्य के वाक्य मिलते हैं जो विचार-धारा आगे बढ़ाने में कुछ भी योग देते नहीं पाए जाते; केवल पादपूर्त्यर्थ ही लाए हुए जान पड़ते हैं। इसी प्रकार तुकांत के लिये शब्द भी तोड़े मरोड़े गए हैं। पर गोस्वामीजी की वाक्य-रचना अत्यंत प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है; एक भी शब्द फालतू नहीं। खेद है कि भाषा की यह सफाई पीछे होनेवाले बहुत कम कवियों में रह गई। सब रसों की सम्यक् व्यंजना इन्होंने की है; पर मर्य्यादा का उल्लंघन कहीं नहीं किया है। प्रेम और शृंगार का ऐसा वर्णन जो बिना किसी लज्जा और संकोच के सबके सामने पढ़ा जा सके गोस्वामीजी का ही है। हम निस्संकोच कह सकते हैं कि यह एक कवि ही हिंदी को एक प्रौढ़ साहित्यिक भाषा सिद्ध करने के लिए काफ़ी है।

(२) स्वामी अग्रदास—ये प्रसिद्ध भक्त नाभादासजी के गुरु और तुलसीदासजी के सामयिक ही थे। यद्यपि ये प्रसिद्ध कृष्णभक्त महात्मा वल्लभाचार्य्य-जी की शिष्य-परंपरा में थे अर्थात् उनके प्रसिद्ध 'अष्ट छाप' के श्रीकृष्णदासजी पयहारी के शिष्य थे, पर ये रामोपासना की ओर ही आकर्षित हुए और उन्होंने रामभक्ति-पूर्ण भजन कहे। इसीसे साहित्य के इतिहास में इन्हें रामोपासक भक्त कवियों की श्रेणी में ही स्थान देना उचित जान पड़ता है। ये आमेर या जयपुर राज्य के अंतर्गत गलता नामक स्थान के रहनेवाले थे और संवत् १६३२ के लगभग वर्त्तमान थे। इनकी बनाई चार पुस्तकों का पता है—

१—हितोपदेश उपखाणां बावनी।
२—ध्यान मंजरी।
३—राम ध्यान मंजरी।
४—कुंडलिया।

इनकी कविता उसी ढंग की है जिस ढंग की कृष्णोपासक नंददासजी की। उदाहरण के लिए यह पद्य देखिए—

कुंडल ललित कपोल जुगल अस परम सुदेसा।
तिनको निरखि प्रकास लजत राकेस दिनेसा॥
मेचक कुटिल विसाल सरोरुह नैन सुहाए।
मुख-पंकज के निकट मनो अलि-छौना आए॥

एक पद भी इनका देखिए—

पहरे राम तुम्हारे सोवत। मैं मति मंद अंध नहिं जोवत॥
अपमारग मारग महिं जान्यो। इंद्री पोषि पुरुषारथ मान्यो॥
औरनि के बल अनत प्रकार। अगरदास के राम अधार॥

(३) नाभादासजी—ये उपर्युक्त अग्रदासजी के शिष्य, बड़े भक्त और साधुसेवी थे। ये संवत् १६५७ के लगभग वर्त्तमान थे और गोस्वामी तुलसीदास जी की मृत्यु के बहुत पीछे तक जीवित रहे। इनका प्रसिद्ध ग्रंथ भक्तमाल संवत् १६४२ के पीछे बना और सं० १७६९ में प्रियादासजी ने उसकी टीका लिखी। इस ग्रंथ में २०० भक्तों के चमत्कार-पूर्ण चरित्र ३१६ छप्पयों में लिखे

गए हैं। इन चरित्रों में पूर्ण जीवनवृत्त नहीं है केवल भक्ति की महिमा-सूचक बातें दी गई हैं। इसका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्य बुद्धि का प्रचार जान पड़ता है। यह उद्देश्य बहुत अंशों में सिद्ध भी हुआ। आज उत्तरीय भारत के गाँव गाँव में साधुवेशधारी पुरुषों को शास्त्रज्ञ विद्वानों और पंडितों से कहीं बढ़कर जो सम्मान और पूजा प्राप्त है वह बहुत कुछ भक्तों की करामातों और चमत्कारपूर्ण वृत्तांतों के सम्यक् प्रचार से।

नाभाजी को कुछ लोग डोम बताते हैं, कुछ क्षत्रिय। ऐसा प्रसिद्ध है कि वे एक बार गो० तुलसीदासजी से मिलने काशी गए। पर उस समय गोस्वामीजी ध्यान में थे, इससे न मिल सके। नाभाजी उसी दिन वृंदावन चले गए। ध्यान भंग होने पर गोस्वामीजी को बड़ा खेद हुआ और वे तुरंत नाभाजी से मिलने वृंदावन चल दिए। नाभाजी के यहाँ वैष्णवों का भंडारा था जिसमें गोस्वामीजी बिना बुलाए जा पहुँचे। गोस्वामीजी यह समझ कर कि नाभाजी ने मुझे अभिमानी न समझा हो सबसे दूर एक किनारे बुरी जगह बैठ गए। नाभाजी ने जान बूझकर उनकी ओर ध्यान न दिया। परसने के समय कोई पात्र न मिलता था जिसमें गोस्वामीजी को खीर दी जाती। यह देखकर गोस्वामीजी एक साधू का जूता उठा लाए और बोले "इससे सुंदर पात्र मेरे लिये और क्या होगा?"। इस पर नाभाजी ने उठकर उन्हें गले से लगा लिया और गद्गद हो गए। ऐसा कहा जाता है कि तुलसी-संबंधी अपने प्रसिद्ध छप्पय के अंत में पहले नाभाजी ने कुछ चिढ़कर यह चरण रखा था—"कलि कुटिल जीव तुलसी भए वालमीकि अवतार धरि।" यह बात कहाँ तक ठीक है नहीं कहा जा सकता क्योंकि गोस्वामीजी खान पान का विचार रखनेवाले स्मार्त वैष्णव थे। तुलसीदासजी के संबंध में नाभाजी का प्रसिद्ध छप्पय यह है—

त्रेता काव्य-निबंध करी सत कोटि रमायन।
इक अच्छर उच्चरे ब्रह्महत्यादि परायन॥
अब भक्तन सुखदैन बहुरि लीला बिस्तारी।
रामचरन रसमत्त रहत अहनिसि व्रतधारी।
संसार अपार के पार को सुगमरूप नौका लियो।
कलि कुटिल जीव निस्तार-हित बालमीकि तुलसी भयो॥

अपने गुरु अग्रदास के समान इन्होंने भी रामभक्ति-संबंधिनी ही कविता की है। व्रजभाषा पर इनका अच्छा अधिकार था और पद्यरचना में अच्छी निपुणता थी। रामचरित्र-संबंधी इनके पदों का एक छोटा सा संग्रह अभी थोड़े दिन हुए प्राप्त हुआ है।

इन पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने दो 'अष्टयाम' भी बनाए—एक व्रजभाषा-गद्य में दूसरा रामचरितमानस की शैली पर दोहा चौपाइयों में। दोनों के उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

(गद्य)—तब श्री महाराज कुमार प्रथम श्री वसिष्ठ महाराज के चरन छुइ प्रनाम करत भए। फिरि अपर वृद्ध समाज तिनको प्रनाम करत भए। फिरि श्री राजाधिराज जू को जोहार करिकै श्री महेंद्रनाथ दशरथ जू के निकट बैठत भए।

(पद्य)—अवधपुरी की सोभा जैसी।
कहि नहिं सकहिं शेष श्रुति तैसी॥
रचित कोट कलधौत सुहावन।
विविध रंग मति अति मन भावन।
चहुँ दिसि विपिन प्रमोद अनूपा।
चतुरवीस जोजन रस रूपा॥
सुदिसि नगर सरजू सरि पावनि।
मनिमय तीरथ परम सुहावनि॥
विगसे जलज, भृंग रस भूले।
गुंजत जल समूह दोउ कूले॥
परिखा प्रति चहुँ दिसि लसत, कंचन कोट प्रकास।
विविध भाँति नग जगमगत, प्रति गोपुर पुर पास॥

(४) प्राणचंद चौहान—संस्कृत में रामचरित संबंधी कई नाटक हैं जिनमें कुछ तो नाटक के साहित्यिक नियमानुसार हैं और कुछ केवल संवाद रूप में होने के कारण नाटक कहे गए हैं। इसी पिछली पद्धति पर संवत् १६६७ में इन्होंने रामायण महानाटक लिखा। रचना का ढंग नीचे उद्धृत अंश से ज्ञात हो सकता है—

कातिक मास पच्छी उजियारा। तीरथ पुन्य सोम कर वारा॥
ता दिन कथा कीन्ह अनुमाना। शाह सलेम दिलीपति थाना॥

संबत सोरह सै सत साठा। पुन्य प्रगास पाय भय नाठा ॥
जो सारद माता करु दाया। बरनौं आदि पुरुष की माया ॥
जेहि माया कह मुनि जग मूला। ब्रह्मा रहे कमल के फूला ॥
निकसि न सक माया के बाँधा। देषहु कमलनाल के रांधा ॥
आदि पुरुष बरनो केहि भाँति। चाँद सुरज तहाँ दिवस न राती ॥
निरगुन रूप करै सिव ध्याना। चार वेद गुन जोरि बषाना ॥
तीनो गुन जानै संसारा। सिरजै पालै भंजनहारा ॥
श्रवन बिना सो अस बहु गुना। मन में होइ सु पहले सुना ॥
देषै सब पै आहि न आँषी। अंधकार चोरी के साषी ॥
तेहि कर दहु को करै बषाना। जिहि कर मर्म वेद नही जाना ॥
माया सींव भो कोउ न पारा। शंकर पँवरि बीच होइ हारा ॥

(५) **हृदयराम**—ये पंजाब के रहनेवाले और कृष्णदास के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १६८० में संस्कृत के हनुमन्नाटक के आधार पर भाषा हनुमन्नाटक लिखा जिसकी कविता बड़ी सुंदर और परिमार्जित है। इसमें अधिकतर कवित्त और सवैयों में बड़े अच्छे संवाद हैं। पहले कहा जा चुका है कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अपने समय की सारी प्रचलित काव्य-पद्धतियों पर रामचरित का गान किया। केवल रूपक या नाटक के ढंग पर उन्होंने कोई रचना नहीं की। गोस्वामी जी के समय में ही उनकी ख्याति के साथ साथ रामभक्ति की तरंगें भी देश के भिन्न भिन्न भागों में उठ चली थीं। अतः उस काल के भीतर ही नाटक के रूप में कई रचनाएँ हुईं जिनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध हृदयराम का हनुमन्नाटक हुआ।

नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

देखन जौ पाऊँ तौ पठाऊँ जमलोक हाथ
दूजो न लगाऊँ वार करौं एक कर को।
मींजि मारौं उर ते उखारि भुजदंड हाड़
तोरि डारों बर अविलोकि रघुवर को ॥
कासों राग द्विज के रिसात भहरात राम,
अति थहरात गात लागत है धर को।
सीता को सँताप मेटि प्रगट प्रताप कीनो,
को है वह आप चाप तोस्यो जिन हर को ॥

जानकी को मुख न बिलोक्यो ताते
कुंडल न जानत हौं वीर पायँ छ्वै रघुराइ के।
हाथ जो निहारे नैन फूटियो हमारे,
ताते कंकन न देखे बोल कह्यो सत भाइ के ॥
पायँन के परिबे कौ जाते दास लछमन
यातें पहिचानत है भूषन जे पायँ के ॥
बिछुआ हैं एई, अरु झांझर हैं एई जुग,
नूपुर हैं, तेई राम जानत जराइ के ॥

सातों सिंधु, सातो लोक सातों रिषि हैं ससोक,
सातों रवि-घोरे थोरे देखे न डरात मैं।
सातों दीप सातों इति कांयएई करत और,
सातों मत रात दिन प्रान है न गात मे ॥
सातों चिरजीव बरराइ उठे बार बार,
सातों सुर हाइ हाइ होत दिन रात मै।
सातहूँ पताल काल सबद कराल, राम
भेदे सात ताल चाल परी सात सात मैं ॥

ऐहो हनू कह्यौ श्री रघुबीर कछू सुधि है सिय की छिति मांही ?
है प्रभु लंक कलंक बिना सुबसै तहँ रावन बाग की छाँहीं ॥
जीवति है ? कहिबेई को नाथ, सु क्यों न मरी हमतें बिछुराहीं ?
प्रान बसै पदपंकज में जम आवत है पर पावत नाहीं।

रामभक्ति का एक अंग आदि रामभक्त हनुमान जी की उपासना भी हुई। स्वामी रामानंद जी कृत हनुमान जी की स्तुति का उल्लेख हो चुका है। गोस्वामी तुलसी दासजी ने हनुमान जी की वंदना बहुत स्थलों पर की है। 'हनुमानबाहुक' तो केवल हनुमान जी को ही संबोधन करके लिखा गया है। भक्ति के लिए किसी पहुँचे हुए भक्त का प्रसाद भी भक्तिमार्ग में अपेक्षित होता है। संवत् १६९६ में रायमल्ल पांडे ने 'हनुमच्चरित्र' लिखा। गोस्वामी जी के पीछे भी कई लोगों ने रामायणें लिखीं पर वे गोस्वामी जी की रचनाओं के सामने प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। ऐसा जान पड़ता है कि गोस्वामीजी की प्रतिभा का प्रखर प्रकाश सौ डेढ़ सौ बर्ष तक ऐसा छाया रहा कि रामभक्ति की और रचनाएँ उसके सामने ठहर न सकीं। विक्रम की १९ वीं और २०

वीं शताब्दी में अयोध्या के महत बाबा रामचरण दास, बाबा रघुनाथ दास, रीवाँ के महाराज रघुराजसिंह आदि ने रामचरित-संबंधी विस्तृत रचनाएँ कीं जो सर्वप्रिय हुईं। इस काल में रामभक्ति-विषयक कविता बहुत कुछ हुई।

रामभक्ति की काव्यधारा की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसमें सब प्रकार की रचनाएँ हुईं, उसके द्वारा कई प्रकार की रचना-पद्धतियों को उत्तेजना मिली। कृष्णोपासी कवियों ने मुक्तक के एक विशेष अंग गीत काव्य की ही पूर्ति की, पर रामचरित को लेकर अच्छे अच्छे प्रबंधकाव्य रचे गए।

(ख) कृष्णभक्ति शाखा

श्रीवल्लभाचार्य्य जी—पहले कहा जा चुका है कि विक्रम की १५ वीं और १६ वीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का जो आंदोलन देश के एक छोर से दूसरे छोर तक रहा उसके श्री वल्लभाचार्य्य जी प्रधान प्रवर्त्तकों में से थे। आचार्य्य जी का जन्म संवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ को और गोलोकवास संवत् १५८७ आषाढ़ शुक्ल ३ को हुआ। ये वेद शास्त्र में पारंगत धुरंधर विद्वान् थे। इन्होंने वेदांत सूत्रों पर अपना एक स्वतंत्र भाष्य रचकर शुद्धाद्वैतवाद की स्थापना की जिसमें रामानुजाचार्य्य जी के विशिष्टाद्वैतवाद के दो पक्षों की विशिष्टता हटाकर अद्वैतवाद मानो फिर से शुद्ध किया गया। इनके मत में सत्, चित् और आनंद स्वरूप ब्रह्म अपने इच्छानुसार इन तीनों स्वरूपों का आविर्भाव और तिरोभाव करता रहता है। जड़ जगत भी ब्रह्म ही है पर अपने चित् और आनंद स्वरूपों का पूर्ण तिरोभाव किए हुए तथा सत् स्वरूप का अंशतः आविर्भाव किए हुए है। चेतन जगत् भी ब्रह्म ही है जिसमें सत्, चित् और आनंद इन तीनों स्वरूपों का कुछ आविर्भाव और कुछ तिरोभाव रहता है। माया ब्रह्म ही की शक्ति है जो उसीकी इच्छा से विभक्त होती है, अतः मायात्मक जगत मिथ्या नहीं है। जीव अपने शुद्ध ब्रह्म स्वरूप को तभी प्राप्त करता है जब आविर्भाव और तिरोभाव दोनों मिट जाते हैं। यह बात केवल ईश्वर के अनुग्रह से ही, जिसे 'पुष्टि' या 'पोषण' कहते हैं हो सकती है। अतः दार्शनिक पक्ष में वल्लभाचार्य्य जी का मत जिस प्रकार शुद्धाद्वैत कहलाता है उसी प्रकार भक्ति पक्ष में 'पुष्टिमार्ग' कहा जाता है। रामानंद जी ने उपासना के लिये जिस प्रकार ईश्वर के अवतार राम को लिया उसी प्रकार वल्लभाचार्य्य जी ने श्रीकृष्ण को।

रामानंद जी के समान वल्लभाचार्य्य जी ने भी भारतवर्ष के सब भागों में पर्य्यटन और विद्वानों से शास्त्रार्थ करके अपने मत का प्रचार किया था। अंत में अपने उपास्य देव श्रीकृष्ण की जन्मभूमि में जाकर उन्होंने अपनी गद्दी स्थापित की जिसके प्रभाव से व्रजभाषा में गीतकाव्य का अत्यंत मधुर स्रोत शताब्दियों तक बहता रहा। उक्त गद्दी के शिष्यों ने सुंदर सुंदर पदों का जो हृदयद्रावक संगीत संचालित किया उसमें और और संप्रदायों के कृष्णभक्तों ने भी पूरा योग दिया।

(१) सूरदास जी—इनका जन्मकाल १५४० के लगभग ठहरता है। कुछ लोग इनकी जन्म भूमि दिल्ली के पास सीही नामक गाँव को मानते हैं पर चौरासी वैष्णव की टीका के अनुसार इनकी जन्म भूमि रुनकता (रेणुका क्षेत्र) गाँव है जो मथुरा से आगरे जानेवाली सड़क पर है। उक्त 'वार्त्ता' के अनुसार ये सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। भक्तमाल में भी ये ब्राह्मण ही कहे गए हैं और आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत होना लिखा है। सूरदास जी के दृष्टिकूटों पर एक टीका मिलती है जिसमें ११६ दृष्टिकूट के पद अलंकार और नायिका भेद के क्रम से रखे गए हैं। टीका इस ढंग से लिखी हुई है कि सूरदास की ही जान पड़ती है क्योंकि उसमें जिन दोहों और चौपाइयों में अलंकार आदि के लक्षण दिए गए हैं वे सूर नामांकित हैं। इस टीका के अंत में एक बड़ा पद है जिसमें सूरदास जी अपने वंश का परिचय देते हुए अपना कुछ वृत्तांत कहते हैं। इस पद के अनुसार सूरदास जी ब्रह्मभट्ट थे और महाकवि 'चंदबरदाई' के वंशज थे। चंद कवि के कुल में हरीचंद हुए। उनके सात पुत्रों में सबसे छोटे सूरजदास या सूरदास थे। शेष ६ भाई जब मुसलमानों

के युद्ध में मारे गए तब अंधे सूरदास जी बहुत दिनों तक इधर उधर फिरते रहे। एक दिन ये कूएँ में गिर पड़े और ६ दिन तक उसीमें पड़े रहे। सातवें दिन भगवान् अपने कृष्णरूप में इनके सामने प्रकट हुए और इन्हें दृष्टि प्रदान कर उन्होंने अपने रुप का दर्शन कराया। भगवान् ने कहा कि दक्षिण के एक प्रबल ब्राह्मण-कुल द्वारा शत्रुओं का नाश होगा और तू सब विद्याओं में निपुण होगा। इस पर सूरदास ने वर माँगा कि जिन नेत्रों से मैंने भगवान् का रूप देखा उनसे और कुछ न देखूँ और सदा आपका भजन करूँ। सूरदास जी कूएँ से निकलने पर फिर ज्यों के त्यों अँधे हो गए और व्रज में वास करने लगे। वहाँ गोसाईं जी ने इन्हें अष्टछाप में लिया।

पर उक्त टीका के पद को कई कारणों से हम प्रामाणिक नहीं मान सकते। वह पीछे से किसी अन्य की रचना जान पड़ती है। अतः "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" और 'भक्तमाल' में जो वृत्त दिया हुआ है हमें उसी पर संतोष करना पड़ता है। उक्त वार्त्ता के अनुसार सूरदास जी गऊघाट (आगरे से कुछ दूर, मथुरा-आगरे के बीच) पर रहा करते थे। वहाँ जब श्रीवल्लभाचार्य्य जी पधारे तब सूरदास जी ने उनसे दीक्षा ली। आचार्य्य जी की आज्ञा से ही उन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया और वह ग्रंथ सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरसागर में सवालाख पद कहे जाते हैं पर अबतक ५-६ हज़ार पदों से अधिक नही मिले हैं। भक्तों में गोस्वामी तुलसीदासजी की उपासना सेव्य सेवक भाव की कही जाती है और सूरदासजी की सख्य भाव की, यहाँ तक कि ये उद्धव के अवतार कहे जाते हैं। सूरदास जी की मृत्यु पारासोली गाँव में गोसाईं बिट्ठलनाथ जी के सामने, संवत् १६२० के लग भग हुई।

श्रीवल्लभाचार्य्य जी के पीछे उनके पुत्र गोसाईं बिट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। उस समय तक पुष्टिमार्गी कई कवि बहुत से सुंदर सुंदर पदों की रचना कर चुके थे। इससे गोसाईं विट्ठलनाथ जी ने उनमें से आठ सर्वोत्तम कवियों को चुनकर 'अष्टछाप' की प्रतिष्ठा की। 'अष्टछाप' के आठ कवि ये हैं—सूरदास, कुंभनदास, परमानंददास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गोविंदस्वामी, चतुर्भुजदास और नंददास।

कृष्ण भक्ति-परंपरा में श्रीकृष्ण की प्रेममयी मूर्त्ति को ही लेकर प्रेमतत्त्व की बड़े विस्तार के साथ व्यंजना हुई है; उनके लोकपक्ष का समावेश उसमें नही है। इन कृष्ण भक्तों के कृष्ण प्रेमोन्मत्त गोपिकाओं से घिरे हुए गोकुल के श्रीकृष्ण हैं, बड़े बड़े भूपालों के बीच लोकव्यवस्था की रक्षा करते हुए द्वारका के श्रीकृष्ण नहीं हैं। कृष्ण के जिस मधुर रूप को लेकर ये भक्त कवि चले है वह हास-विलास की तरंगों से परिपूर्ण अनंत सौंदर्य्य का समुद्र है। उस सार्वभौम प्रेमालंबन के सम्मुख मनुष्य का हृदय निराले प्रेमलोक में फूला फूला फिरता है। अतः इन कृष्णभक्त कवियों के संबंध में यह कह देना आवश्यक है कि ये अपने रंग में मस्त रहनेवाले जीव थे; तुलसीदास जी के समान लोकसंग्रह का भाव इनमें न था। समाज किधर जा रहा है, इस बात की परवा ये नहीं रखते थे, यहाँ तक कि अपने भगवत्प्रेम की पुष्टि के लिए जिस शृंगारमयी लोकोत्तर छटा और आत्मोत्सर्ग की अभिव्यंजना से इन्होंने जनता को रसोन्मत्त किया उसका लौकिक स्थूल दृष्टि रखनेवाले विषय-वासनापूर्ण जीवों पर कैसा प्रभाव पड़ेगा इसकी ओर इन्होंने ध्यान न दिया। जिस राधा और कृष्ण के प्रेम को इन भक्तों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का संकेत बनाया उसको लेकर आगे के कवियों ने शृंगार की उन्मादकारिणी उक्तियों से हिंदी काव्य को भर दिया।

कृष्णचरित के गान में गीतकाव्य की जो धारा पूरब में जयदेव और विद्यापति ने बहाई उसी का अवलंबन व्रज के भक्त-कवियों ने भी किया। आगे चलकर अलंकार-काल के कवियों ने अपनी शृंगारमयी मुक्तक कविता के लिए राधा और कृष्ण का ही प्रेम लिया। इस प्रकार कृष्ण-संबंधिनी कविता का स्फुरण मुक्तक के क्षेत्र में ही हुआ, प्रबंध क्षेत्र में नहीं। बहुत पीछे संवत् १८०९ में ब्रजवासीदास ने रामचरित-मानस के ढंग पर दोहा चौपाइयों में प्रबंध काव्य के रूप में कृष्णचरित वर्णन किया पर ग्रंथ बहुत साधारण कोटि का

हुआ और उसका वैसा प्रसार न हो सका। कारण स्पष्ट है। कृष्ण भक्त कवियों ने श्री कृष्ण भगवान् के चरित का जितना अंश लिया वह एक अच्छे प्रबंध-काव्य के लिए पर्य्याप्त न था। उसमें मानव-जीवन की वह अनेक-रूपता न थी जो एक बड़े प्रबंध-काव्य के लिए आवश्यक है। कृष्णभक्त कवियों की परंपरा अपने इष्टदेव की केवल बाललीला और यौवन-लीला लेकर ही अग्रसर हुई जो गीत और मुक्तक के लिये ही उपयुक्त थीं। मुक्तक के क्षेत्र में कृष्ण भक्त कवियों तथा आलंकारिक कवियों ने शृंगार और वात्सल्य रसों को पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया इसमें कोई संदेह नहीं।

पहले कहा गया है कि श्रीवल्लभाचार्य्य जी की आज्ञा से सूरदास जी ने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया। इनके सूरसागर में वास्तव में भागवत के दशमस्कंध की कथा ही ली गई है। उसी को इन्होंने विस्तार से गाया है। शेष स्कंधों की कथा संक्षेपतः इतिवृत्त के रूप में थोड़े से पदों में कह दी गई है। सूरसागर में कृष्णजन्म से लेकर श्रीकृष्ण के मथुरा जाने तक की कथा अत्यंत विस्तार से फुटकर पदों में गाई गई है। भिन्न भिन्न लीलाओं के प्रसंग लेकर इस सच्चे रसमग्न कवि ने अत्यंत मधुर और मनोहर पदों की झड़ी सी बाँध दी है। इन पदों के संबंध में सबसे पहली बात ध्यान देने की यह है कि चलती हुई व्रजभाषा में सबसे पहली साहित्यिक रचना होने पर भी ये इतने सुडौल और परिमार्जित हैं, पहली साहित्यक रचना और इतनी प्रगल्भ और काव्यांगपूर्ण कि आगे होनेवाले कवियों की शृंगार और वात्सल्य की उक्तियाँ सूर की जूठी सी जान पड़ती हैं! सूरसागर किसी चली आती हुई गीतकाव्य-परंपरा का—चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है। जिस प्रकार रामचरित गान करनेवाले भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदासजी का स्थान सर्वश्रेष्ठ है उसी प्रकार कृष्णचरित गानेवाले भक्त-कवियों में महात्मा सूरदासजी का। वास्तव में ये हिंदी काव्य-गगन के सूर्य और चंद्र हैं। जो तन्मयता इन दोनों भक्त शिरोमणि कवियों की वाणी में पाई जाती है वह अन्य कवियों में कहाँ? हिंदी काव्य इन्हींके प्रभाव से अमर हुआ; इन्हीं की सरसता से उसका स्रोत सूखने न पाया। सूर की स्तुति में, एक संस्कृत श्लोक के भाव को लेकर, यह दोहा कहा गया है—

उत्तम पद कवि गंग के कविता को बलबीर।
केशव अर्थ गंभीर को सूर तीन गुन धीर॥

इसी प्रकार यह दोहा भी बहुत प्रसिद्ध है।

किधौं सूर को सर लग्यो किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यो बेध्यो सकल सरीर॥

यद्यपि तुलसी के समान सूर का काव्य-क्षेत्र इतना व्यापक नहीं कि उसमें जीवन की भिन्न भिन्न दशाओं का समावेश हो पर जिस परिमित पुण्य-भूमि में उनकी वाणी ने संचार किया उसका कोई कोना अछूता न छोड़ा। शृंगार और वात्सल्य के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची वहाँ तक और किसी कवि की नहीं। इन दोनों क्षेत्रों में तो इस महाकवि ने मानो औरों के लिये कुछ छोड़ा ही नहीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने गीतावली में बाललीला को इनकी देखादेखी बहुत अधिक विस्तार दिया सही पर उसमें बाल-सुलभ भावों और चेष्टाओं की वह प्रचुरता नहीं आई, उसमें रूप-वर्णन की ही प्रचुरता रही। बालचेष्टा के स्वाभाविक मनोहर चित्रों का इतना बड़ा भांडार और कहीं नहीं। दो चार चित्र देखिए—

(१) काहे को आरि करत मेरे मोहन! यों तुम आँगन लोटी।
जो माँगहु सो देहुँ मनोहर, यहै बात तेरी खोटी।
सूरदास को ठाकुर ठाढ़ो हाथ लकुट लिये छोटी।

(२) सोभित कर नवनीत लिये।
घुटुरुन चलत, रेनु-तन-मंडित, मुख दधि लेप किए॥

(३) सिखवत चलन जसोदा मैया।
अरबराय कर पानि गहावत, डगमगाय धरै पैयाँ॥

(४) पाहुनी करि दै तनक मह्यो।
आरि करै मनमोहन मेरो, अंचल आनि गह्यो।
व्याकुल मथत मथनियाँ रीती, दधि भ्वैं ढरकि रह्यो।

बालकों के स्वाभाविक भावों की व्यंजना के न जाने

कितने सुंदर पद भरे पड़े हैं। 'स्पर्द्धा' का कैसा सुंदर भाव इस प्रसिद्ध पद में आया है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भइ, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति 'बल' की बेनी ज्यों ह्वैहै लाँबी मोटी॥

इसी प्रकार बालकों के क्षोभ के ये वचन देखिए—

खेलत में को काको गोसैयाँ ?
जाति पाँति हम तें कछु नाहिं, न बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातें अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ।

वात्सल्य के समान ही शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का इतना प्रचुर विस्तार और किसी कवि में नहीं। गोकुल में जब तक श्रीकृष्ण रहे तबतक का उनका सारा जीवन ही संयोग पक्ष है। दानलीला, माखन-लीला, चीर-हरण-लीला, रासलीला आदि न जाने कितनी लीलाओं पर सहस्रों पद भरे पड़े हैं। राधाकृष्ण के प्रेम के प्रादुर्भाव की कैसी स्वाभाविक परिस्थितियों का चित्रण हुआ है यही देखिए—

(क) करि ल्यौ न्यारी, हरि, आपनि गैयाँ।
नहिंन बसात लाल कछु तुमसों, सबै ग्वाल इक ठैयाँ।
(ख) धेनु दुहत अतिही रति बाढ़ी।
एक धार दोहनि पहुँचावत, एक धार जहँ प्यारी ठाढ़ी।
मोहन कर तें धार चलति पय, मोहनि-मुख अतिही छबि बाढ़ी।

शृंगार के अंतर्गत भावपक्ष और विभावपक्ष दोनों के अत्यंत विस्तृत और अनूठे वर्णन इस सागर के भीतर लहरें मार रहे हैं। राधाकृष्ण के रूप वर्णन में ही सैकड़ों पद कहे गए हैं जिनमें उपमा, रूपक और उत्प्रेक्षा आदि की प्रचुरता है। आँख पर ही न जाने कितनी उक्तियाँ हैं, जैसे—

देखि री ! हरि के चंचल नैन।
खंजन मीन मृगज चपलाई, नहिं पटतर एक सैन॥
राजिव दल, इंदीवर, शतदल, कमल कुशेशय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहि वै बिगसत, ये बिगसे दिन राति॥
अरुन असित सित झलक पलक प्रति को बरनै उपमाय।
मनो सरस्वति गंग जमुन मिलि आगम कीन्हों आय॥

नेत्रों के प्रति उपालंभ भी कहीं कहीं बड़े मनोहर हैं—

मेरे नैना बिरह की बेलि बई।
सींचत नैन-नीर के, सजनी ! मूल पतार गई॥
बिगसति लता सुभाय आपने छाया सघन भई।
अब कैसे निरुवारौं, सजनी ! सब तन पसरि छई॥

आँख तो आँख, कृष्ण की मुरली तक में प्रेम के प्रभाव से गोपियों को ऐसी सजीवता दिखाई पड़ती है कि वे अपनी सारी प्रगल्भता उसे कोसने में खर्च कर देती हैं—

मुरली तऊ गोपालहिं भावति।
सुन री सखी ! जदपि नँदनंदहि नाना भांति नचावति॥
राखति एक पायँ ठाढ़े करि अति अधिकार जनावति।
आपुन पौढ़ि अधर-सज्जा पर कर पल्लव सों पद पलुटावति।
भृकुटी कुटिल कोप नासा पुट हम पर कोपि कँपावति।

कालिंदी के कूल पर शरत् की चाँदनी में होनेवाले रास की शोभा का क्या कहना है जिसे देखने के लिये सारे देवता आकर इकट्ठे हो जाते थे। सूर ने एक न्यारे प्रेमलोक की आनंद छटा अपने बंद नेत्रों से देखी है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों का जो विरह-सागर उमड़ा है उसमें मग्न होने पर तो पाठकों को वार पार नहीं मिलता। वियोग की जितने प्रकार की दशाएँ हो सकती हैं सब का समावेश उसके भीतर है। कभी तो गोपियों को संध्या होने पर यह स्मरण आता है—

एहि बेरियाँ बन तें चलि आवते।
दूरहिं तें वह बेनु अधर धरि बारंबार बजावते॥

कभी वे अपने उजड़े हुए नीरस जीवन के मेल में न होने के कारण वृंदावन के हरे भरे पेड़ों को कोसती हैं—

मधुबन ! तुम कत रहत हरे ?
बिरह-वियोग स्यामसुंदर के ठाढ़े क्यों न जरे ?
तुम हौ निलज लाज नहिं तुमको फिर सिर पुहुप धरे।
ससा स्यार औ बन के पखेरू धिक धिक सबन करे।
कौन काज ठाढ़े रहे बन में काहे न उकठि परे ?

परंपरा से चले आते हुए चंद्रोपालंभ आदि सब विषयों का विधान सूर के वियोग-वर्णन के भीतर है, कोई बात छूटी नहीं है।

सूरसागर का सब से मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्य-पूर्ण अंश है 'भ्रमरगीत', जिसमें गोपियों की वचन-वक्रता अत्यंत मनोहारिणी है। ऐसा सुंदर उपालंभ-काव्य और कहीं नहीं मिलता। उद्धव तो अपने निर्गुण ब्रह्मज्ञान और योग कथा द्वारा गोपियों को प्रेम से विरत करना चाहते हैं और गोपियाँ उन्हें कभी पेट भर बनाती हैं, कभी उनसे अपनी विवशता और दीनता का निवेदन करती हैं। उद्धव के बहुत बकने पर वे कहती हैं—

ऊधो ! तुम अपनो जतन करौ।
हित की कहत कुहित की लागै, किन बेकाज ररौ।
जाय करौ उपचार आपनो हम जो कहति हैं जी की।
कछू कहत कछुवै कहि डारत, धुन देखियत नहिं नीकी॥

इस भ्रमरगीत का महत्त्व एक बात से और बढ़ गया है। भक्त-शिरोमणि सूर ने इसमें सगुणोपासना का निरूपण बड़े ही मार्मिक ढंग से—हृदय की अनुभूति के आधार पर, तर्क-पद्धति पर नहीं—किया है। जब उद्धव बहुत सा वाग्विस्तार करके निर्गुण ब्रह्म की उपासना का उपदेश बराबर देते चले जाते हैं तब गोपियाँ बीच में रोककर इस प्रकार पूछती हैं—

निर्गुण कौन देस को बासी ?
मधुकर हँसि समझाय; सौंह दै बूझति साँच, न हाँसी।

और कहती हैं कि चारों ओर भासित इस सगुण सत्ता का निषेध करके तू क्यों व्यर्थ उसके अव्यक्त और अनिर्दिष्ट पक्ष को लेकर योंही बक बक करता है।

सुनि है कथा कौन निर्गुन की, रचि पचि बात बनावत।
सगुन-सुमेरु प्रगट देखियत, तुम तृन की ओर दुरावत॥

उस निर्गुण और अव्यक्त का मानव हृदय के साथ भी कोई संबंध हो सकता है, यह तो बताओ—

रेख न रूप, बरन जाके नहिं ताको हमैं बतावत।
अपनी कहौ, दरस ऐसे को तुम कबहूँ हौ पावत ?
मुरली अधर धरत है सो, पुनि गोधन बन बन चारत ?
नैन बिसाल, भौंह बंकट करि देख्यो कबहुँ निहारत ?
तन त्रिभंग करि, नटवर वपु धरि, पीतांबर तेहि सोहत ?
सूरश्याम ज्यों देत हमैं सुख त्यों तुमको सोउ मोहत ?

अंत में वे यह कह कर बात समाप्त करती हैं कि तुम्हारे निर्गुण से तो हमें कृष्ण के अवगुणों मे ही अधिक रस जान पड़ता है—

ऊनो कर्म कियो मातुल बधि, मदिरा मत्त प्रमाद।
सूरश्याम एते अवगुन में निर्गुन तें अति स्वाद॥

(२) नंददास—ये सूरदास जी के प्रायः समकालीन थे और इनकी गणना अष्टछाप में है। कविता-काल इनका सूरदास जी की मृत्यु के पीछे संवत् १६२५ या उसके और आगे तक माना जा सकता है। इनका जीवन-वृत्त पूरा पूरा और ठीक ठीक नहीं मिलता। नाभाजी के भक्त-माल में इन पर जो छप्पय है उसमें जीवन के संबंध में इतना ही है—

चंद्रहास-अग्रज सुहृद परम-प्रेम-पथ में पगे।

इससे इतना ही सूचित होता है कि इनके भाई का नाम चंद्रहास था। इनके गोलोकवास के बहुत दिनों पीछे गोस्वामी विठ्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने जो "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता" लिखी उसमें इनका थोड़ा सा वृत्त दिया। उक्त वार्त्ता में नंद-दास जी तुलसीदास जी के भाई कहे गए हैं। गोकुल-नाथ जी का अभिप्राय प्रसिद्ध गो० तुलसीदास जी से ही है, यह पूरी वार्त्ता पढ़ने से स्पष्ट हो जाता है। उसमें स्पष्ट लिखा है कि नंददास जी का कृष्णोपासक होना उनके भाई राम के अनन्यभक्त तुलसीदास जी को अच्छा नहीं लगा और उन्होंने उलाहना लिखकर भेजा। यह वाक्य भी उसमें आया है—"सो एक दिन नंददास जी के मन में ऐसी आई। जैसे तुलसी दास जी ने रामायण भाषा करी है सो हम हूँ श्रीमद्भागवत भाषा करें।" गोस्वामी जी का नंददास के साथ वृंदावन में जाना और वहाँ "तुलसी मस्तक तब नवै धनुषबान लेव हाथ" वाली घटना भी उक्त वार्त्ता में ही लिखी है। पर गोस्वामी जी का नंददास जी का कोई संबंध न था यह बात पूर्ण-तया सिद्ध हो चुकी है। अतः उक्त वार्त्ता की बातों को, जो वास्तव में भक्तों का गौरव प्रचलित करने और बल्लभा-चार्य्य जी की गद्दी की महिमा प्रकट करने के लिये ही लिखी गई हैं, प्रमाण-कोटि में नहीं ले सकते।

उसी वार्त्ता में यह भी लिखा है कि द्वारका जाते हुए नंददास जी सिंधुनद ग्राम में एक रूपवती खत्रानी पर आसक्त हो गए। ये उस स्त्री के घर के चारों ओर चक्कर लगाया करते थे। घरवाले हैरान होकर कुछ दिनों के लिये गोकुल चले गए। वहाँ भी ये जा पहुँचे। अंत में वहीं पर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के सदुपदेश से इनका मोह छूटा और ये अनन्य भक्त हो गए। इस कथा में ऐतिहासिक तथ्य केवल इतना ही है कि इन्होंने गोसाईं विट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली। ध्रुवदास जी ने भी अपनी 'भक्तनामावली' में इनकी भक्ति की प्रशंसा के अतिरिक्त और कुछ नहीं लिखा है।

अष्टछाप में सूरदास जी के पीछे इन्हीं का नाम लेना पड़ता है। इनकी रचना भी बड़ी सरस और मधुर है। इनके संबंध में यह कहावत प्रसिद्ध है कि "और कवि गढ़िया, नंददास जड़िया"। इनकी सबसे प्रसिद्ध पुस्तक 'रासपंचाध्यायी' है जो रोला छंदों में लिखी गई है। इसमें, जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कृष्ण की रासलीला का अनुप्रासादि-युक्त साहित्यिक भाषा में विस्तार के साथ वर्णन है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सूर ने स्वाभाविक चलती भाषा का ही अधिक आश्रय लिया है, अनुप्रास और चुने हुए पदविन्यास आदि की ओर प्रवृत्ति नहीं दिखाई है, पर नंददास जी में ये बातें पूर्ण रूप में पाई जाती हैं। "रास-पंचाध्यायी" के अतिरिक्त इन्होंने ये पुस्तकें लिखी हैं—

भागवत दशमस्कंध, रुक्मिणी मंगल, रूपमंजरी, रसमंजरी, बिरह-मंजरी, नामचिंता-मणिमाला, अनेकार्थ नाममाला (कोश), दानलीला मानलीला, अनेकार्थ-मंजरी, ज्ञानमंजरी, श्यामसगाई, भ्रमरगीत। "विज्ञा-नार्थ-प्रकाशिका" नाम की संस्कृत पुस्तक की ब्रजभाषा गद्य में एक टीका भी इनकी मिलती है। दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—हितोपदेश और नासिकेत पुराण (गद्य में)। पर ये सब ग्रंथ मिलते नहीं हैं। जहाँ तक ज्ञात है इनकी चार पुस्तकें ही अब तक प्रकाशित हुई हैं—रासपंचाध्यायी, भ्रमरगीत, अनेकार्थ-मंजरी और अनेकार्थ-नाममाला। इनमें रासपंचाध्यायी और भ्रमरगीत ही प्रसिद्ध हैं, अतः उनसे कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

(रास-पंचाध्यायी से)

ताही छिन उडुराज उदित रस-रास-सहायक।
कुंकुम-मंडित बदन प्रिया जनु नागरि-नायक॥
कोमल किरन अरुन मानो बन व्यापि रही यों।
मनसिज खेल्यो फागु घुमड़ि घुरि रह्यो गुलाल ज्यों॥
फटकि छटा सी किरन कुंज-रंध्रन जब आई।
मानहुँ वितन बितान सुदेस तनाव तनाई॥
तब लीनो कर कमल योगमाया सी मुरली।
अघटित-घटना-चतुर बहुरि अधरन सुर जुरली॥

(भ्रमर गीत से)

कहन स्याम-संदेस एक मैं तुम पै आयो।
कहन समय संकेत कहूँ अवसर नहिं पायो॥
सोचत ही मन में रह्यो, कब पाऊँ इक ठाउँ।
कहि सँदेस नँदलाल को, बहुरि मधुपुरी जाउँ॥
सुनो ब्रजनागरी।
जो उनके गुन होय, वेद क्यों नेति बखानै।
निरगुन सगुन आतमा रुचि ऊपर सुख सानै॥
बेद पुराननि खोजि कै, पायो कतहुँ न एक।
गुन ही के गुन होहि तुम, कहौ अकासहि टेक॥
सुनो ब्रजनागरी।
जौ उनके गुन नाहिं और गुन भए कहाँ तें?
बीज बिना तरु जमै मोहि तुम कहौ कहाँ ते?
वा गुन की परछाहँ री माया-दरपन बीच।
गुन ते गुन न्यारे भए, अमल वारि जल कीच॥
सखा सुनु स्याम के॥

(३) कृष्णदास—ये भी वल्लभाचार्य्य जी के शिष्य और अष्टछाप में थे। यद्यपि ये शूद्र थे पर आचार्य्य जी के बड़े कृपापात्र थे और मंदिर के प्रधान मुखिया हो गए थे। "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" में इनका कुछ वृत्त दिया हुआ है। एक बार गोसाईं बिट्ठलनाथ जी से किसी बात पर अप्रसन्न होकर इन्होंने उनकी ड्योढ़ी बंद कर दी। इस पर गोसाईं विट्ठलनाथ जी के कृपा पात्र महाराज बीरबल ने इन्हें कैद कर लिया। पीछे

गोसाईं जी इस बात से बड़े दुखी हुए और इनको कारागार से मुक्त करा के प्रधान के पद पर फिर ज्यों का त्यों प्रतिष्ठित कर दिया। इन्होंने और सब कृष्णभक्तों के समान राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृंगार-रस के पद ही गाए हैं। जुगलमान-चरित्र नामक एक छोटा सा ग्रंथ इनका मिलता है। इसके अतिरिक्त दो ग्रंथ और इनके बनाए कहे जाते हैं—भ्रमरगीत और प्रेमसत्त्व-निरूपण। फुटकर पदों के संग्रह इधर उधर मिलते हैं। सूरदास और नंददास के सामने इनकी कविता साधारण कोटि की है। इनके कुछ पद नीचे दिए जाते हैं—

तरनि-तनया तट आवत है प्रात समय,
कंदुक खेलत देख्यो आनंद को कँदवा ॥
नूपुर पद कुनित, पीतांबर कटि बाँधे,
लाल उपरना, सिर मोरन के चँदवा ॥

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंदसुवन के संगम सुखकर अधिक विराजति गोपी।
मनहुँ विधाता गिरधर पिय हित सुरत धुजा सुख रोपी ॥
बदन कांति कै सुनु री भामिनि! सघन चंद-श्री लोपी।
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगम कोपी ॥
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हें, प्रेम पुंज की चोपी।

मो मन गिरिधर छवि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग चाल पै चलि कै, चिबुक चारु गड़ि टटक्यो ॥
सजल स्याम-घन-बरन लीन ह्वै, फिरि चित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रात निछावर यह तन जग सिर पटक्यो ॥

कहते हैं कि इसी अंतिम पद को गाकर कृष्णदास जी ने शरीर छोड़ा था। इनका कविता-काल संवत १६०० के आगे पीछे माना जा सकता है।

(४) परमानंद दास—ये भी श्रीवल्लभाचार्य्य जी के शिष्य और अष्टछाप में थे। ये संवत् १६०६ के आस-पास वर्त्तमान थे। इनका निवासस्थान कन्नौज था। इसी से ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण अनुमान किए जाते हैं। ये अत्यंत तन्मयता के साथ बड़ी ही सरस कविता करते थे। कहते हैं कि इनके किसी एक पद को सुनकर आचार्य जी कई दिनों तक तन बदन की सुध भूले रहे। इनके फुटकर पद कृष्णभक्तों के मुँह से प्रायः सुनने में आते हैं। इनके पदों का एक संग्रह, ध्रुवचरित तथा दानलीला नाम की एक छोटी सी पुस्तक हिंदी-पुस्तकों की खोज में मिली है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

कहा करौं बैकुंठहि जाय ?
जहँ नहिं नंद, जहाँ न जसोदा, नहिं जहँ गोपी ग्वाल, न गाय ॥
जहँ नहिं जल जमुना को निर्मल और नहीं कदमन की छाय।
परमानंद प्रभु चतुर ग्वालिनी, ब्रजरज तजि मेरी जाय बलाय ॥

राधेजू हारावलि टूटी।
उरज कमलदल माल मरगजी, बाम कपोल अलक लट छूटी ॥
वर उर उरज करज विच अंकित, बाहु जुगल बलयावलि फूटी।
कंचुकि चीर विविध रँग रंजित गिरवर-अधर-माधुरी घूँटी ॥
आलस-वलित नैन अनियारे, अरुन उनींदे रजनी खूटी।
परमानंद प्रभु सुरति समय रस मदन-नृपति की सेना लूटी ॥

(५) कुंभनदास—ये भी अष्टछाप के एक कवि थे और परमानंददास जी के ही समकालीन थे। ये पूरे विरक्त और धन मान मर्य्यादा की इच्छा से कोसों दूर थे। एक बार अकबर बादशाह के बुलाने पर इन्हें फतहपुर सिकरी जाना पड़ा जहाँ इनका बड़ा सम्मान हुआ। पर इसका इन्हें बराबर खेद ही रहा जैसा कि इस पद से व्यंजित होता है—

संतन को कहा सीकरी सों काम ?
आवत जात पनहियाँ टूटीं, बिसरि गयो हरि-नाम ॥
जिनको मुख देखे दुख उपजत, तिनको करिबे परी सलाम।
कुंभनदास लाल गिरिधर बिनु और सबै बेकाम ॥

इनका कोई ग्रंथ न तो प्रसिद्ध है और न अबतक मिला है। फुटकर पद अवश्य मिलते हैं। विषय वही कृष्ण की बाललीला और प्रेमलीला—

तुम नीके दुहि जानत गैया।
चलिए कुँवर रसिक मनमोहन लगौं तिहारे पैयाँ ॥
तुमहि जानि करि कनक-दोहनी घर तें पठई मैया।
निकटहि है यह खरिक हमारो, नागर लेहुँ बलैया ॥
देखियत परम सुदेस लरिकई चित चहुँट्यो सुँदरैया।
कुंभनदास प्रभु मानि लई रति गिरि गोबरधन रैया ॥

(६) **चतुर्भुज दास**- ये कुंभनदास जी के पुत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के शिष्य थे। ये भी अष्टछाप के कवियों में हैं। भाषा इनकी चलती और सुव्यवस्थित है। इनके बनाए तीन ग्रंथ मिले हैं—द्वादश यश, भक्ति-प्रताप, हितजू को मंगल।

इनके अतिरिक्त फुटकर पदों के संग्रह भी इधर उधर पाए जाते हैं। एक पद नीचे दिया जाता है—

जसोदा ! कहा कहौं हौं बात ?
तुम्हरे सुत के करतब मो पै कहत कहे नहिं जात ॥
भाजन फोरि, ढारि सब गोरस, लै माखन दधि खात।
जौं बरजौं तौ आँखि दिखावै, रंचहु नाहिं सकात ॥
और अटपटी कहँ लौं बरनौं, छुवत पानि सों गात।
दास चतुर्भुज गिरिधर गुन हौं कहति कहति सकुचात ॥

---

(७) **छीतस्वामी**— विट्ठलनाथ जी के शिष्य और अष्टछाप के अंतर्गत थे। पहले ये मथुरा के एक सुसंपन्न पंडा थे और राजा बीरबल ऐसे लोग इनके जजमान थे। पंडा होने के कारण ये पहले बड़े अक्खड़ और उद्दंड थे, पीछे गो० बिट्ठलनाथ जी से दीक्षा लेकर परम शांत भक्त हो गए और श्रीकृष्ण का गुणानुवाद करने लगे। इनकी रचनाओं का समय संवत् १६१२ के इधर मान सकते हैं। इनके फुटकर पद ही लोगों के मुँह से सुने जाते हैं या इधर उधर संगृहीत मिलते हैं। इनके पदों में शृंगार के अतिरिक्त ब्रजभूमि के प्रति प्रेम-व्यंजना भी अच्छी पाई जाती है। "हे बिधना तो सों अँचरा पसारि मांगौं जनम जनम दीजो याही ब्रज बसिबो" पद इन्हीं का है। अष्टछाप के और कवियों की सी मधुरता और सरसता इनके पदों में भी पाई जाती है, देखिए—

भोर भए नवकुंज-सदन तें आवत लाल गोवर्द्धनधारी।
लट पर पाग मरगजी माला, सिथिल अंग डगमग गति न्यारी ॥
बिनु-गुन माल बिराजति उर पर नखछत द्वैजचंद अनुहारी।
छीतस्वामि जब चितए मो तन तब हौं निरखि गई बलिहारी ॥

(८) **गोविंद स्वामी**—ये अंतरी के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे जो विरक्त की भाँति आकर महावन में रहने लगे थे। पीछे गो० विट्ठलनाथ जी के शिष्य हुए जिन्होंने इनके रचे पदों से प्रसन्न होकर इन्हें अष्टछाप में लिया। ये गोवर्द्धन पर्वत पर रहते थे और उसके पास ही उन्होंने कदंबों का एक अच्छा उपवन लगाया था जो अब तक "गोविंदस्वामी की कदंब-खंडी" कहलाता है। इनका रचना काल संवत् १६०० और १६२५ के भीतर ही माना जा सकता है। ये कवि होने के अतिरिक्त बड़े पक्के गवैये भी थे और तानसेन कभी कभी इनका गाना सुनने के लिए आया करते थे। इनका बनाया एक पद दिया जाता है—

प्रात समै उठि जसुमति जननी गिरधर सुत को उबटि न्हवावति।
करि सिंगार बसन भूषन सजि फूलन रचि रचि पाग बनावति ॥
छुटे बंद बागे अति सोभित, बिच बिच चोव अरगजा लावति।
सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु कि छबि कछु कहति न आवति ॥
विविध कुसुम की माला उर धरि श्री कर मुरली बेंत गहावति।
लै दरपन देखे श्रीमुख को, गोविंद प्रभु-चरननि सिर नावति ॥

(९) **हितहरिवंश**—राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्त्तक गोसाईं हितहरिवंश का जन्म संवत् १५५९ में मथुरा से ४ मील दक्षिण बादगाँव में हुआ था। राधा-बल्लभी संप्रदाय के पंडित गोपालप्रसाद शर्म्मा ने जन्म संवत् १५३० माना है, जो सब घटनाओं पर विचार करने से ठीक नहीं जान पड़ता। ओड़छा-नरेश महाराज मधुकर शाह के राजगुरु श्री हरिराम व्यास जी संवत् १६२२ के लगभग आपके शिष्य हुए थे। हितहरिवंश जी गौड़ ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम केशवदास मिश्र और माता का नाम तारावती था।

कहते हैं हितहरिवंश जी पहले माध्वानुयायी गोपाल भट्ट के शिष्य थे। पीछे इन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मंत्र दिया और इन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया। अतः हित संप्रदाय को माध्व संप्रदाय के अंतर्गत मान सकते हैं। हितहरिवंश जी के चार पुत्र और एक कन्या हुई। पुत्रों के नाम बनचंद्र, कृष्णचंद्र, गोपीनाथ और मोहन लाल थे। गोसाईं जी ने संवत् १५८२ में श्रीराधा-वल्लभ जी की मूर्त्ति वृंदावन में स्थापित की और वहीं विरक्त भाव से रहने लगे। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् और भाषा-काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे। १७० श्लोकों का 'राधा

सुधानिधि' आप ही का रचा कहा जाता है। ब्रजभाषा की रचना आप की यद्यपि बहुत विस्तृत नहीं है, पर है बड़ी सरस और हृदयग्राहिणी। आपके पदों का संग्रह "हित चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध है क्योंकि उसमें ८४ पद हैं। इनके द्वारा ब्रजभाषा की काव्यश्री के प्रसार में बड़ी सहायता पहुँची है। इनके कई शिष्य अच्छे अच्छे कवि हुए हैं। हरिराम व्यास ने इनके गोलोकवास पर बड़े चुभते पद कहे है। सेवक जी, ध्रुवदास आदि इनके शिष्य बड़ी सुंदर रचना कर गए हैं। अपनी रचना की मधुरता के कारण हित हरिवंश जी श्रीकृष्ण की बंशी के अवतार कहे जाते हैं। इनका रचना काल संवत् १६०० से संवत् १६४० तक माना जा सकता है। 'हित चौरासी' के अतिरिक्त इनकी फुटकर बानी भी मिलती है जिसमें सिद्धांत-संबंधी पद्य हैं। इनके 'हित चौरासी' पर लोकनाथ कवि ने एक टीका लिखी है। वृंदाबनदास ने इनकी स्तुति और वंदना में "हितजी की सहस्र नामावली" और चतुर्भुजदास ने 'हितजू को मंगल' लिखा है। इसी प्रकार हितपरमानंदजी और ब्रजजीवनदास ने इनकी जन्म-बधाइयाँ लिखी हैं। हितहरिवंश जी की रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं जिनसे इनकी वर्णन-प्रचुरता का परिचय मिलेगा—

(सिद्धांत संबंधी कुछ फुटकर पदो से)

रहौ कोउ काहू मनहिं दिए।
मेरे प्राननाथ श्री स्यामा सपथ करौं तिन छिए॥
जो अवतार-कदंब भजत है धरि दृढ़ ब्रत जु हिए।
तेऊ उमगि तजत मर्यादा बन-बिहार रस पिए॥
खोए रतन फिरत जे घर घर, कौन काज इमि जिए।
हित हरिवंश अनत सचु नाहीं बिन या रसहिं पिए॥

(हित चौरासी से)

ब्रज नव तरुनि कदंब मुकुट-मनि स्यामा आजु बनी।
नख सिख लौं अँग अंग माधुरी मोहे स्याम धनी॥
यों राजति कबरी गूथित कच कनक-कंज-बदनी।
चिकुर चंद्रिकन बीच अधर बिधु मानौ ग्रसित फनी॥
सौभग रस सिर स्रवत पनारी पिय सीमंत ठनी।
भ्रुकुटि काम-कोदंड, नैन शर, कज्जल-रेख अनी॥
भाल तिलक, ताटंक गंड पर, नासा जलज मनी।
दसन कुंद, सरसाधर पल्लव, पीतम-मन-समनी॥
हितहरिबंस प्रसंसित स्यामा कीरति बिसद घनी।
गावत श्रवननि सुनत सुखाकर विश्व-दुरित-दवनी॥

विपिन घन कुंज रति केलि भुज मेलि रुचि
स्याम स्यामा मिले सरद की जामिनी।
हृदय अति फूल, रसमूल पिय नागरी,
कर निकर मत्त मनु विविध गुन-रागिनी॥
सरस गति हास परिहास आवेस-बस
दलित दल मदन बल कोक रस कामिनी।
हितहरिबंस सुनि लाल लावन्य भिदे
प्रिया अति सूर सुख-सुरत-संग्रामिनी॥

(१०) गदाधर भट्ट—ये दक्षिणी ब्रह्मण थे। इनके जन्म संवत् आदि का ठीक ठीक पता नहीं। पर यह बात प्रसिद्ध है कि ये श्री चैतन्य महाप्रभु को भागवत सुनाया करते थे। इसका समर्थन भक्तमाल की इन पंक्तियों से भी होता है—

भागवत-सुधा बरषै बदन, काहू को नाहिंन दुखद।
गुण-निकर गदाधर भट्ट अति सबहिन को लागै सुखद॥

श्री चैतन्य महाप्रभु का आविर्भाव संवत् १५४२ में और गोलोकवास १५८४ में माना जाता है। अतः संवत् १५८४ के भीतर ही आपने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली होगी। महाप्रभु के जिन ६ विद्वान् शिष्यों ने गौड़ीय संप्रदाय के मूल संस्कृत ग्रंथों की रचना की थी उनमें जीव गोस्वामी भी थे जो वृंदावन में रहते थे। एक दिन दो साधुओं ने जीव गोस्वामी के सामने गदाधर भट्ट जी का यह पद सुनाया—

सखी हौं स्याम रंग रँगी।
देखि बिकाय गई वह मूरति, सूरत माँहि पगी॥
संग हुतो अपनो सपनो सो सोइ रही रस खोई।
जागेहु आगे दृष्टि परै, सखि, नेकु न न्यारो होई॥
एक जु मेरी अँखियनि में निसि द्यौस रह्यौ करि भौन।
गाय चरावन जात सुन्यो, सखि, सो धौं कन्हैया कौन?
कासों कहौं कौन पतियावै, कौन करै बकवाद?
कैसे कै कहि जात गदाधर गूँगे तें गुर-स्वाद?

इस पद को सुन जीव गोस्वामी ने भट्टजी के पास यह श्लोक लिख भेजा।

अनाराध्य राधा-पदाम्भोज युग्म-
मनाश्रित्य वृंदाटवी तत्पदांकम्।
असम्भाष्य तद्भाव गम्भीर चित्तान्
कुतः श्यामसिन्धोः रसस्यावगाहः॥

यह श्लोक पढ़कर भट्टजी मूर्च्छित हो गए। फिर सुध आने पर सीधे वृंदावन में जाकर चैतन्य महाप्रभु के शिष्य हुए। इस वृत्तांत को यदि ठीक मानें तो इनकी रचनाओं का आरंभ १५८० से मानना पड़ता है और अंत संवत् १६०० के पीछे। इस हिसाब से इनकी रचना का प्रादुर्भाव सूरदास जी की रचनाकाल के साथ साथ अथवा उससे भी कुछ पहले से मानना होगा।

संस्कृत के चूड़ांत पंडित होने के कारण शब्दों पर इनका बहुत विस्तृत अधिकार था। इनका पद-विन्यास बहुत ही सुंदर है। गो० तुलसीदासजी के समान इन्होंने संस्कृत पदों के अतिरिक्त संस्कृत-गर्भित भाषा-कविता भी की है। नीचे कुछ उदाहरण दिए जाते हैं—

जयति श्री राधिके, सकल–सुख–साधिके
तरुनि–मनि नित्य नवतन किसोरी।
कृष्णतन लीन मन, रूप की चातकी,
कृष्ण मुख–हिम–किरन की चकोरी॥
कृष्ण दृग–भृंग विश्राम हित पद्मिनी,
कृष्ण – दृग – मृगज – बंधन सुडोरी।
कृष्ण–अनुराग मकरंद की मधुकरी,
कृष्ण - गुन - गान – रस–सिंधु बोरी॥
विमुख पर चित्त तें चित्त जाको सदा,
करति निज नाह की चित्त चोरी।
प्रकृति यह गदाधर कहत कैसे बनै,
अमित महिमा, इतै बुद्धि थोरी।

झूलति नागरि नागर लाल।
मंद मंद सब सखी झुलावति, गावति गीत रसाल॥
फरहरात पट पीत नील के, अंचल चंचल चाल।
मनहुँ परस्पर उमगि ध्यान छबि प्रगट भई तिहि काल॥
सिलसिलात अति प्रिया सीस तें, लटकति बेनी नाल।
जनु पिय-मुकुट-बरहि भ्रम बस तहँ ब्याली विकल बिहाल॥
मल्लीमाल प्रिया की उर की, पिय तुलसीदल माल।
जनु सुरसरि रवितनया मिलिकै सोभित श्रेनि मराल॥
स्यामल गौर परस्पर प्रति छबि सोभा विसद विसाल।
निरखि गदाधर रसिक कुँवरि-मन पर्यो सुरस-जंजाल॥

(११) मीराबाई— ये मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री, राव दूदाजी की पौत्री और जोधपुर बसानेवाले प्रसिद्ध राव जोधा जी की प्रपौत्री थीं। इनका जन्म संवत् १५७३ में चोकड़ी नाम के एक गाँव में हुआ था और विवाह उदयपुर के महाराणा कुमार भोजराज जी के साथ हुआ था। ये आरंभ ही से कृष्णभक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के उपरांत थोड़े दिनों में इनके पति का परलोकवास हो गया। इनकी भक्ति दिन पर दिन बढ़ती ही गई। ये प्रायः मंदिर में जाकर उपस्थित भक्तों और संतों के बीच श्रीकृष्ण भगवान् की मूर्त्ति के सामने आनंद-मग्न होकर नाचती और गाती थीं। कहते हैं कि इनके इस राजकुल-विरुद्ध आचरण से इनके स्वजन लोकनिंदा के भय से रुष्ट रहा करते थे। यहाँ तक कहा जाता है कि इन्हें कई बार विष देने तक का प्रयत्न किया गया, पर भगवत्कृपा से विष का कोई प्रभाव इन पर न हुआ। घरवालों के व्यवहार से खिन्न होकर ये द्वारका और वृंदाबन के मंदिरों में घूम घूमकर भजन सुनाया करती थीं। जहाँ जातीं वहाँ इनका देवियों का सा सम्मान होता। ऐसा प्रसिद्ध है कि घरवालों से तंग आकर इन्होंने गोस्वामी तुलसीदासजी को यह पद लिखकर भेजा था—

स्वस्ति श्री तुलसी कुल भूषण दूषन-हरन गोसाईं।
बारहिं बार प्रनाम करहुँ, अब हरहु सोक-समुदाई॥
घर के स्वजन हमारे जेते सबन्ह उपाधि बढ़ाई।
साधु संग अरु भजन करत मोहिं देत कलेस महाई॥
मेरे मात-पिता के सम हौ, हरि भक्तन्ह सुखदाई।
हमको कहा उचित करिबो है, सो लिखिए समझाई॥

इस पर गोस्वामीजी ने विनयपत्रिका का यह पद लिख कर भेजा—

जाके प्रिय न रामबैदेही ।
सो नर तजिय कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही ।

× × ×

नाते सबै राम के मनियत सुहृद सुसेव्य जहाँ लौं ।
अंजन कहा आँखि जौ फूटै, बहुतक कहौं कहाँ लौं ॥

बाबा बेनीमाधवदास कृत 'गोसाईंचरित' में भी इस बात का उल्लेख है। अतः इसे केवल इसी तथ्य के आधार पर कि मीराबाई की मृत्यु द्वारका में संवत् १६०३ में हो चुकी थी इस घटना को कपोल कल्पना मान लेना ठीक नहीं प्रतीत होता जब तक कि मीराबाई के जन्म-मरण संवत् संशय की संभावना से परे सिद्ध न हो जायँ।

मीराबाई की उपासना "माधुर्य" भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं। जब लोग इन्हें खुले मैदान मंदिरों में पुरुषों के सामने जाने से मना करते तब ये कहतीं कि 'कृष्ण' के अतिरिक्त और पुरुष है कौन जिसके सामने मैं लज्जा करूँ ? मीराबाई का नाम भारत के प्रधान भक्तों में है और इनका गुणगान नाभाजी, ध्रुवदास, व्यासजी, मलूकदास आदि सब भक्तों ने किया है। इनके पद कुछ तो राजस्थानी-मिश्रित भाषा में हैं और कुछ विशुद्ध साहित्यिक ब्रजभाषा में। पर सब में प्रेम की तल्लीनता समान रूप से पाई जाती है। इनके बनाए चार ग्रंथ कहे जाते हैं—नरसी जी का मायरा, गीतगोविंद टीका, राग गोविंद, राग सोरठ के पद।

दो पद इनके नीचे दिए जाते हैं—

बसो मेरे नैनन में नँदलाल ।
मोहनि मूरति, साँवरि सूरति, नैना बने रसाल ।
मोर मुकुट मकराकृत कुंडल, अरुन तिलक दिये भाल ।
अधर सुधारस मुरली राजति, उर बैजंती माल ॥
छुद्रघंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल ।
मीरा प्रभु संतन सुखदाई, भक्तबछल गोपाल ॥

मन रे परसि हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल-कोमल त्रिविध-ज्वाला-हरन ॥
जो चरन प्रहलाद परसे इंद्र पदवी-हरन ।
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हों राखि अपनी सरन ॥
जिन चरन ब्रह्मंड भेंट्यो नखसिखौ श्री भरन ।
जिन चरन प्रभु परस लीन्हे तरी गौतम-घरनि ॥
जिन चरन धार्‍यो गोबरधन गरब-मघवा-हरन ।
दास मीरा लाल गिरधर अगम तारन तरन ॥

(१२) स्वामी हरिदास—ये महात्मा वृंदाबन में निंबार्क-मतांतर्गत टट्टी-संप्रदाय के संस्थापक थे और अकबर के समय में एक सिद्ध भक्त और संगीत-कला-कोविद माने जाते थे। कविता—काल १६०० से १६१७ ठहरता है। प्रसिद्ध गायनाचार्य्य तानसेन इनका गुरुवत् सम्मान करते थे। यह प्रसिद्ध है कि अकबर बादशाह साधु के वेश में तानसेन के साथ इनका गाना सुनने के लिए गया था। कहते हैं कि तानसेन इनके सामने गाने लगे और उन्होंने जानबूझ कर गाने में कुछ भूल कर दी। इस पर स्वामी हरिदास जी ने उसी गान को शुद्ध करके गया। इस युक्ति से अकबर को इनका गाना सुनने का सौभाग्य प्राप्त हो गया। पीछे अकबर ने बहुत कुछ पूजा चढ़ानी चाही पर इन्होंने स्वीकृत न की। इनका जन्म-संवत् आदि कुछ ज्ञात नहीं, पर इतना निश्चित है कि ये सनाढ्य ब्राह्मण थे जैसा कि सहचरि सरनदास जी ने, जो इनकी शिष्यपरंपरा में थे, लिखा है। वृंदाबन से उठकर स्वामी हरिदास जी कुछ दिन निधुवन में रहे थे। इनके पद कठिन राग रागिनियों में गाने योग्य हैं, पढ़ने में कुछ कुछ ऊबड़ खाबड़ लगते हैं। पद-विन्यास भी और कवियों के समान सर्वत्र मधुर और कोमल नहीं है, पर भाव उत्कृष्ट हैं। इनके पदों के तीन चार संग्रह 'हरिदास जी को ग्रंथ' 'स्वामी हरिदास जी के पद', "हरिदास जी की बानी" आदि नामों से मिलते हैं। एक पद देखिए—

ज्योंही ज्यों ही तुम राखत हौ, त्यों ही त्यों ही रहियत हौं, हे हरि !
और अपरचै पाय धरौं सुतौ कहौ कौन के पैंड भरि ॥
जदपि हौं अपनो भायो कियो चाहौं,
कैसे करि सकौं जौ तुम राखौ पकरि ।
कहै हरिदास पिंजरा के जनावर लौं
तरफराय रह्यो उड़िबे को कितोऊ करि ॥

(१३) सूरदास मदन मोहन—ये अकबर के समय में संडीले के अमीन थे। जाति के ब्राह्मण और गौड़ीय संप्रदाय के वैष्णव थे। ये जो कुछ पास में आता प्रायः सब साधुओं की सेवा में लगा दिया करते थे। कहते हैं कि एक बार संडीले तहसील की मालगुजारी के कई लाख रुपये सरकारी खजाने में आए थे। इन्होंने सब का सब साधुओं को खिला पिला दिया और शाही खजाने में कंकड़ पत्थरों से भरे संदूक भेज दिए जिनके भीतर कागज के चिट यह लिखकर रख दिए—

तेरह लाख संडीले आए सब साधुन मिलि गटके।
सूरदास मदन मोहन आधीरात सटके॥

और आधी रात को उठकर कहीं भाग गए। बादशाह ने इनका अपराध क्षमा करके इन्हें फिर बुलाया, पर ये विरक्त होकर वृंदाबन में रहने लगे। इनकी कविता इतनी सरस होती थी कि इनके बनाए बहुत से पद सूर सागर में मिल गए। इनकी कोई पुस्तक प्रसिद्ध नहीं। कुछ फुटकल पद लोगों के पास मिलते हैं। इनका रचना काल संवत् १५९० और १६०० के बीच अनुमान किया जाता है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

मधु के मतवारे स्याम, खोलौ प्यारे पलकैं।
सीस मुकुट लटा छुटी और छुटी अलकैं॥
सुर नर मुनि द्वार ठाढ़े, दरस हेतु कलकैं।
नासिका के मोती सोहै बीच लाल ललकैं॥
कटि पीतांबर मुरली कर श्रवन कुंडल झलकै।
सूरदास मदन मोहन दरस दैहौ भलकै॥

नवल किसोर नवल नागरिया।
अपनी भुजा स्याम भुज ऊपर, स्याम भुजा अपने उर धरिया।
करत विनोद तरनि-तनया-तट, स्यामा स्याम उमगि रस भरिया॥
यौं लपटाइ रहे उर अंतर मरकत मनि कंचन ज्यों जरिया॥
उपमा को घन दामिनि नाहीं, कँदरप कोटि वारने करिया।
सूर मदन मोहन बलिजोरी नँदनंदन वृषभानु-दुलरिया॥

(१४) श्रीभट्ट—ये निम्बार्क संप्रदाय के प्रसिद्ध विद्वान् केशव काश्मीरी के प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म संवत् १५९५ में अनुमान किया जाता है अतः इनका कविता-काल संवत् १६२५ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। इनकी कविता सीधी सादी और चलती भाषा में है। पद भी प्रायः छोटे छोटे हैं। इनकी कृति भी अधिक विस्तृत नहीं वै पर 'युगल शतक' नाम का इनका १०० पदों का एक ग्रंथ कृष्णभक्तों में बहुत आदर की दृष्टि से देखा जाता है। 'युगल शतक' के अतिरिक्त इनकी एक और छोटी सी पुस्तक 'आदि वाणी' भी मिलती है। ऐसा प्रसिद्ध है कि जब ये तन्मय होकर अपने पद गाने लगते थे तब कभी कभी उसी पद के ध्यानानुरूप इन्हें भगवान् की झलक प्रत्यक्ष मिल जाती थी। एक बार ये यह मलार गा रहे थे—

भीजत कब देखौं इन नैना।
स्यामाजू की सुरंग चूनरी, मोहन को उपरैना।

कहते हैं कि राधाकृष्ण इसी रूप में इन्हें दिखाई पड़ गए और इन्होंने पद इस प्रकार पूरा किया—

स्यामा स्याम कुंजतर ठाढ़े, जतन कियो कछु मैं ना।
श्रीभट उमड़ि घटा चहुँ दिसि तें घिरि आई जल सेना॥

इनके 'युगल शतक' से दो पद उद्धृत किए जाते हैं—

ब्रजभूमि मोहनी मैं जानी।
मोहन कुंज, मोहन वृंदाबन, मोहन जमुना-पानी॥
मोहनि नारि सकल गोकुल की, बोलति अमरित बानी।
श्रीभट के प्रभु मोहन नागर, मोहनि राधा रानी॥

बसौ मेरे नैननि में दोउ चंद।
गौर-बदनि वृषभानु-नंदिनी, स्यामबरन नँदनंद॥
गोलक रहे लुभाय रूप में निरखत आनँदकंद।
जय श्रीभट्ट प्रेमरस-बंधन, क्यों छूटै दृढ़ फंद॥

(१५) व्यासजी-इनका पूरा नाम हरीराम व्यास था औ ये ओरछा के रहनेवाले सनाढ्य शुक्ल ब्राह्मण थे। ओरछा-नरेश मधुकर साह के ये राजगुरु थे। पहले ये गौड़ संप्रदाय के वैष्णव थे पीछे हितहरिवंश जी के शिष्य होकर राधावल्लभी हो गए। इनका काल संवत् १६२० के आस पास है। ये संस्कृत शास्त्रार्थी पंडित थे और सदा शास्त्रार्थ करने के लिये तैयार रहते थे। एक बार वृंदाबन में जाकर गो० हितहरिवंशजी को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा। गोसाईं जी ने नम्रभाव से यह पद कहा—

यह जो एक मन बहुत ठौर करि कहि कौनै सचु पायो ।
जहँ तहँ विपति जार जुवती ज्यो प्रगट पिंगला गायो ॥

यह पद सुन व्यासजी चेत गए और हितहरिवंशजी के अनन्य भक्त हो गए। व्यासजी की मृत्यु पर इन्होंने इस प्रकार अपना शोक प्रकट किया—

हुतो रस रसिकन को आधार ।
बिन हरिवंसहि सरस रीति को कापै चलिहै भार ?
को राधा दुलरावै गावै, वचन सुनावै चार ?
वृंदावन की सहज माधुरी, कहिहै कौन उदार ?
पद-रचना अब कापै ह्वैहै, निरस भयो संसार ।
बड़ो अभाग अनन्य सभा को, उठिगो ठाट सिंगार ॥
जिन बिन दिन छिन जुग सम बीतत सहज रूप आगार ।
व्यास एक कुल-कुमुद-चंद बिनु उडुगन जूठी थार ॥

जब हितहरिवंश जी से दीक्षा लेकर व्यास जी वृंदाबन में ही रह गए तब महाराज मधुकरसाह इन्हें ओड़छा ले जाने के लिये स्वयं आए, पर ये वृंदावन छोड़ कर न गए और अधीर होकर इन्होंने यह पद कहा—

वृंदावन के रूख हमारे मात पिता सुत बंध ।
गुरु गोविंद साधुगति मति सुख, फल फूलन की गंध ॥
इनहिं पीठ दै अनत डीठि करै सो अंधन में अंध ।
व्यास इनहिं छोड़ै औ छुड़ावै ताको परियो कंध ॥

इनकी रचना परिमाण में भी बहुत विस्तृत है और विषय-भेद के विचार से भी अधिकांश कृष्ण भक्तों की अपेक्षा व्यापक है। ये श्रीकृष्ण की बाललीला और शृंगार-लीला में लीन रहने पर भी बीच बीच में संसार पर दृष्टि डाला करते थे। इन्होंने तुलसीदास जी के समान खलों पाखंडियों आदि का भी स्मरण किया है और रसगान के अतिरिक्त तत्त्व-निरूपण में भी ये प्रवृत्त हुए हैं। ज्ञान, वैराग्य और भक्ति तीनों पर बहुत से पद और साखियाँ इन्होंने कहीं हैं। इन्होंने एक 'रास पंचाध्यायी' भी लिखी है जिसे कुछ लोगों ने भूल से सूर सागर में मिला लिया है। इनकी रचना के थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

आज कछु कुंजन में बरषा सी ।
बादल दल में देखि सखी री ! चमकति है चपला सी ।
नान्ही नान्ही बूँदन कछु धुरवा से, पवन बहै सुखरासी ॥
मंद मंद गरजनि सी सुनियतु, नाचति मोर-सभा सी ।
इंद्रधनुष बगपंगति डोलति, बोलत कोक कला सी ।
इंद्रवधू छवि छाइ रही मनु गिरि पर अरुन घटा सी ॥
उमगि महीरुह स्यों महि फूली; भूली मृगमाला सी ।
रटति प्यास चातक ज्यों रसना, रस पीवत हू प्यासी ॥

सुघर राधिका प्रवीन बीना, वर रास रच्यो,
स्याम संग वर सुढंग तरनि-तनया तीरे ।
आनँदकँद वृंदाबन सरद मंद मंद पवन,
कुसुमपुंज तापदवन, धुनित कल कुटीरे ॥
रुनित किंकनी सुचारु, नूपुर तिमि बलय हारु,
अंग वर मृदंग ताल तरल रंग भीरे ।
गावत अति रंग रह्यो, मोपै नहिं जात कह्यो,
व्यास रसप्रवाह बह्यो निरखि नैन सीरे ॥

(साखी) व्यास न कथनी काम की करनी है इक सार ।
भक्ति बिना पंडित वृथा ज्यों खर चंदन-भार ॥
अपने अपने मत लगे वादि मचावत सोर ।
ज्यों त्यों सब को सेइबो एकै नंदकिसोर ॥
प्रेम अतन या जगत में जानै बिरला कोय ।
व्यास सतन क्यों परसि है पचि हारयो जग रोय ॥
सती, सूरमा संत जन इन समान नहिं और ।
अगम पंथ पै पग धरैं डिगे न पावैं ठौर ॥

(१६) रसखान—ये दिल्ली के एक पठान सरदार थे। इन्होंने 'प्रेमवाटिका' में अपने को शाही खानदान का कहा है—

देखि गदर हित साहिबी दिल्ली नगर मसान ।
छिनहिं बादसा-बंस की ठसक छाँड़ि रसखान ॥

संभव है पठान बादशाहों की कुल परंपरा से इनका संबंध रहा हो। ये बड़े भारी कृष्णभक्त और गोस्वामी बिट्ठलनाथ जी के बड़े कृपापात्र शिष्य थे। "दो सौ बावन बैष्णवों की वार्त्ता" में इनका वृत्तांत आया है। उक्त वार्त्ता के अनुसार ये पहले एक बनिये के लड़के पर आसक्त थे। एक दिन इन्होंने किसी को कहते हुए

सुना कि भगवान से ऐसा प्रेम करना चाहिए जैसा रसखान का उस बनिये के लड़के पर है। इस बात से मर्माहत होकर ये श्रीनाथ जी को ढूँढ़ते ढूँढ़ते गोकुल आए और वहाँ गोसाईं बिट्ठलनाथ जी से दीक्षा ली। यही आख्यायिका एक दूसरे रूप में भी प्रसिद्ध है। कहते हैं जिस स्त्री पर ये आसक्त थे वह बहुत मानवती थी और इनका अनादर किया करती थी। एक दिन ये श्रीमद्भागवत का फारसी तर्जुमा पढ़ रहे थे। उसमें गोपियों के अनन्य और अलौकिक प्रेम को पढ़ इन्हें ध्यान हुआ कि उसीसे क्यों न मन लगाया जाय जिस पर इतनी गोपियाँ मरती थीं। इसी बात पर ये बृंदाबन चले आए। 'प्रेमबाटिका' के इस दोहे का संकेत लोग इसी घटना की ओर बताते हैं—

तोरि मानिनी ते हियो, फोरि मोहनी मान।
प्रेमदेव की छविहि लखि भए मियाँ रसखान॥

इन प्रवादों से कम से कम इतना अवश्य सूचित होता है कि आरंभ से ही ये बड़े प्रेमी जीव थे। वही प्रेम अत्यंत गूढ़ भगवद्भक्ति में परिणत हुआ। प्रेम के ऐसे सुंदर उद्गार इनके सवैयों में निकले कि जन-साधारण प्रेम या शृंगार-संबंधी कवित्त-सवैयों को ही 'रसखान' कहने लगे—जैसे "कोई रसखान सुनाओ"। इनकी भाषा बहुत चलती, सरस और शब्दाडंबर-मुक्त होती थी। शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी और घनानंद की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका रचना-काल संवत् १६४० के उपरांत ही माना जा सकता है क्योंकि गोसाईं बिट्ठलनाथ जी का गोलोकवास १६४३ में हुआ था। प्रेमवाटिका का रचना काल सं० १६७१ है। अतः उनके शिष्य होने के उपरांत ही इनकी मधुर वाणी स्फुटित हुई होगी। इनकी कृति परिमाण में तो बहुत अधिक नहीं है पर जो है वह प्रेमियों के मर्म को स्पर्श करनेवाली है। इनकी दो छोटी छोटी पुस्तकें अब तक प्रकाशित हुई हैं—प्रेमवाटिका (दोहे) और सुजान रसखान (कवित-सवैया)। और कृष्णभक्तों के समान इन्होंने 'गीत काव्य' का आश्रय न लेकर कवित्त-सवैयों में अपने सच्चे प्रेम की व्यंजना की है। ब्रजभूमि के सच्चे प्रेम से परिपूर्ण ये दो सवैये इनके अत्यंत प्रसिद्ध हैं।

मानुष हौं तो वही रसखान बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जौ पसु हौं तो कहा बसु मेरो चरौं नित नंद की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर-धारन।
जौ खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदि कूल कदंब की डारन॥

या लकुटी अरु कामरिया पर राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौ निधि के सुख नंद की गाय चराय बिसारौं।
नैनन सों रसखान जबै ब्रज के बन बाग तड़ाग निहारौं।
केतिक ही कलधौत के धाम करील के कुंजन ऊपर वारौं॥

अनुप्रास की सुंदर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है। हावों को बीच बीच में बड़ी ही सुंदर व्यंजना है। दो और नमूने देखिए—

मोर पखा सिर ऊपर राखिहौं, गुंज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितांबर लै लकुटी बन गोधन ग्वालन संग फिरौंगी॥
भावतो सोई मेरो रसखान सो तेरे कहे सब स्वांग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की अधरान-धरी अधरा न धरौंगी॥

सेस महेस गनेस दिनेस सुरेशहु जाहि निरंतर गावैं।
जाहि अनादि अनंत अखंड अछेद अभेद सुवेद बतावैं॥
नारद से सुक ब्यास रटैं पचि हारे तऊ पुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरियाँ छछिया भर छाछ पै नाच नचावैं॥

(प्रेम-वाटिका से)

जेहि बिनु जाने कछुहि नहिं जान्यो जात बिसेस।
सोइ प्रेम जेहि जान कै रहि न जात कुछ सेस॥
प्रेमफाँस सों फँसि मरै सोई जियै सदाहि।
प्रेम परम जाने बिना मरि कोउ जीवत नाहिं॥

(१७) ध्रुवदास—ये श्री हितहरिवंशजी के शिष्य स्वप्न में हुए थे। इसके अतिरिक्त इनका कुछ जीवनवृत्त नहीं प्राप्त हुआ है। ये अधिकतर बृंदावन ही में रहा करते थे। इनकी रचना बहुत ही विस्तृत है और

इन्होंने पदों के अतिरिक्त दोहे, चौपाई, कवित्त, सवैये आदि अनेक छंदों में भक्ति और प्रेम-तत्त्व का वर्णन किया है। छोटे मोटे सब मिला कर इनके ४० ग्रंथ के लगभग मिले हैं जिनके नाम ये हैं—

वृंदाबन सत, सिंगार सत, रस-रत्नावली, नेह-मंजरी रहस्यमंजरी, सुखमंजरी, रतिमंजरी, बन-विहार, रंग विहार, रस-विहार, आनंद-दसा-विनोद, रंग विनोद, नृत्य विलास, रंग हुलास, मान-रस-लीला, रहस लता, प्रेमलता, प्रेमावली, भजन कुंडलिया, भक्त-नामावली, मन-सिंगार, भजन सत, प्रीति चौवनी, रस-मुक्तावली, बामन वृहत पुराण की भाषा, सभा मंडली, रसानंद लीला, सिद्धांत-विचार, रस हीरावली, हित-सिंगार-लीला, ब्रजलीला, आनंदलता, अनुराग-लता, जीवदशा, वैद्य-लीला, दानलीला, व्याहलो।

नाभाजी के भक्तमाल के अनुकरण पर इन्होंने भक्त-नामावली लिखी है जिसमें अपने समय तक के भक्तों का उल्लेख किया है। इनकी कई पुस्तकों में संवत दिए हैं; जैसे—सभा मंडली १६८१; वृंदावन सत १६८६ और रसमंजरी १६९८। अतः इनका रचना काल संवत् १६६० से १७०० तक माना जा सकता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

('सिंगार सत' से)

रूपजल उठत तरंग हैं कटाछन के
अंग अंग भौरन की अति गहराई है।
नैनन को प्रतिबिंब पर्‍यो है कपोलन में,
तेई भए मीन तहाँ ऐसी उर आई है॥
अरुन कमल मुसुकान मानो फबि रही,
थिरकन बेसरि के मोती की सुहाई है।
भयो है मुदित सखी लाल को मराल-मन्न
जीवन जुगल ध्रुव एक ठाँव पाई है॥

('नेहमंजरी' से)

प्रेम बात कछु कही न जाई। उलटी चाल तहाँ सब भाई।
प्रेम बात सुनि बौरो होई। तहाँ सयान रहै नहिं कोई॥
तन मन प्रान तिही छिन हारे। भली बुरी कछु वै न विचारे॥
ऐसो प्रेम उपजिहै जबहीं। हित ध्रुव बात बनैगी तबहीं॥

('भजन सत' से)

बहु बीती थोरी रही, सोऊ बीती जाय।
हित ध्रुव बेगि बिचारि कै बसि वृंदाबन आय॥
बसि वृंदाबन आय त्यागि लाजहि अभिमानहि।
प्रेमलीन ह्वै दीन आपको तृन सम जानहि॥
सकल सार कौ सार, भजन तू करि रस रीती।
रे मन सोच बिचार, रही थोरी, बहु बीती॥

कृष्णोपासक भक्त कवियों की परंपरा अब यहीं समाप्त की जाती है। पर इसका अभिप्राय यह नहीं कि ऐसे भक्त कवि आगे और नहीं हुए। कृष्णगढ़नरेश महाराज नागरीदास जी, अलबेली अलि जी, चाचा हित वृंदाबनदास जी, भगवत रसिक आदि अनेक पहुँचे हुए भक्त बराबर होते गए हैं जिन्होंने बड़ी सुंदर रचनाएँ की हैं। पर पूर्वोक्त काल के भीतर ऐसे भक्त कवियों की जितनी प्रचुरता रही है उतनी आगे चलकर नहीं। वे कुछ अधिक अंतर देकर हुए हैं। ये कृष्णभक्त कवि हमारे साहित्य में प्रेम-माधुर्य का जो सुधास्रोत बहा गए हैं उसके प्रभाव से हमारे काव्यक्षेत्र में सरसता और प्रफुल्लता बराबर बनी रहेगी। 'दुःखवाद' की छाया आ आकर भी टिकने न पाएगी। इन भक्तों का हमारे साहित्य पर बड़ा भारी उपकार है।

भक्तिकाल की फुटकल रचनाएँ।

जिन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों के बीच भक्ति का काव्य-प्रवाह उमड़ा उनका संक्षिप्त उल्लेख आरंभ में हो चुका है। वह प्रवाह राजाओं या शासकों के प्रोत्साहन आदि पर अवलंबित न था। वह जनता की प्रवृत्ति का प्रवाह था जिसका प्रवर्त्तक काल था। न तो उसको पुरस्कार या यश के लोभ ने उत्पन्न किया था और न भय रोक सकता था। उस प्रवाह-काल के बीच अकबर ऐसे योग्य और गुणग्राही शासक का भारत के अधीश्वर के रूप में प्रतिष्ठित होना एक आकस्मिक बात थी। अतः सूर और तुलसी ऐसे भक्त कवीश्वरों के प्रादुर्भाव के कारणों में अकबर द्वारा संस्थापित शांति-सुख की गिनना भारी भूल है। उस शांति सुख का परि-

णाम स्वरूप जो साहित्य उत्पन्न हुआ वह दूसरे ढंग का था। उसका कोई एक निश्चित स्वरूप न था; सच पूछिए तो वह उन कई प्रकार की रचना पद्धतियों का पुनरुत्थान था जो पठानों के शासन-काल की अशांति और विप्लव के बीच दब सी गई थीं और धीरे धीरे लुप्त होने जा रही थीं।

पठान शासक भारतीय संस्कृति से अपने कट्टरपन के कारण दूर ही दूर रहे। अकबर की चाहे नीति-कुशलता कहिए, चाहे उदारता; उसने देश की परंपरागत संस्कृति में पूरा योग दिया जिससे कला के क्षेत्र में फिर से उत्साह का संचार हुआ। जो भारतीय कलावंत छोटे मोटे राजाओं के यहाँ किसी प्रकार अपना निर्वाह करते हुए संगीत को सहारा दिए हुए थे वे अब शाही दरबार में पहुँच कर 'वाह वाह' की ध्वनि के बीच अपना करतब दिखाने लगे। जहाँ बचे हुए हिंदू राजाओं की सभाओं में ही कविजन थोड़ा बहुत उत्साहित या पुरुस्कृत किए जाते थे वहाँ अब बादशाह के दरबार में भी उनका सम्मान होने लगा। कवियों के सम्मान के साथ साथ कविता का सम्मान भी यहाँ तक बढ़ा कि अब्दुर्रहीम खानखाना ऐसे उच्चपदस्थ सरदार क्या बादशाह तक ब्रजभाषा की ऐसी कविता करने लगे—

जाको जस है जगत में, जगत सराहै जाहि।
ताको जीवन सफल है, कहत अकब्बर साहि॥

साहि अकब्बर एक समै चले कान्ह विनोद बिलोकन बालहि।
आहट तें अबला निरख्यौ चकि चौंकि चली करि आतुर चालहि॥
त्यों बलि बेनी सुधारि धरी सुभई छवि यों ललना अरु लालहि।
चंपक चारु कमान चढ़ावत काम ज्यों हाथ लिये अहि बालहि॥

नरहरि और गंग ऐसे सुकवि और तानसेन ऐसे गायक अकबरी दरबार की शोभा बढ़ाते थे।

यह अनुकूल परिस्थिति हिंदी-काव्य को अग्रसर करने में अवश्य सहायक हुई। वीर, शृंगार और नीति की कविताओं के आविर्भाव के लिये विस्तृत क्षेत्र फिर खुल गए। जैसा आरंभकाल में दिखाया जा चुका है फुटकल कविताएं अधिकतर इन्हीं विषयों को लेकर छप्पय, कवित्त-सवैयों और दोहों में हुआ करती थीं। अतः अकबर के राजत्व काल में एक ओर तो इस चली आती हुई परंपरा को प्रोत्साहन मिला और दूसरी ओर भक्त कवियों की दिव्य वाणी का स्रोत उमड़ चला। इन दोनों की सम्मिलित विभूति से अकबर का राजत्वकाल जगमगा उठा और साहित्य के इतिहास में उसका एक विशेष स्थान हुआ। जिस काल में सूर और तुलसी ऐसे भक्ति के अवतार तथा नरहरि, गंग और रहीम ऐसे निपुण और भावुक कवि दिखाई पड़े उसके साहित्यिक गौरव की ओर ध्यान जाना स्वाभाविक ही है।

(१) छीहल—ये राजपूताने की ओर के थे। संवत् १५७५ में इन्होंने पंच-सहेली नाम की एक छोटी सी पुस्तक दोहों में राजस्थानी-मिली भाषा में बनाई जो कविता की दृष्टि से अच्छी नहीं कही जा सकती। इसमें पाँच सखियों की विरह-वेदना का वर्णन है। दोहे इस ढंग के हैं—

देख्या नगर सुहावना अधिक सुचंगा थानु।
नाउँ चँदेरी परगटा जनु सुरलोक समान॥
ठाईं ठाईं सरवर पेखिइ सूभर भरे निवाण।
ठाईं ठाईं कुँवा बावरी सोहइ फटिक सवाँण॥
पंद्रह सै पचहत्तरे पूनिम फागुण मास।
पंचसहेली वर्णई कवि छीहल परगास॥

(२) लालदास—ये रायबरेली के एक हलवाई थे। इन्होंने संवत् १५८५ में "हरि चरित्र" और संवत् १५८७ में "भागवत दशमस्कंध" भाषा नाम की पुस्तक अवधी-मिली भाषा में बनाई। ये दोनों पुस्तकें काव्य की दृष्टि से नीची श्रेणी की हैं और दोहे चौपाइयों में लिखी गई हैं। "भागवत" भाषा इस प्रकार की चौपाइयों में लिखी गई है—

पंद्रह सौ सत्तासी जहिया। समय बिलंबित बरनौं तहिया।
मास असाढ़ कथा अनुसारी। हरिवासर रजनी उजियारी॥
सकल संत कहँ नावौं माथा। बलि बलि जैहौं जादवनाथा॥
रायबरेली बरनि अवासा। लालच रामनाम कै आसा॥

(३) कृपाराम—इनका कुछ वृत्तांत ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १५९८ में रस-रीति पर 'हिततरंगिणी' नामक ग्रंथ दोहों में बनाया। रीति या लक्षण-ग्रंथों में यह

बहुत पुराना है। कवि ने कहा है कि और कवियों ने बड़े छंदों के विस्तार में शृंगाररस का वर्णन किया है पर मैंने 'सुघरता' के विचार से दोहों में वर्णन किया है। इससे जान पड़ता है कि इनके पहले और लोगों ने भी रीतिग्रंथ लिखे थे जो अब नहीं मिलते हैं। हिततरंगिणी के कई दोहे बिहारी के दोहों से मिलते जुलते हैं। पर इससे यह नहीं सिद्ध होता कि यह ग्रंथ बिहारी के पीछे का है क्योंकि ग्रंथ में निर्माण-काल बहुत स्पष्ट रूप से दिया हुआ है।—

सिधि निधि सिव मुख चंद्र लखि माघ सुदि तृतियासु।
हिततरंगिनी हौं रची कवि हित परम प्रकासु॥

दो में से एक बात हो सकती है—या तो बिहारी ने उन दोहों को जान बूझकर लिया अथवा वे दोहे पीछे से मिल गए। हिततरंगिणी के दोहे बहुत ही सरस, भाव पूर्ण तथा परिमार्जित भाषा में हैं। कुछ नमूने देखिए—

लोचन चपल कटाच्छ सर अनियारे बिष पूरि।
मन-मृग बेधैं मुनिन के जगजन सहित बिसूरि॥
आजु सबारे हौं गई नंदलाल हित ताल।
कुमुद कुमुदिनी के भटू निरखे औरै हाल॥
पति आयो परदेस तें ऋतु बसंत को मानि।
झमकि झमकि निज महल में टहलैं करै सुरानि॥

(४) महापात्र नरहरि बंदीजन—इनका जन्म संवत् १५६२ और मृत्यु संवत् १६६७ में कही जाती है। महापात्र की उपाधि इन्हें अकबर के दरबार से मिली थी। ये असनी-फतेहपुर के रहनेवाले थे और अकबर के दरबार में इनका बहुत मान था। इन्होंने छप्पय और कवित्त कहे हैं। इनके बनाए दो ग्रंथ परम्परा से प्रसिद्ध हैं—'रुक्मिणीमंगल' और 'छप्पयनीति'। एक तीसरा ग्रंथ 'कवित्त-संग्रह' भी खोज में मिला है। इनका वह प्रसिद्ध छप्पय नीचे दिया जाता है जिस पर, कहते हैं कि, अकबर ने गोवध बंद कराया था—

अरिहु दंत तिनु धरै ताहि नहिं मारि सकत कोइ।
हम संतत तिनु चरहिं, वचन उच्चरहिं दीन होइ॥
अमृत पय नित स्रवहिं, बच्छ महि थंभन जावहिं।
हिंदुहि मधुर न देहि, कटुक तुरकहि न पियावहिं॥
कह कवि नरहरि अकबर सुनौ बिनवति गउ जोरे करन।
अपराध कौन मोहि मारियत मुएहु चाम सेवइ चरन॥

(५) नरोत्तमदास—ये सीतापुर जिले के बाड़ी नामक कसबे के रहनेवाले थे। शिवसिंह-सरोज में इनका संवत् १६०२ में वर्त्तमान रहना लिखा है। इनकी जाति का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। इनका 'सुदामा-चरित्र' ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसमें घर की दरिद्रता का बहुत ही सुंदर वर्णन है। यद्यपि यह छोटा है पर इसकी रचना बहुत ही सरस और हृदयग्राहिणी है और इनकी भावुकता का परिचय देती है। भाषा भी बहुत ही परिमार्जित और व्यवस्थित है। बहुतेरे कवियों के समान भरती के शब्द और वाक्य इसमें नहीं हैं। कुछ लोगों के अनुसार इन्होंने इसी प्रकार का एक और खंडकाव्य 'ध्रुवचरित्र' भी लिखा है। पर वह कहीं देखने में नहीं आया। 'सुदामा चरित्र' का यह कवित्त बहुत लोगों के मुँह से सुनाई पड़ता है—

सीस पगा न झगा तन पै, प्रभु! जानै को आहि बसै केहि ग्रामा।
धोती फटी सी, लटी दुपटी अरु पायँ उपानह को नहिं सामा॥
द्वार खड़ो द्विज दुर्बल एक, रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥

कृष्ण की-दीनवत्सलता और करुणा का एक यह और कवित्त देखिए—

कैसे बिहाल बिवाइन सों भए कंटक जाल गड़े पग जोए।
हाय महादुख पाए सखा! तुम आए इतै न कितै, दिन खोए?
देखि सुदामा की दीन दसा करुना करि कै करुनानिधि रोए।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं, नैनन के जल सों पग धोए॥

(६) महाराज टोडरमल—ये कुछ दिन शेरशाह के यहाँ ऊँचे पद पर थे पीछे अकबर के समय में भूमिकर विभाग के मंत्री हुए। इनका जन्म संवत् १५८० में और मृत्यु संवत् १६४६ में हुई। ये कुछ दिनों तक बंगाल के सूबेदार भी थे। ये जाति के खत्री थे। इन्होंने शाही दफ्तरों में हिंदी के स्थान पर फ़ारसी का प्रचार किया जिससे हिंदुओं का झुकाव फारसी की शिक्षा की ओर हुआ। ये प्रायः नीति-संबंधी पद्य कहते थे। कोई पुस्तक तो नहीं मिलती, फुटकर कवित्त इधर

उधर मिलते हैं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

जार को विचार कहा, गनिका को लाज कहा,
गदहा को पान कहा, आँधरे को आरसी।
निगुनी को गुन कहा, दान कहा दारिद को,
सेवा कहा सूम की अरंडन की डार सी॥
मदपी को सुचि कहाँ, साँच कहाँ लंपट को,
नीच को बचन कहा स्यार की पुकार सी।
टोडर सुकवि ऐसे हठी तौ न टारे टरैं,
भावै कहौ सूधी बात, भावै कहौ फारसी॥

(७) **महाराज बीरबल**—इनकी जन्मभूमि कुछ लोग नारनौल बतलाते हैं और इनका नाम महेशदास। प्रयाग के किले के भीतर जो अशोक स्तंभ है उस पर यह खुदा—है "संवत् १६३२, शाके १४९३ मार्गबदी ५ सोमार गंगादास सुत महाराज बीरबल श्रीतीरथराज प्रयाग की यात्रा सुफल लिखितं।" यह लेख महाराज बीरबल के संबंध में ही जान पड़ता है क्योंकि गंगादास और महेशदास नाम मिलते जुलते हैं जैसे कि पितापुत्र के हुआ करते हैं। बीरबल का जो उल्लेख भूषण ने किया है उससे इनके निवासस्थान का पता चलता है।

द्विज कन्नौज कुल कस्यपी रतनाकर—सुत धीर।
बसत त्रिविक्रम पुर सदा तरनि—तनूजा तीर॥
बीर बीरबल से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥

उनका जन्मस्थान तिकवाँपुर ही ठहरता है पर कुल का निश्चय नहीं होता। यह तो प्रसिद्ध ही है कि ये अकबर के मंत्रियों में थे और बड़े ही वाक्चतुर और प्रत्युत्पन्न-मति थे। इनके और अकबर के बीच होनेवाले विनोद और चुटकुले उत्तर भारत के गाँव गाँव में प्रसिद्ध हैं। महाराज बीरबल व्रजभाषा के अच्छे कवि थे और कवियों का बड़ी उदारतापूर्वक सम्मान करते थे। कहते हैं केशवदास जी को इन्होंने एक बार छ लाख रुपए दिए थे और केशवदास की पैरवी से ओड़छा-नरेश पर एक करोड़ का जुरमाना मुआफ़ करा दिया था। इनके मरने पर अकबर ने यह सोरठा कहा था—

दीन देखि सब दीन, एक न दीन्हों दुसह दुख।
सो अब हम कहँ दीन, कछु नहिं राख्यो बीरबल॥

इनकी कोई पुस्तक नहीं मिलती है, पर कई सौ कवित्तों का एक संग्रह भरतपुर में है। इनकी रचना अलंकार आदि काव्यांगों से पूर्ण और सरस होती थी। कविता में ये अपना नाम ब्रह्म रखते थे। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

उछरि उछरि भेकी झपटै उरग पर,
उरग पै केकिन के लपटैं लहकि हैं।
केकिन के सुरति हिए की ना कछू है भए,
एकी करी केहरि न बोलत बहकि है॥
कहै कवि ब्रह्म वारि हेरत हरिन फिरैं,
बैहर बहत बड़े जोर सों जहकि है।
तरनि के तावन तवा सी भइ भूमि रही,
दसहू दिसान में दवारि सी दहकि है॥

पूत कपूत, कुलच्छिनि नारि, लराक परोसि, लजाय न सारो।
बंधु कुबुद्धि, पुरोहित लंपट, चाकरु चोर, अतीथ धुतारो॥
साहब सूम, अड़ाक तुरंग, किसान कठोर, दिवान नकारो।
ब्रह्म भनै सुनु साह अकब्बर बारहौ बाँधि समुद्र में डारो॥

(८) **गंग**—ये अकबर के दरबारी कवि थे और रहीम खानखाना इन्हें बहुत मानते थे। इनके जन्म-काल तथा कुल आदि का ठीक वृत्त ज्ञात नहीं। कुछ लोग इन्हें ब्राह्मण कहते हैं पर अधिकतर ये ब्रह्मभट्ट ही प्रसिद्ध हैं। ऐसा कहा जाता है कि किसी नवाब या राजा की आज्ञा से ये हाथी से चिरवा डाले गए थे और उसी समय मरने के पहले इन्होंने यह दोहा कहा था—

कबहुँ न भड़ुँवा रन चढ़े कबहुँ न बाजी बंब।
सकल सभाहि प्रनाम करि बिदा होत कवि गंग॥

इसके अतिरिक्त कई और कवियों ने भी इस बात का उल्लेख वा संकेत किया है। देव कवि ने कहा है—

"एक भये प्रेत, एक मींजि मारे हाथी"।

ये पद्य भी इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं—

सब देवन को दरबार जुरयो तहँ पिंगल छंद बनाय कै गायो।
जब काहू तें अर्थ कह्यो न गयो तब नारद एक प्रसंग चलायो॥

मृतलोक मे है नर एक गुनी, कहि गंग को नाम सभा में बतायो।
सुनि चाह भई परमेसर को तब गंग को लेन गनेस पठायो॥

'गंग ऐसे गुनी को गयंद सो चिराइए।'

बाबा बेनीमाधवदास ने भी गोसाईं चरित्र में इस घटना का इस प्रकार उल्लेख किया है—

गंग कहेउ हाथी कवन माला जपेउ सुजान।
कठमलिया वंचक भगत, कहि सो गयो रिसान॥
छमा किये नहिं स्राप दिय, रँगे सांति रस रंग।
मारग में हाथी कियो, झपटि गंग तनु भंग॥

इन प्रमाणों से यह घटना ठीक ठहरती है। गंग कवि बहुत निर्भीक होकर बात कहते थे। ये अपने समय के नरकाव्य करनेवाले कवियों में सब से श्रेष्ठ माने जाते थे। दासजी ने कहा है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।

कहते हैं रहीम खानखाना ने इन्हें एक छप्पय पर छत्तीस लाख रुपये दे डाले थे। वह छप्पय यह है—

चकित भँवर रहि गयो गमन नहिं करत कमलबन।
अहि फन मनि नहिं लेत, तेज नहिं बहत पवन घन॥
हंस मानसर तज्यो चक्क चक्की न मिलै अति।
बहु सुंदरि पद्मिनी पुरुष न चहै, न करै रति॥
खलभलित सेस कवि गंग भन, अमित तेज रविरथ खस्यो।
खानान खान बैरम-सुवन जबहिं क्रोध करि तँग कस्यौ॥

सारांश यह कि गंग अपने समय के प्रधान कवि माने जाते थे। इनकी कोई पुस्तक अभी नहीं मिली है। पुराने-संग्रह ग्रंथों में इनके बहुत से कवित्त मिलते हैं। सरस-हृदय के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी इनमें प्रचुर मात्रा में था। वीर और शृंगाररस के बहुत ही रमणीय कवित्त इन्होंने कहे हैं। कुछ अन्योक्तियाँ भी बड़ी मार्मिक हैं। हास्य रस का पुट भी बड़ी निपुणता से ये अपनी रचना में देते थे। घोर अतिशयोक्ति पूर्ण वस्तु-व्यंग्य पद्धति पर विरहताप का वर्णन भी इन्होंने किया है। उस समय की रुचि को रंजित करनेवाले सब गुण इनमें वर्त्तमान थे, इसमें कोई सदेह नहीं। इनका कविताकाल विक्रम की सत्रहवीं शताब्दी का मध्य मानना चाहिए। रचना के कुछ नमूने देखिए—

बैठी ती सखिन संग, पियको गवन सुन्यो,
सुख के समूह में वियोग-आगि भरकी।
गंग कहै त्रिविध सुगंध लै पवन बह्यो,
लागत ही ताके तन भई बिथा जर की॥
प्यारी को परसि पौन गयो मानसर कहँ,
लागत ही औरै गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भयो,
जल जरि गयो, पंक सूख्यो, भूमि दरकी॥

झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन ते एक मानो सुपमा जरद की।
कहै कवि गंग तेरे बल की बयारि लगे,
फूटी गजघटा घनघटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसानी कहूँ महि में गरद की।
गौरी गह्यौ गिरिपति, गनपति गह्यौ गौरी,
गौरीपति गही पूँछ लपकि बरद की॥

देखत कै वृच्छन में दीरघ सुभायमान,
कीर चल्यो चाखिबे को प्रेम जिय जाग्यो है।
लाल फल देखि कै जटान मँडरान लागे,
देखत बटोही बहुतेरे डगमग्यो है।
गंग कवि फल फूटे भुआ उधिराने लखि,
सबन निरास ह्वै कै निज गृह भग्यो है॥
ऐसो फलहीन वृच्छ बसुधा में भयो, यारो,
सेमर बिसासी बहुतेरन को ठग्यो है॥

(९) मनोहर कवि—ये एक कछवाहे सरदार थे जो अकबर के दरबार में रहा करते थे। शिवसिंहसरोज में लिखा है कि ये फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और फारसी कविता में अपना उपनाम 'तोसनी' रखते थे। इन्होंने शतप्रश्नोत्तरी नाम की पुस्तक बनाई है तथा नीति और शृंगार रस के बहुत से फुटकर दोहे

कहे हैं। इनका कविता-काल संवत् १६२० के आगे माना जा सकता है। इनके शृंगारिक दोहे मार्मिक और मधुर हैं पर उनमें कुछ फारसीपन के छींटे मौजूद हैं। दो चार नमूने देखिए—

इंदु वदन, नरगिस नयन, संबुलवारे बाल।
उर कुंकुम, कोकिल बयन, जेहि लखि लाजत मार॥
बिथुरे सुथुरे चीकने घने घने घुघुवार।
रसिकन को जंजीर से बाला तेरे बार॥
अचरज मोहिं हिंदू तुरुक बादि करत संग्राम।
इक दीपति सों दीपियत काबा कासी धाम॥

(१०) **बलभद्र मिश्र**—ये ओड़छा के सनाढ्य ब्राह्मण पंडित काशीनाथ के पुत्र और प्रसिद्ध कवि केशवदास के बड़े भाई थे। इनका जन्म-काल संवत् १६०० के लगभग माना जा सकता है। इनका नखशिख शृंगार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है जिसमें इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन उपमा उत्प्रेक्षा संदेह आदि अलंकारों के प्रचुर विधान द्वारा किया है। ये केशवदास जी के समकालीन या पहले के उन कवियों में थे जिनके चित्त में रीति के अनुसार काव्य-रचना की प्रवृत्ति हो रही थी। कृपाराम ने जिस प्रकार रसरीति का अवलंबन कर नायिकाओं का वर्णन किया उसी प्रकार बलभद्र नायिका के अंगों को एक स्वतंत्र विषय बना कर चले थे। इनका रचनाकाल संवत् १६४० के पहले माना जा सकता है। रचना इनकी बहुत प्रौढ़ और परिमार्जित है, इससे अनुमान होता है कि नखशिख के अतिरिक्त इन्होंने और पुस्तकें भी लिखी होंगी। संवत् १८९१ में गोपाल कवि ने बलभद्र कृत नख शिख की एक टीका लिखी जिसमें उन्होंने बलभद्र कृत तीन और ग्रंथों का उल्लेख किया है—बलभद्री व्याकरण, हनुमन्नाटक और गोवर्द्धन सतसई टीका। पुस्तकों की खोज में इनका 'दूषण विचार' नाम का एक और ग्रंथ मिला है जिसमें काव्य के दोषों का निरूपण है। नखशिख के दो कवित्त उद्धृत किए जाते हैं—

पाटल नयन कोकनद के से दल दोऊ;
बलभद्र वासर उनीदी लखी बाल मैं।
सोभा के सरोवर में बाड़व की आभा कैधौं,
देवधुनी भारती मिली है पुन्यकाल मैं॥
काम-कैवरत कैधौं नासिका-उडुप बैठो
खेलत सिकार तरुनी के मुख-ताल मैं।
लोचन सितासित में लोहित लकीर मानो
बाँधे जुग मीन लाल रेसम की डोर मैं॥

मरकत के सूत कैधौं पन्नग के पूत अति,
राजत अभूत तमराज कैसे तार हैं।
मखतूल गुनग्राम सोभित सरस स्याम,
काम मृग कानन कै कोहू के कुमार हैं॥
कोप की किरन कै जलज नल नील तंतु,
उपमा अनंत चारु चँवर सिंगार हैं।
कारे सटकारे भींजे सोधे सो सुगंध बास,
ऐसे बलभद्र नवबाला तेरे बार हैं॥

---

(११) **केशवदास**—ये सनाढ्य ब्राह्मण कृष्णदत्त के पौत्र और काशीनाथ के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१२ में और मृत्यु १६७४ के आसपास हुई। ओड़छा-नरेश महाराजा रामसिंह के भाई इंद्रजीत सिंह की सभा में ये रहते थे, जहाँ इनका बहुत मान था। इनके घराने में बराबर संस्कृत के अच्छे पंडित होते आए थे। इनके बड़े भाई बलभद्र मिश्र भाषा के अच्छे कवि थे। इस प्रकार की परिस्थिति में रहकर ये अपने समय के प्रधान साहित्य-शास्त्रज्ञ कवि माने गए। इनके आविर्भाव काल से कुछ पहले ही रस, अलंकार आदि काव्यांगों के निरूपण की ओर कुछ कवियों का ध्यान जा चुका था। यह स्वाभाविक भी था, क्योंकि हिंदी काव्य-रचना प्रचुर मात्रा में हो चुकी थी। लक्ष्य ग्रंथों के उपरांत ही लक्षण-ग्रंथों का निर्माण होता है। केशवदास जी संस्कृत के पंडित थे अतः शास्त्रीय पद्धति से साहित्य-चर्चा का प्रचार भाषा में पूर्णरूप से करने की इच्छा इनके लिये स्वाभाविक थी।

केशवदास के पहले सं० १५९८ में कृपाराम थोड़ा रस-निरूपण कर चुके थे। इसके उपरांत गोप कवि ने सं० १६१५ के लगभग रामभूषण और अलंकार-चंद्रिका

नाम की दो पुस्तकों में अलंकार-निरूपण किया। ये दोनों ग्रंथ देखने में नहीं आए हैं। इसी समय में चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने शृंगार-सागर नामक एक ग्रंथ शृंगार-रस संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथ अकबरी दरबार में जानेवाले करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुतिभूषण और भूप-भूषण नामक तीन ग्रंथ अलंकार-संबंधी लिखे पर अब तक किसी कवि ने काव्य के सब अंगों का निरूपण सम्यक् प्रकार से नहीं किया था। यह काम केशवदास जी ने किया। ये काव्य में अलंकारों की प्रधानता माननेवाले चमत्कारवादी कवि थे। अतः इन्होंने दंडी, रुय्यक आदि आचार्यों का अनुकरण किया; मम्मट और विश्वनाथ का नहीं जो रसवादी थे। रीति पर इन्होंने दो प्रसिद्ध ग्रंथ लिखे—कविप्रिया (सं० १६५८) और रसिकप्रिया (सं० १६४८)। पहला अलंकार पर है और दूसरा रस पर। कविप्रिया में इन्होंने बहुत से विषयों का समावेश किया—जैसे, काव्यभेद, अलंकार, दोष, महाकाव्य के वर्ण्य विषय इत्यादि। रसिकप्रिया में परिपाटी के अनुसार इन्होंने दाम्पत्य रति-भाव को ही लेकर उसके कई भेद दिखाते हुए शृंगार रस के आलंबन आदि का विस्तार से वर्णन किया है। इन ग्रंथों की रचना बहुत प्रौढ़ है। उदाहरणों में बड़ी सुंदर कल्पना से काम लिया गया है और पदविन्यास बहुत ही अच्छे हैं। इन उदाहृत मुक्तकों में वाग्वैदग्ध्य के साथ साथ सरसता भी बहुत कुछ पाई जाती है।

इन दोनों के अतिरिक्त इनका प्रबंध-काव्य रामचंद्रिका (सं० १६५८) भी बहुत प्रसिद्ध है। प्रबंध-काव्य की दृष्टि से इसमें इन्हें वैसी सफलता नहीं हुई है यद्यपि संवाद बड़े सुंदर उतरे हैं। पहले तो संबंध-निर्वाह जैसा चाहिए वैसा नहीं है। दूसरी बात यह है कि इनमें कथा के मार्मिक स्थलों को पहचानने की भावुकता न थी। वर्णन प्रसंगानुमोदित न होकर स्वतंत्र फुटकल-रचना के रूप में जान पड़ते हैं। अलंकारों की इतनी भरमार है कि वे रस में सहायक होने के बदले उसे दबाकर अपनी अलग सत्ता दिखा रहे हैं। दो दो तीन तीन अर्थ वाले अनेक श्लिष्ट पद्य इन्होंने रखे हैं। ग्रंथ को देखने से स्पष्ट लक्षित होता है कि वह केवल चमत्कार और शब्द-कौशल दिखाने के लिये रचा गया है, न कि हृदय की सच्ची प्रेरणा से। इस कला-प्रदर्शन के लिये अधिकतर स्थानों पर केशव ने कादंबरी, अनर्घराघव, हनुमन्नाटक, आदि की उक्तियाँ ही तक नहीं ली हैं बल्कि वाक्य के वाक्य ज्यों के त्यों उठाकर रख लिए हैं। ऐसी अवस्था में यह आशा नहीं की जा सकती कि इन उक्तियों को हिंदी में स्पष्टता से व्यक्त करने में सर्वत्र सफलता होगी। केशव की कविता कठिन कही जाती है। कहावत चली आती है कि "कवि को दीन न चहै बिदाई। पूछै केशव की कविताई।" यह कठिनता बहुत कुछ संस्कृत श्लोकों के भावों के हिंदी-पद्य में ठीक ठीक व्यक्त न होने के कारण आ गई है। गुमान का 'नैषध काव्य' भी कहीं कहीं इसी कठिनता का उदाहरण है।

जो हो, शास्त्रीय पद्धति पर साहित्य-मीमांसा का मार्ग अच्छी तरह खोलने के लिये हिंदी साहित्य आचार्य्य केशव का सदा ऋणी रहेगा। सूर, तुलसी आदि की सी सरसता और तन्मयता चाहे इनकी बाणी में न हो पर रस, अलंकार आदि के विस्तृत भेद-निरूपण और उदाहरण आदि के द्वारा साहित्य के सम्यक् पर्य्यालोचन का गौरव इन्हीं को प्राप्त है। केशव रसिक जीव थे। कहते हैं बुड्ढे होने पर ये एक दिन किसी कूएँ पर बैठे थे। वहाँ स्त्रियों ने इन्हें 'बाबा' कह कर संबोधन किया। इस पर इन्होंने यह दोहा कहा—

केसव केसनि अस करी बैरिहु जस न कराहिं।
चंद्रबदनि मृगलोचनी बाबा कहि कहि जाहिं॥

उपर्युक्त तीन प्रसिद्ध और बड़े ग्रंथों के अतिरिक्त इनकी रची तीन पुस्तकें और हैं—विज्ञान गीता, वीरसिंह-देवचरित और जहाँगीर-जस-चंद्रिका। इन तीनों की रचना बहुत ही साधारण और प्रायः नीरस है। विज्ञान गीता प्रबंधचंद्रोदय के ढंग पर एक छोटा सा ग्रंथ है। वीरसिंह-देवचरित में चरित का अंश थोड़ा है, दान लोभ आदि के संवाद बीच बीच में भरे हैं।

केशवदास को रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जौ हौं कहौं रहिए तौ प्रभुता प्रगट होति,
चलन कहौं तौ हितहानि नाहिं सहनो।
'भावै सो करहु' तौ उदासभाव, प्राननाथ !
'साथ लै चलहु', कैसे लोक लाज बहनो।
केसवदास की सौं तुम सुनहु, छबीले लाल,
चलेही बनत जौ पै नाही राज रहनो।
जैसियै सिखाओ सीख तुमहीं सुजान प्रिय,
तुमहिं चलत मोहिं जैसो कछु कहनो॥

चंचल न हूजै नाथ, अंचल न खैचौ हाथ,
सोवै नेक सारिकाऊ सुक तौ सोवायो जू।
मंद करौ दीप-दुति चंदमुख देखियत,
दारिकै दुराय आऊँ द्वार तौ दिखायो जू॥
मृगज मराल बाल बाहिरै बिड़ारि देउँ,
भायो तुम्हैं केशव सो मोहूँ मन भायो जू।
छल के निवास ऐसे बचन-बिलास सुनि
सौगुनो सुरत हू तें स्याम सुख पायो जू॥

कैटभ, सौं, नरकासुर सौं, पल में मधु सो मुर सो जिन मारयो।
लोक चतुर्दश रक्षक केशव पूरन बेद पुरान विचारयो॥
श्री कमला कुच कुंकुममंडित पंडित देव अदेव निहारयो।
सो कर माँगन को बलि पै करतारहु ने करतार पसारयो॥

(रामचंद्रिका से)

अरुणगात अति प्रात पद्मिनी प्राननाथ भय।
मानहु केशवदास कोकनद कोक प्रेम मय॥
परिपूरन सिंदूर पूर कैधौं मंगल घट।
किधौं शक्र को छत्र मढ्यो मानिक-मयूख पट॥
कै सोनित-कलित कपाल यह किल कापालिक काल को।
यह ललित लाल कैधौं लसत दिग-भामिनि के भाल को॥

विधि के समान हैं बिमानीकृत राजहंस,
विविध विबुध-युत मेरु सो अचल है।
दीपति दिपति अति सातौ दीप देखियत,
दूसरो दिलीप सो सुदक्षिणा को बल है॥
सागर उजागर सो बहु बाहिनी को पति,
छन दान प्रिय कैधौं सूरज अमल है।
सब विधि समरथ राजै राजा दसरथ,
भगीरथ-पथ-गामी गंगा कैसो जल है॥

मूलन ही की जहाँ अधोगति केसव गाइय।
होम-हुतासन-धूम नगर एकै मलिनाइय॥
दुर्गति दुर्गन हीं, जो कुटिलगति सरितन ही में।
श्रीफल कौ अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में॥

कुंतल ललित नील, भ्रुकुटी धनुष, नैन
कुमुद कटाच्छ बान सबल सदाई है।
सुग्रीव सहित तार अंगदादि भूषनन,
मध्यदेश केसरी सुजग गति भाई है॥
विग्रहानुकूल सब लच्छ लच्छ ऋच्छ बल,
ऋच्छराज-मुखी मुख केसौदास गाई है।
रामचंद्र जू की चमू, राजश्री विभीषन की,
रावन की मीचु दर कूच चलि आई है॥

पढ़ौ विरंचि मौन वेद, जीव सोर छंडि रे।
कुबेर बेर कै कही, न जच्छ भीर मंडि रे॥
दिनेस जाइ दूरि बैठु नारदादि संगही।
न बोलु चंद मंदबुद्धि, इंद्र की सभा नहीं॥

(१२) होलराय—ये ब्रह्मभट्ट अकबर के समय में हरिवंशराय के आश्रित थे, और कभी कभी शाही दरबार में भी जाया करते थे। इन्होंने अकबर से कुछ ज़मीन पाई थी जिसमें होलपुर गाँव बसाया था। कहते हैं कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने इन्हें अपना लोटा दिया था जिसपर इन्होंने कहा था—

लोटा तुलसीदास को लाख टका को मोल।

गोस्वामीजी ने चट उत्तर दिया—

मोल तोल कछु है, नहीं लेहु राय कवि होल॥

रचना इनकी पुष्ट होती थी, पर जान पड़ता है कि ये केवल राजाओं और रईसों को विरुदावली वर्णन किया करते थे जिसमें जनता के लिए ऐसा कोई विशेष आकर्षण नहीं था कि इनकी रचना सुरक्षित रहती। अकबर

बादशाह की प्रशंसा में इन्होंने यह कवित्त लिखा है—

"दिल्ली तें न तख्त ह्वैहै, बख्त ना मुगल कैसो,
ह्वैहै ना नगर बढ़ि आगरा नगर तें।
गंग ते न गुनी, तानसेन तें न तानबाज,
मान तें न राजा औ न दाता बीरबर तें॥
खान खानखाना तें, न, नर नरहरि तें न,
ह्वैहै ना जलालुद्दीन साह अकबर तें॥

(१३) रहीम (अब्दुर्रहीम खानखाना)—ये अकबर बादशाह के अभिभावक प्रसिद्ध मोगल सरदार बैरम खाँ खानखाना के पुत्र थे। इनका जन्म संवत् १६१० में हुआ। ये संस्कृत, अरबी और फ़ारसी के पूर्ण विद्वान् और हिंदीकाव्य के पूर्ण मर्मज्ञ कवि थे। ये दानी और परोपकारी ऐसे थे कि अपने समय के कर्ण माने जाते थे। इनकी दानशीलता हृदय की सच्ची प्रेरणा के रूप में थी, कीर्त्ति की कामना से उसका कोई सम्पर्क न था। इनकी सभा विद्वानों और कवियों से सदा भरी रहती थी। गंग कवि को इन्होंने एक बार छत्तीस लाख रुपए दे डाले थे। अकबर के समय में ये प्रधान सेनानायक और मंत्री थे और अनेक बड़े बड़े युद्धों में भेजे गए थे।

ये जहाँगीर के समय तक वर्त्तमान रहे। लड़ाई में धोखा देने के अपराध में एक बार जहाँगीर के समय में इनकी सारी जागीर जब्त हो गई और ये कैद कर लिए गए। कैद से छूटने पर इनकी आर्थिक अवस्था कुछ दिनों तक बड़ी हीन रही। पर जिस मनुष्य ने करोड़ों रुपए दान कर दिए, जिसके यहाँ से कोई विमुख न लौटा उसका पीछा याचकों से कैसे छूट सकता था? अपनी दरिद्रता का दुःख वास्तव में इन्हें उसी समय होता था जिस समय इनके पास कोई याचक जा पहुँचता और ये उसकी यथेष्ट सहायता नहीं कर सकते थे। अपनी अवस्था के अनुभव की व्यंजना इन्होंने इस दोहे में की है—

तबही लौं जीबो भलो देबो होय न धीम।
जग में रहिबो कुचित गति उचित न होय रहीम॥

संपत्ति के समय में जो लोग सदा घेरे रहते हैं विपद आने पर उनमें से अधिकांश किनारा खींचते हैं इस बात का द्योतक यह दोहा है—

ये रहीम दर दर फिरें, माँगि मधुकरी खांहिं।
यारो यारी छाँड़िए अब रहीम वे नाहिं॥

कहते हैं कि इसी दीन दशा में इन्हें एक याचक ने आ घेरा। इन्होंने यह दोहा लिखकर उसे रीवाँ-नरेश के पास भेजा—

चित्रकूट मे रमि रहे रहिमन अवधनरेस।
जापर विपदा परति है सो आवत यहि देस॥

रीवाँनरेश ने उस याचक को एक लाख रुपए दिए।

गो० तुलसीदास जी से भी इनका बड़ा स्नेह था। ऐसी जनश्रुति है कि एक बार एक ब्राह्मण अपनी कन्या के विवाह के लिये धन न होने से घबराया हुआ गोस्वामीजी के पास आया। गोस्वामी जी ने उसे रहीम के पास भेजा और दोहे की एक यह पंक्ति लिखकर दे दी—

सुरतिय नरतिय नागतिय यह चाहत सब कोय।

रहीम ने उस ब्राह्मण को बहुत सा द्रव्य देकर बिदा किया और दोहे की दूसरी पंक्ति इस प्रकार पूरी करके दे दी—

गोद लिए हुलसी फिरै तुलसी सो सुत होय॥

रहीम ने बड़ी बड़ी चढ़ाइयाँ की थीं और मोगल साम्राज्य के लिये न जाने कितने प्रदेश जीते थे। इन्हें जागीर में बहुत बड़े बड़े सूबे और गढ़ मिले थे। संसार का इन्हें बड़ा गहरा अनुभव था। ऐसे अनुभवों के मार्मिक पक्ष को ग्रहण करने की भावुकता इनमें अद्वितीय थी। अपने उदार और ऊँचे हृदय को संसार के वास्तविक व्यवहारों के बीच रखकर जो संवेदना इन्होंने प्राप्त की है उसीकी व्यंजना अपने दोहों में की है। तुलसी के वचनों के समान रहीम के वचन भी हिंदी-भाषी भूभाग में सर्वसाधारण के मुँह पर रहते हैं। इसका कारण है जीवन की सच्ची परिस्थितियों का मार्मिक अनुभव। रहीम के दोहे वृंद और गिरिधर के पद्यों के समान कोरी नीति के पद्य नहीं हैं। उनमें मार्मिकता है, उनके भीतर से एक सच्चा हृदय झाँक रहा है। जीवन की सच्ची परिस्थितियों के मार्मिक रूप को ग्रहण करने की क्षमता जिस कवि में होगी वही जनता का प्यारा कवि होगा। रहीम का हृदय, द्रवीभूत होने के लिये, कल्पना की उड़ान की अपेक्षा

नहीं रखता था। वह संसार के सच्चे और प्रत्यक्ष व्यवहारों में ही अपने द्रवीभूत होने के पर्य्याप्त स्वरूप पा जाता था। बरवै नायिका-भेद में भी जो मनोहर और रस छलकाते हुए चित्र हैं वे भी सच्चे हैं—कल्पना के झूठे खेल नहीं हैं। उनमें भारतीय प्रेम जीवन की सच्ची झलक है।

भाषा पर तुलसी का सा ही अधिकार हम रहीम का भी पाते हैं। ये व्रज और अवधी—पच्छिमी और पूरबी—दोनों काव्यभाषाओं में समान कुशल थे। बरवै नायिका भेद बड़ी सुंदर अवधी भाषा में है। इनकी उक्तियाँ ऐसी लुभावनी हुईं कि बिहारी आदि परवर्त्ती कवि भी बहुतों का अपहरण करने का लोभ न रोक सके। यद्यपि रहीम सर्वसाधारण में अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध है पर इन्होंने, बरवै, कवित्त, सवैया, सोरठा, पद सब में थोड़ी बहुत रचना की है।

रहीम का देहावसान संवत् १६८२ में हुआ। अब तक इनके निम्नलिखित ग्रंथ ही सुने जाते थे—रहीम दोहावली या सतसई, बरवै नायिका-भेद, शृंगार सोरठ, मदनाष्टक, रासपंचाध्यायी पर भरतपुर के श्रीयुत पंडित मयाशंकर जी याज्ञिक ने इनकी और भी रचनाओं का पता लगाया है, जैसे—नगर-शोभा, फुटकल बरवै, फुटकल कवित्त सवैये; और रहीम का एक पूरा संग्रह 'रहीम रत्नावली' के नाम से निकाला है।

कहा जा चुका है कि ये कई भाषाओं और विद्याओं में पारंगत थे। इन्होंने फारसी का एक दीवान भी बनाया था और 'वाक़यात बाबरी' का तुर्की से फारसी में अनुवाद किया था। कुछ मिश्रित रचना भी इन्होंने की है, जैसे—रहीम काव्य हिंदी संस्कृत की खिचड़ी है और 'खेट कौतुकम्' नामक ज्योतिष का ग्रंथ संस्कृत और फारसी की खिचड़ी है। कुछ संस्कृत श्लोकों की रचना भी ये कर गए हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

(सतसई या दोहावली से)

दुर दिन परे रहीम कह भूलत सब पहिचानि।
सोच नहीं बित-हानि को जौ न होय हित-हानि॥

कोउ रहीम जनि काहु के द्वार गए पछिताय।
संपति के सब जात हैं, बिपति सबै लै जाय॥

ज्यों रहीम गति दीप की, कुल कपूत गति सोय।
बारे उजियारो लगै, बढ़े अँधेरो होय॥

सर सूखे पंछी उड़ैं, औरै सरन समाहिं।
दीन मीन बिन पंख के, कहु रहीम कहँ जाहिं॥

माँगत मुकरि न को गयो, केहि न त्यागियो साथ।
माँगत आगे सुख लह्यो, ते रहीम रघुनाथ॥

रहिमन वे नर मरि चुके, जे कहुँ मागन जाहिं।
उनतें पहिले वे मुए, जिन मुख निकसत "नाहिं"॥

रहिमन रहिला की भली जौ परसै चित लाय।
परसत मन मैलो करै सो मैदा जरि जाय॥

(बरवै नायिका भेद से)

भोरहिं बोलि कोइलिया बढ़वति ताप।
घरी एक भरि अलिया रहु चुपचाप॥

बाहर लैकै दियवा बारन जाइ।
सासु ननद घर पहुँचत देति बुझाइ॥

पिय आवत अँगनैया उठिकै लीन।
बिहँसत चतुर तिरियवा बैठक दीन॥

लै कै सुघर खुरपिया पिय के साथ।
छइबै एक छतरिया बरसत पाथ॥

पीतम इक सुमरिनियाँ मोंहिं देइ जाहु।
जेहि जपि तोर बिरहवा करब निबाहु॥

(मदनाष्टक से)

कलित ललित माला वा जवाहिर जड़ा था।
चपल-चखन-वाला चाँदनी मे खड़ा था॥
कटितट बिच मेला पीत सेला नवेला।
अलि, बन अलबेला यार मेरा अकेला॥

(नगर-शोभा से)

उत्तम जाति है बाम्हनी देखत चित्त लुभाय।
परम पाप पल में हरत परसत वाके पाय॥

रूपरंग रतिराज में छतरानी इतरान।
मानौ रची बिरंचि पचि कुसुम-कनक में सान॥

छनियाइनि बनि आइकै, बैठि रूप की हाट।
पेम पेक तन हेरि कै गरुवै टारति बाट॥
गरब तराजू करति चख भौंह मोरि मुसकाति।
डाँड़ा मारति बिरह की चित चिंता घटि जाति॥

———

(फुटकल कवित्त आदि से)

बड़न सों जान पहचान कै रहीम कहा,
जो पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीतहर सूरज सों नेह कियो याही हेत,
ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है।
छीरनिधि माहिं धँस्यो, संकर के सीस बस्यो,
तऊ ना कलंक नस्यो, ससि मे सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है,
पै कलानिधि यार तऊ चाखत अँगार है॥

———

जाति हुती सखि गोहन में मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की उनहूँ नँदलाल को रीझिबो जानो॥
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैत दमानक में फिरि तीर सो मारि लै जात निसानो॥

———

कमलदल नैनन की उनमानि।
बिसरति नाहिं, सखी! मो मन तें मंद मंद मुसकानि।
बसुधा की बसकरी मधुरता, सुधापगी बतरानि॥
मढ़ी रहै चित उर बिसाल की मुकुतमाल थहरानि।
नृत्य समय पीतांबर हू की फहर फहर फहरानि॥
अनुदिन श्रीवृंदाबन ब्रज तें आवन आवन जानि।
अब रहीम चित तें न टरति है सकल स्याम की बानि॥

———

(१४) कादिर—क़ादिर बख़्श पिहानी ज़िला हरदोई के रहनेवाले और सैयद इब्राहीमके शिष्य थे। इनका जन्म सं० १६३५ में माना जाता है अतः इनका कविता-काल सं० १६६० के आस पास समझा जा सकता है। इनकी कोई पुस्तक तो नहीं मिलती पर फुटकर कवित्त पाए जाते हैं। कविता ये चलती भाषा में अच्छी करते थे। इनका यह कवित्त लोगों के मुँह से बहुत सुनने में आता है—

गुन को न पूछै कोऊ, औगुन की बात पूछै,
कहा भयो दई! कलिकाल यों खरानो है।
पोथी औ पुरान-ज्ञान ठट्ठन में डारि देत,
चुगुल चबाइन को मान ठहरानो है॥
कादिर कहत यासों कछु कहिबे की नाहिं,
जगत की रीति देखि चुप मन मानो है।
खोलि देखौ हियो सब ओरन सों भाँति भाँति,
गुन ना हिरानो, गुनगाहक हिरानो है॥

(१५) मुबारक—सैयद मुबारक अली बिलग्रामी का जन्म सं० १६४० में हुआ था अतः इनका कविता-काल सं० १६७० से पीछे मानना चाहिए।

ये संस्कृत, फ़ारसी और अरबी के अच्छे पंडित और हिंदी के सहृदय कवि थे। जान पड़ता है ये केवल शृंगार की ही कविता करते थे। इन्होंने नायिका के अंगों का वर्णन बड़े विस्तार से किया है। कहा जाता है कि दस अंगों को लेकर इन्होंने एक एक अंग पर सौ सौ दोहे बनाए थे। इनका प्राप्त ग्रंथ "अलक-शतक और और तिल-शतक" उन्हीं के अंतर्गत है। इन दोहों के अतिरिक्त इनके बहुत से कवित्त सवैये संग्रह ग्रंथों में पाए जाते और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। इनकी उत्प्रेक्षा बहुत बढ़ी चढ़ी होती थी और वर्णन के उत्कर्ष के लिये कभी कभी ये बहुत दूर तक बढ़ जाते थे। कुछ नमूने देखिए—

(अलक-शतक और तिल-शतक से)

परी मुबारक तिय बदन अलक ओप अति होय।
मनो चंद की गोद में रही निसा सी सोय॥
चिबुक कूप में मन पर्‍यो छबिजल-तृषा बिचारि।
कढ़ति मुबारक ताहि तिय अलक-डोरि सी डारि॥
चिबुक कूप, रसरी-अलक, तिल सु चरस दृग बैल।
बारी बैस सिंगार की सींचत मनमथ-छैल॥

———

(फुटकल से)

कनक-बरन बाल, नगन-लसत भाल,
मोतिन के माल उर सोहैं भली भाँति है।
चंदन चढ़ाय चारु चंदमुखी मोहनी सी
प्रात ही अन्हाय पग धारे मुसुकाति है।

चूनरी विचित्र स्याम सजि कै मुबारक जू,
ढाकि नख सिख तें निपट सकुचाति है।
चंद्रमै लपेटि कै, समेटि कै नखत मानो,
दिन को प्रनाम किए राति चली जाति है॥

(१६) बनारसीदास—ये जौनपुर के रहनेवाले एक जैन जौहरी थे जो आमेर में भी रहा करते थे। इनके पिता का नाम खड़गसेन था। ये संवत् १६४३ में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने संवत् १६९८ तक का अपना जीवनवृत्त अर्द्धकथानक नामक ग्रंथ में दिया है। उससे पता चलता है कि युवावस्था में इनका आचरण अच्छा न था और इन्हें कुष्ठ रोग भी हो गया था। पर पीछे ये सँभल गए। ये पहले शृंगाररस की कविता किया करते थे पर पीछे ज्ञान हो जाने पर इन्होंने वे सब कविताएँ गोमती नदी में फेंक दीं और ज्ञानोपदेश पूर्ण कविताएँ करने लगे। कुछ उपदेश इनके व्रजभाषा गद्य में भी हैं। इन्होंने जैनधर्म-संबंधी अनेक पुस्तकों के सारांश हिंदी में कहे हैं। अब तक इनकी बनाई इतनी पुस्तकों का पता चला है:—

बनारसी-विलास (फुटकल कवित्तों का संग्रह), नाटक-समयसार (कुंदकुंदाचार्य कृत ग्रंथ का सार), नाममाला (कोश), अर्द्ध कथानक, बनारसी पद्धति, मोक्ष-पदी ध्रुव-वंदना कल्याण मंदिर भाषा, वेदनिर्णय-पंचाशिका, मारगन विद्या।

इनकी रचनाशैली पुष्ट है और इनकी कविता दादू-पंथी सुंदरदास जी की कविता से मिलती जुलती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

भोंदू ते हिरदय की आँखै।
जे करबैं अपनी सुख-संपति, भ्रम की संपति भाखैं॥
जिन आँखिन सों निरखि भेद गुन ज्ञानी ज्ञान विचारैं।
जिन आँखिन सों लखि सरूप मुनि ध्यान धारना धारैं॥

काया सों विचार प्रीति, माया ही में हार जीति,
लिए हठ रीति जैसे हारिल की लकरी।
चंगुल के जोर जैसे गोह गहि रहै भूमि,
त्यौंही पायँ गाड़ै पै न छाँड़ै टेक पकरी॥
मोह की मरोर सों मरम को न ठौर पावैं,
धावैं चहुँ ओर ज्यौं बढ़ावै जाल मकरी।
ऐसी दुरबुद्धि भूलि, झूठ के झरोखे झूलि,
फूली फिरै ममता जँजीरन सों जकरी॥

(१७) सेनापति—ये अनूपशहर के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गंगाधर, पितामह का परशुराम और गुरु का नाम हीरामणि दीक्षित था। इनका जन्मकाल संवत १६४६ के आस-पास माना जाता है। ये बड़े ही सहृदय कवि थे। ऋतु-वर्णन तो इनके ऐसा और किसी कवि ने नहीं किया है। इनके ऋतु वर्णन में प्रकृति-निरीक्षण पाया जाता है। पद-विन्यास भी इनका ललित है। कहीं कहीं विरामों पर अनुप्रास का निर्वाह और यमक का चमत्कार भी अच्छा है। सारांश यह कि अपने समय के ये बड़े भावुक और निपुण कवि थे। अपना परिचय इन्होंने इस प्रकार दिया है—

दीक्षित परशुराम दादा हैं विदित नाम,
जिन कीन्हें जज्ञ, जाकी विपुल बड़ाई है।
गंगाधर पिता गंगाधर के समान जाके,
गंगातीर बसति 'अनूप' जिन पाई है।
महा जानमनि विद्यादान हू में चिंतामनि,
हीरामनि दीक्षित तें पाई पंडिताई है।
सेनापति सोई सीतापति के प्रसाद जाकी
सब कवि कान दै सुनत कविताई है॥

इनकी गर्वोक्तियाँ खटकती नहीं, उचित जान पड़ती हैं। अपने जीवन के पिछले काल में ये संसार से कुछ विरक्त हो चले थे। जान पड़ता है कि मुसलमानी दरबारों में भी इनका अच्छा मान रहा क्योंकि अपनी विरक्ति की झोंक में इन्होंने कहा है—

केतो करौ कोइ पैये करम लिखोइ तातें
दूसरी न होइ उर सोइ ठहराइए।
आधी तें सरस बीति गई है बरस, अब
दुर्जन-दरस बीच रस न बढ़ाइए॥
चिंता अनुचित, धरु धीरज उचित,
सेनापति ह्वै सुचित रघुपति गुन गाइए।

चारि-बर-दानि तजि पायँ कमलेच्छन के,
पायक मलेच्छन के काहे को कहाइए ॥

सिवसिंह सरोज में लिखा है कि पीछे इन्होंने क्षेत्र संन्यास ले लिया था। इनके भक्तिभाव से पूर्ण अनेक कवित्त 'कवित्त रत्नाकर' में मिलते हैं। जैसे—

महा मोह-कंदनि में जगत-जकंदनि मे,
दिन दुख-दुंदनि मे जात है बिहाय कै।
सुख को न लेस है, कलेस सब भाँतिन को;
सेनापति याही ते कहत अकुलाय कै ॥
आवै मन ऐसी घरबार परिवार तजौं,
डारौं लोक-लाज के समाज विसराय कै।
हरिजन-पुंजनि मे, वृंदावन कुंजनि मे,
रहौं बैठि कहूँ तरवर तर जाय कै ॥

यद्यपि इस कवित्त में वृंदावन का नाम आया है पर इनके उपास्य राम ही जान पड़ते हैं क्योंकि स्थान स्थान पर इन्होंने 'सियापति', 'सीतापति', 'राम' आदि नामों का ही स्मरण किया है। कवित्तरत्नाकर इनका सबसे पिछला ग्रंथ जान पड़ता है क्योंकि उसकी रचना संवत् १७०६ में हुई है, यथा—

संवत् सत्रह सै छ में सेइ सियापति पाय।
सेनापति कविता सजी सज्जन सजौ सहाय ॥

इनका एक ग्रंथ 'काव्य-कल्पद्रुम' भी प्रसिद्ध है।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इनकी कविता बहुत ही मर्मस्पर्शिणी और रचना बहुत ही प्रौढ़ और प्रांजल है। भाषा पर ऐसा विस्तृत अधिकार कम कवियों का देखा जाता है। इनकी भाषा में बहुत कुछ माधुर्य ब्रजभाषा का ही है, संस्कृत-पदावली पर अवलंबित नहीं। अनुप्रास और यमक की प्रचुरता होते हुए भी कहीं भद्दी कृत्रिमता नहीं आने पाई है। इनके ऋतुवर्णन के अनेक कवित्त बहुत से लोगों को कंठ हैं। रामचरित-संबंधी कवित्त भी बहुत ही ओजपूर्ण हैं। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

वानि सों सहित सुबरन मुहँ रहै जहाँ,
धरत बहुत भाँति अरथ समाज को।
संख्या करि लीजै अलंकार है अधिक यामैं,
राखौ मति ऊपर सरस ऐसे साज को ॥
सुनौ महाजन! चोरी होति चार चरन की,
ताते सेनापति कहै तजि उर लाज को।
लीजियो बचाइ ज्यौं चुरावै नाहिं कोउ सौंपी,
बित्त की सी थाती मैं कवित्तन के ब्याज को ॥

वृष को तरनि तेज सहसौ करनि तपै,
ज्वालनि के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि जग झुरत झुरनि, सीरी
छाँह को पकरि पंथी पंछी बिरमत है ॥
सेनापति नेक दुपहरी ढरकत होत
धमका विषम जो न पात खरकत है।
मेरे जान पौन सीरे ठौर को पकरि काहू
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है ॥

सेनापति उनए नए जलद सावन के,
चारिहू दिसान घुमरत भरे तोय कै।
सोभा सरसाने न बखाने जात कैहू भाँति
आने है पहार मानों काजर के ढोय कै ॥
घन सों गगन छप्यो, तिमिर सघन भयो,
देखि न परत मानों रवि गयो खोय कै।
चारि मास भरि स्याम निसा को भरम मानि
मेरे जान याही तें रहत हरि सोय कै ॥

दूरि जदुराई सेनापति सुखदाई देखौ,
आई ऋतु पावस न पाई प्रेम-पतियाँ।
धीर जलधर की सुनत धुनि धरकी औ
दरकी सुहागिन की छोह-भरी छतियाँ ॥
आई सुधि बर की, हिए मे आनि खरकी,
सुमिरि प्रान प्यारी वह प्रीतम की बतियाँ।
बीती औधि आवन की लाल मनभावन की,
डग भई बावन की सावन की रतियाँ ॥

बालि को सपूत कपिकुल-पुरहूत,
रघुबीर जू को दूत धरि रूप विकराल को।
युद्धमद गाढ़ो पावँ रोपि भयो ठाढ़ो,
सेनापति बल बाढ़ो रामचंद्र भुवपाल को ॥

कच्छप कहलि रह्यो, कुंडली टहलि रह्यो,
दिग्गज दहलि त्रास परो चकचाल को।
पाँव के धरत अति भार के परत भयो-
एक ही परत मिलि सप्त-पताल को॥

रावन को वीर, सेनापति, रघुबीर जू की
आयो है सरन छाँड़ि ताही मद अंध को।
मिलत ही ताको राम कोप कै करी है ओप
नाम जोय दुर्जन दलन दीनबंध को॥
देखौ दानवीरता-निदान एक दान ही में,
दीन्हे दोऊ दान, को बखानै सत्यसंध को॥
लंका दसकंधर की दीनी है बिभीषन को,
संका बिभीषन की सो दीनी दसकंध को॥

सेनापतिजी के भक्तिप्रेरित उद्गार भी बहुत अनूठे और चमत्कारपूर्ण हैं। "आपने करम करि हौं ही निबहौंगो तौ तौ हौं ही करतार, करतार तुम काहे के?" वाला प्रसिद्ध कवित्त इन्हीं का है।

(१८) पुहकर कवि—ये परतापपुर (जिला मैनपुरी) के रहनेवाले थे पर पीछे गुजरात में सोमनाथजी के पास भूमिगाँव में रहते थे। ये जाति के कायस्थ थे और जहाँगीर के समय में वर्त्तमान थे। कहते हैं कि जहाँगीर ने किसी बात पर इन्हें आगरे में कैद कर लिया था। वहीं कारागार में इन्होंने 'रसरतन' नामक ग्रंथ संवत १६७३ में लिखा जिस पर प्रसन्न होकर बादशाह ने इन्हें कारागार से मुक्त कर दिया। इस ग्रंथ में रंभावती और सूरसेन की प्रेम-कथा कई छंदों में, जिनमें मुख्य दोहा और चौपाई हैं, प्रबंध-काव्य की साहित्यिक पद्धति पर लिखी गई है। कल्पित कथा लेकर प्रबंध-काव्य रचने की प्रथा पुराने हिंदी-कवियों में बहुत कम पाई जाती है। जायसी आदि सूफी शाखा के कवियों ने ही इस प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं पर उनकी परिपाटी बिलकुल भारतीय नहीं थी। इस दृष्टि से 'रसरतन' को हिंदी-साहित्य में एक विशेष स्थान देना चाहिए।

इसमें संयोग और वियोग की विविध दशाओं का साहित्य की रीति पर वर्णन है। वर्णन उसी ढंग के हैं जिस ढंग के शृंगार के मुक्तक-कवियों ने किए हैं। पूर्व राग, सखी, मंडन, नखशिख, ऋतु वर्णन आदि शृंगार की सब सामग्री एकत्र की गई है। कविता सरस और भाषा प्रौढ़ है। इस कवि के और ग्रंथ नहीं मिले हैं पर प्राप्त ग्रंथ को देखने से ये एक अच्छे कवि जान पड़ते हैं। इनकी रचना की शैली दिखाने के लिये ये उद्धृत पद्य पर्य्याप्त होंगे—

चले मैमंत झूमंत मत्ता। मनौ बद्दला स्याम माथै चलंता॥
बनी बागरी रूप राजंत दंता। मनौ बग्ग आषाढ़ पाँतैं उदंता॥
लसैं पीत लालै, सुढालै ढरक्कैं। मनो चंचला चौंधि छाया छलक्कैं॥

चंद की उजारी प्यारी नैनन निहारी परे
चंद की कला मे दुति दूनी दरसाति है।
ललित लतानि में लता सी गहि सुकमारि
मालती सी फूलै जब मृदु मुसकाति है॥

पुहकर कहै जित देखिए बिराजै तित
परम विचित्र चारु चित्र मिलि जाति है।
आवै मन माहिं तब रहै मन ही में गड़ि,
नैननि बिलोके बाल बैननि समाति है॥

(१९) सुंदर—ये ग्वालियर के ब्राह्मण थे और शाहजहाँ के दरबार में कविता सुनाया करते थे। इन्हें बादशाह ने पहले कविराय की और फिर महा-कविराय की पदवी दी थी। इन्होंने संवत् १६८८ में 'सुंदर शृंगार" नामक नायिका भेद का एक ग्रंथ लिखा। इसके अतिरिक्त 'सिंहासन बत्तीसी' और 'बारहमासा' नाम की इनकी दो पुस्तकें और कही जाती हैं। यमक और अनुप्रास की ओर इनकी कुछ विशेष प्रवृत्ति जान पड़ती है। इनकी रचना शब्दचमत्कार-पूर्ण है। एक उदाहरण दिया जाता है—

काके गए बसन पलटि आए बसन सु
मेरो कछु बस न रसन उर लागे हौ।
भौंहे तिरछौंहें कवि सुंदर सुजान सोहैं,
कछू आलसौंहे गौंहैं जाके रस पागे हौ॥
परसौं मैं पाय हुते परसौं मैं पाय गहि,
परसौ वे पाय निसि जाके अनुरागे हौ।
कौन बनिता के हौ जू कौन बनिता के हौसु,
कौन बनिता के बनि ताके संग जागे हौ॥

उत्तर-मध्यकाल

(रीति काल)

१७००-१९००

हिंदी-काव्य अब पूर्ण प्रौढ़ता को पहुँच गया था। संवत् १५९८ में कृपाराम थोड़ा बहुत रस-निरूपण भी कर चुके थे। उसके उपरांत गोप कवि ने सन् १६१५ में अलंकारों की ओर भी ध्यान दिया और रामभूषण और अलंकार-चंद्रिका नाम की दो पुस्तकें लिखीं। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने शृंगारसागर नामक एक ग्रंथ शृंगार संबंधी लिखा। नरहरि कवि के साथी करनेस कवि ने कर्णाभरण, श्रुति-भूषण और भूप-भूषण नामक तीन ग्रंथ अलंकार संबंधी लिखे। रस-निरूपण और अलंकार-निरूपण का इस प्रकार सूत्रपात हो जाने पर केशवदासजी ने काव्य के सब अंगों का निरूपण शास्त्रीय पद्धति पर किया। इसमें संदेह नहीं कि काव्य-रीति का सम्यक् प्रतिपादन पहले पहल आचार्य केशव ने ही किया। पर हिंदी में रीतिग्रंथों की अविरल और अखंडित परंपरा का प्रवाह केशव की कविप्रिया के प्रायः पचास वर्ष पीछे चला और वह भी एक भिन्न आदर्श को लेकर, केशव के आदर्श को लेकर नहीं। केशव के अंतर्गत इस बात का उल्लेख हो चुका है कि केशव ने काव्य के अलंकारों के निरूपण में दंडी और रुय्यक का अनुकरण किया था। पर पीछे से हिंदीकाव्य में जो रीतिग्रंथों की परंपरा चली वह चंद्रालोक और कुवलयानंद को आधार मानकर चली। इन्हीं सब कारणों से रीति-काल का आरंभ केशव से नहीं माना जा सकता।

रीति-काल का आरंभ चिंतामणि त्रिपाठी से मानना चाहिए जिन्होंने संवत् १७०० के कुछ आगे पीछे 'काव्य-विवेक', 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-प्रकाश' ये तीन ग्रंथ लिखकर काव्य के सब अंगों का पूरा निरूपण किया और पिंगल या छंदःशास्त्र पर भी एक पुस्तक लिखी। उसके उपरांत तो लक्षणग्रंथों की भरमार सी होने लगी। कवियों ने कविता लिखने की यह एक प्रणाली ही बना ली कि पहले दोहे में अलंकार या रस का लक्षण लिखना फिर उसके उदाहरण के रूप में कवित्त या सवैया लिखना। हिंदी-साहित्य में यह एक अनूठा दृश्य खड़ा हुआ। संस्कृत-साहित्य में कवि और आचार्य्य दो भिन्न भिन्न श्रेणियों के व्यक्ति रहे। हिंदी-काव्य क्षेत्र में यह भेद लुप्त सा हो गया। इस एकीकरण का प्रभाव अच्छा नहीं पड़ा। आचार्य्यत्व के लिये जिस सूक्ष्म विवेचन और पर्य्या-लोचन-शक्ति की अपेक्षा होती है उसका विकास नहीं हुआ। कवि लोग एक दोहे में अप-र्य्याप्त लक्षण देकर अपने कवि-कर्म में प्रवृत्त हो जाते थे। काव्यांगों का विस्तृत विवेचन, तर्क द्वारा खंडन मंडन, नए नए सिद्धांतों का प्रतिपादन आदि कुछ भी न हुआ। इसका कारण यह भी था कि उस समय गद्य का विकास नहीं हुआ था। जो कुछ लिखा जाता था वह पद्य में ही लिखा जाता था। पद्य में किसी बात की सम्यक् मीमांसा या तर्क वितर्क हो नहीं सकता। इस अवस्था में चंद्रा-लोक की यह पद्धति ही सुगम दिखाई पड़ी कि एक श्लोक या एक चरण में ही लक्षण कह कर छुट्टी ली।

उपर्युक्त बातों पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि हिंदी में लक्षण-ग्रंथ की परिपाटी पर रचना करने वाले जो सैकड़ों कवि हुए वे आचार्य्य-कोटि में नहीं आ सकते। वे वास्तव में कवि ही थे। उनमें आचार्यत्व के गुण नहीं थे। उनके अपर्य्याप्त लक्षण साहित्य शास्त्र का सम्यक् बोध कराने में असमर्थ हैं। बहुत स्थलों पर तो उनके द्वारा अलंकार आदि के स्वरूप का भी ठीक ठीक बोध नहीं हो सकता। कहीं कहीं तो उदाहरण भी ठीक नहीं हैं। 'शब्द-शक्ति' का विषय तो दो ही चार कवियों ने नाममात्र के लिये लिया है जिनसे उस विषय का स्पष्ट बोध होना तो दूर रहा, कहा कहीं भ्रांत धारणा अवश्य उत्पन्न हो सकती है। काव्य के साधारणतः दो भेद किए जाते हैं—श्रव्य और दृश्य। इनमें से दृश्य-काव्य का निरूपण तो छोड़ ही दिया गया। सारांश यह कि इन रीति-ग्रंथों पर ही निर्भर रहनेवाले व्यक्ति का साहित्य-ज्ञान कच्चा ही समझना चाहिए। यह सब लिखने का अभिप्राय यहाँ केवल इतना ही है कि यह

न समझा जाय कि रीति-काल के भीतर साहित्य-शास्त्र पर खूब गंभीर और विस्तृत विवेचन और नई नई बातों की उद्भावना होती रही।

इन रीति-ग्रंथों के कर्त्ता भावुक, सहृदय और निपुण कवि थे। उनका उद्देश्य कविता करना था, न कि काव्यांगों का शास्त्रीय पद्धति पर निरूपण करना। अतः उनके द्वारा बड़ा भारी कार्य्य यह हुआ कि रसों (विशेषतः शृंगार रस) और अलंकारों के बहुत ही सरस और हृदयग्राही उदाहरण अत्यंत प्रचुर परिमाण में प्रस्तुत हुए। ऐसे सरस और मनोहर उदाहरण संस्कृत के सारे लक्षण-ग्रंथों से चुनकर इकट्ठे करें तो भी उनकी इतनी अधिक संख्या न होगी। अलंकारों की अपेक्षा नायिकाभेद की ओर कुछ अधिक झुकाव रहा। इससे शृंगाररस के अंतर्गत बहुत सुंदर मुक्तक-रचना हिंदी में हुई। इस रस का इतना अधिक विस्तार हिंदी साहित्य में हुआ कि उसके एक एक अंग को लेकर स्वतंत्र ग्रंथ रचे गए। इस रस का सारा वैभव कवियों ने नायिका-भेद के भीतर दिखाया। रस ग्रंथ वास्तव में नायिका भेद के ही ग्रंथ हैं जिनमें और दूसरे रस पीछे से संक्षेप में चलते कर दिए गए हैं। नायिका शृंगार रस का आलंबन है। इस आलंबन के अंगों का वर्णन एक स्वतंत्र विषय हो गया और न जाने कितने ग्रंथ केवल नख-शिख-वर्णन के लिखे गए। इसी प्रकार उद्दीपन के रूप में षट्ऋतु-वर्णन पर भी कई अलग पुस्तकें लिखी गईं। विप्रलंभ-संबंधी 'बारहमासा' भी कुछ कवियों ने लिखे।

रीति-ग्रंथों की इस परंपरा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न भिन्न समस्याओं तथा जगत् के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित सी हो गई। उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में ही प्रवाहित होने लगी जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गए। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत ही कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद-विन्यास, अलंकार-विधान आदि बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा बहुत दिखा सकें तो दिखा सकें, पर उनकी आभ्यंतर प्रकृति के विश्लेषण में समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री हम बहुत कम पा सकते हैं।

रीति-काल में एक बड़े भारी अभाव की पूर्त्ति हो जानी चाहिए थी, पर वह नहीं हुई। भाषा जिस समय सैकड़ों कवियों द्वारा परिमार्जित होकर प्रौढ़ता को पहुँची उसी समय व्याकरण द्वारा उसकी व्यवस्था होनी चाहिए थी जिससे उस च्युत-संस्कृति-दोष का निराकरण होता जो व्रजभाषा-काव्य में थोड़ा बहुत सर्वत्र पाया जाता है। और नहीं तो वाक्य-दोषों का ही पूर्ण रूप से निरूपण होता जिससे भाषा में कुछ और सफ़ाई आती। बहुत थोड़े कवि ऐसे मिलते हैं जिनकी वाक्य-रचना सुव्यवस्थित पाई जाती है। भूषण अच्छे कवि थे, जिस रस को उन्होंने लिया उसका पूरा आवेश उनमें था, पर भाषा उनकी अनेक स्थलों पर सदोष है। यदि शब्दों के रूप स्थिर हो जाते और शुद्ध रूपों के प्रयोग पर जोर दिया जाता तो शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करने का साहस कवियों को न होता। पर इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं हुई जिससे भाषा में बहुत कुछ गड़बड़ी बनी रही।

भाषा की गड़बड़ी का एक कारण व्रज और अवधी इन दोनों काव्य-भाषाओं का कवि के इच्छानुसार सम्मिश्रण भी था। यद्यपि एक सामान्य साहित्यिक भाषा किसी प्रदेश विशेष के प्रयोगों तक ही परिमित नहीं रह सकती पर वह अपना ढाँचा बराबर बनाए रहती है। काव्य की व्रजभाषा के संबंध में भी अधिकतर यही बात रही। सूरदास की भाषा में यत्रतत्र पूरबी प्रयोग—जैसे, मोर, हमार, कीन, अस, जस इत्यादि—बराबर मिलते हैं। बिहारी की भाषा भी 'कीन,' 'दीन' आदि से खाली नहीं। रीति-ग्रंथों का विकास अधिकतर अवध में हुआ। अतः इस काल में काव्य की व्रजभाषा में अवधी के प्रयोग और अधिक मिले। इस बात को किसी किसी कवि ने लक्ष्य भी किया। दासजी ने अपने 'काव्यनिर्णय'

में काव्यभाषा पर भी कुछ दृष्टिपात किया। मिश्रित भाषा के समर्थन में वे कहते हैं—

ब्रजभाषा भाषा रुचिर कहैं सुमति सब कोइ।
मिलै संस्कृत पारस्यौ पै अति प्रगट जु होइ॥
ब्रज मागधी मिलै अमर नाग यवन भाखानि।
सहज पारसी हू मिलै षट विधि कहत बखानि॥

उक्त दोनों में 'मागधी' शब्द से पूरबी भाषा का अभिप्राय है। अवधी अर्द्ध-मागधी से निकली मानी जाती है और पूर्वी हिंदी के अंतर्गत है। जबाँदानी के लिये ब्रज का निवास आवश्यक नहीं है, आप्त कवियों की वाणी भी प्रमाण है इस बात को दासजी ने स्पष्ट कहा है—

सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास ब्रह्म,
चिंतामणि, मतिराम, भूषण सुजानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट नेवाज, निधि,
नीलकंठ, मिश्र सुखदेव, देव मानिए॥
आलम, रहीम, रसखान, सुंदरादिक,
अनेकन सुमति भए कहाँ लौ बखानिए।
ब्रजभाषा हेत ब्रजवास ही न अनुमानौ,
ऐसे ऐसे कविन की बानी हू सों जानिए॥

मिली-जुली भाषा के प्रमाण में दास जी कहते हैं कि तुलसी और गंग तक ने, जो कवियों के शिरोमणि हुए हैं, ऐसी भाषा का व्यवहार किया है—

तुलसी गंग दुवौ भए सुकविन के सरदार।
इनके काव्यन मे मिली भाषा विविध प्रकार॥

इस सीधे सादे दोहे का जो यह अर्थ ले कि तुलसी और गंग इसी लिए कवियों के सरदार हुए कि उनके काव्यों में विविध प्रकार की भाषा मिली है, उसकी समझ को क्या कहा जाय?

दासजी ने काव्यभाषा के स्वरूप का जो निर्णय किया वह कोई सौ वर्षों की काव्य-परंपरा के पर्य्यालोचन के उपरांत। अतः उनका स्वरूप-निरूपण तो बहुत ही ठीक है। उन्होंने काव्यभाषा ब्रजभाषा ही कही है जिसमें और भाषाओं के शब्दों का भी मेल हो सकता है। पर भाषा-संबंधी और अधिक मीमांसा न होने के कारण कवियो ने अपने को अन्य बोलियों के शब्दों तक ही परिमित नहीं रखा उनके कारक चिह्नों और क्रिया के रूपों का भी वे मनमाना व्यवहार बराबर करते रहे। ऐसा वे केवल सौकर्य्य की दृष्टि से करते थे, किसी सिद्धांत के अनुसार नहीं। 'करना' के भूतकाल के लिए वे छंद की आवश्यकता के अनुसार 'कियो', 'कीनो', 'कर्‍यो', 'करियो', 'कीन' यहाँ तक कि 'किय' तक रखने लगे। इसका परिणाम यह हुआ कि भाषा को वह स्थिरता न प्राप्त हो सकी जो किसी साहित्यिक भाषा के लिये आवश्यक है। रूपों के स्थिर न होने से यदि कोई विदेशी काव्य की ब्रजभाषा का अध्ययन करना चाहे तो उसे कितनी कठिनता होगी!

भक्तिकाल की प्रारंभिक अवस्था में ही ~~किस प्रकार~~ मुसलमानों के संसर्ग से कुछ फारसी के शब्द और चलते भाव मिलने लगे थे इसका उल्लेख हो चुका है। नामदेव और कबीर आदि की तो बात ही क्या, तुलसीदासजी ने भी गनी, गरीब, साहब, इताति, उमरदराज, आदि बहुत से शब्दों का प्रयोग किया। सूर में ऐसे शब्द अवश्य कम मिलते हैं। फिर मुसलमानी राज्य की दृढ़ता के साथ साथ इस प्रकार के शब्दों का व्यवहार ज्यों ज्यों बढ़ता गया त्यों त्यों कवि लोग उन्हें अधिकाधिक स्थान देने लगे। राजा महाराजाओं के दरबार में विदेशी शिष्टता और सभ्यता के व्यवहार का अनुकरण हुआ और फारसी के लच्छेदार शब्द यहाँ चारों ओर सुनाई देने लगे। अतः भाट या कवि लोग 'आयुष्मान्' और 'जयजयकार' ही तक अपने को कैसे रख सकते थे? वे भी दरबार में खड़े होकर "उमरदराज महाराज तेरी चाहिए" पुकारने लगे। 'बख्त' 'बलंद' आदि शब्द उनकी जबान पर भी नाचने लगे।

यह तो हुई व्यावहारिक भाषा की बात। फारसी-काव्य के शब्दों को भी थोड़ा बहुत कवियों ने अपनाना आरंभ किया। रीतिकाल में ऐसे शब्दों की संख्या कुछ और बढ़ी। पर यह देख कर हर्ष होता है कि अपनी भाषा की स्वाभाविक सरसता का ध्यान रखनेवाले उत्कृष्ट कवियों ने ऐसे शब्दों को बहुत ही कम स्थान दिया। पर परंपरागत साहित्य का कम अभ्यास

रखनेवाले साधारण कवियों ने कहीं कहीं बड़े बेढंगे तौर पर ऐसे विदेशी शब्द रखे हैं। कहीं कहीं 'खुस-बोयन' आदि उनके विकृत शब्दों को देख कर शिक्षितों को एक प्रकार की विरक्ति सी होती है और उनकी कविता गँवारों की रचना सी लगती है। शब्दों के साथ साथ कुछ थोड़े से कवियों ने इश्क की शायरी की पूरी अलंकार-सामग्री तक उठाकर रख ली है और उनके भाव भी बाँध गए हैं। रसनिधि-कृत 'रतनहजारा' में यह बात अरुचिकर मात्रा में पाई जाती है। बिहारी ऐसे परम उत्कृष्ट कवि भी यद्यपि फारसी भावों के प्रभाव से नहीं बचे हैं पर उन्होंने उन भावों को अपने देशी साँचे में ढाल लिया है जिससे वे खटकते तथा सहसा लक्ष्य भी नहीं होते। उनकी विरह-ताप की अत्युक्तियों में दूर की सूझ और नाजुक-ख्याली बहुत कुछ फारसी की शैली की है। पर विहारी रसभंग करनेवाले बीभत्स रूप कहीं नहीं लाए हैं।

यहाँ पर यह उल्लेख कर देना भी आवश्यक जान पड़ता है कि रीतिकाल के कवियों के प्रिय छंद, कवित्त और सवैया ही रहे। कवित्त तो शृंगार और वीर दोनों रसों के लिये समान रूप से उपयुक्त माना गया था। वास्तव में पढ़ने के ढंग में थोड़ा विभेद कर देने से उसमें दोनों के अनुकूल नादसौंदर्य पाया जाता है। सवैया, शृंगार और करुण इन दो कोमल रसों के बहुत उपयुक्त होता है, यद्यपि वीररस की कविता में भी इसका व्यवहार कवियों ने जहाँ तहाँ किया है। वास्तव में शृंगार और वीर इन्हीं दो रसों की कविता इस काल में हुई। प्रधानता शृंगार की ही रही। इससे इस काल को रस के विचार से कोई शृंगारकाल कहे तो कह सकता है। शृंगार के वर्णन को बहुतेरे कवियों ने अश्लीलता की सीमा तक पहुँचा दिया था। इसका कारण जनता की रुचि नहीं आश्रयदाता राजा महाराजाओं की रुचि थी जिनके लिये कर्मण्यता और वीरता का जीवन बहुत कम रह गया था।

हिंदी साहित्य की गति का ऊपर जो संक्षिप्त उल्लेख हुआ उससे रीतिकाल की सामान्य प्रवृत्ति का पता चल सकता है। अब उस काल के मुख्य मुख्य कवियों का विवरण दिया जाता है।

(१) चिंतामणि त्रिपाठी—ये तिकवाँपुर (ज़ि० कानपुर) के रहनेवाले और चार भाई थे—चिंतामणि, भूषण, मतिराम और जटाशंकर। चारों कवि थे जिनमें प्रथम तीन तो हिंदी साहित्य में बहुत यशस्वी हुए। इनके पिता का नाम रत्नाकर त्रिपाठी था। कुछ दिन से यह विवाद उठाया गया है कि भूषण न तो चिंतामणि और मतिराम के भाई थे, न शिवाजी के दरबार में थे। पर इतनी प्रसिद्ध बात का जब तक पर्य्याप्त विरुद्ध प्रमाण न मिले तब तक उसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। चिंतामणि जी का जन्म काल संवत् १६६६ के लगभग और कविता काल संवत् १७०० के आसपास ठहरता है। इनका कविकुलकल्पतरु नामक ग्रंथ सं० १७०७ का लिखा है। इनके संबंध में शिवसिंहसरोज में लिखा है कि ये "बहुत दिन तक नागपुर में सूर्य्य वंशी भौंसला मकरंद शाह के यहाँ रहे और उन्हीं के नाम पर छंदविचार नामक पिंगल का बहुत भारी ग्रंथ बनाया और 'काव्य विवेक' 'कविकुल-कल्पतरु', 'काव्य प्रकाश', 'रामायण' ये पाँच ग्रंथ इनके बनाए हमारे पुस्तकालय में मौजूद हैं। इनकी बनाई रामायण कवित्त और नाना अन्य छंदों में बहुत अपूर्व है। बाबू रुद्रसाहि सोलंकी, शाहजहाँ बादशाह और जैनदी अहमद ने इनको बहुत दान दिए हैं। इन्होंने अपने ग्रंथ में कहीं कहीं अपना नाम मणिमाल भी कहा है।"

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि चिंतामणि जी ने काव्य के सब अंगों पर ग्रंथ लिखे। इनकी भाषा ललित और सानुप्रास होती थी। अवध के पिछले कवियों की भाषा देखते हुए इनकी व्रजभाषा विशुद्ध दिखाई पड़ती है। विषय-वर्णन की प्रणाली भी मनोहर है। ये वास्तव में एक उत्कृष्ट कवि थे। रचना के कुछ नमूने लीजिए—

येई उधारत है तिन्हैं जे परे मोह-महोदधि के जल-फेरे।
जे इनको पल ध्यान धरैं मन तें, न परैं कबहूँ जम घेरे॥
राजै रमा रमनी उपधान अभै बरदान रहै जन नेरे।
हैं बलभार उदंड भरे हरि के भुजदंड सहायक मेरे॥

इक आजु मैं कुंदन-बेलि लखी मनिमंदिर की रुचिवृंद भरै ।
कुरविंद को पल्लव इंदु तहाँ अरविंदन तें मकरंद झरै ॥
उत बुंदन के मुकुतागन ह्वै फल सुंदर द्वै पर आनि परै ।
लखि यों दुति कंद अनंद कला नँदनंद सिला द्रव रूप धरै ॥

आँखिन मूँदिबे के मिस आनि अचानक पीठि उरोज लगावै ।
कैहूँ कहूँ मुसकाय चितै अँगराय अनूपम अंग दिखावै ॥
नाँह छुई छल सों छतियाँ, हँसि भौंह चढ़ाय अनंद बढ़ावै ।
जोबन के मद मत्त तिया हित सों पति को नित चित्त चुरावै ॥

---

(२) **बेनी**—ये असनी के बंदीजन थे और संवत् १७०० के आसपास विद्यमान थे। इनका कोई ग्रंथ नहीं मिलता पर फुटकर कवित्त बहुत से सुने जाते हैं जिनसे यह अनुमान होता है कि इन्होंने नखशिख और षटऋतु पर पुस्तकें लिखी होंगी। कविता इनकी साधारणतः अच्छी होती थी। भाषा चलती होने पर भी अनुप्रास-युक्त होती थी। दो उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

छहरै सिरपै छवि मोर पखा उनकी नथ के मुकुता थहरैं ।
फहरै पियरो पट बेनी इतै, उनकी चुनरी के झबा झहरैं ॥
रसरंग भिरे अभिरे है तमाल दोऊ रसख्याल चहैं लहरैं ।
नित ऐसे सनेह सों राधिका स्याम हमारे हिये में सदा बिहरैं ॥

कवि बेनी नई उनई है घटा, मोरवा बन बोलत कूकन री ।
छहरै बिजुरी-छिति मंडल छ्वै लहरै मन मैन-भभूकन री ॥
पहिरौ चुनरी चुनिकै दुलही, सँग लाल के झूलहु झूकन री ।
ऋतु पावस यों ही बितावति हौ, मरिहौं फिर बावरी हूकन री ॥

---

(३) **महाराज जसवंतसिंह**—ये मारवाड़ के प्रसिद्ध महाराज थे जो अपने समय के सबसे प्रतापी हिंदू नरेश थे और जिनका भय औरंगजेब को बराबर बना रहता था। ये शाहजहाँ के समय में ही कई लड़ाइयों पर जा चुके थे। ये महाराज गजसिंह के दूसरे पुत्र थे और उनकी मृत्यु के उपरांत संवत् १६९५ में गद्दी पर बैठे। इनके बड़े भाई अमरसिंह, जिनका उल्लेख हो चुका है, अपने उद्धत स्वभाव के कारण पिता द्वारा अधिकार-च्युत कर दिए गए थे। महाराज जसवंतसिंह बड़े अच्छे साहित्य मर्मज्ञ और तत्वज्ञान-सम्पन्न पुरुष थे। उनके समय में राज्यभर में विद्या की बड़ी चर्चा रही और अच्छे अच्छे कवियों और विद्वानों का बराबर समागम होता रहा। महाराज ने स्वयं तो अनेक ग्रंथ लिखे ही; अनेक विद्वानों और कवियों से न जाने कितने ग्रंथ लिखाए। औरंगजेब ने इन्हें कुछ दिनों के लिये गुजरात का सूबेदार बनाया था। वहाँ से शाइस्ता खाँ के साथ ये छत्रपति शिवाजी के विरुद्ध दक्षिण भेजे गए थे। कहते हैं कि चढ़ाई में शाइस्ता खाँ की जो दुर्गति हुई वह बहुत कुछ इन्हीं के इशारे से। अंत में ये अफ़गानों को सर करने के लिये काबुल भेजे गए जहाँ संवत् १७३८ में इनका परलोकवास हुआ।

ये हिंदी-साहित्य के प्रधान आचार्यों में माने जाते हैं और इनका भाषाभूषण ग्रंथ अलंकारों पर एक बहुत ही प्रचलित पाठ्य ग्रंथ रहा है। इस ग्रंथ को इन्होंने वास्तव में आचार्य्य के रूप में लिखा है, कवि के रूप में नहीं। प्राक्कथन में इस बात का उल्लेख हो चुका है कि रीतिकाल के भीतर जितने लक्षण-ग्रंथ लिखनेवाले हुए वे वास्तव में कवि थे और उन्होंने कविता करने के उद्देश्य से ही वे ग्रंथ लिखे थे, न कि विषय-प्रतिपादन की दृष्टि से। पर महाराज जसवंत सिंह जी इस नियम के अपवाद थे। वे आचार्य्य की हैसियत से ही हिंदी साहित्य-क्षेत्र में आए, कवि की हैसियत से नहीं। उन्होंने अपना 'भाषा-भूषण' बिलकुल 'चंद्रालोक' की छाया पर बनाया और उसी की संक्षिप्त प्रणाली का अनुसरण किया। जिस प्रकार चंद्रालोक में प्रायः एक ही श्लोक के भीतर लक्षण और उदाहरण दोनों का सन्निवेश है उसी प्रकार भाषा-भूषण में भी प्रायः एक ही दोहे में लक्षण और उदाहरण दोनों रखे गए हैं। इससे विद्यार्थियों को अलंकार कंठ करने में बड़ा सुबीता हो गया और 'भाषा-भूषण' हिंदी काव्य-रीति के अभ्यासियों के बीच वैसा ही सर्वप्रिय हुआ जैसा कि संस्कृत के विद्यार्थियों के बीच चंद्रालोक। भाषा-भूषण बहुत छोटा सा ग्रंथ है।

भाषाभूषण के अतिरिक्त जो और ग्रंथ इन्होंने लिखे

हैं वे तत्त्वज्ञान संबंधी हैं। जैसे—अपरोक्ष-सिद्धांत, अनुभव-प्रकाश, आनंदविलास, सिद्धांतबोध, सिद्धांतसार, प्रबोधचंद्रोदय नाटक। ये सब ग्रंथ भी पद्य में ही हैं, जिनसे पद्य-रचना की पूरी निपुणता प्रकट होती है। पर साहित्य से जहाँ तक संबंध है वे आचार्य या शिक्षक के रूप में ही हमारे सामने आते हैं। अलंकार-निरूपण की इनकी पद्धति का परिचय कराने के लिये 'भाषा-भूषण' के कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

अत्युक्ति—अलंकार अत्युक्ति यह बरनत अतिसय रूप।
जाचक तेरे दान तें भए कल्पतरु भूप॥

पर्य्यस्तापह्नुति—पर्यस्त जु गुन एक को और विषय आरोप।
होइ सुधाधर नाहिं यह, बदन सुधाधर ओप॥

ये दोहे चंद्रालोक के इन श्लोकों की स्पष्ट छाया हैं—

अत्युक्तिरद्भुतातथ्य शौर्यौदार्य्यादि वर्णनम्।
त्वयि दातारि राजेंद्र याचकाः कल्पशाखिनः॥
पर्य्यास्तापह्नुतिर्यत्र धर्मं मात्रं निषिध्यते।
नायं सुधांशुः किं तर्हि सुधांशुः प्रेयसी-मुखम्॥

भाषाभूषण पर पीछे तीन टीकाएँ रची गईं—एक 'अलंकार-रत्नाकर' नाम की टीका जिसे बंसीधर ने संवत् १७९२ में बनाया, दूसरी टीका प्रतापसाहि की और तीसरी गुलाब कवि की 'भूषणचंद्रिका'।

४—बिहारीलाल—ये माथुर चौबे कहे जाते हैं और इनका जन्म ग्वालियर के पास बसुवा गोविंदपुर गाँव में संवत् १६६० के लगभग माना जाता है। एक दोहे के अनुसार इनकी बाल्यावस्था बुंदेलखंड में बीती और तरुणावस्था में ये अपनी सुसराल मथुरा में आ रहे। अनुमानतः ये संवत् १७२० तक वर्त्तमान रहे। ये जयपुर मिर्ज़ा राजा जयसाह (महाराज जयसिंह) के दरबार में रहा करते थे। कहा जाता कि जिस समय ये कवीश्वर जयपुर पहुँचे उस समय महाराज अपनी छोटी रानी के प्रेम में इतने लीन रहा करते थे कि राजकाज देखने के लिये महलों के बाहर निकलते ही न थे। इस पर सरदारों की सलाह से बिहारी ने यह दोहा किसी प्रकार महाराज के पास भीतर भिजवाया—

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सों बँध्यो आगे कौन हवाल॥

कहते हैं कि इस पर महाराज बाहर निकले और तभी से बिहारी का मान बहुत अधिक बढ़ गया। महाराज ने बिहारी को इसी प्रकार के सरस दोहे बनाने की आज्ञा दी। बिहारी दोहे बना बना कर सुनाने लगे और उन्हें प्रति दोहे पर एक एक अशरफी मिलने लगी। इस प्रकार सात सौ दोहे बने जो संगृहीत होकर 'बिहारी-सतसई" के नाम से प्रसिद्ध हुए।

शृंगार रस के ग्रंथों में जितनी ख्याति और जितना मान 'बिहारी-सतसई' का हुआ उतना और किसी का नहीं। इसका एक एक दोहा हिंदी-साहित्य में एक एक रत्न माना जाता है। इसकी पचासों टीकाएँ रची गईं। इन टीकाओं में ४-५ टीकाएँ तो बहुत प्रसिद्ध हैं—कृष्ण कवि की टीका जो कवित्तों में है, हरिप्रकाश टीका, लल्लूजी लाल की लालचंद्रिका, सरदार कवि की टीका और सूरति मिश्र की टीका। इन टीकाओं के अतिरिक्त बिहारी के दोहों के भाव पल्लवित करनेवाले छप्पय, कुंडलिया, सवैया आदि कई कवियों ने रचे। पठान सुलतान की कुंडलिया इन दोहों पर बहुत अच्छी है, पर अधूरी है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने कुछ और कुंडलियाँ रच कर पूर्त्ति करनी चाही थी। पं० अंबिकादत्त व्यास ने अपने 'बिहारी-बिहार' में सब दोहों के भावों को पल्लवित करके रोला छंद लगाए हैं। पं० परमानंद ने 'शृंगार सप्तशती' के नाम से दोहों का संस्कृत अनुवाद किया है। यहाँ तक कि उर्दू शेरों में भी एक अनुवाद थोड़े दिन हुए बुंदेलखंड के मुंशी देवीप्रसाद (प्रीतम) ने लिखा। इस प्रकार बिहारी-संबंधी एक अलग साहित्य ही खड़ा हो गया है। इतने से ही इस ग्रंथ की सर्वप्रियता का अनुमान हो सकता है। बिहारी का सबसे उत्तम और प्रामाणिक संस्करण बड़ी मार्मिक टीका के साथ अभी हाल में प्रसिद्ध साहित्य-मर्मज्ञ और व्रजभाषा के प्रधान आधुनिक कवि श्रीयुत बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' ने निकाला है। जितने श्रम और जितनी सावधानी से यह संपादित हुआ है आज तक हिंदी

का और कोई ग्रंथ नहीं हुआ।

बिहारी ने इस सतसई के अतिरिक्त और कोई ग्रंथ नहीं लिखा। यही एक ग्रंथ उनकी इतनी बड़ी कीर्ति का आधार है। यह बात साहित्य-क्षेत्र के इस तथ्य की स्पष्ट घोषणा कर रही है कि किसी कवि का यश उसकी रचनाओं के परिमाण के हिसाब नहीं होता, गुण के हिसाब से होता है। मुक्तक कविता में जो गुण होना चाहिए वह बिहारी के दोहों में अपने चरम उत्कर्ष को पहुँचा है, इसमें कोई संदेह नहीं। मुक्तक में प्रबंध के समान रस की धारा नहीं रहती जिसमें कथा-प्रसंग की परिस्थिति में अपने को भूला हुआ पाठक मग्न हो जाता है और हृदय में एक स्थायी प्रभाव ग्रहण करता है। उसमें रस के ऐसे स्निग्ध छींटे पड़ते हैं जिनसे हृदय-कलिका थोड़ी देर के लिये खिल उठती है। यदि प्रबंधकाव्य एक विस्तृत बनस्थली है तो मुक्तक एक चुना हुआ गुलदस्ता है। इसीसे वह सभा-समाजों के लिये अधिक उपयुक्त होता है। उसमें उत्तरोत्तर अनेक दृश्यों द्वारा संघटित पूर्ण-जीवन या उसके किसी एक पूर्ण अंग का प्रदर्शन नहीं होता, बल्कि कोई एक मर्मस्पर्शी खंडदृश्य इस प्रकार सहसा सामने ला दिया जाता है कि पाठक या श्रोता कुछ क्षणों के लिये मंत्रमुग्ध सा हो जाता है। इसके लिये कवि को अत्यंत मनोरम वस्तुओं और व्यापारों का एक छोटा सा स्तवक कल्पित करके उन्हें अत्यंत संक्षिप्त और सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है। अतः जिस कवि में कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की शक्ति को छोटे से स्थल में कस कर भरने की जितनी ही अधिक क्षमता होगी उतना ही वह मुक्तक की रचना में सफल होगा। यह क्षमता बिहारी में पूर्ण रूप से वर्त्तमान थी। इसीसे वे दोहे ऐसे छोटे छंद में इतना रस भर सके हैं। इनके दोहे क्या हैं रस की छोटी छोटी पिचकारियाँ हैं। वे मुँह से छूटते ही श्रोता को सिक्त कर देते हैं। इसी से किसी ने कहा है—

सतसैया के दोहरे ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगैं बेधै सकल सरीर॥

बिहारी की रसव्यंजना का पूर्ण वैभव उनके अनुभावों के विधान में दिखाई पड़ता है। अनुभावों और हावों की ऐसी सुंदर योजना कोई शृंगारी कवि नहीं कर सका है। नीचे की हाव-भरी सजीव मूर्तियाँ देखिए—

भौंह उँचै आँचरु उलटि मौर मोरि मुँह मोरि।
नीठि नीठि भीतर गई दीठि दीठि सों जोरि॥
बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै, भौंहनि हँसै, देन कहै, नटि जाइ॥
नासा मोरि, नचाइ दृग, करी कका की सौंह।
काँटे सी कसकै हिये गड़ी कँटीली भौंह॥
ललन चलत सुनि पलन में अँसुवा झलके आइ।
भई लखाइ न सखिन्ह हू झूठे ही जमुहाइ॥

भाव-व्यंजना या रस-व्यंजना के अतिरिक्त बिहारी ने वस्तु-व्यंजना का सहारा भी बहुत लिया है—विशेषतः शोभा या कांति, सुकुमारता, विरहताप, विरह की क्षीणता आदि के वर्णन में। कहीं कहीं उनकी वस्तु-व्यंजना औचित्य की सीमा का उल्लंघन करके खेलवाड़ के रूप में हो गई है, जैसे—इन दोहों में—

पत्रा ही तिथि पाइये वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्योई रहै आनन-ओप-उजास॥
छाले परिबे के डरनु सकै न हाथ छुवाइ।
झिझकति हियैं गुलाब कैं झवा झवावति पाइ॥
इत आवति चलि जात उत चली छसातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरे सैं रहै लगी उसासन साथ॥
सीरैं जतननि सिसिर ऋतु सहि बिरहिनि तन ताप।
बसिबे कौं ग्रीषम दिनन पर्यो परोसिनि पाप॥
आड़े दै आले बसन जाड़े हूँ की राति।
साहस कै कै नेह बस सखी सबै ढिग जाति॥

अनेक स्थानों पर इनके व्यंग्यार्थ को स्फुट करने के लिये बड़ी क्लिष्ट कल्पना अपेक्षित होती है। ऐसे स्थलों पर केवल रीति या रूढ़ि ही पाठक की सहायता करती है और उसे एक पूरे प्रसंग का आक्षेप करना पड़ता है। ऐसे दोहे बिहारी में बहुत से हैं। पर यहाँ दो एक उदाहरण ही पर्य्याप्त होंगे—

ढीठि परोसिनि ईठ ह्वै कहे जु गहे सयान।
सबै सँदेसे कहि कह्यो मुसकाहट मैं मान॥

नये विरह बढ़ती बिथा खरी विकल जिय बाल।
बिलखी देखि परोसिन्यौ हरषि हँसी तिहि काल॥

इन उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि बिहारी का 'गागर में सागर' भरने का जो गुण इतना प्रसिद्ध है वह बहुत कुछ रूढ़ि की स्थापना से ही संभव हुआ है। यदि नायिकाभेद की प्रथा इतने ज़ोर शोर से न चल गई होती तो बिहारी को इस प्रकार की पहेली बुझाने का साहस न होता।

अलंकारों की योजना भी इस कवि ने बड़ी निपुणता से की है। किसी किसी दोहे में कई अलंकार उलझे पड़े हैं पर उनके कारण कहीं भद्दापन नहीं आया है। 'असंगति' और 'विरोधाभास' की ये मार्मिक और प्रसिद्ध उक्तियाँ कितनी अनूठी हैं—

दृग अरुझत, टूटत कुटुम, जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हिये, दई नई यह रीति॥
तंत्रीनाद कवित्त रस, सरस राग रति रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग॥

दो एक जगह व्यंग्य अलंकार भी बड़े अच्छे ढंग से आए हैं। इस दोहे में रूपक व्यंग्य है—

करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाए तरफरत करत खूँद सी नैन॥

श्रृंगार के संचारी भावों की व्यंजना भी ऐसी मर्मस्पर्शिणी है कि कुछ दोहे सहृदयों के मुँह से बार बार सुने जाते हैं। इस 'स्मरण' में कैसी गंभीर तन्मयता है—

सघन कुंज, छाया सुखद, सीतल मंद समीर।
मन ह्वै जात अजौं वहै वा जमुना के तीर॥

विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त बिहारी ने सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें बहुत सी नीति संबंधिनी हैं। सूक्तियों में वर्णनवैचित्र्य या शब्द-वैचित्र्य ही प्रधान रहता है अतः उनमें से कुछ एक की ही गणना असल काव्य में हो सकती है। केवल शब्द-वैचित्र्य के लिये बिहारी ने बहुत कम दोहे रचे हैं। कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

यद्यपि सुंदर सुघर पुनि सगुणौ दीपक-देह।
तऊ प्रकाश करै तितो भरिए जितो सनेह॥

कनक कनक तें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाए बौरात नर, यह पाए बौराय॥
तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तू मोहन के उर बसी ह्वै उरबसी समान॥

बिहारी के बहुत से दोहे "आर्य्या सप्तशती" और "गाथा सप्तशती" की छाया लेकर बने हैं, इस बात को पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने विस्तार से दिखाया है। पर साथ ही उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि बिहारी ने गृहीत भावों को अपनी प्रतिभा के बल से किस प्रकार एक स्वतंत्र और कहीं कहीं अधिक सुंदर रूप दे दिया है।

बिहारी की भाषा चलती होने पर भी साहित्यिक है। वाक्य-रचना व्यवस्थित है और शब्दों के रूपों का व्यवहार एक निश्चित प्रणाली पर है। यह बात बहुत कम कवियों में पाई जाती है। व्रजभाषा के कवियों में शब्दों को तोड़ मरोड़ कर विकृत करने की आदत बहुतों में पाई जाती है। 'भूषण' और 'देव' ने शब्दों का बहुत अंग भंग किया है और कहीं कहीं गढ़ंत शब्दों का व्यवहार किया है। बिहारी की भाषा इस दोष से भी बहुत कुछ मुक्त है। दो एक स्थल पर ही 'स्मर' के लिये 'समर' ऐसे कुछ विकृत रूप मिलेंगे।

बिहारी ने यद्यपि लक्षण-ग्रंथ के रूप में अपनी 'सतसई' नहीं लिखी है पर 'नखशिख', 'नायिका भेद' 'षट्ऋतु' के अंतर्गत उनके सब श्रृंगारी दोहे आ जाते हैं और कई टीकाकारों ने दोहों को इस प्रकार के साहित्यिक क्रम के साथ रखा भी है। जैसा कि कहा जा चुका है, दोहों को बनाते समय बिहारी का ध्यान लक्षणों पर अवश्य था। इसी लिए हमने बिहारी को रीतिकाल के फुटकल कवियों में न रख, उक्त काल के प्रतिनिधि कवियों में ही रखा है।

---

(६) मंडन—ये जैतपुर (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे और संवत् १७१६ में राजा मंगदसिंह के दरबार में वर्त्तमान थे। इनके फुटकर कवित्त सवैये बहुत सुने जाते हैं, पर कोई ग्रंथ अबतक प्रकाशित नहीं हुआ है। पुस्तकों की खोज में इनके पाँच ग्रंथों का पता लगा है—

रस-रत्नावली, रसविलास, जनक-पचीसी, जानकी जू की व्याह, नैन पचासा।

प्रथम दो ग्रंथ रसनिरूपण पर हैं यह उनके नामों से ही प्रकट होता है। संग्रह-ग्रंथों में इनके कवित्त-सवैये बराबर मिलते हैं। "जेइ जेइ सुखद दुखद अब तेइ तेइ कवि मंडन बिछुरत जदुपत्ती" यह पद भी इनका मिलता है। इससे जान पड़ता है कि कुछ पद भी इन्होंने रचे थे। जो पद्य इनके मिलते हैं उनसे वे बड़ी सरस कल्पना के भावुक कवि जान पड़ते हैं। भाषा इनकी बड़ी ही स्वाभाविक, चलती और व्यंजनापूर्ण होती थी। उसमें और कवियों का सा शब्दाडंबर नहीं दिखाई पड़ता। यह सवैया देखिए—

अलि हौं तौ गई जमुना जल को,
सो कहा कहौं वीर विपत्ति परी।
घहराय कै कारी घटा उनई,
इतनेई में गागरि सीस धरी॥
रपट्यो पग, घाट चढ्यो न गयो,
कवि मंडन ह्वै कै बिहाल गिरी।
चिरजीवहु नंद को बारो, अरी,
गहि बाहँ गरीब ने ठाढ़ी करी॥

(७) **मतिराम**—ये रीतिकाल के मुख्य कवियों में हैं और चिंतामणि और भूषण के भाई परम्परा से प्रसिद्ध हैं। ये तिकवाँपुर (जि० कानपुर) में संवत् १६७४ के लगभग उत्पन्न हुए थे और बहुत दिनों तक जीवित रहे। ये बूँदी के महाराव भावसिंह के यहाँ बहुत काल तक रहे और उन्हीं के आश्रय में अपना 'ललित ललाम' नामक अलंकार का ग्रंथ संवत् १७१६ और १७४५ के बीच किसी समय बनाया। इनका 'छंदसार' नामक पिंगल का ग्रंथ महाराज शंभुनाथ सोलंकी को समर्पित है। इनका परम मनोहर ग्रंथ 'रसराज' किसी को समर्पित नहीं है। इनके अतिरिक्त इनके दो ग्रंथ और हैं—'साहित्यसार' और 'लक्षण-शृंगार'। बिहारी सतसई के ढंग पर इन्होंने एक "मतिराम-सतसई" भी बनाई जो हिंदी-पुस्तकों की खोज में मिली है। इसके दोहे सरसता में बिहारी के दोहों के समान ही हैं।

मतिराम की रचना की सब से बड़ी विशेषता यह है कि उसकी सरसता अत्यंत स्वाभाविक है, न तो उसमें भावों की कृत्रिमता है, न भाषा की। भाषा शब्दाडंबर से सर्वथा मुक्त है—केवल अनुप्रास के चमत्कार के लिये अशक्त शब्दों की भरती कहीं नहीं है। जितने शब्द और वाक्य हैं वे सब भावव्यंजना में ही प्रयुक्त हैं। रीतिग्रंथ वाले कवियों में इस प्रकार की स्वच्छ, चलती और स्वाभाविक भाषा पद्माकर की ही मिलती है पर कहीं कहीं वह अनुप्रास के जाल में बेतरह जकड़ी पाई जाती है। सारांश यह कि मतिराम की सी रसस्निग्ध और प्रसादपूर्ण भाषा रीति का अनुसरण करनेवालों में बहुत ही कम मिलती है।

भाषा के समान मतिराम के न तो भाव कृत्रिम हैं और न इनके व्यंजक व्यापार और चेष्टाएँ। भावों को आसमान पर चढ़ाने और दूर की कौड़ी लाने के फेर में ये नहीं पड़े हैं। नायिका के विरह-ताप को लेकर बिहारी के समान मज़ाक इन्होंने नहीं किया है। इनके भाव-व्यंजक व्यापारों की शृंखला सीधी और सरल है, बिहारी के समान चक्करदार नहीं। वचन-वक्रता भी इन्हें बहुत पसंद न थी। जिस प्रकार शब्द-वैचित्र्य को ये वास्तविक काव्य से पृथक् वस्तु मानते थे, उसी प्रकार खयाल की झूठी बारीकी को भी। इनका सच्चा कवि-हृदय था। ये यदि समय की प्रथा के अनुसार रीति की बँधी लीकों पर चलने के लिये विवश न होते, अपनी स्वाभाविक प्रेरणा के अनुसार चलने पाते, तो और भी स्वाभाविक और सच्ची भाव-विभूति दिखाते, इसमें कोई संदेह नहीं। भारतीय जीवन से छाँट कर लिए हुए इनके मर्मस्पर्शी चित्रों में जो भाव भरे हैं, वे समान रूप से सब की अनुभूति के अंग हैं।

'रसराज' और 'ललित ललाम' मतिराम के ये दो ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध हैं, क्योंकि रस और अलंकार की शिक्षा में इनका उपयोग बराबर होता चला आया है। वास्तव में अपने विषय के ये अनुपम ग्रंथ हैं। उदाहरणों की रमणीयता से अनायास रसों और अलंकारों का अभ्यास होता चलता है। 'रसराज' का तो कहना ही

क्या है, 'ललित ललाम' में भी अलंकारों के उदाहरण बहुत ही सरस और स्पष्ट हैं। इसी सरलता और स्पष्टता के कारण ये दोनों ग्रंथ इतने सर्वप्रिय रहे हैं। रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में पद्माकर को छोड़ और कोई कवि मतिराम की सरसता को नहीं पहुँच सका है। बिहारी की प्रसिद्धि का कारण बहुत कुछ उनका वाग्वैदग्ध्य है। दूसरी बात यह है कि उन्होंने केवल दोहे कहे हैं, इससे उनमें वह नाद-सौंदर्य्य नहीं आ सकता है जो कवित्त और सवैये की लय के द्वारा संघटित होता है।

मतिराम की कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

नायिका

कुंदन को रँग फीको लगै, झलकै अति अंगनि चारु गोराई।
आँखिन में अलसानि चितौनि मे मंजु विलासन की सरसाई॥
को बिनु मोल बिकात नहीं मतिराम लहे मुसकानि मिठाई।
ज्यों ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि त्यौं त्यौं खरी निकरै सी निकाई॥

परकीया

क्यों इन आँखिन सों निहसंक ह्वै मोहन को तन पानिप पीजै।
नेकु निहारे कलंक लगै यहि गाँव बसे कहु कैसे कै जीजै॥
होत रहै मन यों मतिराम कहूँ बन जाय बड़ो तप कीजै।
ह्वै बनमाल हिए लगिए अरु ह्वै मुरली अधरा-रस पीजै॥

विश्रब्ध-नवोढ़ा

केलि कै राति अघाने नहीं दिन ही में लला पुनि घात लगाई।
'प्यास लगी, कोउ पानी दै जाइयो', भीतर बैठि कै बात सुनाई॥
जेठी पठाई गई दुलही हँसि हेरि हरैं मतिराम बुलाई।
कान्ह के बोल पै कान न दीन्ही सुगेह की देहरि पै धरि आई॥

मध्यम मान

दोउ अनंद सों आँगन माँझ बिराजैं असाढ़ की साँझ सुहाई।
प्यारी के बूझत और तिया को अचानक नाम लियो रसिकाई॥
आई उनै मुँह में हँसी, कोहि तिया पुनि चाप सी भौंह चढ़ाई।
आँखिन तें गिरे आँसू के बूँद, सुहास गयो उड़ि हंस की नाई॥

तुल्ययोगिता

सूबन को मेटि दिल्ली देस दलिबे को चमू,
सुभट समूह निसि वाकी उमहति है।
कहै मतिराम ताहि रोकिबे को संगर में,
काहू के न हिम्मति हिये में उलहति है॥
सत्रुसाल नंद के प्रताप की लपट सब,
गरीब गनीम-बरगीन कों दहति है।
पति पातसाह की इजति उमरावन की
राखी रैया राव भावसिंह की रहति है॥

---

(८) भूषण—वीररस के ये प्रसिद्ध कवि चिंतामणि और मतिराम के भाई थे। इनका जन्मकाल संवत् १६७० है। चित्रकूट के सोलंकी राजा रुद्र ने इन्हें 'कवि भूषण' की उपाधि दी थी। तभी से ये भूषण के नाम से ही प्रसिद्ध हो गए। इनका असल नाम क्या था इसका पता नहीं। ये कई राजाओं के यहाँ रहे। अंत में इनके मन के अनुकूल आश्रयदाता, जो इनके वीरकाव्य के नायक हुए, छत्रपति महाराज शिवाजी मिले। पन्ना के महाराज छत्रसाल के यहाँ भी इनका बड़ा मान हुआ। कहते हैं कि महाराज छत्रसाल ने इनकी पालकी में अपना कंधा लगाया था जिसपर इन्होंने कहा था "सिवा को बखानौं कि बखानौं छत्रसाल को"। ऐसा प्रसिद्ध है कि इन्हें एक एक छंद पर शिवाजी से लाखों रुपए मिले। इनका परलोकवास संवत् १७७२ में माना जाता है।

रीति-काल के भीतर शृंगार रस की ही प्रधानता रही। कुछ कवियों ने अपने आश्रयदाताओं की स्तुति में, उनके प्रताप आदि के प्रसंग में उनकी वीरता का भी थोड़ा बहुत वर्णन अवश्य किया है पर वह शुष्क प्रथा पालन के रूप में ही होने के कारण ध्यान देने योग्य नहीं है। ऐसे वर्णनों के साथ जनता की हार्दिक सहानुभूति कभी हो नहीं सकती थी। पर भूषण ने जिन दो नायकों की कृति को अपने वीरकाव्य का विषय बनाया वे अन्याय-दमन में तत्पर, हिंदू धर्म के संरक्षक, दो इतिहास-प्रसिद्ध वीर थे। उनके प्रति भक्ति और सम्मान की प्रतिष्ठा हिंदू जनता के हृदय में उस समय भी थी और

आगे भी बराबर बनी रही या बढ़ती गई। इसी से भूषण के वीररस के उद्गार सारी जनता के हृदय की संपत्ति हुए। भूषण की कविता कवि-कीर्त्ति-संबंधी एक अविचल सत्य का दृष्टांत है। जिसकी रचना को जनता का हृदय स्वीकार करेगा उस कवि की कीर्त्ति तब तक बराबर बनी रहेगी जब तक स्वीकृति बनी रहेगी। क्या संस्कृत साहित्य में, क्या हिंदी साहित्य में, सहस्रों कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की प्रशंसा में ग्रंथ रचे जिनका आज पता तक नहीं है। पुरानी वस्तु खोजने वालों को ही कभी कभी किसी राजा के पुस्तकालय में, कहीं किसी घर के कोने में, उनमें से दो चार इधर उधर मिल जाती हैं। जिस भोज ने दान दे दे कर अपनी इतनी तारीफ कराई उसके भी चरितकाव्य भी कवियों ने लिखे होंगे। पर उन्हें आज कौन जानता है?

शिवाजी और छत्रसाल की वीरता के वर्णनों को कोई कवियों की झूठी खुशामद नहीं कह सकता। वे आश्रयदातओं की प्रशंसा की प्रथा के अनुसरण मात्र नहीं है। इन दो वीरों का जिस उत्साह के साथ सारी हिंदू-जनता स्मरण करती है उसी की व्यंजना भूषण ने की है। वे हिंदू जाति के प्रतिनिधि कवि हैं। जैसा कि आरंभ में कहा गया है, शिवाजी के दरबार में पहुँचने के पहले वे और राजाओं के पास भी रहे। उनके प्रताप आदि की प्रशंसा भी उन्हें अवश्य ही करनी पड़ी होगी। पर वह झूठी थी, इसीसे टिक न सकी। पीछे से भूषण को भी अपनी उन रचनाओं से विरक्ति ही हुई होगी। इनके 'शिवराज भूषण' 'शिवा बावनी' और 'छत्रसाल दसक' ये ग्रंथ ही मिलते हैं। इनके अतिरिक्त ३ ग्रंथ और कहे जाते हैं 'भूषण उल्लास', 'दूषण उल्लास' और 'भूषण हज़ारा'।

जो कविताएँ इतनी प्रसिद्ध हैं उनके संबंध में यहाँ यह कहना कि वे कितनी ओजस्विनी और वीरदर्पपूर्ण हैं, पिष्टपेषण मात्र होगा। यहाँ इतना ही कहना आवश्यक है कि भूषण वीररस के ही कवि थे। इधर इनके दो चार कवित्त शृंगार के भी मिले हैं पर वे गिनती के योग्य नहीं हैं। रीति-काल के कवि होने के कारण भूषण ने अपना प्रधान ग्रंथ 'शिवराज भूषण अलंकार के ग्रंथ के रूप में बनाया। पर रीति-ग्रंथ की दृष्टि से, अलंकार-निरूपण के विचार से, यह उत्तम ग्रंथ नहीं कहा जा सकता। लक्षणों की भाषा भी स्पष्ट नहीं है और उदाहरण भी कई स्थलों पर ठीक नहीं हैं। भूषण की भाषा में ओज की मात्रा तो पूरी है पर वह अधिकतर अव्यस्थित है। व्याकरण का उल्लंघन प्रायः है और वाक्य-रचना भी कहीं कहीं गड़बड़ है। इसके अतिरिक्त शब्दों के रूप भी बहुत बिगाड़े गए हैं और कहीं कहीं बिल्कुल गढ़ंत के शब्द रखे गए हैं। पर जो कवित्त इन दोषों से मुक्त हैं वे बड़े ही सशक्त और प्रभावशाली हैं। कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं।

इंद्र जिमि जृंभ पर बाड़व सु अंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुलराज हैं।
पौन वारिवाह पर, संभु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं॥
दावा द्रुमदंड पर, चीता मृगझुंड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम-अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों मलेच्छ-बंस पर सेर सिवराज हैं॥

डाढ़ी के रखैयन की डाढ़ी सी रहति छाती,
बाढ़ी मरजाद जस हद्द हिंदुवाने की।
कढ़ि गई रैयत के मन की कसक सब,
मिटि गई ठसक तमाम तुरकाने की॥
भूषन भनत दिल्लीपति दिल धक धक,
सुनि सुनि धाक सिवराज मरदाने की।
मोटी भई चंडी बिन चोटी के चबाय सीस,
खोटी भई संपति चकत्ता के घराने की॥

सबन के ऊपर ही ठाढ़ो रहिबे के जोग
ताहि खरो कियो जाय जारन के नियरे।
जानि गैर-मिसिल गुसीले गुसा धारि उर,
कीन्हों ना सलाम न बचन बोले सियरे॥
भूषन भनत महाबीर बलकन लाग्यो,
सारी पातसाही के उड़ाय गए जियरे।

तमक तें लाल मुख सिवा को निरखि भयो
स्याह मुख नौरँग, सिपाह मुख पियरे ॥

दारा की न दौर यह, रार नहीं खजुवे की,
बाँधिबो नहीं है कैधौं मीर सहवाल को।
मठ विस्वनाथ को, न बास ग्राम गोकुल को,
देवी को न देहरा, न मंदिर गोपाल को ॥
गाढ़े गढ़ लीन्हें अरु बैरी कतलाम कीन्हे,
ठौर ठौर हासिल उगाहत है साल को।
बूड़ति है दिल्ली सो सँभारै क्यों न दिल्लीपति,
धक्का आनि लाग्यो सिवराज महाकाल को ॥

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार बार,
दिल्ली दहसति चितै चाहि करषति है।
बिलखि बदन बिलखत विजैपुर पति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है।
थर थर काँपत कुतुब साहि गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप-भीर भरकति है ॥
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते बादसाहन की छाती धरकति है ॥

---

(९) **कुलपति मिश्र**- ये माथुर चौबे थे और महाकवि बिहारी के भानजे प्रसिद्ध हैं। ये आगरे के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम परशुराम मिश्र था। कुलपति जी जयपुर के महाराज जयसिंह (बिहारी के आश्रयदाता) के पुत्र महाराज रामसिंह के दरबार में रहते थे। इनके 'रसरहस्य' का रचनाकाल कार्त्तिक कृष्ण ११ संवत् १७२७ है। अबतक इनका यही ग्रंथ प्रसिद्ध और प्रकाशित है। पर खोज में इनके निम्नलिखित ग्रंथ और मिले हैं:—

द्रोणपर्व (सं० १७३७), मुक्ति-तरंगिणी (१७४३) नखशिख, संग्रह सार, गुणरस रहस्य (१७२४)

अतः इनका कविता-काल संवत् १७२४ और संवत् १७४३ के बीच ठहरता है।

रीति-काल के कवियों में ये संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। इनका 'रस-रहस्य' मम्मट के काव्यप्रकाश का छायानुवाद है। साहित्य-शास्त्र का अच्छा ज्ञान रखने के कारण इनके लिये यह स्वाभाविक था कि ये प्रचलित लक्षण-ग्रंथों की अपेक्षा अधिक प्रौढ़ निरूपण का प्रयत्न करें। इसी उद्देश्य से इन्होंने अपना 'रसरहस्य' लिखा। पर शास्त्रीय निरूपण के उपयुक्त प्रौढ़ता ब्रजभाषा में नहीं आ सकी थी; और इन्हें प्रचलित प्रथा के अनुसार ब्रजभाषा पद्य में ही सारा विषय लिखना पड़ा। इस कारण जिस उद्देश्य से इन्होंने अपना यह ग्रंथ लिखा वह पूरा न हुआ। इस ग्रंथ का जैसा प्रचार चाहिए था न हो सका। जिस स्पष्टता से 'काव्य प्रकाश' में विषय प्रतिपादित हुए हैं वह स्पष्टता इनके ब्रजभाषा पद्य में न आ सकी। कहीं कहीं तो भाषा और वाक्य रचना दुरूह हो गई है।

यद्यपि इन्होंने शब्दशक्ति और भावादि निरूपण में लक्षण उदाहरण दोनों बहुत कुछ काव्यप्रकाश के ही दिए हैं पर अलंकार-प्रकरण में इन्हों ने प्रायः अपने आश्रयदाता महाराज रामसिंह की प्रशंसा के स्वरचित उदाहरण दिए हैं। ये ब्रजमंडल के निवासी थे अतः इन को ब्रज की चलती भाषा पर अच्छा अधिकार होना ही चाहिए। हमारा अनुमान है जहाँ इन को अधिक स्वच्छंदता रही होगी वहाँ इनकी रचना और सरस होगी। इनकी रचना का एक नमूना दिया जाता है:—

ऐसिय कुंज बनी छबि पुंज रहै अलिगुंजत यों सुख लीजै।
नैन विसाल हिये बनमाल विलोकत रूप-सुधा भरि पीजै ॥
जामिनि जाम की कौन कहै जुग जात न जानिए ज्यों छिन छीजै।
आनँद यों उमग्योई रहै, पिय मोहन को मुख देखिबो कीजै ॥

---

(१०) **सुखदेव मिश्र**-दौलतपुर (जि० रायबरेली) में इनके वंशज अब तक हैं। कुछ दिन हुए उसी ग्राम के निवासी सुप्रसिद्ध पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इनका एक अच्छा जीवनवृत्त 'सरस्वती' पत्रिका में लिखा था। सुखदेव मिश्र का जन्मस्थान 'कंपिला' था जिसका वर्णन इन्होंने अपने "वृत्तविचार" में किया है। इनका कविता-काल संवत् १७२० से १७६० तक माना जा सकता है। इनके सात ग्रंथों का पता अब तक है—

वृत्तविचार (संवत् १७२८), छंदविचार, फाज़िल अलीप्रकाश, रसार्णव, शृंगारलता, अध्यात्म-प्रकाश (संवत् १७५५), दशरथ राय।

अध्यात्म प्रकाश में कवि ने ब्रह्मज्ञान संबंधी बातें कही हैं जिससे यह जनश्रुति पुष्ट होती है कि वे एक निस्पृह विरक्त साधु के रूप में रहते थे।

काशी से विद्याध्ययन कर लौटने पर ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची तथा डौंडिया-खेरे के राव मर्दनसिंह के यहाँ रहे। कुछ दिनों तक ये औरंगजेब के मंत्री फ़ाज़िल अलीशाह के यहाँ भी रहे। अंत में मुरार-मऊ के राजा देवीसिंह के यहाँ गए जिनके बहुत आग्रह पर ये सकुटुंब दौलतपुर में जा बसे। राजा राजसिंह गौड़ ने इन्हें 'कविराज' की उपाधि दी थी। वास्तव में ये बहुत प्रौढ़ कवि थे और आचार्यत्व भी इनमें पूरा था। छंदः शास्त्र पर इनका सा विशद-निरूपण और किसी कवि ने नहीं किया है। ये जैसे पंडित थे वैसे ही काव्यकला में भी निपुण थे। "फ़ाज़िल अली प्रकाश" और "रसार्णव" दोनों में शृंगार रस के उदाहरण बहुत ही सुंदर हैं। दो नमूने लीजिए—

ननद निनारी, सासु मायके सिधारी,
अहै रैनि अँधियारी भरी, सूझत न करु है।
पीतम को गौन कविराज न सोहात भौन,
दारुन बहत पौन, लाग्यो मेघ झरु है॥
संग ना सहेली, बैस नवल अकेली,
तन परी तलबेली महा, लाग्यो मैन सरु है।
भई अधिरात, मेरो जियरा डरात,
जागु जागु रे बटोही! यहाँ चोरन को डरु है॥

जोहैं जहाँ मगु नंदकुमार तहाँ चलि चंद्रमुखी सुकुमार है।
मोतिन ही को कियो गहनो सब फूलि रही जनु कुंद की डार है॥
भीतर ही जो लखी सो लखी अब बाहिर जाहिर होति न दार है।
जोन्ह सी जोन्हैं गई मिलि यों मिलि जाति ज्यौं दूध में दूध की धार है॥

---

(११) कालिदास त्रिवेदी—ये अंतरवेद के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। जान पड़ता है कि संवत् १७४५ वाली गोलकुंडे की चढ़ाई में ये औरंगजेब की सेना में किसी राजा के साथ गए थे। इस लड़ाई का औरंगजेब की प्रशंसा से युक्त वर्णन इन्होंने इस प्रकार किया है—

गढ़न गढ़ी से गढ़ि, महल मढ़ी से मढ़ि,
बीजापुर ओप्यो दलमलि सुघराई में।
कालिदास कोप्यो वीर औलिया अलमगीर,
तीर तरवारि गही पुहमी पराई में॥
बूँद तें निकसि महिमंडल घमंड मची,
लोहू की लहरि हिमगिरि की तराई में।
गाड़ि के सुझंडा आड़ कीनी बादसाह तातें
डकरी चमुंडा गोलकुंडा की लराई में॥

कालिदास का जंबू नरेश जोगजीतसिंह के यहाँ भी रहना पाया जाता है जिनके नाम पर संवत् १७४९ में इन्होंने 'वारबधू विनोद' बनाया। यह नायिका-भेद और नखशिख की पुस्तक है। बत्तीस कवित्तों की इनकी एक छोटी सी पुस्तक जँजीराबंद भी है। राधा माधव-बुधमिलन-विनोद नाम का एक कोई और ग्रंथ इनका खोज में मिला है। इन रचनाओं के अतिरिक्त इनका बड़ा संग्रह ग्रंथ 'कालिदास हजारा' बहुत दिनों से प्रसिद्ध चला आता है। इस संग्रह के संबंध में शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि इसमें संवत् १४८१ से लेकर संवत् १७७६ तक के २१२ कवियों के १००० पद्य संगृहीत हैं। कवियों के काल-आदि के निर्णय में यह ग्रंथ बड़ा ही उपयोगी है। इनके पुत्र कवींद्र और पौत्र दूलह भी बड़े अच्छे कवि हुए।

ये एक अभ्यस्त और निपुण कवि थे। इनके फुटकर कवित्त इधर उधर बहुत सुने जाते हैं जिनसे इनकी सरस-हृदयता का अच्छा परिचय मिलता है। दो कवित्त नीचे दिये जाते हैं।

चूमौ करकंज मंजु अमल अनूप तेरो,
रूप के निधान, कान्ह! मो तन निहारि दे।
कालिदास कहै मेरे पास हरै हेरि हेरि
माथे धरि मुकुट लकुट कर डारि दे॥

कुँवर कन्हैया मुखचंद की जुन्हैया,
चारु लोचन-चकोरन की प्यासन निवारि दे।
मेरे कर मेहँदी लगी है नंदलाल प्यारे!
लट उरझी है नकबेसर संभारि दे॥

हाथ हँसि दीन्हों भीति अंतर परसि प्यारी,
देखत ही छकी मति कान्हर प्रबीन की।
निकस्यो झरोखे माँझ बिगस्यो कमल सम,
ललित अँगूठी तामें चमक चुनीन की।
कालिदास तैसी लाल मेहँदी के बुंदन की,
चारु नख-चंदन की लाल-अँगुरीन की।
कैसी छबि छाजति है छाप औ छलान की सु
कंकन चुरीन की जड़ाऊ पहुँचीन की॥

---

(१२) राम— शिवसिंहसरोज में इनका जन्म संवत् १७०३ लिखा है और कहा गया है कि इनके कवित्त कालिदास के हजारा में हैं। इनका नायिकाभेद का एक ग्रंथ शृंगारसौरभ है जिसकी कविता बहुत ही मनोरम है। खोज में एक "हनुमान नाटक" भी इनका पाया गया है। शिवसिंह के अनुसार इनका कविताकाल संवत् १७३० केलगभग माना जा सकता है। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

उमड़ि घुमड़ि घन छोड़त अखंड धार,
चंचला उठति तामें तरजि तरजि कै।
बरही पपीहा भेक पिक खग टेरत हैं,
धुनि सुनि प्रान उठे लरजि लरजि कै॥
कहै कवि राम लखि चमक खदोतन की
पीतम को रही मैं तो बरजि बरजि कै।
लागे तन तावन बिना री मनभावन के,
सावन दुवन आयो गरजि गरजि कै॥

---

(१३) नेवाज-ये अंतर्वेद के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग वर्त्तमान थे। ऐसा प्रसिद्ध है कि पन्ना-नरेश महाराज छत्रसाल के यहाँ ये किसी भगवत् कवि के स्थान पर नियुक्त हुए थे जिस पर भगवत् कवि ने यह फबती छोड़ी थी—

भली आजु कलि करत हौ छत्रसाल महराज।
जहँ भगवत गीता पढ़ी तहँ कवि पढ़त नेवाज॥

शिवसिंह ने नेवाज का जन्म संवत् १७३९ लिखा है जो ठीक नहीं जान पड़ता क्योंकि इनके शकुंतला नाटक का निर्माणकाल संवत् १७३७ है। दो और नेवाज हुए हैं जिनमें एक भगवंतराय खीची के यहाँ थे। प्रस्तुत नेवाज का औरंगज़ेब के पुत्र आज़मशाह के यहाँ रहना भी पाया जाता है। इनका गद्यपद्य मय 'शकुंतला नाटक' बहुत प्रसिद्ध रहा। इनके फुटकर कवित्त बहुत स्थानों पर संगृहीत मिलते हैं जिनमें इनकी काव्य-कुशलता और सहृदयता टपकती है। भाषा इनकी बहुत परिमार्जित व्यवस्थित और भावोपयुक्त है। इसमें भरती के शब्द और वाक्य बहुत ही कम मिलते हैं। इनके अच्छे शृंगारी कवि होने में संदेह नहीं। संयोग शृंगार के वर्णन की प्रवृत्ति इनकी विशेष जान पड़ती है जिसमें कहीं कहीं ये अश्लीलता की सीमा के भीतर जा पड़ते हैं। दो सवैये इनके उद्धृत किए जाते हैं—

देखि हमैं सब आपुस में जो कछू मन भावै सोई कहती हैं।
ये घरहाई लुगाई सबै निसि द्यौस नेवाज हमैं दहती हैं॥
बातैं चवाव भरी सुनि कै रिस आवति पै चुप ह्वै रहती हैं।
कान्ह पियारे तिहारे लिए सिगरे ब्रज को हँसिबो सहती हैं॥

आगे तौ कीन्हीं लगालगी लोयन, कैसे छिपै अजहूँ जौ छिपावति।
तू अनुराग को सोध कियो, ब्रज की बनिता सब यों ठहरावति॥
कौन सँकोच रह्यो है नेवाज जो तू तरसै उनहू तरसावति।
बावरी! जौपै कलंक लग्यो तौ निसंक ह्वै क्यों नहिं अंक लगावति॥

---

(१४) देव-ये इटावा के रहनेवाले सनाढ्य ब्राह्मण थे। कुछ लोगों ने इन्हें कान्यकुब्ज सिद्ध करने का भी प्रयत्न किया है। इनका पूरा नाम देवदत्त था। 'भावविलास' का रचना काल इन्होंने १७४६ दिया है और उस ग्रंथ निर्माण के समय अपनी अवस्था सोलह ही वर्ष की कही है। इस हिसाब से इनका जन्म संवत् १७३० निश्चित होता है। इसके अतिरिक्त इनका और कुछ वृत्तांत नहीं

मिलता। इतना अवश्य अनुमित होता है कि इन्हें कोई अच्छा उदार आश्रयदाता नहीं मिला जिसके यहाँ रहकर इन्होंने सुख से कालयापन किया हो। ये बराबर अनेक रईसों के यहाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमते रहे, पर कहीं जमे नहीं। इसका कारण या तो इनकी प्रकृति की विचित्रता मानें या इनकी कविता के साथ तत्कालीन रुचि का असामंजस्य। इन्होंने अपने 'अष्टयाम' और 'भावविलास' को औरंगजेब के बड़े पुत्र आज़मशाह को सुनाया था जो हिंदी कविता के प्रेमी थे। इसके पीछे इन्होंने भवानीदत्त वैश्य के नाम पर "भवानीविलास" और कुशलसिंह के नाम पर 'कुशलविलास' की रचना की। फिर मर्दनसिंह के पुत्र राजा उद्योतसिंह वैश्य के लिये 'प्रेमचंद्रिका' बनाई। इसके उपरांत ये बराबर अनेक प्रदेशों में भ्रमण करते रहे। इस यात्रा के अनुभव का इन्होंने अपने 'जाति-विलास' नामक ग्रंथ में कुछ उपयोग किया। इस ग्रंथ में भिन्न भिन्न जातियों और भिन्न भिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। पर वर्णन में उनकी विशेषताएँ अच्छी तरह व्यक्त हुई हों यह बात नहीं है। इतने पर्य्यटन के उपरांत जान पड़ता है कि इन्हें एक अच्छे आश्रयदाता राजा भोगीलाल मिले जिनके नाम पर संवत् १७८३ में इन्होंने 'रसविलास' नामक ग्रंथ बनाया। इन राजा भोगीलाल की इन्होंने अच्छी तारीफ़ की है, जैसे, "भोगीलाल भूप लाख पाखर लेवैया जिन्ह लाखन खरचि रचि आखर खरीदे हैं।"

रीति-काल के प्रतिनिधि कवियों में शायद सब से अधिक ग्रंथ-रचना देव ने की है। कोई इनकी रची पुस्तकों की संख्या ५२ और कोई ७२ तक बतलाते हैं। जो हो इनके निम्नलिखित २६ ग्रंथों का तो पता है।—

(१) भाव-विलास (२) अष्टयाम (३) भवानी-विलास (४) सुजान-विनोद (५) प्रेम-तरंग (६) राग-रत्नाकर (७) कुशल-विलास (८) देव-चरित्र (९) प्रेम-चंद्रिका (१०) जाति-विलास (११) रस विलास (१२) काव्य-रसायन या शब्द-रसायन (१३) सुख-सागर-तरंग (१४) देवमाया-प्रपंच नाटक (१५) वृक्ष-विलास (१६) पावस विलास (१७) ब्रह्म-दर्शन पचीसी (१८) तत्त्व-दर्शन पचीसी (१९) आत्म दर्शन पचीसी (२०) जग-दर्शन पचीसी (२१) रसानंद-लहरी (२२) प्रेम-दीपिका (२३) सुमिल-विनोद। (२४) राधिका विलास (२५) नीति-शतक (२६) नखशिख प्रेमदर्शन।

ग्रंथों की अधिक संख्या के संबंध में यह जान रखना भी आवश्यक है कि देवजी अपने पुराने ग्रंथों के कवित्तों को इधर उधर दूसरे क्रम से रखकर एक नया ग्रंथ प्रायः तैयार कर दिया करते थे। इससे वे ही कवित्त बार बार इनके अनेक ग्रंथों में मिलेगें। सुखसागर तरंग तो प्रायः अनेक ग्रंथों से लिए हुए कवित्तों का संग्रह है। राग-रत्नाकर में राग रागिनियों के स्वरूप का वर्णन है। 'अष्टयाम' तो रात-दिन के भोग-विलास की दिनचर्य्या है जो उस काल के अकर्मण्य और विलासी राजाओं के सामने मानों कालयापन विधि का ब्योरा पेश करने के लिये बनी हो। 'ब्रह्मदर्शन पचीसी' और 'तत्त्वदर्शन पचीसी' में जो विरक्ति का भाव है वह बहुत संभव है कि अपनी कविता के प्रति लोक की उदासीनता देखते देखते उत्पन्न हुई हो। 'देवमाया प्रपंच' नाटक संस्कृत के प्रबोध-चंद्रोदय के अनुकरण पर है।

ये आचार्य्य और कवि दोनों रूपों में हमारे सामने आते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य्यत्व के पद के अनुरूप कार्य्य करने में रीतिकाल के कवियों में पूर्णरूप से कोई समर्थ नहीं हुआ। कुलपति और सुखदेव ऐसे साहित्य-शास्त्र के अभ्यासी पंडित भी विशद रूप में सिद्धांत-निरूपण का मार्ग नहीं पा सके। बात यह थी कि एक तो ब्रजभाषा का विकास काव्योपयोगी रूप में ही हुआ; विचार-पद्धति के उत्कर्ष साधन के योग्य वह न हो पाई। दूसरे उस समय पद्य में ही लिखने की परिपाटी थी। अतः आचार्य्य के रूप में देव को भी कोई विशेष स्थान नहीं दिया जा सकता। कुछ लोगों ने भक्तिवश अवश्य और बहुत सी बातों के साथ इन्हें कुछ शास्त्रीय उद्भावना का श्रेय भी देना चाहा है। वे ऐसे ही लोग हैं जिन्हें 'तात्पर्य-वृत्ति" एक नया नाम मालूम होता है और जो संचारियों में एक 'छल' और बढ़ा हुआ देख कर चौंकते हैं। नैयायिकों की तात्पर्य्य

वृत्ति बहुत काल से प्रसिद्ध चली आ रही है और वह संस्कृत के सब साहित्य-मीमांसकों के सामने थी। तात्पर्य्य वृत्ति वास्तव में वाक्य के भिन्न भिन्न पदों (शब्दों) के वाच्यार्थ को एक में समन्वित करनेवाली वृत्ति मानी गई है अतः वह अभिधा से भिन्न नहीं; वाक्यगत अभिधा ही है। रही 'छल संचारी' की बात। साहित्य के सिद्धांत-ग्रंथों से परिचित मात्र जानते हैं कि गिनाए हुए ३३ संचारी उपलक्षण मात्र हैं; संचारी और भी कितने हो सकते हैं।

अभिधा, लक्षणा आदि शब्दशक्तियों का निरूपण हिंदी के रीति ग्रंथों में प्रायः कुछ भी नहीं हुआ है। इस विषय का सम्यक् ग्रहण और परिपाक जरा है भी कठिन। इस दृष्टि से देव जी के इस कथन पर कि—

> अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लक्षणा लीन।
> अधम व्यंजना रस विरस, उलटी कहत नवीन॥

यहाँ अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। व्यंजना की व्याप्ति कहाँ तक है, उसकी किस किस प्रकार क्रिया होती है इत्यादि स्पष्ट करने के लिये यहाँ अवकाश नहीं है। पर इतना कह देना आवश्यक है कि देवजी का यहाँ 'व्यंजना' से तात्पर्य्य पहेली-बुझौवल-वाली "वस्तु-व्यंजना" का ही जान पड़ता है। यह दोहा लिखते समय उसी का विकृत रूप उनके ध्यान में था।

कवित्व-शक्ति देव में बहुत अच्छी थी पर उसके सम्यक् स्फुरण में उनकी रुचि विशेष प्रायः बाधक हुई है। कभी कभी वे कुछ बड़े और पेचीले मज़मून का हौसला बाँधते थे पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका अंगभंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी। भाषा में स्निग्ध प्रवाह न आने का एक बड़ा भारी कारण यह भी था। इनकी भाषा में रसार्द्रता और चलतापन बहुत ही कम पाया जाता है। कहीं कहीं शब्दव्यय बहुत अधिक है और अर्थ बहुत अल्प।

अक्षर-मैत्री के ध्यान से इन्हें बहुत से अशक्त शब्द रखने पड़ते थे जो एक ओर तो भद्दी तड़क भड़क भिड़ाते थे और दूसरी ओर अर्थ को आच्छन्न करते थे। तुकांत और अनुप्रास के लिये ये शब्दों को ही तोड़ते, मरोड़ते और बिगाड़ते न थे, वाक्य को भी अविन्यस्त कर देते थे। जहाँ अभिप्रेत भाव का निर्वाह पूरी तरह हो पाया है, या जहाँ उसमें कम बाधा पड़ी है, वहाँ बहुत अच्छी सफलता हुई है। पर सफलता के स्थलों की अपेक्षा विफलता के स्थल कहीं अधिक हैं, इससे कवियों की बहुत ऊँची श्रेणी में ये नहीं जा सकते। हाँ, अच्छे कवियों में इनका विशेष गौरव का स्थान है। मौलिकता के ये पूरे प्रयासी थे। नवीन उक्तियों और उपमाओं आदि का विधान बहुत कुछ है। इनकी कविता के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

> सूनों कै परम पद, ऊनो कै अनंत मद,
> नूनो कै नदीस नद, इंदिरा झुरै परी।
> महिमा मुनीसन की, संपति दिगीसन की,
> ईसन की सिद्धि ब्रजवीथी बिथुरै परी॥
> भादों की अँधेरी अधिराति मथुरा के पथ,
> पाय के सँयोग 'देव' देवकी दुरै परी।
> पारावार पूरन अपार परब्रह्म-रासि,
> जसुदा के कोरै एक बारही कुरै परी॥

> डार द्रुम पालन, बिछौना नवपल्लव के,
> सुमन झँगूला सोहै तन छवि भारी दै।
> पवन झुलावै, केकी कीर बहरावै देव;
> कोकिल हलावै हुलसावै कर तारी दै॥
> पूरित पराग सों उतारो करै राई लोन,
> कंजकली नायिका लतानि सिर सारी दै।
> मदन महीप जू को बालक बसंत, ताहि
> प्रात हिये लावत गुलाब चटकारी दै॥

> सखी के सकोच, गुरु सोच मृगलोचनि
> रिसानी पिय सों जो उन नेकु हँसि छुयो गात।
> देव वै सुभाय मुसकाय उठि गए, यहाँ
> सिसकि सिसकि निसि खोई, रोय पायो प्रात।
> को जानै, री बीर! बिनु बिरही बिरह-बिथा,
> हाय हाय करि पछिताय न कछू सुहात।

बड़े बड़े नैनन सों आँसू भरि भरि ढरि
गोरे गोरे मुख परि ओरे से बिलाने जात ॥

साँसन ही में समीर गयो अरु आँसुन ही सब नीर गयो ढरि ।
तेज गयो गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि ॥
'देव' जियै मिलिबेई की आस कै, आसहू पास अकास रह्यो भरि ।
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियो हरि जू हरि ॥

जब तें कुँवर कान्ह रावरी, कलानिधान !
कान परी वाके कहूँ सुजस कहानी सी ।
तब ही तें देव देखी देवता सी हँसति सी,
रीझति सी, खीझति सी, रूठति रिसानी सी ॥
छोही सी, छली सी, छीन लीनी सी, छकी सी छिन,
जकी सी, टकी सी, लगी थकी थहरानी सी ।
बींधी सी, बँधी सी विष, बूड़ति बिमोहित सी,
बैठी बाल बकति, विलोकति बिकानी सी ॥

देव मैं सीस बसायो सनेह सों, भाल मृगम्मद बिंदु कै भाख्यो ।
कंचुकि में चुपर्‍यो करि चोवा, लगाय लियो उर सों अभिलाख्यो ॥
लै मखतूल गुहे गहने, रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यो ।
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैनन को कजरा करि राख्यो ॥

धार में धाय धँसीं निरधार ह्वै, जाय फँसी, उकसी न उधेरी ।
री ! अगराय गिरीं गहिरी, गहि फेरे फिरीं न, घिरीं नहिं घेरी ॥
देव, कछू अपनो बस ना, रस लालच लाल चितैं भईं चेरी ।
बेगि ही बूड़ि गईं पँखियाँ, अँखियाँ मधु की मखियाँ भईं मेरी ॥

× **(१५) श्रीधर या मुरलीधर**–ये प्रयाग के रहने वाले ब्राह्मण थे और संवत् १७३७ के लगभग उत्पन्न हुए थे। यद्यपि अभीतक इनका "जंगनामा" ही प्रकाशित हुआ है जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदार के युद्ध का वर्णन है पर स्व० बाबू राधाकृष्णदास ने इनके बनाए कई रीति-ग्रंथों का उल्लेख किया है। जैसे, नायिकाभेद, चित्र काव्य आदि। इनका कविता काल संवत् १७६० के आगे माना जा सकता है।

(१६) सूरति मिश्र-ये आगरे के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे जैसा कि इन्होंने स्वयं लिखा है–"सूरति मिश्र कनौजिया, नगर आगरे बास"। इन्होंने 'अलंकार माला' संवत् १७६६ में और बिहारी-सतसई की 'अमर-चंद्रिका' टीका संवत् १७९४ में लिखी। अतः इनका कविता-काल विक्रम की अठारहवीं शताब्दी का अंतिम चरण माना जा सकता है।

ये नसरुल्ला खाँ नामक सरदार और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के दरबार में आया जाया करते थे। इन्होंने 'बिहारी-सतसई', 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' पर विस्तृत टीकाएँ रची हैं जिनसे इनके साहित्य-ज्ञान और मार्मिकता का अच्छा परिचय मिलता है। टीकाएँ व्रजभाषा गद्य में है। इन टीकाओं के अतिरिक्त इन्होंने 'वैताल पंचविंशति' का व्रजभाषा गद्य में अनुवाद भी किया है और निम्नलिखित रीति ग्रंथ भी रचे हैं—

१—अलंकार माला, २-रसरत्नमाला, ३-सरस रस, ४-रस-ग्राहक चंद्रिका; ५-नख-शिख, ६-काव्य-सिद्धांत, ७-रसरत्नाकर।

अलंकार-माला की रचना इन्होंने 'भाषा भूषण' के ढंग पर की है। इसमें भी लक्षण और उदाहरण प्रायः एक ही दोहे में मिलते हैं। जैसे,

(क) हिम सो, हर के हास सो जस मालोपम ठानि।
(ख) सो असँगति, कारन अवर, कारज औरै थान।
चलि अहि श्रुति आनहि डसत, नसत और के प्रान ॥

इनके ग्रंथ सब मिले नहीं हैं। जितने मिले हैं उनसे ये अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कवि जान पड़ते हैं। इनकी कविता में तो कोई विशेषता नहीं जान पड़ती पर साहित्य का उपकार इन्होंने बहुत कुछ किया है। 'नख-शिख' से इनका एक कवित्त दिया जाता है—

तेरे ये कपोल बाल अतिही रसाल,
मन जिनकी सदाई उपमा विचारियत है।
कोऊ न समान जाहि कीजै उपमान,
अरु बापुरे मधूकन की देह जारियत है ॥
नेकु दरपन समता की चाह करी
कहूँ, भए अपराधी ऐसो चित्त धारियत है।

'सूरति' सो याही तें जगत बीच आजहूँ लौं,
उनके बदन पर छार डारियत है ॥

(१७) कवींद्र (उदयनाथ)-ये कालिदास त्रिवेदी के पुत्र थे और संवत् १७३६ के लगभग उत्पन्न हुए थे। इनका "रसचंद्रोदय" नामक ग्रंथ बहुत प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त 'विनोदचंद्रिका' और 'जोगलीला' नामक इनकी दो और पुस्तकों का पता खोज में लगा है। विनोदचंद्रिका संवत् १७७७ में और 'रसचंद्रोदय' संवत् १८०४ में बना। अतः इनका कविता-काल संवत् १७७७ से संवत् १८०४ या उसके कुछ आगे तक माना जा सकता है। ये अमेठी के राजा हिम्मतसिंह और गुरुदत्त सिंह (भूपति) के यहाँ बहुत दिन रहे।

इनका 'रसचंद्रोदय' शृंगार का एक अच्छा ग्रंथ है। इनकी भाषा मधुर और प्रसादपूर्ण है। वर्ण्य विषय के अनुकूल कल्पना भी ये अच्छी करते थे। इनके दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

सहर मँझार ही पहर एक लागि जैहै,
छोर पै नगर के सराय है उतारे की।
कहत कविंद मग माँझ ही परैगी साँझ,
खबर उड़ानी है बटोही द्वैक मारे की ॥
घर के हमारे परदेस को सिधारे,
यातें दया कै विचारी हम रीति राहवारे की।
उतरौ नदी के तीर, बर के तरे ही तुम,
चौंकौ जानि चौकी तहाँ पाहरू हमारे की ॥

———

राजै रसमै री तैसी बरषा समैं री चढ़ी,
चंचला नचै री चकचौंधा कौंधा वारै री।
व्रती व्रत हारैं हिये, परत फुहारैं,
कछू छोरै कछू धारैं जलधर जलधारैं री ॥
भनत कविंद कुंजभौन पौन सौरभ सों
काके न कँपाय प्रान परहथ पारैं री ?
काम-कँदुका से फूल डोलि डोलि डारैं,
मन औरै किए डारैं ये कदंबन की डारैं री ॥

(१८) श्रीपति-ये कालपी के रहनेवाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७७७ में 'काव्य-सरोज' नामक रीति-ग्रंथ बनाया। इसके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

१—कविकल्पद्रुम, २-रससागर, ३-अनुप्रास-विनोद, ४-विक्रम-विलास, ५-सरोज कलिका, ६-अलंकार-गंगा।

श्रीपति ने काव्य के सब अंगों का निरूपण विशद रीति से किया है। दोषों का विचार पिछले ग्रंथों से अधिक विस्तार के साथ किया है और दोषों के उदाहरणों में केशवदास के बहुत से पद्य रखे हैं। इससे इनका साहित्यिक विषयों का सम्यक् और स्पष्ट बोध तथा विचार-स्वातंत्र्य प्रकट होता है। 'काव्य-सरोज' बहुत ही प्रौढ़ ग्रंथ है। काव्यांगों का निरूपण जिस स्पष्टता के साथ इन्होंने किया है उससे इनकी स्वच्छ बुद्धि का परिचय मिलता है। यदि गद्य में व्याख्या की परपाटी चल गई होती तो आचार्य्यत्व ये और भी अधिक पूर्णता के साथ प्रदर्शित कर सकते। दास जी तो इनके बहुत अधिक ऋणी हैं। उन्होंने इनकी बहुत सी बातें ज्यों की त्यों अपने "काव्यनिर्णय" में चुपचाप रख ली हैं। आचार्य्यत्व के अतिरिक्त कवित्व भी इनमें ऊँची कोटि का था। रचनाविवेक इनमें बहुत ही जाग्रत और रुचि अत्यंत परिमार्जित थी। झूठे शब्दाडंबर के फेर में ये बहुत कम पड़े हैं। अनुप्रास इनकी रचनाओं में बराबर आए हैं पर उन्होंने अर्थ या भाव-व्यंजना में बाधा नहीं डाली है। अधिकतर अनुप्रास रसानुकूल वर्णविन्यास के रूप में आकर भाषा में कहीं ओज, कहीं माधुर्य्य घटित करते पाए जाते हैं। पावस ऋतु का तो इन्होंने बड़ा ही अच्छा वर्णन किया है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

जलभरे झूमैं मानौ भूमै परसत आय,
दसहू दिसान घूमैं दामिनी लए लए।
धूरिधार धूमरे से, धूम से धुँधारे कारे,
धुरवान धारे धावै छवि सों छए छए ॥
श्रीपति सुकवि कहै घेरि घेरि घहराहिं,
तकत अतन तन ताव तें तए तए।
लाल बिनु कैसे लाज-चादर रहैगी आज,
कादर करत मोहिं बादर नए नए ॥

सारस के नादन को बाद ना सुनात कहूँ,
नाहक ही बकवाद दादुर महा करै।
श्रीपति सुकबि जहाँ ओज ना सरोजन की,
फूल ना फुलत जाहि चित दै चहा करै॥
बकन की बानी की बिराजत है राजधानी,
काई सों कलित पानी फेरत हहा करै।
बौंवन के जाल, जामें नरई सेवाल ब्याल,
ऐसे पापी ताल को मराल लै कहा करै?॥

घूँघट-उदयगिरिवर तें निकसि रूप,
सुधा सों कलित छबि-कीरति बगारो है।
हरिन डिठौना स्याम सुख सील बरषंत,
करषत सोक, अति तिमिर बिदारो है॥
श्रीपति बिलोकि सौति-वारिज मलिन होति,
हरषि कुमुद फूलै नंद को दुलारो है।
रंजन मदन तन गंजन बिरह बिबि
खंजन सहित चंदवदन तिहारो है॥

---

(१९) बीर—ये दिल्ली के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने "कृष्णचंद्रिका" नामक रस और नायिकाभेद का एक ग्रंथ संवत् १७७९ में लिखा। कविता साधारण है। वीररस का एक कवित्त देखिए—

अरुन बदन और फरकैं बिसाल बाहु,
कौन को हियो है करै सामने जो रुख को।
प्रबल प्रचंड निसिचर फिरैं धाए,
धूरि चाहत मिलाए दसकंध अंधमुख को॥
चमकैं समरभूमि बरछी, सहस फन,
कहत पुकारे लंक अंक दीह दुख को।
बलकि बलकि बोलै वीर रघुवीर धीर,
महि पर मीड़ि मारौं आज दसमुख को॥

---

(२०) कृष्ण कवि—ये माथुर चौबे थे और बिहारी के पुत्र प्रसिद्ध हैं। इन्होंने बिहारी के आश्रयदाता महाराज जयसिंह के मंत्री राजा आयामल्ल की आज्ञा से बिहारी सतसई की टीका में महाराज जयसिंह के लिये वर्तमान कालिक क्रिया का प्रयोग किया है और उनकी प्रशंसा भी की है। अतः यह निश्चित है कि यह टीका जयसिंह के जीवनकाल में ही बनी। महाराज जयसिंह संवत् १७९९ तक वर्त्तमान थे। अतः यह टीका संवत् १७८५ और १७९० के बीच बनी होगी। इस टीका में कृष्ण ने दोहों के भाव पल्लवित करने के लिये सवैये लगाए हैं और वार्तिक में काव्यांग स्फुट किए हैं। काव्यांग इन्होंने अच्छी तरह दर्शाए हैं और वे इस टीका के एक प्रधान अंग हैं, इसीसे ये रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों के बीच ही रखे गए हैं।

इनकी भाषा सरल और चलती है तथा अनुप्रास आदि की ओर बहुत कम झुकी है। दोहों पर जो सवैयें इन्होंने लगाए हैं उनसे इनकी सहृदयता, रचना कौशल और भाषा पर अधिकार अच्छी तरह प्रमाणित होता है। इनके दो सवैये देखिए—

"सीस मुकुट, कटि काछनी, कर मुरली उर माल।
यहि बानिक मो मन सदा, बसौ बिहारी लाल॥"

छबि सों फबि सीस किरीट बन्यो रुचिसाल हिये बनमाल लसै।
कर कंजहि मंजु रली मुरली, कछनी कटि चारु प्रभा बरसै॥
कवि कृष्ण कहै लखि सुंदर मूरति यों अभिलाष हिये सरसै।
वह नंदकिसोर बिहारी सदा यहि बानिक मो हिय माँझ बसै॥

"थोरेई गुन रीझते बिसराई वह बानि।
तुम हू कान्ह मनौ भए आजु कालि के दानि॥"

ह्वै अति आरत मैं बिनती बहु बार करी करुना रस भीनी।
कृष्ण कृपानिधि दीन के बंधु सुनी असुनी तुम काहे को कीनी॥
रीझते रंचक ही गुन सों वह बानि बिसारि मनो अब दीनी।
जानि परी तुमहू हरि जू! कलिकाल के दानिन की गति लीनी॥

(२१) रसिक सुमति—ये ईश्वरदास के पुत्र थे और सन् १७८५ में वर्त्तमान थे। इन्होंने "अलंकार-चंद्रोदय" नामक एक अलंकार-ग्रंथ कुवलयानंद के आधार पर दोहों में बनाया। पद्यरचना साधारणतः अच्छी है। 'प्रत्यनीक' का लक्षण और उदाहरण एक ही दोहे में देखिए—

प्रत्यनीक अरि सों न बस, अरि-हितूहि दुख देय।
रवि सों चलै न, कंज की दीपति ससि हरि लेय॥

(२२) **गंजन**—ये काशीके रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १७८६ में "कमरुद्दीनखाँ हुलास" नामक शृंगार रस का एक ग्रंथ बनाया जिसमें भावभेद, रसभेद के साथ षट्ऋतु का विस्तृत वर्णन किया है। इस ग्रंथ में इन्होंने अपना पूरा वंश परिचय दिया है और अपने प्रपितामह मुकुटराय के कवित्व की प्रशंसा की है। कमरुद्दीन खाँ दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के वज़ीर थे और भाषाकाव्य के अच्छे प्रेमी थे। इनकी प्रशंसा गंजन ने खूब जी खोलकर की है जिससे जान पड़ता है कि इनके द्वारा कवि का बड़ा अच्छा सम्मान हुआ था। उपर्युक्त ग्रंथ एक अमीर को खुश करने के लिये लिखा गया है इससे ऋतुवर्णन के अंतर्गत उसमें अमीरी शौक और आराम के बहुत से सामान गिनाए गए हैं। इस बात में ये ग्वाल कवि से मिलते जुलते हैं। इस पुस्तक में सच्ची भावुकता और प्रकृति-रंजन की शक्ति बहुत अल्प है। भाषा भी शिष्ट और प्रांजल नहीं। एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

मीना के महल जरबाफ दर परदा है,
हलबी फनूसन में रोसनी चिराग की।
गुलगुली गिलम गरक आब पग होत,
जहाँ बिछी मसनद लालन के दाम की॥
केती महताब मुखी खचित जवाहिरन,
गंजन सुकवि कहैं बौरी अनुराग की।
एतमाददौला कमरुद्दी॰खाँ की मजलिस,
सिसिर में ग्रीषम बनाई बड़ भाग की॥

(२३) **अलीमुहिब खाँ (प्रीतम)**—ये आगरे के रहने वाले थे। इन्होंने संवत् १७८७ में "खटमल बाईसी" नाम की हास्यरस की एक पुस्तक लिखी। इस प्रकरण के आरंभ में कहा गया है कि रीतिकाल में प्रधानता शृंगाररस की ही रही; यद्यपि वीररस लेकर भी रीति-ग्रंथ रचे गए। पर किसी और रस को अकेला लेकर मैदान में कोई नहीं उतरा था। यह हौसले का काम हज़रत अली मुहिब खाँ साहेब ने कर दिखाया। इस ग्रंथ का साहित्यिक महत्त्व कई पक्षों में दिखाई पड़ता है। हास्य आलंबनप्रधान रस है। आलंबन मात्र का वर्णन ही इस रस में पर्य्याप्त होता है। इस बात का स्मरण रखते हुए जब हम अपने साहित्य क्षेत्र में हास के आलंबनों की परंपरा की जाँच करते हैं तब एक प्रकार की बँधी रूढ़ि सी पाते हैं। संस्कृत के नाटकों में खाऊपन और पेट की दिल्लगी बहुत कुछ बँधी सी चली आई। भाषा-साहित्य में कंजूसों की बारी आई। अधिकतर ये ही हास्यरस के आलंबन रहे। खाँ साहब ने शिष्ट हास का एक बहुत अच्छा मैदान दिखाया। इनका हास गंभीर हास है। क्षुद्र और महत् के अभेद की वासना उसके भीतर कहीं छिपी हुई है। भाषा भी चलती हुई और प्रस्तुत रस के सर्वथा अनुकूल है। कल्पना की दौड़ भी ठीक रास्ते पर गई है। इन सब बातों के विचार से हम खाँ साहब या प्रीतम जी को एक उत्तम श्रेणी का पथ-प्रदर्शक कवि मानते हैं। इनका और कोई ग्रंथ नहीं मिलता, न सही; इनकी "खटमल बाईसी" ही बहुत काल तक इनका स्मरण बनाए रखने के लिये काफ़ी है।

"खटमलबाईसी" के कुछ कवित्त देखिए—

जगत के कारन, करन चारौ वेदन के,
कमल में बसे वै सुजान ज्ञान धरि कै।
पोषन अवनि, दुख सोषन तिलोकन के,
समुद में जाय सोए सेस सेज करि कै॥
मदन जरायो, जो सँहारैं दृष्टि ही में सृष्टि,
बसे हैं पहार वेऊ भाजि हरबरि कै।
बिधि हरि हर, और इनतें न कोऊ,
तेऊ खाट पै न सोवैं खटमलन कों डरि कै॥

बाघन पै गयो, देखि बनन मे रहे छबि,
साँपन पै गयो, ते पताल ठौर पाई है।
गजन पै गयो, धूल डारत हैं सीस पर,
बैदन पै गयो काहू दारू ना बताई है॥
जब हहराय हम हरि के निकट गए,
हरि मोसों कही तेरी मति भूल छाई है।
कोऊ ना उपाय, भटकत जनि डोलै, सुनै,
खाट के नगर खटमल की दुहाई है॥

---

(२४) दास (भिखारीदास)-ये प्रतापगढ़ (अवध) के पास ट्योंगा गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने अपना वंश-परिचय पूरा दिया है। इनके पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु, प्रपितामह राय रामदास, और वृद्धप्रपितामह राय नरोत्तमदास थे। दास जी के पुत्र अवधेशलाल और पौत्र गौरीशंकर थे जिनके अपुत्र मरजाने से वंशपरंपरा खंडित हो गई। दासजी के इतने ग्रंथों का पता लग चुका है—

रससारांश (संवत् १७९९) छंदार्णव पिंगल (संवत् १७९९), काव्यनिर्णय (संवत् १८०३), शृंगारनिर्णय (संवत् १८०७), नामप्रकाश (कोश, संवत् १७९५), विष्णुपुराण भाषा (दोहे चौपाई में), छंदप्रकाश, शतरंज शतिका, अमर प्रकाश (संस्कृत अमरकोष भाषा पद्य में)।

'काव्यनिर्णय' में दासजी ने प्रतापगढ़ के सोमवंशी राजा पृथ्वीपतिसिंह के भाई बाबू हिंदूपतिसिंह को अपना आश्रयदाता लिखा है। राजा पृथ्वीपति संवत् १७९१ में गद्दी पर बैठे थे और १८०७ में दिल्ली के वजीर सफ़दर जंग द्वारा छल से मारे गए। ऐसा जान पड़ता है कि संवत् १८०७ के बाद इन्होंने कोई ग्रंथ नहीं लिखा अतः इनका कविता-काल संवत् १७८५ से लेकर संवत् १८०७ तक माना जा सकता है।

काव्यांगों के निरूपण में दासजी को सर्वप्रधान स्थान दिया जाता है क्योंकि इन्होंने छंद, रस, अलंकार, रीति, गुण, दोष, शब्द-शक्ति आदि सब विषयों का औरों से विस्तृत प्रतिपादन किया है। जैसा पहले कहा जा चुका है श्रीपति से इन्होंने बहुत कुछ लिया है। इनकी विषय-प्रतिपादन-शैली उत्तम है और आलोचन शक्ति भी इनमें कुछ पाई जाती है। जैसे, हिंदी काव्यक्षेत्र में इन्हें परकीया के प्रेम की प्रचुरता दिखाई पड़ी जो रस की दृष्टि से रसाभास के अंतर्गत आता है। बहुत से स्थलों पर तो राधाकृष्ण का नाम आने से देवकाव्य का आरोप हो जाता है और दोष का कुछ परिहार हो जाता है। पर सर्वत्र ऐसा नहीं होता। इससे दासजी ने स्वकीया का लक्षण ही कुछ अधिक व्यापक करना चाहा और कहा—

श्रीमाननि के भौन मे भोग्य भामिनी और।
तिनहूँ को सुकियाहि में गनैं सुकवि-सिरमौर॥

पर यह कोई बड़े महत्व की उद्भावना नहीं कही जा सकती है। जो लोग दास जी के दस और हावों के नाम लेने पर चौंके हैं उन्हें जानना चाहिए कि साहित्यदर्पण में नायिकाओं के स्वभावज अलंकार १८ कहे गए हैं—लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्बोक, किलकिंचित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, विहृत, मद, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि। इनमें से अंतिम आठ को लेकर यदि दास जी ने भाषा में प्रचलित दस हावों में और जोड़ दिया तो क्या नई बात की? यह चौंकना तब तक बना रहेगा जब तक हिंदी में संस्कृत के मुख्य मुख्य सिद्धांतग्रन्थों के सब विषयों का यथावत् समावेश न हो जायगा और साहित्य-शास्त्र का सम्यक् अध्ययन न होगा।

अतः दास जी के आचार्यत्व के संबंध में भी हमारा यही कथन है जो देव आदि के विषय में। यद्यपि इस क्षेत्र में औरों के देखते दास जी ने अधिक काम किया है पर सच्चे आचार्य्य का रूप इन्हें भी नहीं प्राप्त हो सका है। परिस्थिति से ये भी लाचार थे। इनके लक्षण भी व्याख्या के बिना अपर्य्याप्त और कहीं कही भ्रामक हैं और उदाहरण भी कुछ स्थलों पर अशुद्ध हैं। जैसे, उपादान-लक्षणा लीजिए। इसका लक्षण भी गड़बड़ है और उसी के अनुरूप उदाहरण भी अशुद्ध है। अतः दासजी भी औरों के समान वस्तुतः कवि के रूप में ही हमारे सामने आते हैं।

दासजी ने साहित्यिक और परिमार्जित भाषा का व्यवहार किया है। शृंगार ही उस समय का मुख्य विषय रहा है। अतः इन्होंने भी उसका वर्णन-विस्तार देव की तरह बढ़ाया है। देव ने भिन्न भिन्न देशों और जातियों की स्त्रियों के वर्णन के लिये जाति-विलास लिखा जिसमें नाइन, धोबिन, सब आ गई, पर दासजी ने रसाभास के डर से या मर्यादा के ध्यान से इनको आलंबन के रूप में न रख कर दूती के रूप में रखा है। इनके 'रससारांश' में नाइन, नटिन, धोबिन, कुम्हारिन, बरइन सब प्रकार

की कृतियाँ मौजूद हैं। इनमें देव की अपेक्षा अधिक रस-विवेक था। इनका शृंगार-निर्णय अपने ढंग का अनूठा काव्य है। उदाहरण मनोहर और सरस हैं। भाषा में शब्दाडंबर नहीं है। न ये शब्द-चमत्कार पर टूटे हैं, न दूर की सूझ के लिये व्याकुल हुए हैं। इनकी रचना कलापक्ष में संयत और भावपक्ष में रंजनकारिणी है। विशुद्ध काव्य के अतिरिक्त इन्होंने नीति की सूक्तियाँ भी बहुत सी कही हैं जिनमें उक्ति-वैचित्र्य अपेक्षित होता है। देव की सी ऊँची आकांक्षा या कल्पना जिस प्रकार इनमें कम पाई जाती है उसी प्रकार उनकी सी असफलता भी कहीं नहीं मिलती। जिस बात को जिस ढंग से—चाहे वह ढंग बहुत विलक्षण न हो—ये कहना चाहते थे उस बात को उस ढंग से कहने की पूरी सामर्थ्य इनमें थी। दास जी ऊँचे दरजे के कवि थे। इनकी कविता के कुछ नमूने लीजिए—

वाही घरी तें न सान रहै, न गुमान रहै, न रहै सुघराई।
दास न लाज को साज रहै, न रहै तनकौ घरकाज की घाई॥
ह्याँ दिखसाध निवारे रहौं तब ही लौं भटू सब भाँति भलाई।
देखत कान्है न चेत रहै, नहिं चित्त रहै, न रहै चतुराई॥

नैनन को तरसैये कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो विरहागि में तैये?
एक घरी न कहूँ कल पैये, कहाँ लगि प्रानन को कलपैये?
आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैये।
मान घटै ते कहा घटिहै जु पै प्रानपियारे को देखन पैये॥

ऊधो! तहाँ ई चलौ लै हमैं जहँ कूबरि-कान्ह बसैं एक ठौरी।
देखिए दास अघाय अघाय तिहारे प्रसाद मनोहर जोरी॥
कूबरी सों कछु पाइए मंत्र, लगाए कान्ह सों प्रीति की डोरी।
कूबर-भक्ति बढ़ाइए बंदि, चढ़ाइए चंदन बंदन रोरी॥

कढ़ि कै निसंक पैठि जाती झुंड झुंडन में,
लोगन को देखि दास आनँद पगति है।
दौरि दौरि जहीं तहीं लाल करि डारति है,
अंक लगि कंठ लगिबे को उमगति है॥
चमक-झमक-वारी, ठमक-जमक-वारी,
रमक-तमक-वारी जाहिर जगति है।
राम! असि रावरे की रन में नरन में,
निलज्ज वनिता सी होरी खेलन लगति है॥

अब तौ बिहारी के वे बानक गए री, तेरी
तन-दुति-केसर को नैन कसमीर भो।
श्रौन तुव बानी-स्वाति-बूँदन के चातक भे,
साँसन को भरिबो द्रुपदजा को चीर भो॥
हिय को हरष मरु धरनि को नीर भो, री!
जियरो मनोभव-सरन को तुनीर भो।
एरी! बेगि करि कैं मिलापु थिर थापु,
न तौ आपु अब चहत अतनु को सरीर भो॥

अँखियाँ हमारी दईमारी सुधि बुधि हारीं,
मोहू तें जु न्यारी दास रहैं सब काल में।
कौन गहै ज्ञानै, काहि सौंपत सयानै,
कौन लोक ओक जानै, ये नहीं है निज हाल में॥
प्रेम पगि रहीं, महामोह मे उमगि रहीं,
ठीक ठगि रहीं, लगि रहीं बनमाल में।
लाज को अँचै कै, कुलधरम पचै कै,
वृथा बंधन सँचै कै भईं मगन गोपाल में॥

---

(२५) भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह)—ये अमेठी के राजा थे। इन्होंने संवत् १७९१ में शृंगार के दोहों की एक सतसई बनाई। उदयनाथ कवींद्र इनके यहाँ बहुत दिनों तक रहे। ये महाशय जैसे सहृदय और काव्यमर्मज्ञ थे वैसे ही कवियों का आदर-सम्मान करनेवाले थे। क्षत्रियों की वीरता भी इनमें पूरी थी। एक बार अवध के नवाब सआदत खाँ से ये बिगड़ खड़े हुए। सआदत खाँ ने जब इनकी गढ़ी घेरी तब ये बाहर निकल सआदत खाँ के सामने ही बहुतों को मार काट कर गिराते हुए जंगल की ओर निकल गए। इसका उल्लेख कवींद्र ने इस प्रकार किया है—

समर अमेठी के सरेष गुरुदत्तसिंह,
सादत की सेना समसेरन सों भानी हैं।
भनत कवींद्र काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति सरसानी है॥

तहाँ एक जोगिनी सुभट खोपरी लै उड़ी,
सोनित पियत ताकी उपमा बखानी है।
प्यालो लै चिनी को की जोबन तरंग मानो
रंग हेतु पीवत मजीठ मुगलानी है ॥

'सतसई' के अतिरिक्त भूपति जी ने 'कंठाभूषण' और 'रसरत्नाकर' नाम के दो रीति ग्रंथ भी लिखे थे जो कहीं देखे नहीं गए हैं। शायद अमेठी में हों। सतसई के दोहे दिए जाते हैं—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि-मंडल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार ॥
भए रसाल रसाल है भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद मंद ॥

(२६) तोषनिधि—ये एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं। ये शृंगवेरपुर (सिंगरौर-जिला इलाहाबाद) के रहने वाले चतुर्भुज शुक्ल के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७९१ में 'सुधानिधि' नामक एक अच्छा बड़ा ग्रंथ रसभेद और भाव भेद का बनाया। खोज में इनकी दो और पुस्तकें मिली हैं—विनयशतक और नखशिख। तोषजी ने काव्यांगों के बहुत अच्छे लक्षण और सरस उदाहरण दिए हैं। उठाई हुई कल्पना का अच्छा निर्वाह हुआ है और भाषा स्वाभाविक प्रवाह के साथ आगे बढ़ती है। तोषजी एक बड़े ही सहृदय और निपुण कवि थे। भावों का विधान सघन होने पर भी कहीं उलझा नहीं है। बिहारी के समान इन्होंने भी कहीं कहीं ऊहात्मक अत्युक्ति की है। कविता के कुछ नमूने दिए जाते है।

भूषन-भूषित दूषन-हीन प्रवीन महारस मैं छबि छाई।
पूरी अनेक पदारथ तें जेहि में परमारथ स्वारथ पाई ॥
औ उकतै मुकतैं उलही कवि तोष अनोष-भरी चतुराई।
होत सबै सुख की जनिता बनि आवति जौ बनिता-कविताई ॥

एक कहै हँसि ऊधवजू ! ब्रज की जुवती तजि चंद्रप्रभा सी।
जाय कियो कह तोष प्रभू ! एक प्रानप्रिया लहि कंस की दासी ॥
जो हुते कान्ह प्रवीन महा सो हहा ! मथुरा में कहा मति नासी।
जीव नहीं उबियात जबै ढिग पौढ़नि है कुबजा कछुवा सी ॥

श्रीहरि की छबि देखिबे को अँखियाँ प्रति रोमहि मे करि देतो।
बैनन के सुनिबे हित श्रौन जितै-तित सो करतौ करि हेतो ॥
मो ढिग छाँड़ि न काम कहूँ रहै तोष कहै लिखितो बिधि एतो।
तौ करतार इती करनी करिकै कलि में कल कीरति लेतो ॥

तौ तन में रवि को प्रतिबिंब परे किरनैं सो घनी सरसाती।
भीतर हू रहि जात नहीं, अँखियाँ चकचौंधि ह्वै जाति हैं राती।
बैठी रहौ, बलि, कोठरी में कह तोष करौं बिनती बहु भाँती।
सारसी नैनि लै आरसी सो अँग काम कहा कढ़ि घाम में जाती ?

(२७-२८) दलपतिराय और बंसीधर—दलपतिराय महाजन और बंसीधर ब्राह्मण थे। दोनों अहमदाबाद (गुजरात) के रहनेवाले थे। इन लोगों ने संवत् १७९२ में उदयपुर के महाराणा जगतसिंह के नाम पर "अलंकार रत्नाकर" नामक ग्रंथ बनाया। इसका आधार महाराज जसवंत सिंह का भाषाभूषण है। इसका भाषा भूषण के साथ प्रायः वही संबंध है जो 'कुवलयानंद' का 'चंद्रालोक' के साथ। इस ग्रंथ में विशेषता यह है कि इसमें अलंकारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया गया है। इस कार्य के लिये गद्य व्यवहृत हुआ है। रीतिकाल के भीतर व्याख्या के लिये कभी कभी गद्य का उपयोग कुछ ग्रंथकारों की सम्यक् निरूपण की उत्कंठा सूचित करता है। इस उत्कंठा के साथ ही साथ गद्य की उन्नति की अकांक्षा का सूत्रपात समझना चाहिए जो सैकड़ों वर्ष बाद पूरी हुई।

'अलंकार-रत्नाकर' में उदाहरणों पर अलंकार घटा कर बताए गए हैं और उदाहरण दूसरे अच्छे कवियों के भी बहुत से हैं। इससे यह अध्ययन के लिये बहुत उपयोगी है। दंडी आदि कई संस्कृत आचार्यों के उदाहरण भी लिए गए हैं। हिंदी-कवियों की लंबी नामावली ऐतिहासिक खोज में बहुत उपयोगी है।

कवि भी ये लोग अच्छे थे। पद्यरचना की निपुणता के अतिरिक्त इनमें भावुकता और बुद्धि-वैभव दोनों हैं। इनका एक कवित्त नीचे दिया जाता है।

अरुन हरौल नभ-मंडल-मुलुक पर,
चढ्यो अक चकवै कि तानि कै किरिन-कोर।

आवत ही सावँत नछत्र जोय धाय धाय,
घोर घमसान करि काम आए ठौर ठौर ॥
ससहर सेत भयो, सटक्यो सहमि ससी,
आमिल-उलूक जाय गिरे कंदरन ओर।
दुंद देखि अरबिंद-बंदीखाने तें भगाने,
पायक पुलिंद वै मलिंद मकरंद-चोर ॥

(२७) सोमनाथ—ये माथुर ब्राह्मण थे और भरतपुर के महाराज बदनसिंह के कनिष्ठ पुत्र प्रतापसिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १७९४ में 'रसपीयूष-निधि' नामक रीति का एक विस्तृत ग्रंथ बनाया जिसमें पिंगल काव्यलक्षण, प्रयोजन, भेद, शब्दशक्ति, ध्वनि, भाव, रस, रीति, गुण, दोष इत्यादि सब विषयों का निरूपण है। यह दास जी के काव्यनिर्णय से बड़ा ग्रंथ है। काव्यांग-निरूपण में ये श्रीपति और दास के समान ही हैं। विषय को स्पष्ट करने की प्रणाली इनकी बहुत अच्छी है।

विषय-निरूपण के अतिरिक्त कवि-कर्म में भी ये सफल हुए हैं। कविता में ये अपना उपनाम 'ससिनाथ' भी रखते थे। इनमें भावुकता और सहृदयता पूरी थी, इससे इनकी भाषा में कृत्रिमता नहीं आने पाई। इनकी एक अन्योक्ति कल्पना की मार्मिकता और प्रसादपूर्ण व्यंग्य के कारण बहुत प्रसिद्ध है। सघन और पेचीले मज़मून गाँठने के फेर में न पड़ने के कारण इनकी कविता को साधारण समझना सहृदयता के सर्वथा विरुद्ध है। 'रसपीयूष-निधि' के अतिरिक्त खोज में इनके तीन और ग्रंथ मिले हैं—

कृष्ण लीलावती पंचाध्यायी (संवत् १८००)

सुजान विलास (सिंहासन-बत्तीसी पद्य में) (संवत् १८०७)

माधव-विनोद नाटक (संवत् १८०९)

उक्त ग्रंथों के निर्माणकाल की ओर ध्यान देने से इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक ठहरता है।

रीतिग्रंथ और मुक्तक-रचना के सिवा इस सत्कवि ने प्रबंध काव्य की ओर भी ध्यान दिया। सिंहासन-बत्तीसी के अनुवाद को यदि हम काव्य न मानें तो कम से कम पद्यप्रबंध अवश्य ही कहना पड़ेगा। 'माधव विनोद' नाटक शायद मालती माधव के आधार पर लिखा हुआ प्रेम प्रबंध है। पहले कहा जा चुका है कि कल्पित कथा लिखने की प्रथा हिंदी के कवियों में प्रायः नहीं के बराबर रही। जहाँगीर के समय में संवत् १६७३ में बना पुहकर कवि का 'रसरत्न' ही अब तक नाम लेने योग्य कल्पित प्रबंध काव्य था। अतः सोमनाथ जी का यह प्रयत्न उनके दृष्टिविस्तार का परिचायक है। नीचे सोमनाथ जी की कुछ कविताएँ दी जाती हैं—

दिसि बिदिसन तें उमड़ि मढ़ि लीनो नभ,
छाँड़ि दीने धुरवा, जवासे-जूथ जरि गे।
डहडहे भए द्रुम रंचक हवा के गुन,
कहूँ कहूँ मोरवा पुकारि मोद भरि गे ॥
रहि गए चातक जहाँ के तहाँ देखत ही,
सोमनाथ कहै बूँदाबूँदि हू न करि गे।
सोर भयो घोर चारो ओर महिमंडल में,
आए घन, आए घन, आय कै उघरि गे ॥

प्रीति नई नित कीजत है, सब सों छल की बतरानि परी है।
सीखी ढिठाई कहाँ ससिनाथ, हमैं दिन द्वैक तें जानि परी है॥
और कहा लहिए, सजनी! कठिनाई गरै अति आनि परी है।
मानत है बरज्यो न कछू अब ऐसी सुजानहिं बानि परी है॥

झमकतु बदन मतंग कुंभ उत्तंग अंग वर।
बंदन-बलित भुसुंड कुंडलित सुंडि सिद्धिधर॥
कंचन मनिमय मुकुट जगमगै सुभर सीस पर।
लोचन तीनि बिसाल चार भुज ध्यावत सुर नर॥
ससिनाथ नंद स्वच्छंद निति कोटि विघन छरछंद हर।
जय बुद्धि-बिलंद अमंद दुति इंदुभाल आनंदकर॥

(२८) रसलीन—इनका नाम सैयद गुलाम नबी था। ये प्रसिद्ध बिलग्राम (जि० हरदोई) के रहनेवाले थे जहाँ अच्छे अच्छे विद्वान् मुसलमान होते आए हैं। अपने नाम के आगे 'बिलगरामी' लगाना एक बड़े सम्मान की बात यहाँ के लोग समझते थे। गुलाम नबी ने अपने पिता

का नाम बाकर लिखा है। इन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "अंगदर्पण" संवत् १७६४ में लिखी जिसमें अंगों के उपमा-उत्प्रेक्षा से युक्त चमत्कारपूर्ण वर्णन है। सूक्तियों के चमत्कार के लिये यह ग्रंथ काव्य-रसिकों में बराबर विख्यात चला आया है। यह प्रसिद्ध दोहा जिसे जन-साधारण बिहारी का समझा करते हैं, अंगदर्पण का ही है—

अमिय, हलाहल, मद भरे, सेत स्याम, रतनार।
जियत, मरत, झुकि झुकि परत जेहि चितवत इक बार॥

'अंगदर्पण' के अतिरिक्त रसलीन जी ने सं० १७९८ में 'रसप्रबोध' नामक रसनिरूपण का ग्रंथ दोहों में बनाया। इसमें ११५५ दोहे हैं और रस, भाव, नायिकाभेद, षट्-ऋतु, बारहमासा आदि अनेक प्रसंग आए हैं। रस विषय का अपने ढंग का यह छोटा सा अच्छा ग्रंथ है। रसलीन ने स्वयं कहा है कि इस छोटे से ग्रंथ को पढ़ लेने पर रस का विषय जानने के लिये और ग्रथ पढ़ने की आवश्यकता न रहेगी। पर यह ग्रंथ अंगदर्पण के ऐसा प्रसिद्ध न हुआ।

रसलीन ने अपने को दोहों की रचना तक ही रखा जिनमें पदावली की गति द्वारा नाद-सौंदर्य्य का अवकाश बहुत ही कम रहता है। अतः चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य की ओर इन्होंने अधिक ध्यान रखा। नीचे इनके कुछ दोहे दिए जाते हैं—

धरति न चौकी नगजरी यातें उर में लाय।
छाँह परे पर-पुरुष की जनि तिय-धरम नसाय॥
चख चलि स्रवन मिल्यो चहत, कच बढ़ि छुवन छवानि।
कटि निच दरब धर्‌यो चहत वक्षस्थल में आनि॥
कुमति चंद प्रति द्यौस बढ़ि मास मास कढ़ि आय।
तुव मुख-मधुराई लखे फीको परि घटि जाय॥
रमनी मन पावत नहीं लाज प्रीति को अंत।
दुहूँ ओर ऐंचो रहै जिमि बिबि तिय को कंत॥
तिय-सैसव-जोबन मिले, भेद न जान्यो जात।
प्रात समय निसि द्यौस के दुवौ भाव दरसात॥

(२९) रघुनाथ—ये बंदीजन एक प्रसिद्ध कवि हुए हैं जो काशिराज महाराज बरिवंडसिंह की सभा को सुशोभित करते थे। काशीनरेश ने इन्हें चौरा ग्राम दिया था। इनके पुत्र गोकुलनाथ, पौत्र गोपीनाथ और गोकुलनाथ के शिष्य मणिदेव ने महाभारत का भाषा अनुवाद किया जो काशिराज के पुस्तकालय में है। ठाकुर शिवसिंह जी ने इनके चार ग्रंथों के नाम लिखे हैं—

काव्य-कलाधर, रसिकमोहन, जगतमोहन और इश्क-महोत्सव। बिहारी-सतसई की एक टीका का भी उल्लेख उन्होंने किया है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८१० तक समझना चाहिए।

'रसिकमोहन' (सं० १७९६) अलंकार का ग्रंथ है। इसमें उदाहरण केवल शृंगार के ही नहीं हैं वीर आदि अन्य रसों के भी बहुत अधिक हैं। एक अच्छी विशेषता तो यह है। दूसरी बात यह है कि इसमें अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य आए हैं उनके प्रायः सब चरण प्रस्तुत अलंकार के सुंदर और स्पष्ट उदाहरण होते हैं। इस प्रकार इनके कवित्त या सवैये का सारा कलेवर अलंकार को उदाहृत करने में प्रयुक्त हो जाता है। भूषण आदि बहुत से कवियों ने अलंकारों के उदाहरण में जो पद्य रखे हैं उनका केवल अंतिम या और कोई चरण ही वास्तव में उदाहरण होता है। उपमा के उदाहरण में इनका यह प्रसिद्ध कवित्त लीजिए—

फूलि उठे कमल से अमल हितू के नैन,
कहै रघुनाथ भरे चैनरस सिय रे।
दौरि आए भौंर से करत गुनी गुनगान,
सिद्ध से सुजान सुखसागर सों नियरे॥
सुरभी सी खुलन सुकवि की सुमति लागी,
चिरिया सी जागी चिंता जनक के जियरे।
धनुष पै ठाढ़े राम रवि से लसत आजु,
भोर कैसे नखत नरिंद भए पियरे॥

"काव्य-कलाधर" (सं० १८०२) रस का ग्रंथ है। इसमें प्रथानुसार भावभेद रसभेद, थोड़ा बहुत कहकर नायिकाभेद और नायकभेद का ही विस्तृत वर्णन है। विषय-निरूपण इसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। 'जगत-मोहन' (सं० १८०७) वास्तव में एक अच्छे प्रतापी और ऐश्वर्य्यवान् राजा की दिनचर्या बताने के लिये लिखा

गया है। इसमें कृष्ण भगवान् की १२ घंटे की दिनचर्य्या कही गई है। इसमें ग्रंथकार ने अपनी बहुज्ञता अनेक विषयों—जैसे, राजनीति, सामुद्रिक, वैद्यक, ज्योतिष, शालिहोत्र, मृगया, सेना, नगर, गढ़रक्षा, पशुपक्षी, शतरंज इत्यादि—के विस्तृत और अरोचक वर्णनों द्वारा प्रदर्शित की है। इस प्रकार वास्तव में पद्य में होने पर भी यह काव्यग्रंथ नहीं है। 'इश्क-महोत्सव' में आपने 'खड़ी बोली' की रचना का शौक़ दिखाया है। उससे सूचित होता है कि खड़ी बोली की धारणा तब तक उर्दू के रूप में ही लोगों को थी।

कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

ग्वाल संग जैबो, ब्रज गैयन चरैबो ऐबो,
अब कहा दाहिने ये नैन फरकत है।
मोतिन की माल वारि डारौं गुंजमाल पर,
कुंजन की सुधि आए हियो धरकत है॥
गोबर को गारो रघुनाथ कछू यातें भारो,
कहा भयो पहलनि मनि मरकत हैं!
मंदिर हैं मंदर तें ऊँचे मेरे द्वारका के,
ब्रज के खरिक तऊ हिये खरकत हैं॥

कैधों सेस देस तें निकसि पुहुमी पै आय,
बदन उचाय बानी जस-असपंद की।
कैधों छिति चँवरी उसीर की दिखावति है,
ऐसी सोहै उज्ज्वल किरन जैसे चंद की॥
जानि दिनपाल श्रीनृपाल नंदलाल जू को,
कहैं रघुनाथ पाय सुघरी अनंद की।
छूटत फुहारे कैधों फूल्यो है कमल तासों
अमल अमंद कढ़ै धार मकरंद की!॥

सुघरे सिलाह राखै, वायुवेग वाह राखै,
रसद की राह राखै, राखे रहै बन को।
चोर को समाज राखै बजा औ नजर, राखै
खबरि के काज बहुरूपी हरफन को॥
आगम भखैया राखै, सगुन लेवैया राखै,
कहै रघुनाथ औ बिचार बीच मैन को।
बाजी हारै कबहूँ न औसर के परे जौन,
ताजी राखै प्रजन को, राजी सुभटन को॥

आप दरियाव, पास नदियों के जाना नहीं,
दरियाव पास नदी होयगी सो धावैगी।
दरखत बेलि आसरे को कभी राखता न,
दरखत ही के आसरे को बेलि पावैगी॥
मेरे ही लायक जो था कहना सो कहा मैने,
रघुनाथ मेरी मति न्याव ही को गावैगी।
वह मुहताज आपकी है; आप उसके न,
आप क्यों चलोगे? वह आप पास आवैगी॥

---

(३०) दूलह—ये कालिदास त्रिवेदी के पौत्र और उदयनाथ 'कवींद्र' के पुत्र थे। ऐसा जान पड़ता है कि ये अपने पिता के सामने ही अच्छी कविता करने लगे थे। ये कुछ दिनों तक अपने पिता के सम-सामयिक रहे। कवींद्र के रचे ग्रंथ १८०४ तक के मिले हैं। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से लेकर संवत् १८२५ के आस पास तक माना जा सकता है। इनका बनाया एक ही ग्रंथ "कविकुल-कंठाभरण" मिला है जिसमें निर्माण-काल नहीं दिया है। पर इनके फुटकल कवित्त और भी सुने जाते हैं।

"कविकुल कंठाभरण" अलंकार का एक प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें यद्यपि लक्षण और उदाहरण एक ही पद्य में कहे गए हैं पर कवित्त और सवैया के समान बड़े छंद लेने से अलंकार-स्वरूप और उदाहरण दोनों के सम्यक् कथन के लिये पूरा अवकाश मिला है। भाषाभूषण आदि दोहों में रचे हुए इस प्रकार के ग्रंथों से इसमें यही विशेषता है। इसके द्वारा सहज में अलंकारों का चलता बोध हो सकता है। इसीसे दूलहजी ने इसके संबंध में आप कहा है—

जो या कंठाभरण को कंठ करै चित लाय।
सभा मध्य सोभा लहै, अलंकृती ठहराय॥

इनके कविकुल-कंठाभरण में केवल ८५ पद्य हैं। फुटकर जो कवित्त मिलते हैं वे अधिक से अधिक १५ या २० होंगे। अतः इनकी रचना बहुत थोड़ी है पर

थोड़ी होने पर भी उसने इन्हें बड़े अच्छे और प्रतिभा-सम्पन्न कवियों की श्रेणी में प्रतिष्ठित कर दिया है। देव, दास, मतिराम आदि के साथ दूलह का भी नाम लिया जाता है। इनकी इस सर्वप्रियता का कारण इनकी रचना की मधुर कल्पना, मार्मिकता और प्रौढ़ता है। इनके वचन अलंकारों के प्रमाण में भी सुनाए जाते हैं और सहृदय श्रोताओं के मनोरंजन के लिये भी। किसी कवि ने इन पर प्रसन्न होकर यहाँ तक कहा है कि "और बरात सकल कवि, दूलह दूलहराय"।

इनकी रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

माने सनमाने तेइ माने सनमाने सन,
माने सनमाने सनमान पाइयतु है।
कहै कवि दूलह अजाने अपमाने
अपमान सो सदन तिनही को छाइयतु है॥
जानत हैं जेऊ तेऊ जात है विराने द्वार,
जानि बूझि भूले तिनको सुनायतु है।
कामबस परे कोऊ गहत गरूर तौ वा
अपनी जरूर जाजरूर जायइतु है॥

धरी जब बाहीं तब करी तुम नाहीं, पायँ
दियौ पलिकाही 'नाही नाही' के सुहाई हौ।
बोलत में नाहीं, पट खोलत में नाहीं, कवि,
दूलह उछाही लाख भाँतिन लहाई हौ॥
चुंबन मे नाहीं, परिरंभन मे नाहीं, सब
आसन विलासन में नाहीं ठीक ठाई हौ।
मेलि गलबाहीं, केलि कीन्ही चितचाही यह,
'हाँ' तें भली 'नाही' सो कहाँ तें सीखि आई हौ॥

उरज उरज धँसे बसे उर आड़े लसे,
बिन गुन माल गरे धरे छबि छाए हौ।
नैन कवि दूलह हैं राते, तुतराते बैन,
देखे सुने सुख के समूह सरसाए हौ॥
जावक सों लाल भाल, पलकन पीकलीक,
प्यारे ब्रजचंद सुचि सूरज सुहाए हौ।
होत अरुनोद यहि कोद मति बसी आजु,
कौन घरबसी घर बसी करि आए हौ?

सारी की सरौट सब सारी में मिलाय दीन्ही,
भूषन की जेब जैसे जेब जहियतु है।
कहै कवि दूलह छिपाए रदछद मुख,
नेह देखे सौतिन की देह दहियतु है॥
बाला चित्रसाला तें निकसि गुरुजन आगे
कीन्ही चतुराई सो लखाई लहियतु है।
सारिका पुकारै "हम नाहीं, हम नाहीं",
"एजू राम राम कहौ", 'नाहीं नाही' कहियतु है॥

फल विपरीत को जतन सों 'विचित्र';
हरि ऊँचे होत वामन भे बलि के सदन में।
आधार बड़े तें बड़ो आधेय 'अधिक' जानौ,
चरन समानो नाहिं चौदहो भुवन में॥
आधेय अधिक तें आधार की अधिकताई,
"दूसरो अधिक" आयो ऐसो गननन में।
तीनो लोक तन में, अमान्यो ना गगन में,
बसैं ते संत-मन में, कितेक कहौ मन मे॥

---

(३१) कुमारमणिभट्ट— इनका कुछ वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८०३ के लगभग "रसिक-रसाल" नामक एक बहुत अच्छा रीतिग्रंथ बनाया। ग्रंथ में इन्होंने अपने को हरिवल्लभ का पुत्र कहा है। शिवसिंह ने इन्हें गोकुलवासी कहा है। इनका एक कवित्त देखिए—

गावैं बधू मधुरे सुर गीतन प्रीतम संग न बाहिर आई।
छाई कुमार नई छिति में छबि, मानो बिछाई नई दरियाई॥
ऊँचे अटा चढ़ि देखि चहूँ दिसि बोली यो बाल गरो भरि आई।
कैसी करौं हहरै हियरा, हरि आए नहीं उलही हरियाई॥

(३२) शंभुनाथ मिश्र— इस नाम के कई कवि हुए हैं जिनमें से एक संवत् १८०६ में, दूसरे १८६७ में और तीसरे १६०१ में हुए हैं। यहाँ प्रथम का उल्लेख किया जाता है, जिन्होंने 'रसकल्लोल', 'रसतरंगिणी' और 'अलंकार-दीपक' नामक तीन रीतिग्रंथ बनाए हैं। ये असोथर (जि० फतेहपुर) के राजा भगवंतराय खीची के यहाँ रहते थे। 'अलंकारदीपक' में अधिकतर दोहे हैं, कवित्त सवैया कम। उदाहरण शृंगारवर्णन में अधिक प्रयुक्त न

होकर आश्रयदाता के यश और प्रताप वर्णन में अधिक प्रयुक्त हैं। एक कवित्त दिया जाता है—

आजु चतुरंग महाराज सेन साजत ही,
धौंसा की धुकार धूरि परी मुहँ माही के।
भय के अजीरन तें जीरन उजीर भए,
सूल उठी उर में अमीर जाही ताही के॥
बीर खेत बीच बरछी लै बिरुझानो, इतै
धीरज न रह्यो संभु कौन हू सिपाही के।
भूप भगवंत बीर ग्वाही कै खलक सब,
स्याही लाई बदन तमाम पातसाही के॥

(३३) **शिवसहायदास**—ये जयपुर के रहनेवाले थे। इन्होंने संवत् १८०९ में 'शिव चौपाई' और लोकोक्तिरस-कौमुदी' दो ग्रंथ बनाए। लोकोक्तिरस-कौमुदी में विचित्रता यह है कि पखानों या कहावतों को लेकर नायिकाभेद कहा गया है, जैसे,

करौ रुखाई नाहिंन बाम। बेगिहि लै आऊँ घन स्याम॥
कहै पखानो भरि अनुराग। बाजी ताँत की बूझ्यो राग॥
बोलै निठुर पिया बिनु दोस। आपुहि तिय बैठी गहि रोस॥
कहै पखानो जेहि गहि मोन। बैल न कूद्यो, कूदी गोन॥

(३४) **रूपसाहि**—ये पन्ना के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इन्होंने संवत् १८१३ में 'रूपविलास' नामक एक ग्रंथ लिखा जिसमें दोहों में ही कुछ पिंगल, कुछ अलंकार, कुछ नायिकाभेद आदि हैं। दो दोहे नमूने के लिए दिए जाते हैं—

जगमगाति सारी जरी झलमल भूषन जोति।
भरी दुपहरी तिया की भेंट पिया सों होति॥
लालन बेगि चलौ न क्यों बिना तिहारे बाल।
मार-मरोरनि सों मरति करिए परसि निहाल॥

(३५) **ऋषिनाथ**—ये असनी के रहनेवाले बंदीजन, प्रसिद्ध कवि ठाकुर के पिता और सेवक के प्रपितामह थे। काशिराज के दीवान सदानंद और रघुबर कायस्थ के आश्रय में इन्होंने "अलंकारमणि-मंजरी" नाम की एक अच्छी पुस्तक बनाई जिसमें दोहों की संख्या अधिक है, यद्यपि बीच बीच में घनाक्षरी और छप्पय भी हैं। इसका रचना-काल संवत् १८३१ है जिससे यह इनकी वृद्धावस्था का ग्रंथ जान पड़ता है। इनका कविता-काल संवत् १७९० से १८३१ तक माना जा सकता है। कविता ये अच्छी करते थे। एक कवित्त दिया जाता है—

छाया छत्र ह्वै करि करत महिपालन को,
पालन को पूरो फैलो रजत अपार ह्वै।
मुकुत उदार ह्वै लगत सुख श्रौनन में,
जगत जगत हंस हास हीरहार ह्वै॥
ऋषिनाथ सदानंद सुजस बिलंद,
तमवृंद के हरैया चंदचंद्रिका सुढार ह्वै।
हीतल को सीतल करत घनसार ह्वै,
महीतल को पावन करत गंगधार ह्वै॥

(३६) **बैरीसाल**—ये असनी के रहनेवाले ब्रह्मभट्ट थे। इनके वंशधर अबतक असनी में हैं। इन्होंने 'भाषाभरण' नामक एक अच्छा अलंकारग्रंथ संवत् १८२५ में बनाया जिसमें प्रायः दोहे ही हैं। दोहे बहुत सरस हैं और अलंकारों के अच्छे उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। दो दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

नहिं कुरंग नहिं ससक यह नहिं कलंक, नहिं पंक।
बीसबिसे बिरहा दही गड़ी दीठि ससि अंक॥
करत कोकनद मदहि रद तुव पद हर सुकुमार।
भये अरुन अति दबि मनो पायजेब के भार॥

(३७) **दत्त**—ये माढ़ी (जि० कानपुर) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और चरखारी के महाराज खुमानसिंह के दरबार में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८३० माना जा सकता है। इन्होंने "लालित्यलता" नाम की एक अलंकार की पुस्तक लिखी है जिससे ये बहुत अच्छे कवि जान पड़ते हैं। एक कवित्त दिया जाता है—

ग्रीषम में तपै भीषम भानु, गई बनकुंज सखीन की भूल सों।
घाम सों बाम-लता मुरझानी, बयारि करैं घनस्याम दुकूल सों॥
कंपत यों प्रगट्यो तन स्वेद उरोजन दत्त जू ठोढ़ी के मूल सों।
द्वै अरविंद कुलीन पै मानो गिरैं मकरंद गुलाब के फूल सों॥

(३८) **रतन कवि**—इनका वृत्त कुछ ज्ञात नहीं। शिवसिंह ने इनका जन्मकाल संवत् १७९८ लिखा है। इससे इनका कविता-काल संवत् १८३० के आसपास माना जा सकता है। ये श्रीनगर (गढ़वाल) के राजा फतह-

साहि के यहाँ रहते थे। उन्हीं के नामपर "फतेहभूषण" नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ इन्होंने बनाया। इसमें लक्षणा, व्यंजना, काव्यभेद, ध्वनि, रस, दोष आदि का विस्तृत वर्णन है। उदाहरण में श्रृंगार के ही पद्य न रचकर इन्होंने अपने राजा की प्रशंसा के कवित्त बहुत रखे हैं। संवत् १८२७ में इन्होंने 'अलंकार-दर्पण' लिखा। इनका निरूपण भी विशद है और उदाहरण भी बहुत ही मनोहर और सरस है। ये एक उत्तम श्रेणी के कुशल कवि थे इसमें संदेह नहीं। कुछ नमूने लीजिए—

बैरिन की बाहिनी को भीषन निदाघ-रवि,
कुबलय केलि को सरस सुधाकरु है।
दान झरि सिंधुर है, जग को बसुंधर है,
बिबुध-कुलनि को फलित कामतरु है॥
पानिप मनिन को, रतन रतनाकर,
कुबेर पुन्य जनन को, छमा महीधरु है।
अंग को सनाह, बन-राह को रमा को नाह,
महाबाह फतेसाह एकै नरबरु है॥

काजर की कोरवारे भारे अनियारे नैन,
कारे सटकारे बार छहरे छवानि छ्वै।
स्याम सारी भीतर भभक गोरे गातन की,
ओपवारी न्यारी रही बदन उजारी ह्वै॥
मृगमद बेंदी भाल में दी, याही आभरन
हरन हिये को तू है रंभा रति ही अबै।
नीके नथुनी के तैसे सुंदर सुहात मोती
चंद पर च्वै रहे सु मानो सुधाबुंद द्वै॥

(३९) **नाथ (हरिनाथ)**—ये काशी के रहने वाले गुजराती ब्राह्मण थे। इन्होंने संवत् १८२६ में "अलंकार-दर्पण" नामक एक छोटासा ग्रंथ बनाया जिस में एक एक पद्य के भीतर कई कई उदाहरण हैं। इनका क्रम औरों से विलक्षण है। ये पहले अनेक दोहों में बहुत से लक्षण कहते गए हैं फिर एक साथ सबके उदाहरण कवित्त आदि में देते गए हैं। कविता साधारणतः अच्छी है। एक दोहा देखिए—

तरुनी लसति प्रकास तें, मालति लसति सुबास।
गोरस गोरस देत नहिं गोरस चहति हुलास॥

(४०) **मनीराम मिश्र**—ये कन्नौज-निवासी इच्छाराम मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १८२९ में "छंद-छप्पनी" और 'आनंदमंगल' नाम की दो पुस्तकें लिखीं। 'आनंदमंगल' भागवत दशमस्कंध का पद्य में अनुवाद है। 'छंद छप्पनी' छंदः शास्त्र का बड़ा ही अनूठा ग्रंथ है।

(४१) **चंदन**—ये नाहिल पुवायाँ (जि० शाहजहाँपुर) के रहनेवाले बंदीजन थे और गौड़ राजा केशरी सिंह के पास रहा करते थे। इन्होंने 'श्रृंगार-सागर', 'काव्याभरण', 'कल्लोलतरंगिणी' ये तीन रीतिग्रंथ लिखे। इनके अतिरिक्त इनके निम्नलिखित ग्रंथ और हैं—

(१) केशरीप्रकाश, (२) चंदन-सतसई, (३) पथिकबोध (४) नखशिख (५) नाममाला (कोश) (६) पत्रिका-बोध, (७) तत्त्वसंग्रह, (८) शीतवसंत (कहानी) (९) कृष्णकाव्य, (१०) प्राज्ञ-विलास।

ये एक अच्छे चलते कवि जान पड़ते हैं। इन्होंने 'काव्या-भरण' संवत् १८४५ में लिखा। फुटकल रचना तो इनकी अच्छी है ही। शीतवसंत की कहानी भी इन्होंने प्रबंध-काव्य के रूप में लिखी है। शीत-वसंत की रोचक कहानी इन प्रांतों में बहुत प्रचलित है। उसमें विमाता के अत्याचार से पीड़ित शीतवसंत नामक दो राजकुमारों की बड़ी लंबी कथा है। इनकी पुस्तकों की सूची देखने से यह धारणा होती है कि इनकी दृष्टि रीति-ग्रंथों तक ही बद्ध न रह कर साहित्य के और और अंगों पर भी थी।

ये फ़ारसी के भी अच्छे शायर थे और अपना तख़ल्लुस 'संदल' रखते थे। इनका 'दीवाने संदल' कहीं कहीं मिलता है। इनका कविता-काल संवत् १८२० से १८५० तक माना जा सकता है। इनका एक सवैया नीचे दिया जाता है—

ब्रजवारी गँवारी दै जानैं कहा, यह चातुरता न लुगायन मे।
पुनि बारिनी जानि अनारिनी है, रुचि एती न चंदन नायन में॥
छबि रंग सुरंग के बिंदु बने लगैं इंद्रवधू लघुतायन में।
चित जो चहैं दी चकि सी रहैं दी केहि दी मेंहदी इन पायन में॥

(४२) **देवकीनंदन**—ये कन्नौज के पास मकरंद-नगर ग्राम के रहनेवाले थे। इनके पिता का नाम सबली

शुक्ल था। इन्होंने संवत् १८४१ में 'शृंगार-चरित्र' और १८५७ में 'अवधूत-भूषण' और 'सरफराज-चंद्रिका' नामक रस और अलंकार के ग्रंथ बनाए। संवत् १८४३ में ये कुँवर सरफराज गिरि नामक किसी धनाढ्य महंत के यहाँ थे जहाँ "सरफ़राज-चंद्रिका" नामक अलंकार का ग्रंथ लिखा। इसके उपरांत ये रुद्दामऊ (जि० हरदोई) के रईस अवधूतसिंह के यहाँ गए जिनके नाम पर "अवधूत-भूषण" बनाया। इनका एक नखशिख भी है। शिवसिंह को इनके इस नखशिख का ही पता था दूसरे ग्रंथों का नहीं।

'शृंगारचरित्र' में रस, भाव, नायिकाभेद आदि के अतिरिक्त अलंकार भी आ गए हैं। 'अवधूत-भूषण' वास्तव में इसीका कुछ प्रवर्द्धित रूप है। इनकी भाषा मँजी हुई और भाव प्रौढ़ हैं। बुद्धि-वैभव भी इनकी रचना में पाया जाता है। कहीं कहीं कूट भी इन्होंने कहे हैं। कला-वैचित्र्य की ओर अधिक झुकी हुई होने पर भी इनकी कविता में लालित्य और माधुर्य्य पूरा है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं—

बैठी रंग-रावटी में हेरत पिया की बाट,
आए न बिहारी भई निपट अधीर मैं।
देवकीनंदन कहै स्याम घटा घिरि आई,
जानि गति प्रलय की डरानी बहु, बीर! मैं॥
सेज पै सदासिव की मूरति बनाय पूजी,
तीनि डर तीनहू की करी तदबीर मैं।
पाखन में सामरे, सुलाखन में अखैबट,
ताखन में लाखन की लिखी तसबीर मैं॥

मोतिन की माल तोरि, चीर सब चीरि डारै,
फेरि कै न जैहौं आली दुख बिकरारे हैं।
देवकीनंदन कहै धोखे नागछौनन के,
अलकैं प्रसून नोचि नोचि निरवारे हैं॥
मानि मुख चंद भाव चोंच दई अधरन,
तीनौ ये निकुंजन में एकै तार तारे हैं।
ठौर ठौर डोलत मराल मतवारे, तैसे
मोर मतवारे, त्यों चकोर मतवारे हैं॥

(४३) महाराज रामसिंह—ये नरवलगढ़ के राजा थे। इन्होंने रस और अलंकार पर तीन ग्रंथ लिखे हैं—अलंकारदर्पण, रसनिवास (सं० १८३९) और रसविनोद (सं० १८६०)। अलंकारदर्पण दोहों में है। नायिकाभेद भी अच्छा है। ये एक अच्छे और प्रवीण कवि थे। उदाहरण लीजिए—

सोहत सुंदर स्याम सिर मुकुट मनोहर जोर।
मनो नीलमनि सैल पर नाचत राजत मोर॥
दमकन लागी दामिनी करन लगे घन रोर।
बोलत माती कोइलै बोलत माते मोर॥

(४४) भान कवि—इनके पूरे नाम तक का पता नहीं। इन्होंने संवत् १८४५ में 'नरेंद्र-भूषन' नामक अलंकार का एक ग्रंथ बनाया जिससे केवल इतना ही पता लगता है कि ये राजा जोरावरसिंह के पुत्र थे और राजा रनजोरसिंह बुंदेले के यहाँ रहते थे। इन्होंने अलंकारों के उदाहरण शृंगाररस के प्रायः बराबर ही वीर, भयानक, अद्भुत आदि रसों के रखे हैं। इससे इनके ग्रंथ में कुछ नवीनता अवश्य दिखाई पड़ती है जो शृंगार के सैकड़ों वर्ष के पिष्टपेषण से ऊबे हुए आलोचक को विराम सा देती है। इनकी कविता में भूषण की सी फड़क और प्रसिद्ध शृंगारियों की सी तन्मयता और मधुरता तो नहीं है पर रचना प्रायः पुष्ट और परिमार्जित है। दो कवित्त नीचे दिए जाते हैं:—

रन-मतवारे ये जोराबर दुलारे तव,
बाजत नगारे भए गालिब दिगीस पर।
दल के चलत भर भर होत चारो ओर,
चालति धरनि भारी भार सों फनीस पर॥
देखि कै समर-सनमुख भयो ताही समै,
बरनत भान पैज कै कै बिसेबीस पर।
तेरी समसेर की सिफत सिंह रनजोर,
लखी एकै साथ हाथ अरिन के सीस पर॥

घन से सघन स्याम इंदु पर छाय रहे,
बैठी तहाँ असित द्विरेफन की पाँति सी।
तिनके समीप तहाँ खंज की सी जोरी, लाल!

आरसी से अमल निहारे बहु भाँति सी।
"ताके ढिग अमल ललौहैं बिबि बिद्रुम से,
फरकति ओप जामैं मोतिन की कांति सी।
भीतर तें कढ़ति मधुर बीन कैसी धुनि,
सुनि करि भान, परि कानन सुहाति सी॥

(४५) थानकवि—ये चंदन बंदीजन के भानजे थे और डौंडिया-खेरे (जिला-रायबरेली) में रहते थे। इनका पूरा नाम थानराय था। इनके पिता निहालराय, पितामह महासिंह और प्रपितामह लालराय थे। इन्होंने संवत् १८४८ में 'दलेल-प्रकाश' नामक एक रीतिग्रंथ चँड़रा (बैसवारा) के रईस दलेलसिंह के नाम पर बनाया। इस ग्रंथ में विषयों का कोई क्रम नहीं है। इसमें गण-विचार, रस-भाव-भेद, गुणदोष आदि का कुछ निरूपण है और कहीं कहीं अलंकारों के कुछ लक्षण आदि भी दे दिए गए हैं। कहीं रागरागिनियों के नाम आए, तो उनके भी लक्षण कह दिए। पुराने टीकाकारों की सी गति है। अंत में चित्रकाव्य भी रखे है। सारांश यह कि इन्होंने कोई सर्वांगपूर्ण ग्रंथ बनाने के उद्देश्य से इसे नहीं लिखा है। अनेक विषयों में अपनी निपुणता का प्रमाण सा इन्होंने उपस्थित किया है। ये इसमें सफल हुए हैं यह अवश्य कहना पड़ता है। जो विषय लिया है उस पर उत्तम कोटि की रचना की है। भाषा में मंजुलता और लालित्य है। ह्रस्व वर्णों की मधुर योजना इन्होंने बड़ी सुंदर की है। यदि अपने ग्रंथ को इन्होंने भानमती का पिटारा न बनाया होता और एक ढंग पर चले होते तो इनकी बड़े कवियों की सी ख्याति होती, इसमें संदेह नहीं। इनकी रचना के दो नमूने देखिए—

दासन पै दाहिनी परम हंसवाहिनी हौ,
पोथी कर, वीना सुरमंडल मढ़त है।
आसन कँवल, अंग अंबर धवल,
मुखचंद सो अवल, रंग, नवल चढ़त है॥
ऐसी मातु भारती की आरती करत थान,
जाको जस विधि ऐसो पंडित पढ़त है।
ताकी दया-दीठि लाख पाथर निराखर के,
मुख तें मधुर मंजु आखर कढ़त है॥

कलुष – हरनि सुख – करनि सरनजन
बरनि बरनि जस, कहत धरनिधर।
कलिमल-कलित वलित-अघ खलगन
लहत परमपद कुटिल कपटतर॥
मदन-कदन सुर-सदन बदन ससि,
अमल नवल दुति भजन भगतवर।
सुरसरि तव जल दरस परस करि,
सुरसरि! सुभगति लहत अधम नर॥

(४६) बेनी बंदीजन—ये बैंती (जिला रायबरेली) के रहनेवाले थे। ये अवध के प्रसिद्ध वज़ीर महाराज टिकैतराय के आश्रय में रहते थे। उन्हीं के नाम पर उन्होंने "टिकैतराय-प्रकाश" नामक अलंकार-ग्रंथ संवत् १८४९ में बनाया। अपने दूसरे ग्रंथ "रसविलास" में इन्होंने रसनिरूपण किया है। पर ये अपने इन दोनों ग्रंथों के कारण इतने प्रसिद्ध नहीं हैं जितने अपने भँड़ौवों के लिये। इनके भँड़ौवों का एक संग्रह "भँड़ौवा-संग्रह" के नाम से भारतजीवन प्रेस द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

भँड़ौवा हास्यरस के अंतर्गत आता है। इसमें किसी की उपहास-पूर्ण निंदा रहती है। यह प्रायः सब देशों में साहित्य का एक अंग रहा है। जैसे, फ़ारसी और उर्दू की शायरी में 'हजो' का एक विशेष स्थान है वैसे ही अंग्रेजी में सटायर (Satire) का। पूरबी साहित्य में 'उपहास-काव्य' के लक्ष्य अधिकतर कंजूस अमीर या आश्रयदाता ही रहे हैं और योरपीय साहित्य में सम-सामयिक कवि और लेखक। इससे योरप के उपहास-काव्य में साहित्यिक मनोरंजन की सामग्री अधिक रहती थी। उर्दू-साहित्य में सौदा 'हजो' के लिये प्रसिद्ध हैं। उन्होंने किसी अमीर के दिए हुए घोड़े की इतनी हँसी की है कि सुननेवाले लोट पोट हो जाते हैं। इसी प्रकार किसी कवि ने औरंगजेब की दी हुई हथिनी की निंदा की है—

तिमिरलंग लइ मोल चली बाबर के हलके।
रही हुमायूँ संग फेरि अकबर के दल के॥
जहाँगीर जस लियो पीठि को भार हटायो।
साहजहाँ करि न्याव ताहि पुनि मांड़ चटायो॥

बल-रहित भई, पौरुष थक्यो, भगी फिरत बन स्यार-डर।
औरंगजेब करिनी सोई लै दीन्ही कविराज कर॥

इसी पद्धति के अनुयायी बेनीजी ने भी कहीं बुरी रजाई पाई तो उसकी निंदा की, कहीं छोटे आम पाए तो उनकी निंदा जी खोलकर की।

पर जिस प्रकार उर्दू के शायर कभी कभी किसी दूसरे कवि पर भी छींटा दे दिया करते हैं उसी प्रकार बेनी जी ने भी लखनऊ के ललकदास महंत (इन्होंने 'सत्योपाख्यान नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमें रामकथा बड़े विस्तार से चौपाइयों में कही है) पर कुछ कृपा की है। जैसे, "बाजे बाज ऐसे डलमऊ में बसत जैसे मऊ के जुलाहे, लखनऊ के ललकदास"। इनका टिकैत-प्रकाश संवत् १८४९ में और 'रसविलास' संवत् १८७४ में बना। अतः इनका कविता-काल संवत् १८४९ से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे देखिए—

अलि डसे अधर सुगंध पाय आनन को,
कानन में ऐसे चारु चरन चलाए हैं।
फटि गई कंचुकी लगे तें कंट कुंजन के,
बेनी बरहीन खोली, बार छबि छाए हैं॥
वेग तें गवन कीनो, धक धक होत सीनो,
ऊरध उसासैं तन सेद सरसाए हैं।
भली प्रीति पाली बनमाली के बुलाइबे को,
मेरे हेत आली बहुतेरे दुख पाए हैं॥

घर घर घाट घाट बाट बाट ठाट ठटे,
बेला औ कुबेला फिरैं चेला लिये आस पास।
कविन सों बाद करैं, भेद बिन नाद करैं,
महा उनमाद करैं धरम करम नास॥
बेनी कवि कहै बिभिचारिन को बादसाह,
अतन प्रकासत न सतन सरम तास।
ललना ललक, नैन मैन की झलक,
हँसि हेरत अलक रद खलक ललकदास॥

चींटी की चलावै को? मसा के मुख आपु जाय;
स्वास की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाए मरु मरु कै निहारे जात,
अनु परमानु की समानता खगत है॥
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेर सो लगात है॥

(४७) बेनी प्रबीन—ये लखनऊ के वाजपेयी थे और लखनऊ के बादशाह गाजीउद्दीन हैदर के दीवान राजा दयाकृष्ण कायस्थ के पुत्र नवलकृष्ण उर्फ ललनजी के आश्रय में रहते थे जिनकी आज्ञा से संवत् १८७४ में इन्होंने 'नवरस-तरंग' नामक ग्रंथ बनाया। इसके पहले 'शृंगार-भूषण' नामक एक ग्रंथ ये बना चुके थे। ये कुछ दिन के लिये महाराज नानाराव के पास बिठूर भी गए थे और उनके नाम पर "नानाराव प्रकाश" नामक अलंकार का एक बड़ा ग्रंथ कविप्रिया के ढंग पर लिखा था। खेद है इनका कोई ग्रंथ अबतक प्रकाशित न हुआ। इनके फुटकर कवित्त तो इधर उधर बहुत कुछ संगृहीत और उद्धृत मिलते हैं। कहते हैं कि बेनी बंदीजन (भँड़ौवा वाले) से इनसे एक बार कुछ वाद हुआ था जिससे प्रसन्न होकर उन्होंने इन्हें 'प्रवीन' की उपाधि दी थी। पीछे से रुग्ण होकर ये सपत्नीक आबू चले गए और वहीं इनका शरीरपात हुआ। इन्हें कोई पुत्र न था।

इनका 'नवरस-तरंग' बहुत ही मनोहर ग्रंथ है। उसमें नायिकाभेद के उपरांत रसभेद और भावभेद का संक्षेप में निरूपण हुआ है। उदाहरण और रसों के भी दे दिए गए हैं। रीतिकाल के रससंबंधी और ग्रंथों की भाँति यह शृंगार का ही ग्रंथ है। इसमें नायिकाभेद के अंतर्गत प्रेम-क्रीड़ा की बहुत सी सुंदर कल्पनाएँ भरी पड़ी हैं। भाषा इनकी बहुत साफ़ सुथरी और चलती है, देव की भाषा की तरह लद्दू नहीं। ऋतुओं के वर्णन भी उद्दीपन की दृष्टि से जहाँ तक रमणीय हो सकते हैं किए गए हैं जिनमें प्रथानुसार भोग विलास की सामग्री भी बहुत कुछ आ गई है। अभिसारिका आदि कुछ नायिकाओं के वर्णन बड़े ही सरस हैं। ये ब्रजभाषा के मतिराम ऐसे कवियों के समकक्ष हैं और कहीं कहीं

तो भाषा और भाव के माधुर्य्य में पदमाकर तक से टक्कर लेते हैं। जान पड़ता है श्रृंगार के लिये सवैया ये विशेष उपयुक्त समझते थे। कविता के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

भोर ही न्योति गई ती तुम्हैं वह गोकुल गाँव की ग्वालिनि गोरी।
आधिक राति लौं बेनी प्रवीन कहा ढिग राखि करी बरजोरी॥
आवै हँसी मोहिं देखत लालन, भाल में दीन्हीं महावर घोरी।
एते बड़े ब्रजमंडल में न मिली कहुँ माँगेहु रंचक रोरी॥

जाग्यो न मैं ललिता अलि ताहि,
जो सोवत माहिं गई करि हाँसी।
लाए हिये नख केहरि के सम,
मेरी तऊ नहिं नींद बिनासी॥
लै गई अंबर बेनी प्रवीन,
ओढ़ाय लटी दुपटी दुखरासी।
तोरि तनी, तन छोरि अभूषन,
भूलि गई गर देन को फाँसी॥

घनसार पटीर मिलै मिलै नीर चहै तन लावै न लावै चहै।
न बुझै बिरहागिनि झार, झरी हू चहै घन लावै न लावै चहै॥
हम टेरि सुनावती बेनी प्रवीन चहै मन लावै न लावै चहै।
अब आवै विदेस तें पीतम गेह, चहै धन लावै, न लावै चहै॥

काल्हि ही गूँधी बबा की सौं मैं गजमोतिन की पहिरी अति आला।
आई कहाँ तें यहाँ पुखराज की, संग एई जमुना तट बाला॥
न्हात उतारी हौं बेनी प्रवीन, हँसै सुनि बैनन नैन रसाला।
जानति ना अँग की बदली, सब सों "बदली बदली" कहै माला॥

सोभा पाई कुंज भौन, जहाँ जहाँ कीन्हो गौन,
सरस सुगंध पौन पाई मधुपनि है।
वीथिन बिथोरे मुकुताहल मराल पाए,
आलि दुसाल साल पाए अनगनि हैं।
रैनि पाई चाँदनी फटक सी चटक रुख,
सुख पायो पीतम प्रवीन बेनी धनि है।
बैन पाई सारिका, पढ़न लागी कारिका,
सो आई अभिसारिका कि चारु चिंतामनि है॥

(४८) जसवंतसिंह द्वितीय—ये बघेल क्षत्रिय और तेरवाँ (कन्नौज के पास) के राजा थे और बड़े विद्याप्रेमी थे। इनके पुस्तकालय में संस्कृत और भाषा के बहुत से ग्रंथ थे। इनका कविताकाल संवत् १८५६ अनुमान किया गया है। इन्होंने दो ग्रंथ लिखे—एक सालिहोत्र और दूसरा श्रृंगार-शिरोमणि। यहाँ इसी दूसरे ग्रंथ से प्रयोजन है, जो श्रृंगार रस का एक बड़ा ग्रंथ है। कविता साधारण है। एक कवित्त देखिए—

घनन के घोर, सोर चारो ओर मोरन के,
अति चित चोर तैसे अंकुर मुनै रहैं॥
कोकिलन कूक हूक होति बिरहीन हिय,
लूक से लगत चीर चारन चुनै रहैं॥
झिल्ली झनकार तैसी पिकन पुकार डारी,
मारि डारी डारी द्रुम अंकुर सुनै रहैं।
लुनै रहै प्रान प्रानप्यारे जसवंत बिनु,
कारे पीरे लाल ऊदे बादर उनै रहैं॥

(४९) यशोदानंदन—इनका कुछ भी वृत्त ज्ञात नहीं। शिवसिंहसरोज में इनका जन्म संवत् १८२८ लिखा पाया जाता है। इनका एक छोटा सा ग्रंथ "बरवै नायिका भेद" ही मिलता है जो निस्संदेह अनूठा है और रहीमवाले से अच्छा नहीं तो उसकी टक्कर का है। इसमें ९ बरवा संस्कृत में और ५३ ठेठ अवधी भाषा में हैं। अत्यंत मृदु और कोमल भाव अत्यंत सरल और स्वाभाविक रीति से कहे गए हैं। भावुकता ही कवि की प्रधान विभूति है। इस दृष्टि से इनकी यह छोटी सी रचना बहुत सी बड़ी बड़ी रचनाओं से मूल्य में बहुत अधिक है। कवियों की श्रेणी में ये निस्संदेह उच्च स्थान के अधिकारी हैं। इनके बरवै के नमूने देखिए—

(संस्कृत) यदि च भवति बुध-मिलनं किं त्रिदिवेन।
यदि च भवति शठ-मिलनं किं निरयेण॥
(भाषा) अहिरिनि मन कै गहिरिनि, उतरु न देइ।
नैना करै मथनिया, मन मथि लेइ॥
तुरकिनि जाति हुरुकिनी अति इतराइ।
छुवन न देइ इजरवा मुरि मुरि जाइ॥

पीतम तुम कचलोइया, हम गजबेलि।
सारस कै असि जोरिया, फिरौं अकेलि॥

(५०) **करन कवि**—ये षटकुल कान्यकुब्जों के अंतर्गत पाँड़े थे और छत्रसाल के वंशधर पन्ना-नरेश महाराज हिंदूपति की सभा में रहते थे। इनका कविता-काल संवत् १८६० के लगभग माना जा सकता है। इन्होंने 'साहित्यरस' और 'रसकल्लोल' नामक दो रीतिग्रंथ लिखे हैं। 'साहित्यरस' में इन्होंने लक्षणा, व्यंजना, ध्वनिभेद, रसभेद, गुण, दोष, आदि काव्य के प्रायः सब विषयों का विस्तार से वर्णन किया है। इस दृष्टि से यह एक उत्तम रीतिग्रंथ है। कविता भी इसकी सरस और मनोहर है। इससे इनका एक सुविज्ञ कवि होना सिद्ध होता है। इनका एक कवित्त देखिए—

कंटकित होत गात विपिन समाज देखि,
हरी हरी भूमि हेरि हियो लरजतु है।
एते पै करन धुनि परति मयूरन की,
चातक पुकारि तेह ताप सरजतु है।
निपट चवाई भाई बंधु जे बसत गाँव,
दावँ परे जानिकै न कोऊ बरजतु है।
अरज्यो न मानी तू, न गरज्यो चलत बार,
एरे घन बैरी! अब काहे गरजतु है॥

खल खंडन; मंडन धरनि, उद्धत उदित उदंड।
दलमंडन दारुन समर हिंदुराज भुजदंड॥

(५१) **गुरदीन पाँड़े**—इनके संबंध में कुछ ज्ञात नहीं। इन्होंने संवत् १८६० में "बागमनोहर" नामक एक बहुत ही बड़ा रीतिग्रंथ कविप्रिया की शैली पर बनाया। 'कविप्रिया' से इसमें विशेषता यह है कि इसमें पिंगल भी आ गया है। इस एक ही ग्रंथ में पिंगल, रस, अलंकार, गुण, दोष, शब्द शक्ति आदि सब कुछ अध्ययन के लिये रख दिया गया है। इससे यह साहित्य का एक सर्वांगपूर्ण ग्रंथ कहा जा सकता है। इसमें हर प्रकार के छंद हैं। संस्कृत के वर्णवृत्तों में बड़ी सुंदर रचना है। यह अत्यंत रोचक और उपादेय ग्रंथ है। कुछ पद्य देखिए—

मुख-ससी ससि दून कला धरे। कि मुकुता-गन जावक में भरे।
ललित कुंदकली अनुहारि के। दसन हैं वृषभानु-कुमारि के॥
सुखद जंत्र कि भाल सुहाग के। ललित मंत्र किधौं अनुराग के।
भ्रुकुटि यों वृषभानु-सुता लसैं। जनु अनंग-सरासन को हँसैं॥
मुकुर तौ पर-दीपति को धनी। ससि कलंकित, राहु-बिथा घनी।
अपर ना उपमा जग में लहै। तव प्रिया! मुख के सम को कहै?

---

(५२) **ब्रह्मदत्त**—ये ब्राह्मण थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायणसिंह के छोटे भाई बाबू दीपनारायण सिंह के आश्रित थे। इन्होंने संवत् १८६० में 'विद्वद्विलास' और १८६५ में 'दीपप्रकाश' नामक एक अच्छा अलंकार का ग्रंथ बनाया। इनकी रचना सरल और परिमार्जित है। आश्रयदाता की प्रशंसा में यह कवित्त देखिए—

कुसल कलानि में, करनहार कीरति को,
कवि कोविदन को कलपतरु वर है।
सील सनमान बुद्धि विद्या को निधान ब्रह्म,
मतिमान हंसन को मानसरवर है॥
दीपनारायन, अवनीप को अनुज प्यारो,
दीन दुख देखत हरत हरबर है।
गाहक गुनी को, निरवाहक दुनी को नीको,
गनी गज बकस, गरीबपरवर है।

---

(५३) **पद्माकर भट्ट**—रीतिकाल के कवियों में सहृदय समाज इन्हें सर्वश्रेष्ठ स्थान देता आया है। ऐसा सर्वप्रिय कवि इस काल के भीतर बिहारी को छोड़ दूसरा नहीं हुआ। इनकी रचना की रमणीयता ही इस सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। रीति-काल की कविता इनकी और प्रतापसाहि की वाणी द्वारा अपने पूर्ण उत्कर्ष को पहुँच कर फिर ह्रासोन्मुख हुई। अतः जिस प्रकार ये अपनी परंपरा के परमोत्कृष्ट कवि हैं उसी प्रकार प्रसिद्धि में अंतिम भी। देश में जैसा इनका नाम गूँजा वैसा फिर आगे चलकर किसी और कवि का नहीं।

ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता मोहनलाल भट्ट का जन्म बाँदे में हुआ था। वे पूर्ण पंडित और अच्छे कवि भी थे जिसके कारण उनका कई राजधानियों में अच्छा

सम्मान हुआ। वे कुछ दिनों तक नागपुर के महाराज रघुनाथराव (अप्पा साहब) के यहाँ रहे, फिर पन्ना के महाराज हिंदूपति के गुरु हुए और कई गाँव प्राप्त किए। वहाँ से वे फिर जयपुर-नरेश महाराजा प्रतापसिंह के यहाँ जा रहे जहाँ उन्हें 'कविराज शिरोमणि' की पदवी और अच्छी जागीर मिली। उन्हीं के पुत्र सुप्रसिद्ध पद्माकर जी हुए। पद्माकर जी का जन्म संवत् १८१० में बाँदे में हुआ। इन्होंने ८० वर्ष की आयु भोग कर अंत में कानपुर में गंगातट पर संवत् १८९० में शरीर छोड़ा। ये कई स्थानों पर रहे। सुगरा के नोने अर्जुनसिंह ने इन्हें अपना मंत्रगुरु बनाया। संवत् १८४९ में ये गोसाई अनूपगिरि उपनाम हिम्मत-बहादुर के यहाँ गए जो बड़े अच्छे योद्धा थे और पहले बांदे के नवाब के यहाँ थे फिर अवध के बादशाह के यहाँ सेना के बड़े अधिकारी हुए थे। इनके नाम पर पद्माकर जी ने "हिम्मत बहादुर विरदावली" नाम की वीररस की एक बहुत ही फड़कती हुई पुस्तक लिखी। संवत् १८५६ में ये सितारे के महाराज रघुनाथराव (प्रसिद्ध राघोबा) के यहाँ गए और एक हाथी, एक लाख रुपया और दस गाँव पाए। इसके उपरांत पद्माकर जी जयपुर के महाराज प्रतापसिंह के यहाँ पहुँचे और वहाँ बहुत दिन तक रहे। महाराज प्रतापसिंह के पुत्र महाराज जगत सिंह के समय में भी ये बहुत काल तक जयपुर रहे और उन्हीं के नाम पर अपना प्रसिद्ध ग्रंथ 'जगद्विनोद' बनाया। ऐसा जान पड़ता है जयपुर में ही इन्होंने अपना अलंकार का ग्रंथ 'पद्माभरण' बनाया जो दोहों में है। ये एक बार उदयपुर के महाराणा भीमसिंह के दरबार में भी गए थे जहाँ इनका बहुत अच्छा सम्मान हुआ था। महाराणा साहब की आज्ञा से इन्होंने "गनगौर" के मेले का वर्णन किया था। महाराज जगतसिंह का परलोकवास संवत् १८९० में हुआ। अतः उसके अनंतर ये ग्वालियर के महाराज दौलत राव सेंधिया के दरबार में गए और यह कवित्त पढ़ा—

मीनागढ़ बंबई सुमंद मंदराज बंग
बंदर को बंद करि बंदर बसावैगो।
कहै पदमाकर कसकि कासमीर हू को,
पिंजर सों घेरि कै कलिंजर छुड़ावैगो॥
बाँका नृप दौलत अलीजा महाराज कबौं,
साजि दल पकरि फिरंगिन दबावैगो।
दिल्ली दहपट्टि, पटना हू को झपट्ट करि,
कबहूँक लत्ता कलकत्ता को उड़ावैगो॥

सेंधिया दरबार में भी इनका अच्छा मान हुआ। कहते हैं कि वहाँ सरदार ऊदाजी के अनुरोध से इन्होंने हितोपदेश का भाषानुवाद किया था। ग्वालियर से ये बूँदी गए और वहाँ से फिर अपने घर बाँदे में आ रहे। आयु के पिछले दिनों में ये बहुत रोगग्रस्त रहा करते थे। उसी समय इन्होंने "प्रबोध पचासा" नामक विराग और भक्तिरस से पूर्ण ग्रंथ बनाया। अंतिम समय निकट जान पद्माकर जी गंगातट के विचार से कानपुर चले आए और वहीं अपने जीवन के शेष सात वर्ष पूरे किए। अपनी प्रसिद्ध 'गंगालहरी' इन्होंने इसी समय के बीच बनाई थी।

'राम रसायन' नामक बाल्मीकि रामायण का आधार लेकर लिखा हुआ एक चरित-काव्य भी इनका दोहे चौपाइयों में है पर उसमें इन्हें काव्य संबंधिनी सफलता नहीं हुई है। संभव है वह इनका न हो।

मतिरामजी के 'रसराज' के समान पद्माकरजी का 'जगद्विनोद' भी काव्यरसिकों और अभ्यासियों दोनों का कंठहार रहा है। वास्तव में यह शृंगाररस का सार-ग्रंथ सा प्रतीत होता है। इनकी मधुर कल्पना ऐसी स्वाभाविक और हावभाव पूर्ण मूर्त्ति-विधान करती है कि पाठक मानो प्रत्यक्ष अनुभूति में मग्न हो जाता है। ऐसा सजीव मूर्त्ति-विधान करनेवाली कल्पना बिहारी को छोड़ और किसी कवि में नहीं पाई जाती। ऐसी कल्पना के बिना भावुकता कुछ नहीं कर सकती, या तो वह भीतर ही भीतर लीन हो जाती है अथवा असमर्थ पदावली के बीच व्यर्थ तड़फड़ाया करती है। कल्पना और वाणी तक जिस भावुकता की व्याप्ति होती है वही उत्कृष्ट काव्य के रूप में विकसित हो सकती है। भाषा की सब प्रकार की शक्तियों पर इन कवि का अधिकार दिखाई पड़ता है। कहीं तो इनकी भाषा स्निग्ध, मधुर

पदावली द्वारा एक सजीव भाव-भरी प्रेम-मूर्त्ति खड़ी करती है, कहीं भाव• या रस की धारा बहाती है, कहीं अनुप्रासों की मिलित झंकार उत्पन्न करती है, कहीं वीर-दर्प से क्षुब्ध वाहिनी के समान अकड़ती और कड़कती हुई चलती है, और कहीं प्रशांत सरोवर के समान स्थिर और गंभीर होकर मनुष्य जीवन की विश्रांति की छाया दिखाती है। सारांश यह कि इनकी भाषा में वह अनेकरूपता है जो एक बड़े कवि में होनी चाहिए। भाषा की ऐसी अनेकरूपता गोस्वामी तुलसीदास जी में दिखाई पड़ती है।

अनुप्रास की प्रवृत्ति तो हिंदी के प्रायः सब कवियों में आवश्यकता से अधिक रही है। पद्माकर जी भी उसके प्रभाव से नहीं बचे हैं। पर थोड़ा ध्यान देने पर यह प्रवृत्ति इनमें अरुचिकर सीमा तक कुछ विशेष प्रकार के पद्यों में ही मिलेगी जिनमें ये जान बूझ कर शब्द-चमत्कार प्रकट करना चाहते थे। अनुप्रास की दीर्घ शृंखला अधिकतर इनके वर्णनात्मक (Descriptive) पद्यों में पाई जाती है। जहाँ मधुर कल्पना के बीच सुंदर कोमल भाव-तरंग का स्पंदन है वहाँ की भाषा बहुत ही चलती, स्वाभाविक और साफ़ सुथरी है—वहाँ अनुप्रास भी है तो बहुत संयत रूप में। देव की शब्दाडंबर-प्रियता ने उनकी प्रायः सब रचना विकृत और भद्दी कर दी है। थोड़े पद्य उनके ऐसे मिलेंगे जिनमें भाषा का स्वाभाविक चलतापन और मार्मिक प्रभाव हो। भाव-मूर्त्ति-विधायिनी कल्पना की भी उनमें कमी है। वे ऊहा के बल पर कारीगरी के मज़मून बाँधने के प्रयासी कवि थे, हृदय की सच्ची स्वभाविक प्रेरणा उनमें कम थी। अतः पद्माकर के साथ उनका नाम लेना ही व्यर्थ है। कहीं कहीं पद्माकर के एक साधारण वाक्यांश से रस छलका पड़ता है। लाक्षणिक शब्दों के प्रयोग द्वारा कहीं कहीं ये मन की अव्यक्त भावना को ऐसा मूर्त्तिमान् कर देते हैं कि सुनने वाले का हृदय आप से आप हामी भरता है।

पद्माकर जी की कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

फागु की भीर, अभीरिन मे गहि गोबिंदै लै गई भीतर गोरी।
भाई करी मन की पदमाकर, ऊपर नाई अबीर की झोरी॥
छीनि पितंबर कम्मर तें सुविदा दई मीड़ि कपोलन रोरी।
नैन नचाय कही मुसकाय, "लला फिर आइयो खेलन होरी" ॥

आई संग आलिन के ननद पठाई नीठि,
सोहत सोहाई सीस ईंड़री सुपट की।
कहै पदमाकर गँभीर जमुना के तीर,
लागी घट भरन नवेली नेह अटकी।
ताही समय मोहन जो बाँसुरी बजाई तामे,
मधुर मलार गाई ओर बंसीबट की।
तान लागे लट की, रही न सुधि घूँघट की,
घर की, न घाट की, न बाट की, न घट की॥

गोकुल के, कुल के, गली के गोप गाँवन के
जौ लगि कछू को कछू भारत भनै नहीं।
कहै पदमाकर परोस पिछवारन के
द्वारन के दौरे गुन औगुन गनै नहीं॥
तौ लौं चलि चातुर सहेली याही कोद कहूँ
नीके कै निहारैं ताहि, भरत मनै नहीं।
हौं तो स्यामरंग मे चोराइ चित चोराचोरी
बोरत तो बोर्‌यौ, पै निचोरत बनै नहीं।

आरस सों आरत, सँभारत न सीस पट,
गज़ब गुजारति गरीबन की धार पर।
कहैं पदमाकर सुरा सों सरसार, तैसे
बिथुरि बिराजैं बार हीरन के हार पर।
छाजत छबीले छिति छहरि छरा के छोर,
भोर उठि आई केलिमंदिर के द्वार पर।
एक पग भीतर औ एक देहरी पै धरे,
एक कर कंज, एक कर है किवार पर॥

मोहिं लखि सोवत बिथोरिगो सुबेनी बनी,
तोरिगो हिये को हार, छोरिगो सुगैया को।
कहै पदमाकर त्यों घोरिगो घनेरो दुख,
बोरिगो बिसासी आज लाज ही की नैया को।

अहिहै अनैसो ऐसो कौन उपहास ? यातें
सोचन खरी मैं परी जोवति जुन्हैया को।
बूझिहैं चवैया तब कैहौं कहा, दैया!
इत पारिगो को, मैया, मेरी सेज पै कन्हैयाको?

एहो नंदलाल! ऐसी व्याकुल परी है बाल,
हाल ही चलौ तौ चलौ, जोरे जुरि जायगी।
कहै पदमाकर नहीं तौ ये झकोरे लगे
ओरे लौं अचाका बिनु घोरे घुरि जायगी॥
सीरे उपचारन घनेरे घनसारन सो
देखत ही देखौ दामिनी लौं दुरि जायगी।
तौही लगि चैन जौलौं चेतिहै न चंदमुखी,
चेतैगी कहूँ तौ चाँदनी मे चुरि जायगी॥

चालो सुनि चंदमुखी चित में सुचैन करि,
तित बन बागन घनेरे अलि घूमि रहे।
कहै पदमाकर मयूर मंजु नाचत हैं,
चाय सों चकोरनी चकोर चूमि चूमि रहे॥
कदम, अनार, आम, अगर, असोक-थोक,
लतनि समेत लोने लोने लगि भूमि रहे।
फूलि रहे, फलि रहे, फबि रहे, फैलि रहे,
झपि रहे, झलि रहे, झुकि रहे, झूमि रहे॥

तीखे तेगवाही जे सिलाही चढ़ैं घोड़न पै,
स्याही चढ़ै अमित अरिंदन की ऐल पै।
कहै पदमाकर निसान चढ़ै हाथिन पै,
धूरि-धार चढ़ै पाकसासन के सैल पै॥
साजि चतुरंग चमू जंग जीतिबे के हेतु
हिम्मत बहादुर चढ़त फर फैल पै।
लाली चढ़ै मुख पै, बहाली चढ़ै बाहन पै,
काली चढ़ै सिंह पै, कपाली चढ़ै बैल पै॥

ए ब्रजचंद गोबिंद गोपाल! सुन्यो न क्यों एते कलाम किये मैं।
त्यों पदमाकर आनँद के नद हौ, नँदनंदन! जानि लिये मैं॥
माखन चोरी कै खोरिन ह्वै चले भाजि कछू भय मानि जिये मैं।
दूरि न दौरिं दुरयो जौ चहौ तौ दुरौ किन मेरे अँधेरे हिये में?

(५४) ग्वाल कवि—ये मथुरा के रहनेवाले बंदीजन सेवाराम के पुत्र थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि हुए हैं। इनका कविता-काल संवत् १८७९ से संवत् १९१८ तक है। अपना पहला ग्रंथ 'यमुना लहरी' इन्होंने संवत् १८७९ में और अंतिम ग्रंथ 'भक्तभावन' संवत् १९१९ में बनाया। रीतिग्रंथ इन्होंने चार लिखे हैं—'रसिकानंद' (अलंकार); 'रसरंग' (संवत् १९०४); कृष्ण जू को नख-शिख (संवत् १८८४) और 'दूषण-दर्पण' (संवत् १८९१)। इनके अतिरिक्त इनके ये ग्रंथ और मिले हैं—

हम्मीर हठ (संवत् १८८१)
गोपी पच्चीसी

दो ग्रंथ इनके लिखे और कहे जाते हैं—'राधा-माधव-मिलन' और 'राधा-अष्टक'। 'कविहृदय विनोद' इनकी बहुत सी कविताओं का संग्रह है।

रीतिकाल की सनक इनमें इतनी अधिक थी कि इन्हें 'यमुना-लहरी' नामक देवस्तुति में भी नवरस और षट्ऋतु सुझाई पड़ी है। भाषा इनकी चलती और व्यवस्थित है। वाग्विदग्धता भी इनमें अच्छी है। षटऋतुओं का वर्णन इन्होंने विस्तृत किया है, पर वह श्रृंगारी उद्दीपन के ढंग का। इनके ऋतुवर्णन के कवित्त लोगों के मुँह से अधिक सुने जाते हैं जिनमें बहुत से भोग-विलास के अमीरी सामान भी गिनाए गए हैं। ग्वाल कवि ने देशाटन अच्छा किया था और इन्हें भिन्न भिन्न प्रांतों की बोलियों का अच्छा ज्ञान हो गया था। इन्होंने ठेठ पूरबी हिंदी, गुजराती और पंजाबी भाषा में भी कुछ कवित्त सवैया लिखे हैं। फारसी अरबी शब्दों का इन्होंने बहुत प्रयोग किया है। सारांश यह कि ये एक विदग्ध और कुशल कवि थे पर कुछ फक्कड़पन लिए हुए। इनकी बहुत सी कविता बाजारी है। थोड़े से उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

ग्रीषम की गजब धुकी है धूप धाम धाम,
गरमी झुकी है जाम जाम अति तापिनी।
भीजे खस-बीजन झलेहू ना सुखात स्वेद,
गात ना सुहात, बात दावा सी डरापिनी॥
ग्वाल कवि कहै कोरे कुंभन तें, कूपन तें

ले ले जलधार बार बार मुख थापिनी।
जब पियो तब पियो, अब पियो फेर अब,
पीवत हूँ पीवत मिटै न प्यास पापिनी॥

मोरन के सोरन की नेकौ न मरोर रही,
घोर हू रही न घन घने या फरद की।
अंबर अमल, सर सरिता विमल भल,
पंक को न अंक औ न उड़न गरद की॥
ग्वाल कवि चित्त में चकोरन के चैन भए,
पंथिन की दूर भई दूखन दरद की।
जल पर, थल पर, महल, अचल पर
चाँदी सी चमकि रही चाँदनी सरद की॥

जाकी खूबखूबी खूब खूबन की खूबी यहाँ,
ताकी खूबखूबी खूबखूबी नभ गाहना।
जाकी बदजाती बदजाती यहाँ चारन मे,
ताकी बदजाती बदजाती ह्वाँ उराहना॥
ग्वाल कवि वे ही परसिद्ध सिद्ध जो हैं जग,
वे ही परसिद्ध ताकी यहाँ ह्वाँ सराहना।
जाकी यहाँ चाहना है ताकी वहाँ चाहना है,
जाकी यहाँ चाह ना है ताकी वहाँ चाह ना॥

दिया है खुदा ने खूब खुशी करो ग्वाल कवि,
खाव पियो, देव लेव, यही रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादसाह भए,
कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है॥
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पै गुमान ऐसे!
देस देस घूमि घूमि मन बहलाना है।
आए परवाना पर चलै ना बहाना, यहाँ,
नेकी कर जाना, फेर आना है, न जाना है॥

(५५) प्रतापसाहि—ये रतनेस बंदीजन के पुत्र थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इन्होंने संवत् १८८२ में "व्यंग्यार्थ कौमुदी" और संवत् १८८६ में "काव्यविलास" की रचना की। इन दोनों परम प्रसिद्ध ग्रंथों के अतिरिक्त निम्न-लिखित पुस्तकें इनकी बनाई हुई और हैं—

जयसिंह-प्रकाश (सं० १८५२), शृंगार-मंजरी (सं० १८८९) शृंगार-शिरोमणि (सं० १८९४), अलंकार-चिंतामणि (सं० १८९४), काव्य विनोद (१८९६), रस राज की टीका (सं० १८९६), रत्नचंद्रिका (सतसई की टीका, सं० १८९६), जुगल नखशिख (रामचंद्र का नखशिख वर्णन), बलभद्र नखशिख की टीका।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८८० से १९०० तक ठहरता है। पुस्तकों के नाम से ही इनकी साहित्य-मर्मज्ञता और पांडित्य का अनुमान हो सकता है। आचार्यत्व में इनका नाम मतिराम, श्रीपति और दास के साथ आता है और एक दृष्टि से इन्होंने उनके चलाए हुए कार्य्य को पूर्णता को पहुँचाया था। लक्षणा व्यंजना का उदाहरणों द्वारा विस्तृत निरूपण पूर्व-वर्त्ती तीनों कवियों ने नहीं किया था, इन्होंने व्यंजना के उदाहरणों की एक अलग पुस्तक ही "व्यंग्यार्थ कौमुदी" के नाम से रची। इसमें १३० कवित्त, दोहे, सवैये हैं जो सब व्यंजना या ध्वनि के उदाहरण हैं। साहित्यमर्मज्ञ तो बिना कहे ही समझ सकते हैं कि ये उदाहरण अधिकतर वस्तुव्यंजना के ही होंगे। वस्तु-व्यंजना को बहुत दूर घसीटने पर बड़े चक्करदार ऊहापोह का सहारा लेना पड़ता है और व्यंग्यार्थ तक पहुँच केवल साहित्यिक रूढ़ि के अभ्यास पर अवलंबित रहती है। नायिकाओं के भेदों, रसादि के सब अंगों तथा भिन्न भिन्न अलंकारों का अभ्यास न रखनेवाले के लिये ऐसे पद्य पहेली ही समझिए। उदाहरण के लिए 'व्यंग्यार्थ-कौमुदी' का यह सवैया लीजिए—

सीख सिखाई न मानति है, बरही बस संग सखीन के आवै।
खेलत खेल नए जल में, बिन काम वृथा कत जाम बितावै॥
छोड़ि कै साथ सहेलिन को, रहि कै कहि कौन सवादहिं पावै।
कौन परी यह बानि, अरी! नित नीरभरी गगरी ढरकावै॥

सहृदयों की सामान्य दृष्टि में तो वयःसंधि की मधुर क्रीड़ावृत्ति का यह एक परम मनोहर दृश्य है। पर फन में उस्ताद लोगों की आँखें एक और ही ओर पहुँचती हैं। वे इसमें से यह व्यंग्यार्थ निकालते हैं—घड़े के पानी में

अपने नेत्रों का प्रतिबिंब देख उसे मछलियों का भ्रम होता है। इस प्रकार का भ्रम एक अलंकार है। अतः भ्रम या भ्रांति अलंकार यहाँ व्यंग्य हुआ। और चलिए। 'भ्रम' अलंकार में 'सादृश्य' व्यंग्य रहा करता है अतः अब इस व्यंग्यार्थ पर पहुँचे कि "नेत्र मीन के समान हैं"। अब अलंकार का पीछा छोड़िए; नायिकाभेद की तरफ़ आइए। वैसा भ्रम जैसा ऊपर कहा गया है "अज्ञात-यौवना" को हुआ करता है। अतः ऊपर का सवैया अज्ञातयौवना का उदाहरण हुआ। यह इतनी बड़ी अर्थ यात्रा रूढ़ि के ही सहारे हुई है। जब तक यह न ज्ञात हो कि कवि-परंपरा में आँख की उपमा मछली से दिया करते हैं तब तक यह सब अर्थ स्फुट नहीं हो सकता।

प्रतापसाहि जी का यह कौशल अपूर्व है कि इन्होंने एक रसग्रंथ के अनुरूप नायिकाभेद के क्रम से सब पद्य रखे हैं जिससे इनके ग्रंथ को जी चाहे तो नायिकाभेद का एक अत्यंत सरस और मधुर ग्रंथ भी कह सकते हैं। यदि हम आचार्य्यत्व और कवित्व दोनों के एक अनूठे संयोग की दृष्टि से विचार करते हैं तो मतिराम, श्रीपति और दास से ये कुछ बीस ही ठहरते हैं। इधर भाषा की स्निग्ध सुख-सरल गति, कल्पना की मूर्त्तिमत्ता और हृदय की द्रवणशीलता मतिराम, श्रीपति और बेनी प्रवीन के मेल में जाती है तो उधर आचार्य्यत्व इन तीनों से भी और दास से भी कुछ आगे ही दिखाई पड़ता है। इनकी प्रखर प्रतिभा ने मानो पद्माकर की प्रतिभा के साथ साथ रीतिबद्ध काव्यकला को पूर्णता पर पहुँचा कर छोड़ दिया। पद्माकर की अनुप्रास-योजना कभी कभी रुचिकर सीमा के बाहर जा पड़ी है, पर इस भावुक और प्रवीण की वाणी में यह दोष कहीं नहीं आने पाया है। इनकी भाषा में बड़ा भारी गुण यह है कि वह बराबर एक समान चलती है—उसमें न कहीं कृत्रिम आडंबर का अड़ंगा है, न गति का शैथिल्य और न शब्दों की तोड़ मरोड़। हिंदी के मुक्तक-कवियों में समस्यापूर्ति की पद्धति पर रचना करने के कारण एक अत्यंत प्रत्यक्ष दोष देखने में आता है। उनके अंतिम चरण की भाषा तो बहुत ही गँठी हुई, व्यवस्थित और मार्मिक होती है पर शेष तीनों चरणों में यह बात बहुत ही कम पाई जाती है। बहुत से स्थलों पर तो प्रथम तीन चरणों की वाक्य रचना बिल्कुल अव्यवस्थित और बहुत सी पद-योजना निरर्थक होती है। पर 'प्रताप' की भाषा एकरस चलती है। इन सब बातों के विचार से हम प्रताप जी को पद्माकर जी के समकक्ष ही बहुत बड़ा कवि मानते हैं।

प्रताप जी की कुछ रचनाएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं–

चंचलता अपनी तजि कै रस ही रस सों रस सुंदर पीजियो।
कोऊ कितेक कहै तुम सों तिन की कही बातन को न पतीजियो॥
चोज चवाइन के सुनियो न, यही इक मेरी कही नित कीजियो।
मंजुल मंजरी पै हौ, मलिंद ! विचारि कै भार सँभारि कै दीजियो॥

तड़पै तड़िता चहुँ ओरन तें, छिति छाई समीरन की लहरैं।
मदमाते महा गिरिशृंगन पै गन मंजु मयूरन के कहरैं॥
इनकी करनी बरनी न परै, मगरूर गुमानन सों गहरैं।
घन ये नभ मंडल में छहरैं, घहरैं कहुँ जाय, कहूँ ठहरैं॥

कानि करै गुरुलोगन की, न सखीन की सीखन ही मन लावति।
ऐड़-भरी अँगराति खरी, कत घूँघट मे नए नैन नचावति॥
मंजन कै दृग अंजन आँजति, अंग अनंग-उमंग बढ़ावति।
कौन सुभावरी तेरो परयो, खिन आँगन में, खिन पौरि में आवति॥

कहा जानि, मन में मनोरथ बिचारि कौन,
चेति कौन काज, कौन हेतु उठि आई प्रात।
कहै परताप छिन डोलिबो पगन कहूँ,
अंतर को खोलिबो न बोलिबो हमैं सुहात॥
ननद जिठानी सतरानी, अनखानी, अति,
रिस कै रिसानी, सो न हमैं कछू जानी जात।
चाहौ पल बैठी रहौ, चाहौ उठि जाव तौ न,
हमको हमारी परी, बूझै को तिहारी बात॥

चंचल चपला चारु चमकत चारो ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है।
सीतल समीर लगै दुखद वियोगिन्ह,
संजोगिन्ह समाज सुखसाज सरसत है।

कहै परताप अति निविड़ अँधेरी माँह
मारग चलत नाहिं नेकु दरसत है।
झुमड़ि झलानि चहूँ कोदतें उमड़ि आज
धाराधर धारन अपार बरसत है।

महाराज रामराज रावरो सजत दल
होत मुख अमल अनंदित महेस के।
सेवत दरीन केते गब्बर गनीम रहैं,
पन्नग पताल त्यों ही डरन खगेस के।
कहै परताप धरा धँसत त्रसत,
कसमसत कमठ-पीठि कठिन कलेस के।
कहरत कोल, हहरत हैं दिगीस दस,
लहरत सिंधु, थहरत फन सेस के।

रीतिकाल की अन्य रचनाएँ

रीतिकाल के प्रतिनिधि कवियों का, जिन्होंने लक्षण-ग्रंथ के रूप में रचनाएँ की हैं, संक्षेप में वर्णन हो चुका। अब यहाँ पर इस काल के भीतर होनेवाले उन कवियों का उल्लेख होगा जिन्होंने रीति-ग्रंथ न लिख कर दूसरे प्रकार की पुस्तकें लिखी हैं। ऐसे कवियों में कुछ ने तो प्रबंध काव्य लिखे हैं, कुछ ने नीति या भक्ति ज्ञान-संबंधी पद्य और कुछ ने शृंगाररस की फुटकल कविताएँ लिखी हैं। ये पिछले वर्ग के कवि प्रतिनिधि कवियों से केवल इस बात में भिन्न हैं कि इन्होंने क्रम से रसों, भावों, नायिकाओं और अलंकारों के लक्षण कहकर उनके अंतर्गत अपने पद्यों को नहीं रखा है। अधिकांश में ये भी शृंगारी कवि हैं और इन्होंने भी शृंगाररस के फुटकल पद्य कहे हैं। रचना-शैली में किसी प्रकार का भेद नहीं है। ऐसे कवियों में घनानंद सर्वश्रेष्ठ हुए हैं। इस प्रकार के अच्छे कवियों की रचनाओं में प्रायः मार्मिक और मनोहर पद्यों की संख्या कुछ अधिक पाई जाती है। बात यह है कि इन्हें कोई बंधन नहीं था। जिस भाव की कविता जिस समय सूझी ये लिख गए। रीतिबद्ध ग्रंथ जो लिखने बैठते थे उन्हें प्रत्येक अलंकार या नायिका को उदाहृत करने के लिये पद्य लिखना आवश्यक था जिनमें सब प्रसंग उनकी स्वाभाविक रुचि या प्रवृत्ति के अनुकूल नहीं हो सकते थे। रसखान, घनानंद, आलम, ठाकुर आदि जितने प्रेमोन्मत्त कवि हुए हैं उनमें किसी ने लक्षणबद्ध रचना नहीं की है।

प्रबंध-काव्य की उन्नति इस काल में कुछ विशेष न हो पाई। लिखे तो अनेक कथा-प्रबंध गए पर उनमें से दो ही चार में कवित्व का यथेष्ट आकर्षण पाया जाता है। सबलसिंह का महाभारत, छत्रसिंह की विजय-मुक्तावली, गुरुगोविंद सिंह जी का चंडीचरित्र, लाल-कवि का छत्रप्रकाश, जोधराज का हम्मीर-रासो, गुमान मिश्र का नैषधचरित, सरयूराम का जैमिनि पुराण, सूदन का सुजानचरित्र, देवीदत्त की बैताल पच्चीसी, हरनारायण की माधवानल कामकंदला, ब्रजवासीदास का ब्रजविलास, गोकुलनाथ आदि का महाभारत, मधुसूदनदास का रामाश्वमेध, कृष्णदास की भाषा भागवत, नवलसिंह कृत भाषा सप्तशती, आल्हारामायण, आल्हा-भारत, मूलढोला इत्यादि, चंद्रशेखर का हम्मीरहठ, श्रीधर का जंगनामा, पद्माकर का रामरसायन, ये इस काल के मुख्य कथात्मक काव्य हैं। इनमें से चंद्रशेखर के हम्मीरहठ, लाल कवि के छत्रप्रकाश, जोधराज के हम्मीररासो, सूदन के सुजानचरित्र और गोकुलनाथ आदि के महाभारत में ही काव्योपयुक्त रसात्मकता भिन्न भिन्न परिमाण में पाई जाती है। हम्मीरहठ की रचना बहुत ही प्रशस्त है। रामाश्वमेध की रचना भी साहित्यिक है। 'ब्रजविलास' में यद्यपि काव्य के गुण अल्प हैं पर उसका थोड़ा बहुत प्रचार कम पढ़े लिखे कृष्णभक्तों में है।

कथात्मक प्रबंधों से भिन्न एक और प्रकार की रचना भी बहुत देखने में आती है जिसे हम वर्णनात्मक प्रबंध कह सकते हैं। दानलीला, मानलीला, जलविहार, वनविहार, मृगया, झूला, होली वर्णन, जन्मोत्सव-वर्णन, मंगल-वर्णन, रामकलेवा इत्यादि इसी प्रकार की रचनाएँ हैं। बड़े बड़े प्रबंधकाव्यों के भीतर इस प्रकार के वर्णनात्मक प्रसंग रहा करते हैं। काव्यपद्धति में जैसे शृंगाररस के क्षेत्र से 'नखशिख', 'षटऋतु' आदि लेकर स्वतंत्र पुस्तकें बनने लगी वैसे ही कथात्मक महाकाव्यों

के ये अंग भी निकाल कर अलग पुस्तकें लिखी गईं। इनमें बड़े विस्तार के साथ वस्तुवर्णन चलता है, कभी कभी तो इतने विस्तार के साथ कि परिमार्जित साहित्यिक रुचि के सर्वथा विरुद्ध हो जाता है। जहाँ कवि जी अपने वस्तु-परिचय का भंडार खोलते हैं—जैसे, बरात का वर्णन है तो घोड़े की सैकड़ों जातियों के नाम, वस्त्रों का प्रसंग आया तो पचीसों प्रकार के कपड़ों के नाम और भोजन की बात आई तो सैकड़ों मिठाइयों, पकवानों और मेवों के नाम—वहाँ तो अच्छे अच्छे धीरों का धैर्य्य छूट जाता है।

चौथा वर्ग नीति के फुटकल पद्य कहने वालों का है। इनको हम 'कवि' कहना ठीक नहीं समझते। इनके तथ्य-कथन के ढंग में कभी कभी वाग्वैदग्ध्य रहता है पर केवल वाग्वैदग्ध्य द्वारा काव्य की सृष्टि नहीं हो सकती। यह ठीक है कि कहीं कहीं ऐसे पद्य भी नीति की पुस्तकों में आ जाते हैं जिनमें कुछ मार्मिकता होती है, जो हृदय की अनुभूति से भी संबंध रखते हैं, पर इनकी संख्या बहुत ही अल्प होती है। अतः ऐसी रचना करनेवालों को हम 'कवि' न कह कर 'सूक्तिकार' कहेंगे। रीति-काल के भीतर वृंद, गिरिधर, घाघ और बैताल अच्छे सूक्तिकार हुए हैं।

पाँचवा वर्ग ज्ञानोपदेशकों का है जो ब्रह्मज्ञान और वैराग्य की बातों को पद्य में कहते हैं। ये कभी कभी समझाने के लिये उपमा रूपक आदि का प्रयोग कर देते हैं, पर समझाने के लिये ही करते हैं, रसात्मक प्रभाव उत्पन्न करने के लिये नहीं। इनका उद्देश्य अधिकतर बोधवृत्ति जाग्रत करने का रहता है, मनोविकार उत्पन्न करने का नहीं। ऐसे ग्रंथकारों को हम केवल 'पद्यकार' कहेंगे। हाँ, इनमें जो भावुक और प्रतिभा सम्पन्न हैं, जो अन्योक्तियों आदि का सहारा लेकर भगवत्प्रेम, संसार के प्रति विरक्ति, करुणा आदि उत्पन्न करने में समर्थ हुए हैं वे अवश्य कवि क्या, उच्च कोटि के कवि कहे जा सकते हैं।

छठाँ वर्ग कुछ भक्त कवियों का है जिन्होंने भक्ति और प्रेमपूर्ण विनय के पद आदि पुराने भक्तों के ढंग पर गाए हैं।

इनके अतिरिक्त आश्रयदाताओं की प्रशंसा में वीर-रस की फुटकल कविताएँ भी बराबर बनती रहीं, जिनमें युद्धवीरता और दानवीरता दोनों की बड़ी अत्युक्ति-पूर्ण प्रशंसा भरी रहती थी। ऐसी कविताएँ थोड़ी बहुत तो रसग्रंथों के आदि में मिलती हैं कुछ अलंकार ग्रंथों के उदाहरण रूप में (जैसे, शिवराज भूषण) और कुछ अलग पुस्तकाकार जैसे "शिवा-बावनी," "छत्रसाल दशक", "हिम्मतबहादुर-विरुदावली" इत्यादि। ऐसी पुस्तकों में सर्वप्रिय और प्रसिद्ध वे ही हो सकी हैं जो या तो देवकाव्य के रूप में हुई हैं अथवा जिनके नायक कोई देशप्रसिद्ध वीर या जनता के श्रद्धाभाजन रहे हैं—जैसे, शिवाजी, छत्रसाल, महाराणा प्रताप आदि। जो पुस्तकें यों ही खुशामद के लिये आश्रित कवियों की रूढ़ि के अनुसार लिखी गईं, जिनके नायकों के लिये जनता के हृदय में कोई स्थान न था, वे प्राकृतिक नियमानुसार प्रसिद्धि न प्राप्त कर सकीं। बहुत सी तो लुप्त हो गईं। उनकी रचना में सच पूछिए तो कवियों ने अपनी प्रतिभा का अपव्यय ही किया। उनके द्वारा कवियों को अर्थ-सिद्धिमात्र प्राप्त हुई, यश का लाभ न हुआ। यदि बिहारी ने जयसिंह की प्रशंसा में ही अपने सात सौ दोहे बनाए होते तो उनके हाथ केवल अशर्फियाँ ही लगी होतीं। संस्कृत और हिंदी के न जाने कितने कवियों का प्रौढ़ साहित्यिक श्रम इस प्रकार लुप्त हो गया। काव्यक्षेत्र में यह एक शिक्षाप्रद घटना हुई।

भक्तिकाल के समान रीतिकाल में भी थोड़ा बहुत गद्य इधर उधर दिखाई पड़ जाता है पर बहुत ही कच्चे रूप में। गोस्वामियों की लिखी 'वैष्णववार्त्ताओं' और कुछ टीका टिप्पणी ही तक गद्य की पहुँच हुई। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह व्रजभाषा गद्य था। इसी रीतिकाल के भीतर रीवाँ के महाराज विश्वनाथसिंह ने हिंदी का प्रथम नाटक (आनंदरघुनंदन) लिखा। रीतिकाल के अंत तक 'खड़ी बोली' मुसलमानों की ही भाषा समझी जाती रही। कुछ कवियों ने एक आध जगह जहाँ खड़ी बोली का प्रयोग कर दिया है वहाँ साथ ही अरबी फारसी के शब्द भी रखे हैं। दूसरी बात यह है कि इस बोली का

प्रयोग मुसलमानों के प्रसंग में अवश्य मिलता है। भूषण ने जो "अफ़जल ख़ान को जिन्होंने मैदान मारा" वाक्य लिखा है वह अफ़ज़ल ख़ाँ के ख़्याल से। रीति-काल के समाप्त होते होते 'खड़ी बोली' के असली रूप का साहित्य में दर्शन हुआ।

(१) बनवारी—ये संवत् १६६० और १७०० के बीच वर्त्तमान थे। इनका विशेष वृत्त ज्ञात नहीं। इन्होंने महाराज जसवंतसिंह के बड़े भाई अमरसिंह की वीरता की बड़ी प्रशंसा की है। यह इतिहास-प्रसिद्ध बात है कि एक बार शाहजहाँ के दरबार में सलाबतख़ाँ ने किसी बात पर अमरसिंह को गँवार कह दिया, जिस पर उन्होंने चट तलवार खींच कर सलाबत ख़ाँ को वहीं मार डाला। इस घटना का बड़ा ओज पूर्ण वर्णन इनके इन पद्यों में मिलता है—

धन्य अमर छिति छत्रपति अमर तिहारो मान।
साहजहाँ की गोद में हन्यो सलाबत खान॥
उत गकार मुख तें कढ़ी इतै कढ़ी जमधार।
'वार' कहन पायो नहीं भई कटारी पार॥

आनि कै सलाबत खाँ जोर कै जनाई बात,
तोरि धर-पंजर करेजे जाय करकी।
दिलीपति साहि को चलन चलिबे को भयो,
गाज्यो गजसिंह को, सुनी जो बात बर की॥
कहै बनवारी बादसाहि के तखत पास,
फरकि फरकि लोथ लोथिन सों अरकी।
कर की बड़ाई, कै बड़ाई बाहिबे की करौं,
बाढ़ की बड़ाई, कै बड़ाई जमधर की॥

बनवारी कवि की श्रृंगाररस की कविता भी बड़ी चमत्कार पूर्ण होती थी। यमक लाने का ध्यान इन्हें विशेष रहा करता था। एक उदाहरण लीजिए—

नेह बर साने तेरे नेह बरसाने देखि,
यह बरसाने बर मुरली बजावैंगे।
साजु लाल सारी, लाल करैं लालसा री,
देखिबे की लालसा री, लाल देखे सुख पावैंगे॥
तू ही उर बसी, उर बसी नाहिं और तिय,
कोटि उरबसी तजि तोसों चित लावैंगे।
सेज बनवारी बनवारी तन आभरन,
गोरे-तन-वारी बनवारी आजु आवैंगे॥

---

(२) सबलसिंह चौहान—इनके निवासस्थान का ठीक निश्चय नहीं। शिवसिंह जी ने यह लिखकर कि कोई इन्हें चंदागढ़ का राजा और कोई सबलगढ़ का राजा बतलाते हैं, यह अनुमान किया है कि ये इटावे के किसी गाँव के जमींदार थे। सबलसिंह जी ने औरंगजेब के दरबार में रहनेवाले किसी राजा मित्रसेन के साथ अपना संबंध बताया है। इन्होंने सारे महाभारत की कथा दोहों चौपाइयों में लिखी है। इनका महाभारत बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसे इन्होंने संवत् १७१८ और संवत् १७८१ के बीच पूरा किया। इस ग्रंथ के अतिरिक्त इन्होंने ऋतुसंहार का भाषानुवाद, रूपविलास और एक पिंगल ग्रंथ भी लिखा था पर वे प्रसिद्ध नहीं हुए। ये वास्तव में अपने महाभारत के लिये ही प्रसिद्ध हैं। इसमें यद्यपि भाषा का लालित्य या काव्य की छटा नहीं है पर सीधी सादी भाषा में कथा अच्छी तरह कही गई है। रचना का ढंग नीचे के अवतरण से विदित होगा।

अभिमनु धाइ खड्ग परिहारे। सम्मुख जेहिं पायों तेहि मारे॥
भूरिश्रवा बान दस छाँटे। कुँवर हाथ के खड़गहिं काटे॥
तीनि बान सारथि उर मारे। आठ बान तें अश्व सँहारे॥
सारथि जूझि गिरे मैदाना। अभिमनु बीर चित्त अनुमाना॥
यहि अंतर सेना सब धाई। मारु मारु कै मारन आई॥
रथ को खेंचि कुँवर कर लीन्हे। ताते मार भयानक कीन्हे॥
अभिमनु कोपि खंभ परिहारे। इक इक वाव बीर सब मारे॥
अर्जुनसुत इमि मार किय महाबीर परचंड।
रूप भयानक देखियत जिमि जम लीन्हे दंड॥

---

(३) बृंद—ये मेड़ता (जोधपुर) के रहनेवाले थे और कृष्णगढ़-नरेश महाराज राजसिंह के गुरु थे। संवत् १७६१ में ये शायद कृष्णगढ़-नरेश के साथ औरंगजेब की फौज़ में ढाके तक गए थे। इनके वंशधर अबतक

कृष्णगढ़ में वर्त्तमान हैं । इनकी "वृंदसतसई" (संवत् १७६१), जिसमें राजनीति के सात सौ दोहे हैं, बहुत प्रसिद्ध है। खोज में 'शृंगार शिक्षा' (सं० १७४८), और 'भाव पंचाशिका' नाम की दो रस-संबंधी पुस्तकें और मिली हैं पर इनकी ख्याति अधिकतर सूक्तिकार के रूप में ही है। वृंदसतसई के कुछ दोहे नीचे दिए जाते हैं—

भले बुरे सब एक सम जौ लौ बोलत नाहिं ।
जानि परत हैं काग पिक ऋतु वसंत के माहिं ॥
हितहू की कहिए न तेहि जो नर होय अबोध ।
ज्यों नकटे को आरसी होत दिखाए क्रोध ॥

(४) छत्रसिंह कायस्थ— ये बटेश्वर क्षेत्र के अटेर नामक गाँव के रहनेवाले श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनके आश्रयदाता अमरावती के कोई कल्याणसिंह थे। इन्होंने 'विजयमुक्तावली' नाम की पुस्तक संवत् १७५७ में लिखी जिसमें महाभारत की कथा एक स्वतंत्र प्रबंध-काव्य के रूप में कई छंदों में वर्णित है। पुस्तक में काव्य के गुण यथेष्ट परिमाण में हैं और कहीं कहीं की कविता बड़ी ही ओजस्विनी है। कुछ उदाहरण लीजिए—

निरखत ही अभिमन्यु को विदुर डुलायो सीस ।
रच्छा बालक की करौ ह्वै कृपाल जगदीस ॥
आपुन काँधो युद्ध नहिं, धनुष दियो भुव डारि ।
पापी बैठे गेह कत पांडुपुत्र तुम चारि ॥
पौरुष तजि, लज्जा तजी, तजी सकल कुलकानि ।
बालक रनहिं पठाय कै, आपु रहे सुख मानि ॥

कवच कुंडल इंद्र लीने, बाण कुंती लै गई ।
भई बैरिनि मेदिनी, चित कर्ण के चिंता भई ॥

(५) बैताल--ये जाति के बंदीजन थे और राजा विक्रमसाहि की सभा में रहते थे। यदि ये विक्रमसाहि चरखारीवाले प्रसिद्ध विक्रमसाहि ही हैं जिन्होंने 'विक्रम-सतसई' आदि कई ग्रंथ लिखे हैं और जो खुमान, प्रताप आदि कई कवियों के आश्रयदाता थे, तो बैताल का समय संवत् १८३९ और १८८६ के बीच मानना पड़ेगा। पर शिवसिंहसरोज में इनका जन्मकाल संवत् १७३४ लिखा हुआ है। बैताल ने गिरिधरराय के समान नीति की कुंडलियों की रचना की है और प्रत्येक कुंडलिया विक्रम को संबोधन करके कही है। इन्होंने लौकिक व्यवहार संबंधी अनेक विषयों पर सीधे सादे पर जोरदार पद्य कहे हैं। गिरिधरराय के समान इन्होंने भी वाक्चातुर्य्य या उपमारूपक आदि लाने का प्रयत्न नहीं किया है। बिल्कुल सीधी सादी बात ज्यों की त्यों छंदोबद्ध कर दी गई है। फिर भी कथन के ढंग में अनूठापन है। एक कुंडलिया नीचे दी जाती है—

मरै बैल गरियार, मरै वह अड़ियल टट्टू ।
मरै करकसा नारि, मरै वह खसम निखट्टू ॥
बाम्हन सो मरिजाय हाथ लै मदिरा प्यावै ।
पूत वही मरि जाय जो कुल में दाग लगावै ॥
अरु बेनियाव राजा मरै, तबै नींद भर सोइए ।
बैताल कहै विक्रम सुनौ, एते मरे न रोइए ॥

(६) आलम—ये जाति के ब्राह्मण थे पर शेख नाम की रँगरेजिन के प्रेम में फँस कर पीछे से ये मुसलमान हो गए और उसके साथ विवाह करके रहने लगे। आलम को शेख से जहान नामक एक पुत्र भी हुआ। ये औरंगज़ेब के दूसरे बेटे मुअज़्ज़म के आश्रय में रहते थे जो संवत् १७६३ में जाजऊ की लड़ाई में मारे गए थे। अतः आलम का कविताकाल संवत् १७४० से संवत् १७६० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक संग्रह 'आलमकेलि' के नाम से प्रसिद्ध है। इस पुस्तक में आए पद्यों के अतिरिक्त इनके और बहुत से सुंदर और उत्कृष्ट पद्य ग्रंथों में संगृहीत मिलते हैं और लोगों के मुँह से सुने जाते हैं। "माधवानल कामकंदला" नाम की प्रेमकहानी भी इन्होंने पद्य में लिखी है। पर इनकी प्रसिद्धि प्रेम और शृंगारसंबंधिनी फुटकल कविताओं के कारण ही है।

शेख रँगरेजिन भी अच्छी कविता करती थी। आलम के साथ प्रेम होने की विचित्र कथा प्रसिद्ध है। कहते हैं कि आलम ने एक बार उसे पगड़ी रँगने को दी जिसकी खूँट में भूल से काग़ज का एक चिट बँधा चला गया। उस चिट में दोहे की यह आधी पँक्ति लिखी थी "कनक छरी सी कामिनी काहे को कटि छीन"। शेख ने दोहा इस

तरह पूरा करके "कटि को कंचन काटि बिधि कुचन मध्य धरि दीन" उस चिट को फिर ज्यों का त्यों पगड़ी की खूँट में बाँध कर लौटा दिया। उसी दिन से आलम शेख के पूरे प्रेमी हो गए और अंत में उसके साथ विवाह कर लिया। शेख़ बहुत ही चतुर और हाजिर जवाब स्त्री थी। एक बार शाहजादा मुअज्ज़म ने हँसी से शेख से पूछा—"क्या आलम की औरत आपही हैं?" शेख ने चट उत्तर दिया कि "हाँ, जहाँपनाह! जहान की माँ मैं ही हूँ।" "आलमकेलि" में बहुत से कवित्त शेख के रचे हुए हैं। आलम के कवित्त-सवैयों में भी बहुत सी रचना शेख की मानी जाती है। जैसे, नीचे लिखे कवित्त में चौथा चरण शेख का बनाया कहा जाता है—

प्रेमरंग-पगे जगमगे जगे जामिनि के,
जोबन की जोति जगि जोर उमगत हैं।
मदन के माते मतवारे ऐसे घूमत हैं,
झूमत हैं झुकि झुकि झँपि उघरत है॥
आलम सो नवल निकाई इन नैनन की,
पाखुरी-पदुम पै भँवर थिरकत है।
चाहत हैं उड़िबे को, देखत मयंक-मुख,
जानत हैं रैनि तातें ताहि में रहत है॥

आलम रीतिबद्ध रचना करनेवाले कवि नहीं थे। ये प्रेमोन्मत्त कवि थे और अपनी तरंग के अनुसार रचना करते थे। इसी से इनकी रचनाओं में हृदय-तत्त्व की प्रधानता है। "प्रेम की पीर" या "इश्क का दर्द" इनके एक एक वाक्य में भरा पाया जाता है। उत्प्रेक्षाएँ भी इन्होंने बड़ी अनूठी और बहुत अधिक कही हैं। शब्दवैचित्र्य, अनुप्रास आदि की प्रवृत्ति इनमें विशेष रूप से कहीं नहीं पाई जाती। शृंगाररस की ऐसी उन्माद-मयी उक्तियाँ इनकी रचना में मिलती हैं कि पढ़ने और सुननेवाले लीन हो जाते हैं। यह तन्मयता सच्ची उमंग में ही संभव है। रेखता या उर्दू भाषा में भी इन्होंने कवित्त कहे हैं। भाषा भी इस कवि की परिमार्जित और सुव्यवस्थित है पर उसमें कहीं कहीं "कीन', 'दीन', 'जौन" आदि अवधी या पूरबी हिंदी के प्रयोग भी मिलते हैं। कहीं कहीं फारसी की शैली के रसबाधक भाव भी इनमें मिलते हैं। प्रेम की तन्मयता की दृष्टि से आलम की गणना 'रसखान' और 'घनानंद' की कोटि में होनी चाहिए। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं:—

जा थल कीने बिहार अनेकन ता थल काँकरी बैठि चुन्यो करैं।
जा रसना सों करी बहु बातन ता रसना सों चरित्र गुन्यो करैं॥
आलम जौन से कुंजन में करी केलि तहाँ अब सीस धुन्यो करैं।
नैनन में जे सदा रहते तिनकी अब कान कहानी सुन्यो करैं॥

कैधौं मोर सोर तजि गए री अनत भाजि,
कैधौं उत दादुर न बोलत हैं, ए दई।
कैधौं पिक चातक महीप काहू मारि डारे,
कैधौं बगपांति उत अंतगति ह्वै गई॥
आलम कहै, हो आली! अजहूँ न आए प्यारे,
कैधौं उत रीति विपरीत विधि ने ठई।
मदन महीप की दुहाई फिरिबे तें रही,
जूझि गए मेघ, कैधौं बीजुरी सती भई?॥

रात के उनींदे, अरसाते, मदमाते राते,
अति कजरारे दृग तेरे यों सुहात हैं।
तीखी तीखी कोरनि करोरि लेत काढ़े जीउ,
केते भए घायल औ केते तलफात हैं॥
ज्यों ज्यों लै सलिल चख 'सेख' धोवै, बार बार
त्यों त्यो बल बुंदन के बार झुकि जात हैं।
कैबर के भाले, कैधौं नाहर नहनवाले,
लोहू के पियासे कहूँ पानी तें अघात हैं॥

दाने की न पानी की, न आवै सुध खाने की,
यैं गली महबूब की अराम खुसखाना है।
रोज ही से है जो राजी यार की रजाय बीच,
नाज की नजर तेज तीर का निशाना है॥
सूरत चिराग रोशनाई आशनाई बीच,
बार बार बरै बलि जैसे परवाना है।
दिल से दिलासा दीजै, हाल के न ख्याल हूजै
बेखुद फकीर वह आशिक दिवाना है॥

(७) गुरु गोविंद सिंहजी-ये सिक्खों के महापराक्रमी दसवें या अंतिम गुरु थे। इनका जन्म सं० १७२३ में और सत्यलोक वास संवत् १७६५ में हुआ। यद्यपि सब गुरुओं ने थोड़े बहुत पद भजन आदि बनाए हैं पर ये महाराज काव्य के अच्छे ज्ञाता और ग्रंथकार थे। सिक्खों में शास्त्र ज्ञान का अभाव इन्हें बहुत खटका था और इन्होंने बहुत से सिक्खों को व्याकरण, साहित्य, दर्शन आदि के अध्ययन के लिये काशी भेजा था। ये हिंदूभावों और आर्य संस्कृति की रक्षा के लिये बराबर युद्ध करते रहे। 'तिलक' और 'जनेऊ' की रक्षा में इनकी तलवार सदा खुली रहती थी। यद्यपि सिक्ख-संप्रदाय की निर्गुण उपासना है पर सगुण स्वरूप के प्रति इन्होंने पूरी आस्था प्रकट की है और देव-कथाओं की चर्चा बड़े भक्तिभाव से की है। यह बात प्रसिद्ध है कि ये शक्ति के आराधक थे। इनके इस पूर्ण हिंदू-भाव को देखते यह बात समझ में नहीं आती कि वर्त्तमान समय में सिक्खों की एक शाखा विशेष के भीतर पैगंबरी मजहबों का कट्टरपन कहाँ से और किसकी प्रेरणा से आ घुसा है।

इन्होंने हिंदी में कई अच्छे और साहित्यिक ग्रंथों की रचना की है जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—सुनीति प्रकाश, सर्वलोह प्रकाश, प्रेमसुमार्ग, बुद्धिसागर, और चंडीचरित्र। चंडीचरित्र की रचना-पद्धति बड़ी ही ओजस्विनी है। ये प्रौढ़ साहित्यिक ब्रजभाषा लिखते थे। चंडीचरित्र में दुर्गासप्तशती की कथा बड़ी सुंदर कविता में कही गई है। इनकी रचना के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं—

निर्जर निरूप हौ कि सुंदर सरूप हौ,
कि भूपन के भूप हौ कि दानी महादान हौ?
प्रान के बचैया, दूध पूत के देवैया,
रोग सोग के मिटैया किधौं मानी महामान हौ?
बिद्या के विचार हौ, कि अद्वैत अवतार हौ,
कि सुद्धता की मूर्त्ति हौ कि सिद्धता की सान हौ?
जोबन के जाल हौ कि कालहू के काल हौ,
कि सत्रुन के साल हौ कि मित्रन के प्रान हौ?

———

(८) श्रीधर या मुरलीधर—ये प्रयाग के रहने वाले थे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखी और बहुत सी फुटकल कविता बनाई है। संगीत की पुस्तक, नायिका-भेद, जैन मुनियों के चरित्र, कृष्णलीला के फुटकल पद्य, चित्रकाव्य इत्यादि के अतिरिक्त इन्होंने 'जंगनामा' नामक एक ऐतिहासिक प्रबंध-काव्य लिखा जिसमें फर्रुखसियर और जहाँदारशाह के युद्ध का वर्णन है। यह ग्रंथ काशीनागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इस छोटी सी पुस्तक में सेना की चढ़ाई, साज सामान आदि का कवित्त-सवैयों में अच्छा वर्णन है। इनका कविताकाल सं० १७६७ के आस पास माना जा सकता है। 'जंगनामा' का एक कवित्त नीचे दिया जाता है—

इत गल गाजि चल्यो फर्रुखसियर साह,
उत मौजदीन करी भारी भट भरती।
तोप की डकारनि सो, बीर हहकारनि सों,
धौंसे की धुकारनि धमकि उठी धरती॥
श्रीधर नवाब फरजंदखाँ सुजंग जुरे,
जोगिनी अघाई जुग जुगन की बरती।
हहस्यौ हरौल, भीर गोल पै परी ही,
तू न करतो हरौली तौ हरौलै भीर परती॥

(९) लाल कवि—इनका नाम गोरेलाल पुरोहित था, और ये मऊ (बुंदेलखंड) के रहनेवाले थे। इन्होंने प्रसिद्ध महाराज छत्रसाल की आज्ञा से उनका जीवन-चरित दोहों चौपाइयों में बड़े ब्योरे के साथ वर्णन किया है। इस पुस्तक में छत्रसाल का संवत् १७६४ तक का ही वृत्तांत आया है इससे अनुमान होता है कि या तो यह ग्रंथ अधूरा ही मिला है अथवा लालकवि का परलोकवास छत्रसाल के पूर्व हो गया था। जो कुछ हो, इतिहास की दृष्टि से "छत्रप्रकाश" बड़े महत्त्व की पुस्तक है। इसमें सब घटनाएँ सच्ची और सब ब्योरे ठीक ठीक दिए गए हैं। इसमें वर्णित घटनाएँ और संवत् आदि ऐतिहासिक खोज के अनुसार बिलकुल ठीक हैं, यहाँ तक कि जिस युद्ध में छत्रसाल को भागना पड़ा है उसका भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। यह ग्रंथ नागरी-प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित हो चुका है।

ग्रंथ की रचना प्रौढ़ और काव्यगुण-युक्त है। वर्णन की विशदता के अतिरिक्त स्थान स्थान पर ओजस्वी भाषण हैं। लालकवि में प्रबंधपटुता पूरी थी। संबंध का निर्वाह भी अच्छा है और वर्णन-विस्तार के लिये मार्मिक स्थलों का चुनाव भी। वस्तु-परिगणन द्वारा वर्णनों का अरुचिकर विस्तार बहुत ही कम मिलता है। सारांश यह कि लाल कवि का सा प्रबंध कौशल हिंदी के कुछ इने गिने कवियों में ही पाया जाता है। शब्दवैचित्र्य और चमत्कार के फेर में इन्होंने कृत्रिमता कहीं से नहीं आने दी है। भावों का उत्कर्ष जहाँ दिखाना हुआ है वहाँ भी कवि ने सीधी और स्वाभाविक उक्तियों का ही समावेश किया है, न तो कल्पना की उड़ान दिखाई है और न ऊहा की जटिलता। देश की दशा की ओर भी कवि का पूरा ध्यान जान पड़ता है। शिवाजी का जो वीरव्रत था वही छत्रसाल का भी था। छत्रसाल का जो भक्तिभाव शिवाजी पर कवि ने दिखाया है तथा दोनों के सम्मिलन का जो दृश्य खींचा है दोनों इस संबंध में ध्यान देने योग्य हैं।

"छत्रप्रकाश" में लाल कवि ने बुँदेल-वंश की उत्पत्ति, चंपतराय के विजय-वृत्तांत, उनके उद्योग और पराक्रम, चंपतराय के अंतिम दिनों में उनके राज्य का मोगलों के हाथ में जाना, छत्रसाल का थोड़ी सी सेना लेकर अपने राज्य का उद्धार, फिर क्रमशः विजय पर विजय प्राप्त करते हुए मोगलों का नाकोंदम करना इत्यादि बातों का विस्तार से वर्णन किया है। काव्य और इतिहास दोनों की दृष्टि से यह ग्रंथ हिंदी में अपने ढंग का अनूठा है। लालकवि का एक और ग्रंथ 'विष्णु-विलास' है जिसमें बरवै छंद में नायिकाभेद कहा गया है। पर इस कवि की कीर्त्ति का स्तंभ 'छत्रप्रकाश' ही है।

'छत्र प्रकाश' से नीचे कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

(छत्रसाल प्रशंसा)

लखत पुरुष लच्छन सब जानै। पच्छी बोलत सगुन बखानै॥
सतकवि कवित सुनत रस पागै। बिलसति मति अरथन में आगै॥
रुचि सों लखत तुरंग जो नीके। बिहँसि लेत मोजरा सब ही के॥
चौंकि चौंकि सब दिसि उठैं सूबा खान खुमान।
अबधौं धावै कौन पर छत्रसाल बलवान॥

(युद्ध-वर्णन)

छत्रसाल हाड़ा तहँ आयो। अरुन रंग आनन छबि छायो॥
भयो हरौल बजाय नगारो। सार धार को पहिरनहारो॥
दौरि देस मुगलन के मारौ। दपटि दिली के दल संहारौ॥
ऐंड़ एक सिवराज निबाही। करै आपने चित की चाही॥
आठ पातसाही झकझोरे। सूबनि पकरि दंड लै छोरे॥
काटि कटक किरवान बल, बाँटि जंबुकनि देहु।
ठाटि युद्ध यहि रीति सों, बाँटि धरनि धरि लेहु॥
चहूँ ओर सों सूबनि घेरो। दिसनि अलातचक्र सो फेरो॥
पजरे सहर साहि के बाँके। धूम धूम मे दिनकर ढाँके॥
कबहूँ प्रगटि जुद्ध में हाँकै। मुगलनि मारि पुहुमि-तल ढाँकै॥
बानन बरखि गयंदनि फोरै। तुरकन तमकि तेग तर तोरै॥
कबहूँ उमड़ि अचानक आवै। घन सम घुमड़ि लोह बरसावै॥
कबहूँ हाँकि हरौलन कूटै। कबहूँ चाँपि चँदालनि लूटै॥
कबहूँ देस दौरि कै लावै। रसद कहूँ की कढ़न न पावै॥

(१०) **घन आनंद**—ये साक्षात् रसमूर्ति और व्रजभाषा काव्य के प्रधान स्तंभों में हैं। इनका जन्म संवत् १७४६ के लगभग हुआ था और ये संवत् १७९६ में नादिरशाही में मारे गए। ये जाति के कायस्थ और दिल्ली के बादशाह मुहम्मदशाह के मीरमुंशी थे। कहते हैं कि एक दिन दरबार में कुछ कुचक्रियों ने बादशाह से कहा कि मीरमुंशी साहब गाते बहुत अच्छा हैं। बादशाह से इन्होंने बहुत टालमटोल किया। इस पर लोगों ने कहा कि ये इस तरह न गाएँगे, यदि इनकी प्रेमिका सुजान नाम की वेश्या कहे तब गाएँगे। वेश्या बुलाई गई। इन्होंने उसकी ओर मुहँ और बादशाह की ओर पीठ करके ऐसा गाना गाया कि सब लोग तन्मय हो गए। बादशाह इनके गाने पर जितना खुश हुआ उतना ही बे-अदबी पर नाराज़। उसने इन्हें शहर से निकाल दिया। जब ये चलने लगे तब सुजान से भी साथ चलने को कहा पर वह न गई। इस पर इन्हें विराग उत्पन्न हो गया और ये वृंदावन जाकर निंबार्क-संप्रदाय के वैष्णव हो गए और वहीं पूर्ण विरक्त भाव से रहने लगे। वृंदावन-भूमि का प्रेम इनके इस कवित्त से झलकता है।—

गुरनि बतायो, राधा मोहन हू गायो,
सदा सुखद सुहायो वृंदाबन गाढ़े गहि रे।
अद्भुत अभूत महिमंडन, परे तें परे,
जीवन को लाहु हा हा क्यों न ताहि लहि रे॥
आनँद को घन छायो रहत निरंतर ही,
सरस सुदेय सो पपीहापन बहि रे।
जमुना के तीर केलि कोलाहल भीर ऐसी,
पावन पुलिन पै पतित परि रहि रे॥

संवत् १७९६ में जब नादिरशाह की सेना के सिपाही मथुरा तक आ पहुँचे तब कुछ लोगों ने उनसे कह दिया कि वृंदावन में बादशाह का मीरमुंशी रहता है उसके पास बहुत कुछ माल होगा। सिपाहियों ने इन्हें आ घेरा और 'ज़र ज़र ज़र' (अर्थात् धन, धन, धन, लाओ) चिल्लान लगे। घन आनंद जी ने शब्द को उलट कर 'रज' 'रज' 'रज कह कर तीन मुट्ठी वृंदाबन की धूल उन पर फेंक दी। उनके पास सिवा इसके और था ही क्या? सैनिकों ने क्रोध में आकर इनका हाथ काट डाला। कहते हैं कि मरते समय इन्होंने अपने रक्त से यह कवित्त लिखा था—

बहुत दिनान की अवधि आसपास परे,
खरे अरबरनि भरे है उठि जान को।
कहि कहि आवत छबीले मनभावन को,
गहि गहि राखति ही दै दै सनमान को॥
झूठी बतियानि की पत्यानि तें उदास ह्वैकै,
अब ना घिरत घनआनंद निदान को।
अधर लगे हैं आनि, करि कै पयान प्रान,
चाहत चलन ये सँदेसो लै सुजान को॥

घनआनंद जी के इतने ग्रंथों का पता लगता है— सुजानसागर, विरहलीला, कोकसागर, रसकेलिवल्ली, और कृपाकांड। इसके अतिरिक्त इनके कवित्त सवैयों के फुटकर संग्रह डेढ़ सौ से लेकर सवा चार सौ कवित्तों तक के मिलते हैं। कृष्णभक्ति-संबंधी इनका एक बहुत बड़ा ग्रंथ छत्रपुर के राज-पुस्तकालय में है जिसमें प्रिया-प्रसाद, व्रजव्यवहार, वियोगबेली, कृपाकंद निबंध, गिरि-गाथा, भावना प्रकाश, गोकुलविनोद, धाम-चमत्कार, कृष्णकौमुदी, नाममाधुरी, वृंदावनमुद्रा, प्रेमपत्रिका, रसबसंत इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। इनकी 'विरह लीला' व्रजभाषा में होते हुए भी फारसी के छंद में है।

इनकी सी विशुद्ध और सरस व्रजभाषा लिखने में और कोई कवि समर्थ नहीं हुआ। विशुद्ध व्रजभाषा इनकी और रसखान ही की है। सूर और विहारी की भाषा में भी पूरबी शब्द और प्रयोग मिलते हैं। विशुद्धता के साथ प्रौढ़ता और माधुर्य्य भी अपूर्व ही है। विप्रलंभ शृंगार ही अधिकतर इन्होंने लिया है। ये वियोग-शृंगार के प्रधान मुक्तक कवि हैं। "प्रेम की पीर" ही लेकर इनकी वाणी का प्रादुर्भाव हुआ। इनके भावों में स्वाभाविक मृदुता और कोमलता है; उद्वेग और भड़क नहीं। इनका विरह प्रशांत समीर के रूप में है; अंधड़ और तूफान के रूप में नहीं। यही इनकी विरह-वेदना की विशेषता है। यही इनके गूढ़ और गंभीर प्रेम का लक्षण है। सच्चे गंभीर भावुक होने के कारण इन्होंने विहारी आदि के समान विरह-ताप की अत्युक्ति का खेलवाड़ कहीं नहीं किया है। प्रेममार्ग का ऐसा प्रवीण और धीर पथिक तथा जबादानी का ऐसा दावा रखनेवाला व्रजभाषा का दूसरा कवि नहीं हुआ। अतः अपने संबंध में इनकी निम्नलिखित उक्ति गर्वोक्ति नहीं, साधारण सूचना मात्र है।

नेही महा, व्रजभाषा-प्रवीन औ सुंदरताहु के भेद को जानै।
योग वियोग की रीति में कोविद, भावना-भेद स्वरूप को ठानै॥
चाह के रंग में भीज्यो हियो, बिछुरे मिले प्रीतम सांति न मानै।
भाषा-प्रवीन, सुछंद सदा रहै सो घन जू के कवित्त बखानै॥

इन्होंने अपनी कविताओं में बराबर 'सुजान' को संबोधन किया है जो शृंगार में नायक के लिये और भक्तिभाव में कृष्ण भगवान् के लिये प्रयुक्त मानना चाहिए। कहते हैं कि इन्हें अपनी पूर्व प्रेयसी 'सुजान' का नाम इतना प्रिय था कि विरक्त होने पर भी इन्होंने उसे नहीं छोड़ा। इनकी कुछ कविताएँ नीचे उद्धृत की जाती हैं—

परकारज देह को धारे फिरौ, परजन्य! यथारथ ह्वै दरसौ।
निधिनीर सुधा के समान करौ सबही विधि सज्जनता सरसौ॥
घनआनँद जीवनदायक हौ कबौं मेरिऔ पीर हिये परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवान को लै बरसौ॥

अति सूधो सनेह को मारग है, जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ, झिझकैं कपटी जो निसाँक नहीं॥
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ, इत एक तें दूसरो आँक नहीं॥
तुम कौन सी पाटी पढ़े हौ लला, मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

पहिले अपनाय सुजान सनेह सों क्यों फिर नेह को तोरिए जू?
निरधार अधार दै धार मझार, दई गहि बाहँ न बोरिए जू॥
घनआनँद आपने चातक को गुन बाँधि कै मोह न छोरिए जू।
रस प्याय कै ज्याय बढ़ाय कै आस बिसास में क्यों विष घोरिए जू?॥

तब तौ दुरि दूरहि ते मुसकाय बचाय के और की दीठि हँसे।
दरसाय मनोज की मूरति ऐसी, रचाय कै नैनन में सरसे॥
अब तौ उर माहिं बसाय कै मारत, ए जू बिसासी! कहाँ धौं बसे?
कछु नेह निबाहि न जानत हे तौ सनेह की धार में काहे धँसे?

एरे बीर पौन! तेरो सबै ओर गौन, वारि
तोसों और कौन? मनै ढरकौहीं बानि दै।
जगत के प्रान ओछे बड़े तौ समान, घन
आनँद-निधान सुखदान दुखियानि दै॥
जान उजियारे गुनभारे अंत मोहि प्यारे
अब ह्वै अमोही बैठे पीठि पहिचानि दै।
बिरह-बिथा की मूरि आँखिन में राखौं पूरि,
धूरि तिन्ह पायँन की हा हा नेकु आनि दै॥

('विरहलीला' से)

सलोने श्याम प्यारे क्यों न आवौ। दरस प्यासी मरैं तिनकौं जिवावौ
कहाँ हौ जू, कहाँ हौ जू कहाँ हौ। लगे ये प्रान तुम सों हैं जहाँ हौ॥
रहौ किन प्रानप्यारे नैन आगैं। तिहारे कारनै दिनरात जागैं॥
सजन! हित मान कै ऐसी न कीजै। भई हैं बावरी सुध आय लीजै॥

(११) रसनिधि—इनका नाम पृथ्वी सिंह था और ये दतिया के एक जमींदार थे। इनका संवत् १७१७ तक वर्त्तमान रहना पाया जाता है। ये अच्छे कवि थे। इन्होंने बिहारी-सतसई के अनुकरण पर "रतन हजारा" नामक दोहों का एक ग्रंथ बनाया। कहीं कहीं तो इन्होंने बिहारी के वाक्य तक रख लिए हैं। इसके अतिरिक्त इन्होंने और भी बहुत से दोहे बनाए जिनका संग्रह बाबू जगन्नाथ प्रसाद (छत्रपुर) ने किया है। "अरिल्ल और माँझो" का संग्रह भी खोज में मिला है। ये शृंगार रस के कवि थे। अपने दोहों में इन्होंने फारसी कविता के भाव भरने और चतुराई दिखाने का बहुत कुछ प्रयत्न किया है। फारसी की आशिकी कविता के शब्द भी इन्होंने इस परिमाण में कहीं कहीं रखे हैं कि सुरुचि और साहित्यिक शिष्टता को आघात पहुँचता है। पर जिस ढंग की कविता इन्होंने की है उसमें इन्हें सफलता हुई है। कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

अद्भुत गति यहि प्रेम की बैनन कही न जाय।
दरस-भूख लागै दृगन, भूखहि देत भगाय॥
लेहु न मजनूँ गोर ढिग कोऊ लैला नाम।
दरदवंत को नेकु तौ लेन देहु बिसराम॥

चतुर चितेरे तुव सबी लिखत न हिय ठहराय।
कलम छुवत कर आँगुरी कटी कटाछन जाय॥
मनगयंद छविमद-छके तोरि जंजीर भगात।
हिय के झीने तार सों सहजै ही बँधि जात॥

(१२) महाराज विश्वनाथ सिंह—ये रीवाँ के बड़े ही विद्या-रसिक और भक्त नरेश तथा प्रसिद्ध कवि महाराज रघुराज सिंह के पिता थे। आप संवत् १७७८ से लेकर १७९७ तक रीवाँ की गद्दी पर रहे। ये जैसे भक्त थे वैसे ही विद्या-व्यसनी तथा कवियों और विद्वानों के आश्रयदाता थे। काव्य-रचना में भी ये सिद्धहस्त थे। यह ठीक है कि इनके नाम से प्रख्यात बहुत से ग्रंथ दूसरे कवियों के रचे हैं पर इनकी रचनाएँ भी कम नहीं हैं। नीचे इनकी बनाई पुस्तकों के नाम दिए जाते हैं जिनसे विदित होगा कि कितने विषयों पर इन्होंने लिखा है—

(१) अष्टयाम आह्निक (२) आनंद रघुनंदन नाटक (३) उत्तम काव्य प्रकाश (४) गीता रघुनंदन शतिका (५) रामायण (६) गीता रघुनंदन प्रमाणिक (७) सर्व संग्रह (८) कबीर बीजक की टीका (९) विनय पत्रिका की टीका (१०) रामचंद्र की सवारी (११) भजन (१२) पदार्थ (१३) धनुर्विद्या (१४) आनंद रामायण (१५) परधर्म निर्णय (१६) शांति शतक (१७) वेदांत पंचक

शतिका (१८) गीतावली पूर्वार्द्ध (१६) ध्रुवाष्टक (२०) उत्तम नीतिचंद्रिका (२१) अबोधनीति (२२) पाखंड खंडिनी (२३) आदिमंगल (२४) वसंत चौंतीसी (२५) चौरासी रमैनी (२६) ककहरा (२७) शब्द (२८) विश्व-भोजन प्रसाद (२६) ध्यान मंजरी (३०) विश्वनाथ प्रकाश (३१) परमतत्त्व (३२) संगीत रघुनंदन इत्यादि।

यद्यपि वे रामोपासक थे पर कुलपरंपरा के अनुसार निर्गुण संत मत की बानी का भी आदर करते थे। कबीर दास के शिष्य धर्मदास का बाँधव नरेश के यहाँ जाकर उपदेश सुनाना परंपरा से प्रसिद्ध है। 'ककहरा', 'शब्द', 'रमैनी', आदि उसी प्रभाव के द्योतक हैं। पर इनकी साहित्यिक रचना प्रधानतः रामचरित संबंधिनी है। 'व्रजभाषा' में नाटक पहले पहल इन्हीं ने लिखा। इस दृष्टि से इनका "आनंद रघुनंदन नाटक" विशेष महत्त्व की वस्तु है। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने इसे हिंदी का प्रथम नाटक माना है। यद्यपि इसमें पद्यों की प्रचुरता है पर संवाद सब व्रजभाषा गद्य में हैं। अंक-विधान और पात्र-विधान भी है। हिंदी के प्रथम नाटककार के रूप में ये चिर-स्मरणीय हैं।

इनकी कविता अधिकतर या तो वर्णनात्मक है अथवा उपदेशात्मक। भाषा स्पष्ट और परिमार्जित है। इनकी रचना के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

भाइन भृत्यन विष्णु सो, रैयत भानु सो, सत्रुन काल सो भावै।
सत्रु बली सो बचै करि बुद्धि औ अस्त्र सों धर्म की रीति चलावै॥
जीतन को करै केते उपाय औ दीरघ दृष्टि सबै फल पावै।
भाखत है बिसुनाथ ध्रुवै नृप सो कबहूँ नहिं राज गँवावै॥

बाजि गज सोर रथ सुतुर कतार जेते,
प्यादे ऐड़वारे जे सबीह सरदार के।
कुँवर छबीले जे रसीले रजिबंस वारे,
सूर अनियारे अति प्यारे सरकार के॥
केते जातिवारे, केते केते देसवारे,
जीव स्वान सिंह आदि सैलवारे जे सिकार के।
डंका की धुकार ह्वै सवार सबै एक बार,
राजै वार पार कार कोसल कुमार के॥

उठो कुवर दोउ प्रान पियारे॥ टेक॥
हिमरितु प्रात पाय सब मिटिगे नभसर पसरे फुहकर तारे॥
जगवन महं निकस्यो हरषित हिय बिचरन हेत दिवस मनियारो।
विश्वनाथ यह कौतुक निरखहु रविमनि दसहु दिसिनि उजियारो॥

करि जो कर में कयलास लियो कसके अब नाक सिंकोरत है।
दइ तालन बीस भुजा झहराय झुके धनु को झकझोरत है॥
तिल एक हलै न हलै पुहुमी रिसि पीसि कै दाँतन तोरत है।
मन में यह ठीक भयो हमरे मद काको महेस न मोरत है॥

(१३) भक्तवर नागरीदास जी—यद्यपि इस नाम के कई भक्त कवि व्रज में हो गए पर उनमें सब से प्रसिद्ध कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावंत सिंह जी हैं जिनका जन्म पौष कृष्ण १२ संवत् १७५६ में हुआ था। ये बाल्यावस्था से ही बड़े शूर वीर थे, १३ वर्ष की अवस्था में इन्होंने बूँदी के हाड़ा जैतसिंह को मारा था। संवत् १८०४ में ये दिल्ली के शाही दरबार में थे। इसी बीच में इनके पिता महाराज राजसिंह का देहांत हुआ। बादशाह अहमदशाह ने इन्हें दिल्ली में ही कृष्णगढ़ राज्य का उत्तराधिकार दिया। पर जब ये कृष्णगढ़ पहुँचे तब राज्य पर अपने भाई बहादुर सिंह का अधिकार पाया जो जोधपुर की सहायता से सिंहासन पर अधिकार कर बैठे थे। ये व्रज की ओर लौट आए और मरहठों से सहायता लेकर अपने राज्य पर अधिकार किया। पर इस गृह कलह से इन्हें कुछ ऐसी विरक्ति हो गई कि ये सब छोड़ छाड़ कर बृंदावन चले गए और वहाँ विरक्त भक्त के रूप में रहने लगे। अपनी उस समय की चित्त वृत्ति का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

जहाँ कलह तहँ सुख नहीं कलह सुखन को सूल।
सबै कलह इक राज में राज कलह को मूल॥
कहा भयो नृप हू भए ढोवत जग बेगार।
लेत न सुख हरि भक्ति को सकल सुखन को सार॥
मैं अपने मन मूढ़ तें डरत रहत हौं हाय।
बृंदावन की ओर तें मति कबहूँ फिरि जाय॥

बृंदावन पहुँचने पर वहाँ के भक्तों ने इनका बड़ा आदर किया। ये लिखते हैं कि पहले तो "कृष्णगढ़ के

राजा" यह व्यवहारिक नाम सुनकर वे कुछ उदासीन से रहे पर जब उन्होंने मेरे 'नागरीदास' ('नागरी' शब्द श्रीराधा के लिये आता है) नाम को सुना तब तो उन्होंने उठकर दोनों भुजाओं से मेरा आलिंगन किया—

सुनि व्यवहारिक नाम को ठाढ़े दूरि उदास।
दौरि मिले भरि नैन सुनि नाम नागरीदास॥
इक मिलत भुजन भरि दौर दौर। इक टेरि बुलावत और और॥

वृंदावन में ये वल्लभाचार्य्य जी की पाँचवीं पीढ़ी में थे। वृंदावन में इन्हें इतना प्रेम था कि एक बार ये वृंदावन के उस पार जा पहुँचे। रात को जब जमुना के किनारे लौटकर आए तब वहाँ कोई नाव बेड़ा न था। वृंदावन का वियोग इन्हें इतना असह्य हो गया कि ये जमुना में कूद पड़े और तैर कर वृंदावन आए। इस घटना का उल्लेख इन्होंने इस प्रकार किया है—

देख्यो श्रीवृंदा विपिन पार। बिच बहति महा गंभीर धार॥
नहिं नाव, नाहिं कछु और दाव। हे दई! कहा कीजै उपाव॥
रहे बार लगन की लगै लाज। गए पारहि पूरे सकल काज॥
यह चित्त माहिं करि कै विचार। परे कूदि कूदि जल मध्य धार॥

वृंदावन में इनके साथ इनकी उपपत्नी "बणीठणीजी" भी रहती थीं जो कविता भी करती थी।

ये भक्त कवियों में बहुत ही प्रचुर कृति छोड़ गए हैं। इनका कविता काल संवत् १७८० से १८१६ तक माना जा सकता है। इनका पहला ग्रंथ "मनोरथ मंजरी" संवत् १७८० में पूरा हुआ। इन्होंने संवत् १८१४ में आश्विन शुक्ल १० को राज्य पर अपने पुत्र सरदार सिंह जी को प्रतिष्ठित करके घरबार छोड़ा। इससे स्पष्ट है कि विरक्त होने के बहुत पहले ये कृष्ण भक्ति और ब्रज-लीला-संबंधिनी बहुत सी पुस्तकें लिख चुके थे। कृष्ण-गढ़ में इनकी लिखी छोटी बड़ी सब मिलाकर ७३ पुस्तकें संगृहीत हैं, जिनके नाम ये हैं—

सिंगारसार, गोपीप्रेम प्रकाश (सं० १८००), पद प्रसंगमाला, ब्रज वैकुंठ तुला, ब्रजसार (सं० १७९९), भोरलीला, प्रातरसमंजरी, विहार चंद्रिका (सं० १७८८), भोजनानंदाष्टक, जुगलरस माधुरी, फूल विलास, गोधन आगमन, दोहन आनंद लग्नाष्टक, फाग विलास, ग्रीष्म बिहार, पावस पचीसी, गोपीबैन-विलास, रासरसलता, नैनरूपरस, शीतसार, इश्कचमन, मजलिस-मंडन, अरिल्लाष्टक, सदा की माँझ, वर्षाऋतु की माँझ, होरी की माँझ, कृष्ण जन्मोत्सव कवित्त, प्रिया जन्मोत्सव कवित्त, साँझी के कवित्त, रास के कवित्त, चाँदनी के कवित्त, दिवारी के कवित्त, गोवर्द्धन धारन के कवित्त, होरी के कवित्त, फाग गोकुलाष्टक, हिंडोरा के कवित्त, वर्षा के कवित्त, भक्तिमगदीपिका (सं० १८०२), तीर्थानंद (१८१०) फाग बिहार (१८०८), बालविनोद (१८०६) सुजानानंद (१८१०), वन विनोद (१८०६), भक्तिसार (१७९९), देह दशा, वैराग्यवल्ली, रसिक रत्नावली (१७८२), कलि वैराग्य बल्लरी (१७९५), अरिल्लपचीसी, छूटक विधि, पारायण-विधि-प्रकाश (१७९९), शिखनख, नखशिख, छूटक कवित्त, चचरियाँ, रेखता, मनोरथ मंजरी (१७८०), रामचरित्र माला, पदप्रबोध माला, जुगल भक्ति विनोद (१८०८), रसानुक्रम के दोहे, शरद की माँझ, साँझी फूल बीनन संवाद, वसंत वर्णन, रसानुक्रम के कवित्त, फाग खेलन समेतानुक्रम के कवित्त, निकुंज विलास (१७९४), गोविंद परचई, वनजन प्रशंसा, छूटक दोहा, उत्सवमाला, पद-मुक्तावली।

इनके अतिरिक्त "वैनविलास" और "गुप्तरस प्रकाश" नाम की दो अप्राप्य पुस्तकें भी हैं। इस लंबी सूची को देखकर आश्चर्य्य करने के पहले पाठकों को यह जान लेना चाहिए कि ये नाम भिन्न भिन्न प्रसंगों या विषयों के कुछ पद्यों में बर्णन मात्र हैं, जिन्हें यदि एकत्र करें तो ५ या ७ अच्छे आकार की पुस्तकों में आ जायँगे। अतः ऊपर लिखे नामों को पुस्तकों के नाम न समझ कर वर्णन के शीर्षक मात्र समझना चाहिए। इनमें से बहुतों को पाँच पाँच, दस दस, पचीस पचीस पद्य मात्र समझिए। कृष्ण भक्त कवियों की अधिकांश रचनाएँ इसी ढंग की हैं। भक्ति काल के इतने अधिक कवियों की कृष्णलीला-संबंधिनी फुटकल उक्तियों से ऊबे हुए और केवल साहित्यिक दृष्टि रखनेवाले पाठकों को नागरी-दास जी की ये रचनाएँ अधिकाँश में पिष्टपेषण सी प्रतीत होंगी। पर वे भक्त थे और साहित्य रचना की

नवीनता आदि से कोई प्रयोजन नहीं रखते थे। फिर भी इनकी शैली और भावों में बहुत कुछ नवीनता और विशिष्टता है। कहीं कहीं बड़े सुंदर भावों की व्यंजना इन्होंने की है। कालगति के अनुसार फारसी काव्य का आशिकी रंग-ढंग भी कहीं कहीं इन्होंने दिखाया है। इन्होंने गाने के पदों के अतिरिक्त कवित्त, सवैया, अरिल्ल, रोला आदि कई छंदों का व्यवहार किया है। भाषा भी सरस और चलती है, विशेषतः पदों की। कवित्तों की भाषा में वह चलतापन नहीं है। कविता के नमूने नीचे देखिए—

(वैराग्य-सागर से)

काहे का रे नाना मत सुने तू पुरानन के,
तै ही कहा तेरी मूढ़, गूढ़ मति पंग की।
वेद को विवादनि को पावैगो न पार कहूँ,
छाँड़ि देहु आस सब दान न्हान गंग की॥
और सिद्धि सोधे अब नागर न सिद्ध कछू,
मानि लेहु मेरी कही वार्त्ता सुढंग की।
जाहु ब्रज भोरे कोरे मन को रँगाइ लै रे ?
वृंदावन-रेनु रची गौर स्याम रंग की॥

———

(अरिल्ल) अंतर कुटिल कठोर भरे अभिमान सों।
तिन के गृह नहिं रहैं संत सनमान सों॥
उनकी संगति भूलि न कबहूँ जाइए।
ब्रज नागर नँदलाल सु निसि दिन गाइए॥

———

(पद) जौ मेरे तन होते दोय,
मैं काहू तें कछु नहिं कहतो, मोतें कछु कहतो नहिं कोय॥
एक जो तन हरि-विमुखन के सँग रहतो देस विदेस।
विविध भाँति के जग दुख सुख जहँ, नहीं भक्ति लवलेस॥
एक जो तन सतसंग रंग रँगि रहतो अति सुख पूर।
जनम सफल करि लेतो ब्रज बसि जहँ ब्रजजीवन-मूर॥
द्वै तन बिन द्वै काज न ह्वैहैं, आयु तौ छिन छिन छीजै।
नागरिदास एक तन तें अब कहौ काह करि लीजै॥

———

(मनोरथ-मंजरी से)

चरन छिदत काँटेनि तें स्रवत रुधिर सुधि नाहिं।
पूछति हौं फिरि हौं भटू खग मृग तरु बन माहिं॥
कबै झुकत मो ओर को ऐहैं मदगज चाल।
गरबाहीं दीने दोऊ प्रिया नवल नँदलाल॥

———

(इश्क-चमन से)

सब मजहब सब इल्म अरु सबै ऐस के स्वाद।
अरे इश्क के असर बिनु ये सब ही बरबाद॥
आया इश्क लपेट में, लागी चश्म चपेट।
सोई आया खलक मे और भरैं सब पेट॥

———

(वर्षा के कवित्त से)

भादौं की कारी अँध्यारी निसा झुकि बादर मंद फुही बरसावै।
स्याम जू आपनी ऊँची अटा पै छकी रस रीति मलारहि गावै॥
ता समै मोहन के दृग दूरि तें आतुर रूप की भीख यों पावै।
पौन मया करि घूँघट टारै दया करि दामिनि दीप दिखावै॥

(१४) जोधराज— ये गौड़ ब्राह्मण बालकृष्ण के पुत्र थे। इन्होंने नीवगढ़ (वर्त्तमान नीमराणा-अलवर) के राजा चंद्रभान चौहान के अनुरोध से "हम्मीर रासो" नामक एक बड़ा प्रबंध काव्य संवत् १८७५ में लिखा जिसमें रणथंभौर के प्रसिद्ध वीर महाराज हम्मीर देव का चरित्र वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति पर वर्णन किया गया है। हम्मीर देव सम्राट् पृथ्वीराज के वंशज थे। उन्होंने दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन को कई बार परास्त किया था और अंत में अलाउद्दीन की चढ़ाई में ही वे मारे गए थे। इस दृष्टि से इस काव्य के नायक देश के प्रसिद्ध वीरों में हैं। जोधराज ने चंद आदि प्राचीन कवियों की पुरानी भाषा का भी यत्र तत्र अनुकरण किया है। जैसे जगह जगह 'हि' विभक्ति के प्राचीन रूप 'ह' का प्रयोग। 'हम्मीररासो' की कविता बड़ी ओजस्विनी है। घटनाओं का वर्णन ठीक ठीक और विस्तार के साथ हुआ है। काव्य का स्वरूप देने के लिये कवि ने कुछ घटनाओं की कल्पना भी की है। जैसे महिमा मंगोल का अपनी प्रेयसी वेश्या के साथ दिल्ली से भाग कर

हम्मीरदेव की शरण में आना और अलाउद्दीन का दोनों को माँगना। यह कल्पना राजनीतिक उद्देश्य हटा कर प्रेम-प्रसंग को युद्ध का कारण बताने के लिये प्राचीन कवियों की प्रथा के अनुसार की गई है। पीछे संवत् १९०२ में चंद्रशेखर वाजपेयी ने जो हम्मीरहठ लिखा उसमें भी यह घटना ज्यों की त्यों ले ली गई है। ग्वाल कवि के हम्मीरहठ में भी बहुत संभव है कि यह घटना ली गई होगी।

प्राचीन वीर काल के अंतिम राजपूत वीर का चरित जिस रूप में और जिस प्रकार की भाषा में अंकित होना चाहिए था उसी रूप और उसी प्रकार की भाषा में जोधराज अंकित करने में सफल हुए हैं, इसमें कोई संदेह नहीं। इन्हें हिंदी-काव्य की ऐतिहासिक परंपरा की अच्छी जानकारी थी यह बात स्पष्ट लक्षित होती है। नीचे उनकी रचना के कुछ नमूने उद्धृत किए जाते हैं—

कब हठ करै अलावदी रणतभँवर गढ़ आहि।
कबै सेख सरनै रहै बहुरयो महिमा साहि॥
सूर सोच मन में करौ, पदवी लहो न फेरि।
जो हठ छंडो राव तुम उतन लजै अजमेरि॥
सरण राखि सेख न तजो, तजो सीस गढ़ देस।
रानी राव हमीर कों यह दीन्हों उपदेस॥

———

कहाँ पँवार जगदेव सीस आपन कर कट्टयो।
कहाँ भोज विक्रम सुराव जिन पर दुख मिट्टयो॥
सवा भार नित करन कनक विप्रन को दीनो।
रह्यो न रहिये कोय देव नर नाग सु चीनो॥
यह बात राव हम्मीर सूं रानी इमि आसा कही।
जो भए चक्कवै मंडली सुनो राव दीखै नहीं॥

———

जीवन मदन सजोग जग कौन मिटावै ताहि।
जो जनमै संसार में अमर रहै नहिं आहि॥
कहाँ जैत कहाँ सूर कहाँ सोमेश्वर राणा।
कहो गए प्रथिराज साह दल जीति न आणा॥
होतब मिटै न जगत में कीजै चिंता कोहि।
आसा कहै हमीर सौं अब चूको मति सोहि॥

———

पुंडरीक-सुत-सुता तासु पद-कमल मनाऊँ।
बिसद बरन बर वसन बिसद भूपन हिय ध्याऊँ॥
बिसद जंत्र सुर सुद्ध तंत्र तुंबर जुत सोहै।
बिसद ताल इक भुजा, दुतिय पुस्तक मन मोहै॥
गति राजहंस हंसह चढ़ी रटी सुरन कीरति विमल।
जय मातु सदा बरदायिनी देहु सदा बरदान-बल॥

(१५) बख्शी हंसराज— ये श्रीवास्तव कायस्थ थे। इनका जन्म संवत् १७९९ में पन्ना में हुआ था। इनके पूर्वज बख्शी हरकिशुन जी पन्ना राज्य के मंत्री थे। हंसराज जी पन्नानरेश श्री अमानसिंह जी के दरबारियों में थे। ये व्रज की व्यासगद्दी के "विजय सखी" नामक महात्मा के शिष्य थे जिन्होंने इनका सांप्रदायिक नाम 'प्रेमसखी' रखा था। 'सखी भाव' के उपासक होने के कारण इन्होंने अत्यंत प्रेम-माधुर्य्य-पूर्ण रचनाएँ की हैं। इनके चार ग्रंथ पाए जाते हैं—

(१) सनेह सागर (२) विरहविलास (३) रायचंद्रिका (४) बारहमासा (संवत् १८११)

इनमें से प्रथम बड़ा ग्रंथ है। दूसरा शायद इनकी पहली रचना है। 'सनेह सागर' का सम्पादन श्रीयुत लाला भगवानदीन जी बड़े अच्छे ढंग से कर चुके हैं। शेष ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं।

'सनेह सागर' नौ तरंगों में समाप्त हुआ है जिनमें कृष्ण की विविध लीलाएँ सार छंद में वर्णन की गई हैं। भाषा बहुत ही मधुर, सरस और चलती है। भाषा का ऐसा स्निग्ध सरल प्रवाह बहुत ही कम देखने में आता है। पद-विन्यास अत्यंत कोमल और ललित है। कृत्रिमता का लेश नहीं। अनुप्रास बहुत ही संयत मात्रा में और स्वाभाविक हैं। माधुर्य्य प्रधानतः संस्कृत की पदावली का नहीं, भाषा की सरल सुबोध पदावली का है। एक शब्द का भी समावेश व्यर्थ केवल पादपूर्त्यर्थ नहीं है। सारांश यह कि इनकी भाषा सब प्रकार से आदर्श भाषा है। कल्पना भाव-विधान में ही पूर्णतया प्रवृत्त है,

अपनी अलग उड़ान दिखाने में नहीं। भाव विकास के लिये अत्यंत परिचित और स्वाभाविक व्यापार ही रखे गए हैं। वास्तव में 'सनेह सागर' एक अनूठा ग्रंथ है। उसके कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

दमकति दिपति देह दामिनि सी चमकत चंचल नैना।
घूँघट बिच खेलत खंजन से उड़ि उड़ि दीठि लगै ना॥
लटकति ललित पीठ पर चोटी बिच बिच सुमन सँवारी।
देखे ताहि मैरु सो आवत मनहु भुजंगिनि कारी॥

———

इत तें चली राधिका गोरी सौंपन अपनी गैया।
उत तें अति आतुर आनँद सों आए कुँवर कन्हैया॥
कसि भौंहै, हँसि कुँवरि राधिका कान्ह कुँवर सों बोली।
अँग अँग उमगि भरे आनँद सों दरकति छिन छिन चोली॥

———

एरे मुकुटवार चरवाहे! गाय हमारी लीजो।
जाय न कहूँ तुरत की ब्यानी सौंपि खुरक कै दीजौ॥
होहु चरावनहार गाय के बाँधनहार छुरैया।
करि दीजौ तुम आय दोहनी, पावै दूध लुरैया॥

———

कोऊ कहूँ आय बन-बीथिन या लीला लखि जैहै।
कहि कहि कुटिल कठिन कुटिलन सों सिगरे ब्रज बगरैहै॥
जो तुम्हरी इनकी ये बातैं सुनिहै कीरति रानी।
तौ कैसे पटिहैं पाटे ते, घटिहै कुल के पानी॥

(१६) भूपति (राजा गुरुदत्त सिंह)— ये अमेठी के राजा थे और बड़े भारी गुणग्राहक थे। इनके यहाँ कवियों की मंडली बराबर जमी रहती थी। उदयनाथ कवींद्र ने इनकी प्रशंसा में अनेक कवित्त कहे हैं। ये कवि भी बहुत अच्छे थे। संवत् १७९१ में इन्होंने एक 'सतसई' लिखी जिसके दोहे बिहारी के पास तक पहुँचते हैं। दोहों में कलापक्ष भी इन्होंने खूब निभाया है। शब्दालंकार और अर्थालंकार बड़े कौशल से रखे हैं। यह ग्रंथ चमत्कार-प्रधान है। कुछ दोहे देखिए—

घूँघट पट की आड़ दै हँसति जबै वह दार।
ससि मंडल तें कढ़ति छनि जनु पियूष की धार॥
अति सौरभ सहबास तें सहज मधुर सुखकंद।
होत अलिन को नलिन ढिग सरस सलिल मकरंद॥

———

भए रसाल रसाल है भरे पुहुप मकरंद।
मान-सान तोरत तुरत भ्रमत भ्रमर मद-मंद॥

(१७) जनकराज किशोरी शरण— ये अयोध्या के एक वैरागी थे और संवत् १७९७ में वर्त्तमान थे। इन्होंने भक्ति, ज्ञान और रामचरित-संबंधिनी बहुत सी कविता की है। कुछ ग्रंथ संस्कृत में भी लिखे हैं। हिंदी कविता साधारणतः अच्छी है। इनकी बनाई पुस्तकों के नाम ये हैं—

आंदोल रहस्य दीपिका, तुलसीदास चरित्र, विवेक सार चंद्रिका, सिद्धांत चौंतीसी, बारहखड़ी, ललित श्रृंगार दीपक, कवितावली, जानकी सरणाभरण, सीताराम सिद्धांत मुक्तावली, अनन्य तरंगिणी, रामरस तरंगिणी, आत्मसंबंध दर्पण, होलिका विनोद दीपिका, वेदांत सार श्रुति दीपिका, रसदीपिका, दोहावली, रघुवर करुणाभरण।

उपर्युक्त सूची से प्रकट है कि इन्होंने राम सीता के श्रृंगार, ऋतु विहार आदि के वर्णन में ही भाषा कविता की है। इनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

फूले कुसुम द्रुम विविध रंग सुगंध के चहुँ चाव।
गुंजत मधुप मधुमत्त नाना रंग रज अँग फाब॥
सीरो सुगंध सुमंद बात विनोद कंत बहंत।
परसत अनंग उदोत हिय अभिलाष कामिनि कंत॥

(१८) अलबेली अलि— ये विष्णुस्वामी संप्रदाय के महात्मा 'वंशीअलि' जी के शिष्य थे। इसके अतिरिक्त इनका और कोई वृत्त ज्ञात नहीं। अनुमान से इनका कविता-काल विक्रम की १८ वीं शताब्दी का अंतिम भाग आता है। ये भाषा के सत्कवि होने के अतिरिक्त संस्कृत में भी सुंदर रचना करते थे जिसका प्रमाण इनका लिखा "श्रीस्तोत्र" है। इन्होंने "समय प्रबंध पदावली" नामक एक ग्रंथ लिखा है जिसमें ३१३ बहुत ही भाव भरे पद हैं। नीचे कुछ पद उद्धृत किए जाते हैं—

लाल तेरे लोभी लोलुप नैन ।
केहि रस-छकनि छके हौ छबीले मानत नाहिंन चैन ।
नीद नैन घुरी आवति अति, घोरि रही कछु नैन ।
अलबेली अलि रस के रसिया, कत बितरत ये बैन ॥

बने नवल पिय प्यारी ।
सरद रैन उजियारी ॥
सरद रैन सुखदैन मैनमय जमुना-तीर सुहायो ।
सकल कला-पूरन ससि सीतल महि मंडल पर आयो ॥
अतिसय सरस सुगंध मंद गति बहत पवन रुचिकारी ।
नव नव रूप नवल नव जोबन, बने नवल पिय प्यारी ॥

(१९) चाचा हित वृंदावन दास—ये पुष्कर क्षेत्र के रहनेवाले गौड़ ब्राह्मण थे और संवत् १७६५ में उत्पन्न हुए थे । ये राधावल्लभीय गोस्वामी हितरूप जी के शिष्य थे । तत्कालीन गोसाईं जी के पिता के गुरुभ्राता होने के कारण गोसाईं जी की देखा देखी सब लोग इन्हें "चाचाजी" कहने लगे । ये महाराज नागरीदास जी के भाई बहादुरसिंह जी के आश्रय में रहते थे, पर जब राजकुल में विग्रह उत्पन्न हुआ तब ये कृष्णगढ़ छोड़कर वृंदावन चले आए और अंत समय तक वहीं रहे। संवत् १८०० से लेकर संवत् १८४४ तक की इनकी रचनाओं का पता लगता है। जैसे सूरदास के सवा लाख पद बनाने की जनश्रुति है वैसे ही इनके भी एक लाख पद और छंद बनाने की बात प्रसिद्ध है। इनमें से २०००० के लगभग पद्य तो इनके मिले हैं । इन्होंने नखशिख, अष्टयाम, समय प्रबंध, छद्म लीला आदि असंख्य प्रसंगों का विशद वर्णन किया है। छद्मलीलाओं का वर्णन तो बड़ा ही अनूठा है। इनके ग्रंथ प्रकाशित नहीं हुए हैं। रागरत्नाकर आदि ग्रंथों में इनके बहुत से पद संगृहीत मिलते हैं। छत्रपुर के राजपुस्तकालय में इनकी बहुत सी रचनाएँ सुरक्षित हैं।

इतने अधिक परिमाण में होने पर भी इनकी रचना शिथिल या भरती की नहीं है। भाषा पर इनका पूरा अधिकार प्रकट होता है। लीलाओं के अंतर्गत बचन और व्यापार की योजना भी इनकी कल्पना की स्फूर्ति का परिचय देती है। इनके दो पद नीचे दिए जाते हैं—

(मनिहारी लीला से)

मिठबोलनी नवल मनिहारी ।
भौहैं गोल गरूर हैं, याके नयन चुटीले भारी ॥
चूरी लखि मुख तें कहै, घूँघट मे मुसकाति ।
ससि मनु बदरी ओट तें दुरि दरसत यहि भाँति ॥
चूरो बड़ो है मोल को, नगर न गाहक कोय ।
मो फेरी खाली परी, आई सब घर टोय ॥

प्रीतम तुम मो दृगन बसत हौ ।
कहा भरोसे ह्वै पूछत हौ, कै चतुराई करि जु हँसत हौ ॥
लीजै परखि स्वरूप आपनो, पुतरिन में तुमही तौ लसत हौ ।
वृंदावन हित रूप-रसिक तुम, कुंज लड़ावत हिय हुलसत हौ ॥

(२०) गिरिधर कविराय-इनका कुछ भी वृत्तांत ज्ञात नहीं। नाम से भाट जान पड़ते हैं। शिवसिंह ने इनका जन्म संवत् १७७० दिया है जो संभवतः ठीक हो। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८०० के उपरांत ही माना जा सकता है। इनकी नीति की कुंडलियाँ ग्राम ग्राम में प्रसिद्ध हैं। अपढ़ लोग भी दो चार चरण जानते हैं। इस सर्वप्रियता का कारण है बिल्कुल सीधी सादी भाषा में तथ्य मात्र कथन है। इनमें न तो अनुप्रास आदि द्वारा भाषा की सजावट है, न उपमा उत्प्रेक्षा आदि का चमत्कार। कथन की पुष्टिमात्र के लिये (अलंकार की दृष्टि से नहीं) दृष्टांत आदि इधर उधर मिलते हैं। कहीं कहीं पर बहुत कम, कुछ अन्योक्ति का सहारा इन्होंने लिया है। इन सब बातों के विचार से ये कोरे 'पद्यकार' ही कहे जा सकते हैं, सूक्तिकार भी नहीं। वृंद कवि में और इनमें यही अंतर है। वृंद ने स्थान स्थान पर अच्छी घटती हुई और सुंदर उपमाओं आदि का भी विधान किया है। पर इन्होंने कोरा तथ्य कथन किया है। कहीं कहीं तो इन्होंने शिष्टता का ध्यान भी नहीं रखा है। पर घर गृहस्थी के साधारण व्यवहार, लोक व्यवहार आदि का बड़े स्पष्ट शब्दों में इन्होंने कथन किया है। यही स्पष्टता इनकी सर्वप्रियता का एक मात्र कारण है। दो कुंडलियाँ नीचे दी जाती हैं—

'साँई बेटा बाप के बिगरे भयो अकाज।
हरनाकुस अरु कंस को गयो दुहुन को राज॥
गयो दुहुन को राज बाप बेटा के बिगरे।
दुसमन दावागीर भए महि मंडल सिगरे॥
कह गिरिधर कविराय जुगन याही चलि आई।
पिता पुत्र के बैर नफा कहु कौने पाई॥

रहिए लटपट काटि दिन बरु घामहिं मे सोय।
छाहँ न वाकी बैठिए जो तरु पतरो होय॥
जो तरु पतरो होय एक दिन धोखा दैहै।
जा दिन बहै बयारि टूटि तब जर से जैहै॥
कह गिरिधर कविराय छाहँ मोटे की गहिए।
पाता सब झरि जाय तऊ छाया में रहिए॥

(२१) **भगवत रसिक**—ये टट्टी संप्रदाय के महात्मा स्वामी ललितमोहनी दास के शिष्य थे। इन्होंने गद्दी का अधिकार नहीं लिया और निर्लिप्त भाव से भगवद्भजन में ही लगे रहे। अनुमान से इनका जन्म संवत् १७९५ के लगभग हुआ। अतः इनका रचना-काल संवत् १८३० और १८५० के बीच माना जा सकता है। इन्होंने अपनी उपासना से संबंध रखनेवाले अनन्य-प्रेम-रस पूर्ण बहुत से पद, कवित्त, कुंडलियाँ, छप्पय आदि रचे हैं जिनमें एक ओर तो वैराग्य का भाव और दूसरी ओर अनन्य प्रेम का भाव छलकता है। इनका हृदय प्रेम रस पूर्ण था। इसीसे इन्होंने कहा है कि "भगवत रसिक की बातें रसिक बिना कोउ समुझि सकै ना।" ये कृष्ण भक्ति में लीन एक प्रेम-योगी थे। इन्होंने प्रेम तत्त्व का निरूपण बड़े ही अच्छे ढंग से किया है। कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

कुंजन तें उठि प्रात गात जमुना में धोवै।
निधुबन करि दंडवत बिहारी को मुख जोवै॥
करै भावना बैठि स्वच्छ थल रहित उपाधा।
घर घर लेय प्रसाद, लगै जब भोजन-साधा॥
संग करै भगवत रसिक, कर करवा, गूदरि गरे।
वृंदावन बिहरत फिरै, जुगल रूप नैनम भरे॥

हमारो वृंदावन उर और।
माया काल तहाँ नहिं ब्यापै जहँ रसिक-सिरमौर।
छूटि जाति सत असत वासना, मन की दौरा दौर॥
भगवत रसिक बतायो श्री गुरु अमल अलौकिक ठौर॥

(२२) **श्रीहठी जी**—ये श्रीहितहरिवंशजी की शिष्य-परंपरा में बड़े ही साहित्य मर्मज्ञ और कला-कुशल कवि हो गए हैं। इन्होंने संवत् १८३७ में "राधासुधा-शतक" बनाया जिसमें ११ दोहे और १०३ कवित्त सवैया हैं। अधिकांश भक्तों की अपेक्षा इनमें विशेषता यह है कि इन्होंने कला-पक्ष पर भी पूरा जोर दिया है। इनकी रचना में यमक, अनुप्रास, उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का बाहुल्य पाया जाता है। पर साथ ही भाषा या वाक्य-विन्यास में लद्धड़पन नहीं आने पाया है। वास्तव में "राधासुधा-शतक" छोटा होने पर भी अपने ढंग का अनूठा ग्रंथ है। भारतेंदु हरिश्चंद्र को यह ग्रंथ अत्यंत प्रिय था। उससे कुछ अवतरण दिए जाते हैं—

कलप लता के किधौं पल्लव नवीन दोऊ,
हरन मंजुता के कंज ताके बनिता के हैं।
पावन पतित गुन गावैं मुनि ताके छबि,
छलै सविता के जनता के गुरुता के हैं॥
नवौ निधिता के सिद्धता के आदि आलै हठी,
तीनो लोकता के प्रभुता के प्रभु ताके हैं।
कटैं पाप ताके बढ़ैं पुन्य के पताके जिन,
ऐसे पद ताके बृषभानु के सुता के हैं॥

गिरि कीजै गोधन, मयूर नव कुंजन को,
पसु कीजै महाराज नंद के नगर को।
नर कौन? तौन, जौन राधे राधे नाम रटै,
तट कीजै बर कूल कालिंदी कगर को॥
इतने पै जोई कछु कीजिए कुँवर कान्ह,
राखिए न आन फेर हठी के झगर को।
गोपी पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल नगर को॥

(२३) **गुमान मिश्र**—ये महोबे के रहनेवाले गोपालमणि के पुत्र थे। इनके तीन भाई और थे। दीप-

साहि, खुमान और अमान। गुमान ने पिहानी के राजा अकबर अली खाँ के आश्रय में संवत् १८०० में श्रीहर्षकृत नैषध काव्य का पद्यानुवाद नाना छंदों में किया। यही ग्रंथ इनका प्रसिद्ध है और प्रकाशित भी हो चुका है। इसके अतिरिक्त खोज में इनके दो ग्रंथ और मिले हैं—कृष्णचंद्रिका और छंदाटवी (पिंगल)। कृष्णचंद्रिका का निर्माणकाल संवत् १८३८ है। अतः इनका कविता-काल संवत् १८०० से संवत् १८४० तक माना जा सकता है। इन तीन ग्रंथों के अतिरिक्त रस, नायिकाभेद, अलंकार आदि पर भी कई और ग्रंथ सुने जाते हैं।

यहाँ केवल इनके नैषध के संबंध में ही कुछ कहा जा सकता है। इस ग्रंथ में इन्होंने बहुत से छंदों का प्रयोग किया है और बहुत जल्दी जल्दी छंद बदले हैं। इंद्रवज्रा, वंशस्थ, मंदाक्रांता, शार्दूलविक्रीडित आदि कठिन वर्णवृत्तों से लेकर दोहा चौपाई तक मौजूद हैं। ग्रंथारंभ में अकबर अली खाँ की प्रशंसा में जो बहुत से कवित्त इन्होंने कहे हैं, उनसे इनकी चमत्कार-प्रियता स्पष्ट प्रकट होती है। उनमें परिसंख्या अलंकार की भरमार है। गुमान जी अच्छे साहित्य-मर्मज्ञ और कला-कुशल थे इसमें कोई संदेह नहीं। भाषा पर भी इनका पूरा अधिकार था। जिन श्लोकों के भाव जटिल नहीं हैं उनका अनुवाद बहुत ही सरस और सुंदर है। वह स्वतंत्र रचना के रूप में प्रतीत होता है। पर जहाँ कुछ जटिलता है वहाँ की वाक्यावली उलझी हुई और अर्थ अस्पष्ट है। बिना मूल श्लोक सामने आए ऐसे स्थलों का स्पष्ट अर्थ निकालना कठिन ही है। अतः सारी पुस्तक के संबंध में यही कहना चाहिए कि अनुवाद में वैसी सफलता नहीं हुई है। संस्कृत के भावों के सम्यक् अवतरण में यह असफलता गुमान ही के सिर नहीं मढ़ी जा सकती। रीतिकाल के जिन जिन कवियों ने संस्कृत से अनुवाद करने का प्रयत्न किया है उनमें से अधिकतर असफल हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इस काल में जिस मधुर रूप में व्रजभाषा का विकास हुआ वह सरल रसव्यंजना के तो बहुत ही अनुकूल हुआ पर जटिल भावों और विचारों के प्रकाश में वैसा समर्थ नहीं हुआ। कुलपति मिश्र ने अपने "रसरहस्य" में काव्यप्रकाश का जो अनुवाद किया है उसमें भी जगह जगह इसी प्रकार की अस्पष्टता है।

गुमान जी उत्तम श्रेणी के कवि थे इसमें संदेह नहीं। जहाँ वे जटिल भाव भरने की उलझन में नहीं पड़े हैं वहाँ का रचना अत्यंत मनोहारिणी हुई है। कुछ पद्य उद्धृत किए जाते हैं—

दुर्जन की हानि, बिरधापनोई करै पीर,
गुन लोप होत एक मोतिन के हार ही।
टूटै मनिमाले, निरगुन गायताल लिखै,
पोथिन ही अंक, मन कलह विचार ही॥
संकर बरन पसु पच्छिन में पाइयत,
अलक ही पारै अंसभंग निरधार ही।
चिर चिर राजौ राज अली अकबर, सुरराज,
के समाज जाके राज पर वारही॥

गिग्गज दबत दबकत दिगपाल भूरि,
धूरि की धुँधेरी सों अँधेरी आभा भान की।
धाम औ धरा को, माल बाल अबला को अरि
तजत परान, राह चाहत परान की॥
सैयद समर्थ भूप अली अकबर-दल
चलत बजाय मारू दुंदुभी धुकान की।
फिरि फिरि फननि फनीस उलटतु ऐसे,
चोली खोलि ढोली ज्यों तमोली पाके पान की॥

न्हाती जहाँ सुनयना नित बावली में,
छूटे उरोजतल कुंकुम नीर ही में।
श्रीखंड चित्र दृग-अंजन संग साजै।
मानौ त्रिबेनी घर ही बिराजै॥

हाटक-हंस चल्यो उड़िकै नभ में दुगनी तन-ज्योति भई।
लीक सी खैंचि गयो छन में, छहराय रही छबि सोनमई॥
नैनन सों निरख्यो न बनाय कै, कै उपमा मन माहिं लई।
स्यामल चीर मन्यौ पसर्‍यो, तेहि पै कल कंचन बेलि नई॥

---

(२४) सरजूराम पंडित—इन्होंने "जैमिनि पुराण भाषा" नामक एक कथात्मक ग्रंथ संवत् १८०५ में बना

कर तैयार किया। इन्होंने अपना कुछ भी परिचय अपने ग्रंथ में नहीं दिया है। जैमिनिपुराण दोहों चौपाइयों में तथा और कई छंदों में लिखा गया है और ३६ अध्यायों में समाप्त हुआ है। इसमें बहुत सी कथाएँ आई हैं, जैसे, युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ, संक्षिप्त रामायण, सीतात्याग, लवकुश-युद्ध, मयूरध्वज, चंद्रहास आदि राजाओं की कथाएँ। चौपाइयों का ढंग "रामचरितमानस" का सा है। कविता इनकी अच्छी हुई है। इसमें गांभीर्य है। नमूने के लिये कुछ पद्य नीचे दिए जाते हैं—

गुरुपद पंकज पावन रेनू। कहा कलपतरु का सुरधेनू॥
गुरुपद-रज अज हरिहर धामा। त्रिभुवन-विभव, विस्व-विश्रामा॥
तब लगि जग जड़ जीव भुलाना। परम तत्व गुरु जिय नहिं जाना॥
श्रीगुरु पंकज पाँव पसाऊ। स्रवत सुधामय तीरथराऊ॥
सुमिरत होत हृदय असनाना। मिटत मोहमय मन-मल नाना॥

---

(२५) भगवंतराय खीची—ये असोथर (जि० फतहपुर) के एक बड़े गुणग्राही राजा थे जिनके यहाँ बराबर अच्छे अच्छे कवियों का सत्कार होता रहता था। शिवसिंह-सरोज में लिखा है कि इन्होंने सातो कांड रामायण बड़े सुंदर कवित्तों में बनाई हैं। यह रामायण तो इनकी नहीं मिलती पर हनुमान जी की प्रशंसा के ५० कवित्त इनके अवश्य पाए गए हैं जो संभव है रामायण के ही अंश हों। खोज में जो इनकी "हनुमत् पचीसी" मिली है उसमें निमार्णकाल १८१७ दिया है। इनकी कविता बड़ी ही उत्साहपूर्ण और ओजस्विनी है। एक कवित्त देखिए—

विदित विसाल ढाल भालु-कपि-जाल की है,
ओट सुरपाल की है तेज के तुमार की।
जाही सों चपेटि कै गिराए गिरि गढ़, जासों
कठिन कपाट तोरे, लंकिनी सो मार की॥
भनै भगवंत जासों लागि लागि भेंटे प्रभु,
जाके त्रास लखन को छुभिता खुमार की।
ओड़ै ब्रह्मअस्त्र की अवाती महाताती बंदौं
जुद्ध-मद-माती छाती पवन कुमार की॥

---

(२६) सूदन—ये मथुरा के रहनेवाले माथुर चौबे थे। इनके पिता का नाम बसंत था। सूदन भरतपुर के महाराज बदनसिंह के पुत्र सुजानसिंह उपनाम सूरजमल के यहाँ रहते थे। उन्हीं के पराक्रम-पूर्ण चरित्र का वर्णन इन्होंने "सुजानचरित्र" नाम प्रबंधकाव्य में किया है। मोगल साम्राज्य के गिरे दिनों में भरतपुर के जाट राजाओं का कितना प्रभाव बढ़ा था यह इतिहास में प्रसिद्ध है। उन्होंने शाही महलों और खजानों को कई बार लूटा था। पानीपत की अंतिम लड़ाई के संबंध में इतिहासज्ञों की यह धारणा है कि यदि पेशवा की सेना का संचालन भरतपुर के अनुभवी महाराज के कथनानुसार हुआ होता और वे रूठ कर न लौट आए होते तो मरहठों की हार कभी न होती। इतने ही से भरतपुरवालों के आतंक और प्रभाव का अनुमान हो सकता है। अतः सूदन को एक सच्चा वीर चरित्रनायक मिल गया।

"सुजानचरित्र" बहुत बड़ा ग्रंथ है। इसमें संवत् १८०२ से लेकर १८१० तक की घटनाओं का वर्णन है। अतः इसकी समाप्ति १८१० के दस पंद्रह वर्ष पीछे मानी जा सकती है। इस हिसाब से इनका कविता-काल संवत् १८२० के आस पास माना जा सकता है। सूरजमल की वीरता की जो घटनाएँ कवि ने वर्णित की हैं वे कपोल-कल्पित नहीं, ऐतिहासिक हैं। जैसे अहमदशाह बादशाह के सेनापति असदखाँ के फतहअली पर चढ़ाई करने पर सूरजमल का फतेहअली के पक्ष में होकर असदखाँ का ससैन्य नाश करना; मेवाड़, मांडौगढ़ आदि जीतना, संवत् १८०४ में जयपुर की ओर होकर मरहठों को हटाना, संवत् १८०५ में बादशाही सेनापति सलावत खाँ बख़्शी को परास्त करना, संवत् १८०६ में शाही वजीर सफदरजंग मंसूर की सेना से मिलकर बंगश पठानों पर चढ़ाई करना, बादशाह से लड़कर दिल्ली लूटना इत्यादि इत्यादि। इन सब बातों के विचार से 'सुजानचरित्र' का ऐतिहासिक महत्त्व भी बहुत कुछ है।

इस काव्य की रचना के संबंध में सबसे पहली बात जिस पर ध्यान जाता है वह वर्णनों का अत्यधिक विस्तार और प्रचुरता है। वस्तुओं की गिनती गिनाने की

प्रणाली का इस कवि ने बहुत अधिक अवलंबन किया है जिससे पाठकों को बहुत से स्थलों पर अरुचि हो जाती है। कहीं घोड़ों की जातियों के नाम ही नाम गिनाते चले गए हैं, कहीं अस्त्रों और वस्त्रों की सूची की भरमार है, कहीं भिन्न भिन्न देशवासियों और जातियों की फ़िहरिस्त चल रही है। इस कवि को साहित्यिक मर्य्यादा का ध्यान बहुत ही कम था। भिन्न भिन्न भाषाओं और बोलियों को लेकर कहीं कहीं इन्होंने पूरा खेलवाड़ किया है। ऐसे चरित्र को लेकर जो गांभीर्य्य कवि में होना चाहिए वह इनमें नहीं पाया जाता। पद्य में व्यक्तियों और वस्तुओं के नाम भरने की निपुणता इस कवि की एक विशेषता समझिए। ग्रंथारंभ में ही १७५ कवियों के नाम गिनाए गए हैं। सूदन में युद्ध, उत्साहपूर्ण भाषण, चित्त की उमंग आदि वर्णन करने की पूरी प्रतिभा थी पर उक्त त्रुटियों के कारण उनके ग्रंथ का साहित्यिक महत्व बहुत कुछ घटा हुआ है। प्रगल्भता और प्रचुरता का प्रदर्शन सीमा का अतिक्रमण कर जाने के कारण जगह जगह खटकता है। भाषा के साथ भी सूदन जी ने पूरी मनमानी की है। पंजाबी, खड़ी बोली, सब का पुट मिलता है। न जाने कितने गढ़ंत के और तोड़े मरोड़े शब्द लाए गए हैं। जो स्थल इन सब दोषों से मुक्त हैं वे अवश्य मनोहर हैं पर अधिकतर शब्दों की तड़ातड़ भड़ाभड़ से जी ऊबने लगता है। यह वीर-रसात्मक ग्रंथ है और इसमें भिन्न भिन्न युद्धों का ही वर्णन है इससे अध्यायों का नाम जंग रखा गया है। सात जंगों में ग्रंथ समाप्त हुआ है। छंद बहुत से प्रयुक्त हुए हैं। कुछ पद्य नीचे उद्धृत किए जाते हैं—

बखत बिलंद तेरी दुंदुभी धुकारन सों,
दुंद दबि जात देस देस सुख जाही के।
दिन दिन दूनो महि मंडल प्रताप होत,
सूदन दुनी में ऐसे बखत न काही के॥
उद्धत सुजान-सुत बुद्धि बलवान सुनि
दिल्ली के दरनि बाजैं आवज उछाही के।
जाही के भरोसे अब तखत उमाही करै,
पाही से खरे हैं जो सिपाही पातसाही के॥

दुहुँ ओर बंदूक जहँ चलत बेचूक,
रव होत धुकधूक, किलकार कहुँ कूक।
कहुँ धनुष टंकार जिहिं बान झंकार,
भट देत हुँकार संकार मुहँ सूक॥
कहुँ देखि दपटंत, गज बाजि झपटंत,
अरिव्यूह लपटंत, रपटंत कहुँ चूक।
समसेर सटकंत, सर सेल फटकंत,
कहुँ जात हटकंत, लटकंत लगि झूक॥

दब्बत लुत्थिनु अब्बत इक्क सुखब्बत से।
चब्बत लोह अचब्बत शोनित गब्बत से।
चुट्टित खुट्टित केस सुलुट्टित इक्क मही,
जुट्टित फुट्टित सीस, सुखुट्टित,तेग गही॥
कुट्टित घुट्टित काय बिछुट्टित प्रान सही।
छुट्टित आयुध, हुट्टित गुट्टित देह दही॥

धड़धद्धरं धड़धद्धरं भड़भब्भरं भड़भब्भरं।
तड़तत्तरं तड़तत्तरं, कड़कक्करं कड़कक्करं॥
घड़घग्घरं घड़घग्घरं, झड़झज्झरं झड़झज्झरं।
अररर्ररं अररर्ररं, सररर्ररं सररर्ररं॥

शोनित अरघ ढारि, लुत्थ जुत्थ पाँवड़े दै,
दारुधूम धूपदीप, रंजक की ज्वालिका।
चरबी को चंदन, पुहुप पल-टूकन के,
अच्छत अखंड गोला गोलिन की चालिका॥
नैवेद नीको साहि सहित दिल्ली को दल,
कामना विचारी मनसूर-पन-पालिका।
कोटरा के निकट बिकट जंग जोरि सूजा,
भली बिधि पूजा कै प्रसन्न कीन्ही कालिका॥

इसी गल्ल धरि कन्न में बकसी मुसक्याना।
हमनूँ बूझत हौं तुसी क्यों किया पयाना॥
असी आवने भेदनू तूने नहिं जाना।
साह अहम्मद ने मुझे अपना करि माना॥

डोलतीः डरानी खतरानी बतरानी बेबे,
कुड़िए न बेखी अणी मी गुरून पावाँ हाँ।
किथे जला पेऊँ, किथें उजले भिड़ाऊँ असी,
तुसी को लै गीवा असी जिंदगी बचावाहाँ॥
भट्टरा साहि हुआ चंदला वज़ीर वेखो,
एहा हाल कीता, वाह गुरूनूँ मनावाहाँ।
जावाँ किथे जावाँ अम्मा बाबे केही पावाँ जली,
एही गल्ल अक्खैं लक्खौं लक्खौं गली जावाँ हाँ॥

---

(२७) **हरनारायण**—इन्होंने 'माधवानल कामकंदला' और 'वैताल पचीसी' नामक दो कथात्मक काव्य लिखे हैं। 'माधवानल कामकंदला' का रचना-काल सं० १८१२ है। इनकी कविता अनुप्रास आदि से अलंकृत है। एक कवित्त दिया जाता है—

सोहै मुंड चंद सों, त्रिपुंड सों विराजै भाल,
तुंड राजै रदन उदंड के मिलन तें।
पाप-रूप-पानिप विघन-जल-जीवन के
कुंड सोखि सुजन बचावै अखिलन तें॥
ऐसे गिरिनंदिनी के नंदन को ध्यान ही में
कीबे छोड़ि सकल अपानहिं दिलन तें।
भुगुति मुकुति ताके तुंड तें निकसि तापै
कुंड बाँधि कढ़ती भुसुंड के बिलन तें॥

---

(२८) **व्रजवासीदास**—ये वृंदावन के रहनेवाले और बल्लभ संप्रदाय के अनुयायी थे। इन्होंने संवत् १८२७ में 'व्रजविलास' नामक एक प्रबंधकाव्य तुलसीदास जी के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में बनाया। इसके अतिरिक्त इन्होंने 'प्रबोध चंद्रोदय' नाटक का अनुवाद भी विविध छंदों में किया है। पर इनका प्रसिद्ध ग्रंथ 'व्रजविलास' ही है जिसका प्रचार साधारण श्रेणी के पाठकों में है। इस ग्रंथ में कथा भी सूरसागर के क्रम से ली गई और बहुत से स्थलों पर सूर के शब्द और भाव भी चौपाइयों में कर के रख दिए गए हैं। इस बात को ग्रंथकार ने स्वीकार भी किया है—

यामें कछुक बुद्धि नहिं मेरी। उक्ति युक्ति सब सूरहि केरी॥

इन्होंने तुलसी का छंदः क्रम ही लिया है; भाषा शुद्ध व्रजभाषा ही है। उसमें कहीं अवधी या बैसवाड़ी का नाम तक नहीं है। जिनको भाषा की पहचान तक नहीं, जो वीररस वर्णन-परिपाटी के अनुसार किसी पद्य में वर्णों को द्वित्व किया हुआ देख उसे प्राकृत भाषा कहते हैं, वे चाहे जो कहें। व्रजविलास में कृष्ण की भिन्न भिन्न लीलाओं का जन्म से लेकर मथुरा गमन तक का वर्णन किया गया है। भाषा सीधी सादी, सुव्यवस्थित और चलती हुई है। व्यर्थ शब्दों की भरती न होने से उसमें सफाई है। यह सब होने पर भी इसमें वह बात नहीं है जिसके बल से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का इतना देशव्यापी प्रचार हुआ। जीवन की समस्याओं की वह अनेक रूपता, गंभीरता और मर्मस्पर्शिता इसमें कहाँ जो रामचरित और तुलसी की वाणी में है? इसमें तो अधिकतर क्रीड़ामय जीवन का ही चित्रण है। फिर भी साधारण श्रेणी के कृष्णभक्त पाठकों में इसका प्रचार है। नीचे कुछ पद्य दिए जाते हैं—

कहति जसोदा कौन विधि समझाऊँ अब कान्ह।
भूलि दिखायो चंद मैं ताहि कहत हरि खान॥
यहै देत नित माखन मोकों। छिन छिन देति तात सो तोकों॥
जो तुम स्याम चंद को खैहौ। बहुरो फिर माखन कहँ पैहौ?
देखत रहौ खिलौना चंदा। हठ नहिं कीजै बालगोबिंदा॥
पा लागौं हठ अधिक न कीजै। मैं बलि, रिसहि रिसहि तन छीजै॥
जसुमति कहति कहा धौं कीजै। माँगत चंद कहाँ तें दीजै॥
तब जसुमति इक जलपुट लीनो। कर मैं लै तेहि ऊँचो कीनो॥
ऐसे कहि स्यामै बहरावै। आव चंद! तोहि लाल बुलावै॥
हाथ लिए तेहि खेलत रहिए। नैकु नहीं धरनी पै धरिए॥

---

(२९) **गोकुलनाथ, गोपीनाथ और मणिदेव**—इन तीनों महानुभावों ने मिलकर हिंदी साहित्य में बड़ा भारी काम किया है। इन्होंने समग्र महाभारत और हरिवंश (जो महाभारत का ही परिशिष्ट माना जाता है) का अनुवाद अत्यंत मनोहर विविध छंदों में पूर्ण कवित्व के साथ किया है। कथाप्रबंध का इतना बड़ा काव्य हिंदी साहित्य में दूसरा नहीं बना। यह लगभग दो

हजार पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इतना बड़ा ग्रंथ होने पर भी न तो इसमें कहीं शिथिलता आई है और न रोचकता और काव्यगुण में कमी हुई है। छंदों का विधान इन्होंने ठीक उसी रीति से किया है जिस रीति से इतने बड़े ग्रंथ में होना चाहिए। जो छंद उठाया है उसका कुछ दूर तक निर्वाह किया है। केशवदास की तरह छंदों का तमाशा नहीं दिखाया है। छंदों का चुनाव भी बहुत उत्तम हुआ है। रूपमाला, घनाक्षरी, सवैया आदि मधुर छंद अधिक रखे गए हैं; बीच बीच में दोहे और चौपाइयाँ भी हैं। भाषा प्रांजल, और सुव्यवस्थित है। अनुप्रास आदि का अधिक आग्रह न होने पर भी आवश्यक विधान है। रचना सब प्रकार से साहित्यिक और मनोहर है और लेखकों की काव्य-कुशलता का परिचय देती है। इस ग्रंथ के बनने में भी ५० वर्ष के लगभग लगे हैं। अनुमानतः इसका आरंभ संवत् १८३० में हो चुका था और यह संवत् १८८४ में जाकर समाप्त हुआ है। इसकी रचना काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह की आज्ञा से हुई जिन्होंने इसके लिये लाखों रुपये व्यय किए। इस बड़े भारी साहित्यिक यज्ञ के अनुष्ठान के लिए हिंदीप्रेमी उक्त महाराज के सदा कृतज्ञ रहेंगे।

गोकुलनाथ और गोपीनाथ प्रसिद्ध कवि रघुनाथ बंदीजन के पुत्र और पौत्र थे। मणिदेव बंदीजन भरतपुर राज्य के जहानपुर नामक गाँव के रहनेवाले थे और अपनी विमाता के दुर्व्यवहार से रुष्ट होकर काशी चले आए थे। काशी में वे गोकुलनाथ जी के यहाँ ही रहते थे। और स्थानों पर भी उनका बहुत मान हुआ था। जीवन के अंतिम दिनों में वे कभी कभी विक्षिप्त भी हो जाया करते थे। उनका परलोकवास संवत् १६२० में हुआ।

गोकुलनाथ ने इस महाभारत के अतिरिक्त निम्नलिखित और ग्रंथ भी लिखे हैं—

चेतचंद्रिका, गोविंद सुखद विहार, राधाकृष्ण-विलास (सं० १८५८) राधानखशिख, नामरत्नमाला (कोश) (सं० १८७०); सीताराम-गुणार्णव; अमरकोष भाषा (सं०१८७०); कविमुखमंडन।

चेतचंद्रिका अलंकार का ग्रंथ है जिसमें काशिराज की वंशावली भी दी हुई है। 'राधाकृष्ण विलास' रस-संबंधी ग्रंथ है और जगतविनोद के बराबर है। 'सीताराम-गुणार्णव' अध्यात्म रामायण का अनुवाद है जिसमें पूरी रामकथा वर्णित है। कविमुखमंडन भी अलंकार संबंधी ग्रंथ है। गोकुलनाथ का कविताकाल संवत् १८४० से १८७० तक माना जा सकता है। ग्रंथों की सूची से ही स्पष्ट है कि ये कितने निपुण कवि थे। रीति और प्रबंध दोनों ओर इन्होंने प्रचुर रचना की है। इतने अधिक परिमाण में और इतने प्रकार की रचना वही कर सकता है जो पूर्ण साहित्यमर्मज्ञ, काव्यकला में सिद्धहस्त और भाषा पर पूर्ण अधिकार रखनेवाला हो। अतः महाभारत के तीन अनुवादकों में तो ये श्रेष्ठ हैं ही, साहित्य-क्षेत्र में भी ये बहुत ही ऊँचे पद के अधिकारी हैं। रीति-ग्रंथ-रचना और प्रबंध-रचना दोनों में समान रूप से कुशल और कोई दूसरा कवि रीतिकाल के भीतर नहीं पाया जाता।

महाभारत के जिस जिस अंश का अनुवाद जिसने जिसने किया है उस उस अंश में उसका नाम दिया हुआ है। नीचे तीनों कवियों की रचना के कुछ उदाहरण दिए जाते हैं।

(गोकुलनाथ)

सखिन के श्रुति में उकुति कल कोकिल की,
गुरुजन हू पै पुनि लाज के कथान की।
गोकुल अरुन चरनांबुज पै गुंजपुंज,
धुनि सी चढ़ति चंचरीक चरचान की॥
पीतम के श्रवन समीप ही जुगुति होति
मैन-मंत्र-तंत्र के बरन गुनगान की।
सौतिन के कानन में हालाहल ह्वै हलति,
एरी सुखदानि! तौ बजनि बिछुवान की॥

(राधाकृष्णविलास)

दुर्ग अतिहि महत् रक्षित भटन सों चहुँ ओर।
ताहि घेर्‌यो शाल्व भूपति सेन लै अति घोर॥
एक मानुष निकसिबे की रही कतहुँ न राह।

धरी सेना शाल्व नृप की भरी जुद्ध-उछाह ॥

लहि सुदेष्णा की सुआज्ञा नीच कीचक जौन ।
जाय सिंहिनि पास जंबुक तथा कीनो गौन ॥
लख्यो कृष्णा सों कहन या भाँति सस्मित बैन ।
यहाँ आई कहाँ तें ? तुम कौन हौ छबि-ऐन ? ॥

नहीं तुम सी लखी भू पर भरी-सुषमा बाम ।
देवि, जच्छिनि, किन्नरी, कै श्री, सची अभिराम ॥
कांति सो अति भरो तुम्हरो लखत बदन अनूप ।
करैगो नहिं स्वबस का को महा मन्मथ भूप ?

(महाभारत)

(गोपीनाथ)

सर्वदिशि में फिरत भीषम को सुरथ मन-मान ।
लखे सब कोउ तहाँ भूप अलातचक्र समान ।।
सर्व थर सब रथिन सो तेहि समय नृप सब ओर ।
एक भीषम सहस सम रन जुरो हो तहँ जोर ॥

(मणिदेव)

वचन यह सुनि कहत भो चक्रांग हंस उदार ।
उड़ौगे मम संग किमि तुम कहहु सो उपचार ॥
खाय जूठों पुष्ट, गर्वित काग सुनि ये बैन ।
कह्यो जानत उड़न की शत रीति हम बलऐन ॥

(३०) **बोधा** – ये राजापुर (जि० बाँदा) के रहने वाले सरयूपारी ब्राह्मण थे। पन्ना दरबार में इनके संबंधियों की अच्छी प्रतिष्ठा थी। उसी संबंध से ये बाल्यकाल ही में पन्ना चले गए। इनका नाम बुद्धिसेन था, पर महाराज इन्हें प्यार से 'बोधा' कहने लगे और वही नाम इनका प्रसिद्ध हो गया। भाषा-काव्य के अतिरिक्त इन्हें संस्कृत और फारसी का भी अच्छा बोध था। शिवसिंह सरोज में इनका जन्म संवत् १८०४ दिया हुआ है। इनका कविता-काल संवत् १८३० से १८६० तक माना जा सकता है।

बोधा एक बड़े रसिक जीव थे। कहते हैं कि पन्ना दरबार में सुभान (सुबहान) नाम की एक वेश्या थी जिस पर इनका प्रेम हो गया। इस पर रुष्ट हो कर महाराज ने इन्हें ६ महीने देश निकाले का दंड दिया। सुभान के वियोग में ६ महीने इन्होंने बड़े कष्ट से बिताए। और उसी बीच में "विरह-वारीश" नामक एक पुस्तक लिख कर तैयार की। ६ महीने पीछे जब ये फिर दरबार में लौटकर आए तब अपने "विरहवारीश" के कुछ कबित्त सुनाए। महाराज ने प्रसन्न होकर इनसे कुछ माँगने को कहा। इन्होंने कहा "सुभान अल्लाह"। महाराज ने प्रसन्न होकर सुभान इन्हें दे दी और इनकी मुराद पूरी हुई।

'विरहवारीश' के अतिरिक्त इनका "इश्कनामा" भी एक प्रसिद्ध पुस्तक है। इनके बहुत से फुटकर कवित्त सवैये इधर उधर पाए जाते हैं। बोधा एक रसोन्मत्त कवि थे, इससे इन्होंने कोई रीतिग्रंथ न लिख कर अपनी मौज के अनुसार फुटकल पद्यों की ही रचना की है। ये अपने समय के एक प्रसिद्ध कवि थे। प्रेममार्ग के निरूपण में इन्होंने बहुत से पद्य कहे हैं। 'प्रेम की पीर' की व्यंजना भी इन्होंने बड़ी मर्म-स्पर्शिणी युक्ति से की है। भाषा इनकी बड़ी ही चलती और महावरेदार होती थी। उससे प्रेम की उमंग छलकी पड़ती है। इनके स्वभाव में फक्कड़पन भी कम नहीं था। 'नेज़े' 'कटारी' और 'कुरबान' वाली बाजारी ढंग की रचना इन्होंने कहीं कहीं की है। जो कुछ हो ये भावुक और रसज्ञ कवि थे इसमें कोई संदेह नहीं। कुछ पद्य इनके नीचे दिए जाते हैं—

अति खीन मृनाल के तारहु तें, तेहि ऊपर पाँव दै आवनो है।
सुई-बेह के द्वार सकै न तहाँ परतीति को टाँड़ो लदावनो है ॥
कवि बोधा अनी घनी नेजहु तें चढ़ि तापै न चित्त डरावनो है।
यह प्रेम को पंथ कराल महा तरवारि की धार पै धावनो है ॥

एक सुभान के आनन पै कुरबान जहाँ लगि रूप जहाँ को।
कैयो सतक्रतु की पदवी लुटिए लखि कै मुसकाहट ताको ॥
सोक जरा गुजरा न जहाँ कवि बोधा जहाँ उजरा न तहाँ को।
जान मिलै तौ जहान मिलै, नहिं जान मिलै तौ जहान कहाँ को ॥

'कबहूँ मिलिबो, कबहूँ मिलिबो' यह धीरज ही में धरैबो करै ।
उर ते कढ़ि आवै गरे ते फिरै, मन की मन ही में सिरैबो करै ॥
कवि बोधा न चाँड़ सरी कबहूँ, नितही हरवासो हिरैबो करै ।
सहते ही बनै, कहते न बनै, मन ही मन पीर पिरैबो करै ॥

हिलि मिलि जानै तासों मिलिकै जनावै हेत,
हित को न जानै ताको हितू न बिसाहिए ।
होय मगरूर तापै दूनी मगरूरी कीजै,
लघु ह्वै चलै जो तासों लघुता निबाहिए ॥
बोधा कवि नीति को निबेरो यही भाँति अहै,
आपको सराहै ताहि आपहू सराहिए ।
दाता कहा, सूर कहा, सुंदर सुजान कहा,
आप को न चाहै ताके बाप को न चाहिए ॥

---

(३१) रामचंद्र— इन्होंने अपना कुछ भी परिचय नहीं दिया है । महिम्न के कर्त्ता काशीवासी मनियारसिंह ने अपने को "चाकर अखंडित श्रीरामचन्द्र पंडित के" लिखा है । मनियारसिंह ने अपना "भाषा महिम्न" संवत् १८४१ में लिखा । अतः इनका समय संवत् १८४० माना जा सकता है । इनकी एक ही पुस्तक "चरण चंद्रिका" ज्ञात है जिस पर इनका सारा यश स्थिर है । यह भक्ति रसात्मक ग्रंथ केवल ६२ कवित्तों का है । इसमें पार्वती जी के चरणों का वर्णन अत्यंत रुचिर और अनूठे ढंग से किया गया है । इस वर्णन से अलौकिक सुषमा, विभूति, शक्ति और शांति फूटी पड़ती है । उपास्य के एक अंग में इतने अनंत ऐश्वर्य की भावना भक्ति की चरम भावुकता के भीतर ही संभव है । भाषा लाक्षणिक और पांडित्यपूर्ण है । कुछ और अधिक न कह कर इनके दो कवित्त ही सामने रख देना ठीक है ।

नूपुर बजत मानि मृग से अधीन होत,
मीन होत जानि चरनामृत-झरनि को ।
खंजन से नचैं देखि सुषमा सरद की सी,
मचैं मधुकर से पराग-केसरनि को ॥
रीझि रीझि तेरी पदछबि पै तिलोचन के
लोचन ये, अंब ! धारैं केतिक धरनि को ।
फूलत कुमुद से मयंक से निरखि नख;
पंकज से खिलैं लखि तरवा-तरनि को ॥

मानिए करींद्र जो हरींद्र को सरोष हरै,
मानिए तिमिर घेरै भानु किरनन को ।
मानिए चटक बाज जुर्रा को पटकि मारै,
मानिए झटकि डारै भेक भुजगन को ॥
मानिए कहै जो वारिधार पै दवारि औ
अँगार बरसाइबो बतावै बारिदन को ।
मानिए अनेक विपरीत की प्रतीत पै न
भीति आई मानिए भवानी-सेवकन को ॥

---

(३२) मंचित— ये मऊ (बुँदेलखंड) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३६ में वर्त्तमान थे । इन्होंने कृष्ण-चरित-संबंधी दो पुस्तकें लिखी हैं–सुरभी दानलीला और कृष्णायन । सुरभी-दानलीला में बाललीला, यमलार्जुन-पतन और दानलीला का विस्तृत वर्णन सार छंद में किया गया है । इसमें श्रीकृष्ण का नखशिख भी बहुत अच्छा कहा गया है । कृष्णायन तुलसीदास जी की रामायण के अनुकरण पर दोहों चौपाइयों में लिखी गई है । इन्होंने गोस्वामी जी की पदावली तक का अनुकरण किया है । स्थान स्थान पर भाषा अनुप्रासयुक्त और संस्कृत-गर्भित है, इससे व्रजवासीदास की चौपाइयों की अपेक्षा इनकी चौपाइयाँ गोस्वामी जी की चौपाइयों से कुछ अधिक मेल खाती हैं । पर यह मेल केवल कहीं कहीं दिखाई पड़ जाता है । भाषामर्मज्ञ को दोनों का भेद बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाता है । इनकी भाषा व्रज है, अवधी नहीं । उसमें वह सफाई और व्यवस्था कहाँ? कृष्णायन की अपेक्षा इनकी सुरभी-दानलीला की रचना अधिक सरस है । दोनों से कुछ अवतरण नीचे दिए जाते हैं—

कुंडल लोल अमोल कान के छुवत कपोलन आवैं ।
डुलैं आपसे खुलैं जोर छबि बरबस मनहिं चुरावैं ॥
खौर बिसाल भाल पर सोभित केसर की चित भावैं ।
ताके बीच बिंदु रोरी को, ऐसो वेस बनावै ॥

भृकुटी बंक नैन खंजन से कंजन गंजनवारे।
मद-भंजन खग मीन सदा जे मनरंजन अनियारे ॥

(सुरभी दानलीला से)

अचरज अमित भयो लखि सरिता।
दुतिय न उपमा कहि सम चरिता ॥
कृष्णदेव कहँ प्रिय जमुना सी।
जिमि गोकुल गोलोक-प्रकासी ॥
अति बिस्तार पार पय पावन।
उभय करा सुघाट मनभावन ॥
बनचर बनज बिपुल बहु पच्छी।
अलि-अवली-धुनि सुनि अति अच्छी ॥
नाना जिनिस जीव सरि सेवै।
हिंसाहीन असन सुचि जेवैं ॥

(कृष्णायन)

(३३) मधुसूदनदास—ये माथुर चौबे थे इन्होंने गोविंददास नामक किसी व्यक्ति के अनुरोध से संवत् १८३९ में "रामाश्वमेध" नामक एक बड़ा और मनोहर प्रबंधकाव्य बनाया जो सब प्रकार से गोस्वामी जी के रामचरितमानस का परिशिष्ट ग्रंथ होने के योग्य है। इसमें श्रीरामचंद्र द्वारा अश्वमेध-यज्ञ का अनुष्ठान, घोड़े के साथ गई हुई सेना के साथ सुबाहु, दमन, विद्युन्माली राक्षस, वीरमणि, शिव, सुरथ आदि के साथ घोर युद्ध, अंत में राम के पुत्र लव और कुश के साथ भयंकर संग्राम, श्रीरामचंद्र द्वारा युद्ध का निवारण और पुत्रों सहित सीता का अयोध्या में आनयन; इन सब प्रसंगों का पद्मपुराण के आधार पर बहुत ही विस्तृत और रोचक वर्णन है। ग्रंथ की रचना बिलकुल रामचरितमानस की शैली पर हुई है। प्रधानता दोहों के साथ चौपाइयों की है, पर बीच बीच में गीतिका आदि और छंद भी हैं। पदविन्यास और भाषासौष्ठव रामचरितमानस का सा ही है। प्रत्यय और रूप भी बहुत कुछ अवधी के रखे गए हैं। गोस्वामी जी की प्रणाली के अनुसरण में मधुसूदनदास जी को पूरी सफलता हुई है। इनकी प्रबंध कुशलता, कवित्व-शक्ति और भाषा की शिष्टता तीनों उच्च कोटि की हैं। इनकी चौपाइयाँ अलबत्तः गोस्वामी जी की चौपाइयों में बेखटके मिलाई जा सकती हैं। सूक्ष्म-दृष्टि-वाले भाषामर्मज्ञों को केवल थोड़े ही स्थलों में भेद लक्षित हो सकता है जहाँ बोलचाल की भाषा होने के कारण भाषा का असली रूप अधिक स्फुटित है। ऐसे स्थलों पर गोस्वामी जी के अवधी के रूप और प्रत्यय न देख कर भेद का अनुभव हो सकता है। पर जैसा कहा जा चुका है पदविन्यास की प्रौढ़ता और भाषा का सौष्ठव गोस्वामी जी के मेल का है।

सिय-रघुपति-पदकंज पुनीता। प्रथमहि बंदन करौं सप्रीता ॥
मृदु मंजुल सुंदर सब भाँती। ससि-कर-सरिस सुभग नख-पाँती ॥
प्रणत कल्पतरु तर सब ओरा। दहन अज्ञ तम जन-चितचोरा ॥
त्रिबिध कलुष कुंजर घनघोरा। जगप्रसिद्ध केहरि बरजोरा ॥
चिंतामणि पारस सुरधेनू। अधिक कोटि गुन अभिमत देनू ॥
जन-मन-मानस रसिक मराला। सुमिरत भंजन विपति बिसाला ॥

निरखि कालजित कोपि अपारा। विदित होय करि गदा प्रहारा ॥
महावेगयुत आवै सोई। अष्टधातुमय जाय न जोई ॥
अयुत भार भरि भार प्रमाना। देखिय जमपति-दंड समाना ॥
देखि ताहि लव हनि इषु चंडा। कीन्ही तुरत गदा त्रय खंडा ॥
जिमि नभ माहँ मेघ समुदाई। बरषहिं बारि महा झरि लाई ॥
तिमि प्रचंड सायक जनु ब्याला। हने कीस-तन लव तेहि काला ॥
भए विकल अति पवनकुमारा। लगे करन तब हृदय विचारा ॥

---

(३४) मनियारसिंह—ये काशी के रहनेवाले क्षत्रिय थे। इन्होंने देवपक्ष में ही कविता की है और अच्छी की है। इनके निम्नलिखित ग्रंथों का पता है—

महिम्न भाषा, सौंदर्य लहरी (पार्वती या देवी की स्तुति), हनुमत छबीसी, सुंदरकांड। भाषा महिम्न इन्होंने संवत १८४१ में लिखा। इनकी भाषा सानुप्रास, शिष्ट और परिमार्जित है और उसमें ओज भी पूरा है। ये अच्छे कवि हो गए हैं। रचना के कुछ उदाहरण लीजिए—

मेरो चित्त कहाँ दीनता में अति दूबरो है,
अधरम-धूमरो न सुधि के सँभारे पै।
कहाँ तेरी ऋद्धि कवि बुद्धि-धारा ध्वनि तें,
त्रिगुण तें परे ह्वै दरसात निरधारे पै ॥

मनियार यातें मति थकित जकित ह्वै कै
भक्तिबस धरि उर धीरज बिचारे पै।
बिरची कृपाल वाक्यमाल या पुहुपदंत,
पूजन करन काज चरन तिहारे पै॥

तेरे पद-पंकज-पराग राजै राजेश्वरी,
वेद बंदनीय बिरुदावलि बढ़ी रहै।
ताकी किनुकाई पाय धाता ने धरित्री रची,
जापै लोक लोकन की रचना कढ़ी रहै॥
मनियार जाहि विष्णु सेवैं सर्व पोषत में,
सेस ह्वै कै सदा सीस सहस मढ़ी रहै।
सोई सुरासुर के सिरोमनि सदाशिव के
भसम के रूप ह्वै सरीर पै चढ़ी रहै॥

अभय कठोर बानी सुनि लछिमन जू की
मारिबे को चाहि जो सुधारी खल तरवारि।
यार हनुमंत तेहि गरजि सुहास करि,
उपटि पकरि ग्रीव भूमि लै परे पछारि।
पुच्छ तें लपेटि फेरि दंतन दरदराइ,
नखन बकोटि चोंथि देत महि डारि डारि।
उदर बिदारि मारि लुत्थन कों टारि बीर,
जैसे मृगराज गजराज डारै फारि फारि।

(३५) कृष्णदास—ये मिरज़ापुर के रहनेवाले कोई कृष्णभक्त जान पड़ते हैं। इन्होंने संवत् १८५३ में "माधुर्य्य लहरी" नाम की एक बड़ी पुस्तक ४२० पृष्ठों को बनाई जिसमें विविध छंदों में कृष्णचरित का वर्णन किया गया है। कविता इनकी साधारणतः अच्छी है। एक कवित्त देखिए—

कौन काज लाज ऐसी करै जो अकाज अहो,
बार बार कहो नरदेव कहाँ पाइए।
दुर्लभ समाज मिल्यो सकल सिद्धांत जानि,
लीला गुन नाम धाम रूप सेवा गाइए।
बानी की सयानी सब पानी में बहाय दीजै,
जानी सो न रीति जासों दंपति रिझाइए।
जैसी जैसी गही जिन लही तैसी नैननहू,
धन्य धन्य राधाकृष्ण नित ही गनाइए॥

(३६) गणेश—ये लालू कवि के पौत्र और गुलाब कवि के पुत्र थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के यहाँ रहते थे। इन्होंने वाल्मीकि-रामायण के कुछ अंश (बालकांड समग्र और किष्किंधाकांड के पाँच अध्याय) का सुंदर पद्यानुवाद 'वाल्मीकि रामायण श्लोकार्थ प्रकाश'' के नाम से संवत् १८५७ के लगभग किया। कविता इनकी पुष्ट और सरस होती थी। आदि का एक कवित्त दिया जाता है—

बुद्धि के निधान जे प्रधान काव्य-कारज में,
दीजै बरदान ऐसे बरन हमेस के।
दूषन तें दूरि, भूरि भूषन तें पूरि पूरि,
भूषन समेत हेत नवौ रस बेस के॥
भनत गनेस छंद छंद में ललाम रूप,
भूप मन मोहैं, मोहैं पंडित सुदेस के।
ग्रंथ परिपूरन के कारन करनहार,
दीजिए निबाहि नेम नंदनमहेस के॥

(३७) रसिक गोविंद—ये कोई कृष्णभक्त कवि हो गए हैं जिनके स्थान आदि का कुछ पता नहीं लगा है। इनकी वर्णन-शक्ति बहुत अच्छी थी। इन्होंने अपनी "जुगलरसमाधुरी" नाम की पुस्तक में वृंदावन की शोभा का उपमा-उत्प्रेक्षामय अच्छा वर्णन किया है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस शोभा का अनुभव कृष्ण की भक्ति-भावना का ही एक अंग है अतः आदर्शरूप में है। शुद्ध प्राकृतिक वर्णन की प्रथा का प्रचार तो हिंदीकाव्य में होने ही नहीं पाया। जो कुछ हो, कविता मधुर और मनोहर है। इनके ६ ग्रंथों का और पता खोज में लगा है जो अवश्य अच्छे होंगे।

अष्टदेशभाषा, गोविंदानंदघन, कलियुगरासो (सं० १८६५), पिंगल, समयप्रबंध, श्रीरामायण-सूचनिका।

इनका कविता-काल संवत् १८५० तक माना जा सकता है। "जुगलरसमाधुरी" से वृंदावन-वर्णन का

कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

तैसिय निरमल-नीर निकट जमुना बहि आई।
मनहु नीलमनि-माल विपिन पहिरे सुखदाई॥
अरुन, नील, सित, पीत कमल-कुल फूले कूलनि।
जनु बन पहिरे रंग रंग के सुरँग दुकूलनि॥
इंदीवर, कल्हार, कोकनद पदमनि ओभा।
मनु जमुना दग करि अनेक निरखति बन-सोभा॥
तिन मधि झरत पराग, प्रभा लखि दीठि न हारति।
निज घर की निधि रीझि रमा मनु बन पर वारति॥

(३८) **सम्मन**—ये मल्लावाँ (जि० हरदोई) के रहनेवाले ब्राह्मण थे और संवत् १८३४ में उत्पन्न हुए थे। इनके नीति के दोहे गिरिधर की कुंडलिया के समान गावों तक में प्रसिद्ध हैं। इनके कहने के ढंग में कुछ मार्मिकता है "दिनों के फेर" आदि के संबंध में इनके मर्मस्पर्शी दोहे स्त्रियों के मुँह से बहुत सुने जाते हैं। इन्होंने संवत् १८७९ में "पिंगल काव्यभूषण" नामक एक रीति-ग्रंथ भी बनाया। पर ये अधिकतर अपने दोहों के लिये ही प्रसिद्ध हैं। इनका रचना-काल संवत् १८६० से १८८० तक माना जा सकता है। कुछ दोहे देखिए—

निकट रहे आदर घटै, दूरि रहे दुख होय।
सम्मन या संसार में प्रीति करौ जनि कोय॥
सम्मन चहौ सुख देह को तौ छाँड़ौ ये चारि।
चोरी, चुगली, जामिनी और पराई नारि॥
सम्मन मीठी बात सों होत सबै सुखपूर।
जेहि नहिं सीखो बोलिबो, तेहि सीखो सब धूर॥

(३९) **ठाकुर**—इस नाम के तीन कवि हो गए हैं जिनमें दो असनी के ब्रह्मभट्ट थे और एक बुंदेलखंड के कायस्थ। तीनों की कविताएँ ऐसी मिलजुल गई हैं कि भेद करना कठिन है। हाँ, बुंदेलखंडी ठाकुर की वे कविताएँ पहचानी जा सकती हैं जिनमें बुंदेलखंडी कहावतें या मुहावरे आए हैं।

असनीवाले प्राचीन ठाकुर

ये रीतिकाल के आरंभ में संवत् १७०० के लगभग हुए थे। इनका कुछ वृत्त नहीं मिलता; केवल फुटकल कविताएँ इधर उधर पाई जाती हैं। संभव है इन्होंने रीतिबद्ध रचना न करके अपने मन की उमंग के अनुसार ही समय समय पर कवित्त-सवैये बनाए हों जो चलती और स्वच्छ भाषा में हैं। इनके ये दो सवैये बहुत सुने जाते हैं—

सजि सूहे दुकूलन बिज्जुछटा सी अटान चढ़ी घटा जोवति हैं।
सुचिती ह्वै सुनैं धुनि मोरन की, रसमाती सँजोग सँजोवति हैं॥
कवि ठाकुर वै पिय दूरि बसैं, हम आँसुन सों तन धोवति हैं।
धनि वै धनि पावस की रतियाँ पति की छतियाँ लगि सोवति हैं॥

बौरे रसालन की चढ़ि डारन कूकत क्वैलिया मौन गहै ना।
ठाकुर कुंजन कुंजन गुंजत, भौंरन भीर चुपैबो चहै ना॥
सीतल मंद सुगंधित, बीर, समीर लगे तन धीर रहै ना।
ब्याकुल कीन्हो बसंत बनाय कै, जाय कै कंत सों कोऊ कहै ना॥

असनीवाले दूसरे ठाकुर

ये ऋषिनाथ कवि के पुत्र और सेवक कवि के पितामह थे। सेवक के भतीजे श्रीकृष्ण ने अपने पूर्वजों का जो वर्णन लिखा है उसके अनुसार ऋषिनाथ जी के पूर्वज देवकीनंदन मिश्र गोरखपुर जिले के एक कुलीन सरयूपारी ब्राह्मण—पयासी के मिश्र—थे और अच्छी कविता करते थे। एक बार मँझौली के राजा के यहाँ विवाह के अवसर पर देवकीनंदन जी ने भाँटों की तरह कुछ कवित्त पढ़े और पुरस्कार लिया। इस पर उनके भाई-बंधुओं ने उन्हें जाति च्युत कर दिया और वे असनी के भाँट नरहरि कवि की कन्या के साथ अपना विवाह करके असनी में जा रहे और भाँट हो गए। उन्हीं देवकीनंदन के वंश में ठाकुर के पिता ऋषिनाथ कवि हुए।

ठाकुर ने संवत् १८६१ में "सतसई बरनार्थ" नाम की 'बिहारी सतसई' की एक टीका (देवकीनंदन टीका) बनाई। अतः इनका कविता काल संवत् १८६० के इधर उधर माना जा सकता है। ये काशिराज के संबंधी काशी के नामी रईस (जिनकी हवेली अब तक प्रसिद्ध है) बाबू देवकीनंदन के आश्रित थे। इनका विशेष वृत्तांत स्व० पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपने "बिहारी-बिहार" की भूमिका में दिया है। ये ठाकुर भी बड़ी सरस

कविता करते थे। इनके पद्यों में भाव या दृश्य का निर्वाह अबाध रूप में पाया जाता है। दो उदाहरण लीजिए—

कारे लाल करहे पलासन के पुंज तिन्हैं,
अपने झकोरन झुलावन लगी है री।
ताही की ससेटी तृन-पत्रन-लपेटी धरा,
धाम तें अकास धूरि धावन लगी है री॥
ठाकुर कहत सुचि सौरभ प्रकासन मों,
आछी भाँति रुचि उपजावन लगी है री।
ताती सीरी बैहर वियोग वा सँयोगवारी,
आवनि बसंत की जनावन लगी है री॥

प्रात झुकामुकि भेष छपाय कै गागर लै घर तें निकरी ती।
जानि परी न कितीक अबार है जाग परी जहँ होरी धरी ती॥
ठाकुर दौरि परे मोहिं देखि कै, भागि बची री, बड़ी सुघरी ती।
बीर की सौं जौ किवार न देउँ तौ मैं होरिहारन हाथ परी ती॥

तीसरे ठाकुर बुँदेलखंडी

ये जाति के कायस्थ थे और इनका पूरा नाम लाला ठाकुरदास था। इनके पूर्वज काकोरी (जिला लखनऊ) के रहनेवाले थे और इनके पितामह खड्गराय जी बड़े भारी मंसबदार थे। उनके पुत्र गुलाबराय का विवाह बड़ी धूमधाम से ओरछे (बुँदेलखंड) के राव राजा (जो महाराज ओरछा के मुसाहब थे) की पुत्री के साथ हुआ था। ये ही गुलाबराय ठाकुर कवि के पिता थे। किसी कारण से गुलाबराय अपनी ससुराल ओरछे में ही आ बसे जहाँ संवत् १८२३ में ठाकुर का जन्म हुआ। शिक्षा समाप्त होने पर ठाकुर अच्छे कवि निकले और जैतपुर में सम्मान पाकर रहने लगे। उस समय जैतपुर के राजा केसरीसिंह जी थे। ठाकुर के कुल के कुछ लोग बिजावर में भी जा बसे थे। इससे ये कभी कभी वहाँ भी रहा करते थे। बिजावर के राजा ने भी एक गाँव देकर ठाकुर का सम्मान किया। जैतपुर-नरेश राजा केसरीसिंह के उपरांत जब उनके पुत्र राजा पारीछत गद्दी पर बैठे तब ठाकुर उनकी सभा के एक रत्न हुए। ठाकुर की ख्याति उसी समय से फैलने लगी और वे बुँदेलखंड के दूसरे राजदरबारों में भी आने जाने लगे। बाँदे के हिम्मत बहादुर गोसाईं के दरबार में कभी कभी पद्माकर जी के साथ ठाकुर की कुछ नोक-झोंक की बातें हो जाया करती थीं। एक बार पद्माकर जी ने कहा "ठाकुर कविता तो बहुत अच्छी करते हैं पर पद कुछ हलके पड़ते हैं"। इस पर ठाकुर बोले "तभी तो हमारी कविता उड़ी उड़ी फिरती है"।

इतिहास में प्रसिद्ध है कि हिम्मत बहादुर कभी अपनी सेना के साथ अंगरेजों का कार्य्यसाधन करते और कभी लखनऊ के नवाब के पक्ष में लड़ते। एक बार हिम्मत बहादुर ने राजा पारीछत के साथ कुछ धोखा करने के लिये उन्हें बाँदे बुलाया। राजा पारीछत वहाँ जा रहे थे कि मार्ग में ठाकुर कवि मिले और दो ऐसे संकेत-भरे सवैये पढ़े कि राजा पारीछत लौट गए। एक सवैया यह है—

कैसे सुचित्त भए निकसौ बिहँसौ बिलसौ हरि दै गल बाहीं।
ये छल छिद्रन की बतियाँ छलतीं छिन एक घरी पल माहीं॥
ठाकुर वै जुरि एक भईं, रचिहैं परपंच कछू ब्रज माहीं।
हाल चवाइन की दुहचाल को लाल तुम्हैं है दिखात कि नाहीं॥

कहते हैं कि यह हाल सुनकर हिम्मत बहादुर ने ठाकुर को अपने दरबार में बुला भेजा। बुलाने का कारण समझ कर भी ठाकुर बेधड़क चले गए। जब हिम्मत बहादुर इन पर झल्लाने लगे तब इन्होंने यह कवित्त पढ़ा—

वेई नर निर्नय निदान में सराहे जात,
सुखन अघात प्याला प्रेम को पिये रहैं।
हरि रस चंदन चढ़ाय अंग अंगन में,
नीति को तिलक, बेंदी जस की दिये रहैं॥
ठाकुर कहत मंजु कंज तें मृदुल मन,
मोहनी सरूप धारे हिम्मत हिये रहैं।
भेंट भए समये असमये, अचाहे चाहे,
ओर लौं निबाहैं, आँखैं एकसी किये रहैं॥

इस पर हिम्मत बहादुर ने जब कुछ और कटु वचन

कहे तब सुना जाता है कि ठाकुर ने म्यान से तलवार निकाल ली और बोले—

सेवक सिपाही हम उन रजपूतन के,
दान जुद्ध जुरिबे में नेकु जे न मुरके।
नीति देनवारे हैं मही के महिपालन को,
हिये के बिसुद्ध हैं, सनेही साँचे उर के॥
ठाकुर कहत हम बैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदानिया ससुर के।
चोजिन के चोजी महा, मौजिन के महाराज;
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के॥

हिम्मत बहादुर यह सुनते ही चुप हो गए। फिर मुस्कराते हुए बोले "कवि जी बस! मैं तो यही देखा चाहता था कि आप कोरे कवि ही हैं या पुरखों की हिम्मत भी आप में है" इस पर ठाकुर ने बड़ी चतुराई से उत्तर दिया "महाराज! हिम्मत तो हमारे ऊपर सदा अनूप रूप से बलिहार रही है, आज हिम्मत कैसे गिर जायगी? (गोसाईं हिम्मत गिरि का असल नाम अनूप-गिरि था; हिम्मत बहादुर शाही ख़िताब था)।

ठाकुर कवि का परलोकवास संवत् १८८० के लगभग हुआ। अतः इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जा सकता है। इनकी कविताओं का एक अच्छा संग्रह "ठाकुर-ठसक" के नाम से श्रीयुत् लाला भगवानदीन जी ने निकाला है। पर इसमें भी दूसरे दो ठाकुर की कविताएँ मिली हुई हैं। इस संग्रह में विशेषता यह है कि कवि का जीवन-वृत्त भी बहुत कुछ दे दिया गया है। ठाकुर के पुत्र दरियाव सिंह (चातुर) और पौत्र शंकरप्रसाद भी कवि थे।

ठाकुर बहुत ही सच्ची उमंग के कवि थे। इनमें कृत्रिमता का लेश नहीं। न तो कहीं व्यर्थ का शब्दाडंबर है, न कल्पना की झूठी उड़ान और न अनुभूति के विरुद्ध भावों का उत्कर्ष। जैसे भावों का जिस ढंग से मनुष्य मात्र अनुभव करते हैं वैसे भावों को उसी ढंग से यह कवि अपनी स्वाभाविक भाषा में उतार देता है। बोल-चाल की चलती भाषा में भाव को ज्यों का त्यों सामने रख देना इस कवि का लक्ष्य रहा है। व्रजभाषा की शृंगारी कविताएँ प्रायः स्त्री-पात्रों के ही मुख की वाणी होती हैं अतः स्थान स्थान पर लोकोक्तियों का जो मनोहर विधान इस कवि ने किया है उससे उक्तियों में और भी स्वाभाविकता आ गई है। यह एक अनुभूत बात है कि स्त्रियाँ बात बात में कहावतें कहा करती हैं। उनके हृदय के भावों की भरपूर व्यंजना के लिये ये कहावतें मानो एक संचित वाङ्मय हैं। लोकोक्तियों का जैसा मधुर उपयोग ठाकुर ने किया है वैसा और किसी कवि ने नहीं। इन कहावतों में से कुछ तो सर्वत्र प्रचलित हैं और कुछ ख़ास बुँदेलखंड की हैं। ठाकुर सच्चे, उदार, भावुक और हृदय के पारखी कवि थे इसीसे इनकी कविताएँ विशेषतः सवैये इतने लोकप्रिय हुए। ऐसा स्वच्छंद कवि किसी क्रम से बद्ध होकर कविता करना भला कहाँ पसंद करता? जब जिस विषय पर जी में आया कुछ कहा।

ठाकुर प्रधानतः प्रेमनिरूपक होने पर भी लोकव्यापार के अनेकांगदर्शी कवि थे। इसी से प्रेमभाव के अपने स्वाभाविक विश्लेषण के बीच बीच में कभी तो ये अखती, फाग, बसंत, होली, हिंडोरा आदि उत्सवों के उल्लास में मग्न दिखाई पड़ते हैं, कभी लोगों की क्षुद्रता, कुटिलता, दुःशीलता आदि पर क्षोभ प्रगट करते पाए जाते हैं और कभी काल की गति पर खिन्न और उदास देखे जाते हैं। कविकर्म को ये कठिन समझते थे। रूढ़ि के अनुसार शब्दों की लड़ी जोड़ चलने को ये कविता नहीं कहते थे। नमूने के लिये यहाँ इनके थोड़े ही से पद्य दिए जा सकते हैं—

सीखि लीन्हो मीन मृग खंजन कमल नैन,
सीखि लीन्हो यश औ प्रताप को कहानो है।
सीखि लीन्हो कल्पवृक्ष कामधेनु चिंतामनि,
सीखि लीन्हो मेरु औ कुबेर गिरि आनो है॥
ठाकुर कहत याकी बड़ी है कठिन बात,
याको नहिं भूलि कहूँ बाँधियत बानो है।
डेल सो बनाय आय मेलत सभा के बीच,
लोगन कवित्त कीबो खेल करि जानो है॥

दस बार, बीस बार बरजि दई है जाहि,
एते पै न मानै जौ तौ जरन बरन देव।
कैसो कहा कीजै, कछू आपनो करो न होय,
जाके जैसे दिन ताहि तैसेई भरन देव॥
ठाकुर कहत मन आपनो मगन राखौ,
प्रेम निहसंक रस रंग बिहरन देव।
बिधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ,
खेलत फिरत तिन्हैं खेलन फिरन देव॥

अपने अपने सुठि गेहन में चढ़े दोऊ सनेह की नाव पै री।
अँगनान में भींजत प्रेम भरे, समयो लखि मैं बलि जावँ पै री॥
कहै ठाकुर दोउन की रुचि सों रँग ह्वै उमड़े दोउ ठावँ पै री।
सखी, कारी घटा बरसै बरसाने पै, गोरी घटा नँदगाँव पै री॥

वा निरमोहिनि रूप की रासि जऊ उर हेतु न ठानति ह्वैहै।
बारहि बार बिलोकि घरी घरी सूरति तौ पहिचानति ह्वैहै॥
ठाकुर या मन को परतीति है, जौ पै सनेह न मानति ह्वैहै।
आवत हैं नित मेरे लिए इतनो तो बिसेष कै जानति ह्वैहै॥

यह चारहु ओर उदौ मुखचंद की चाँदनी चारु निहारि लै री।
बलि जौ पै अधीन भयो पिय, प्यारी! तौ एतो बिचार बिचारि लै री॥
कवि ठाकुर चूकि गयो जौ गोपाल तौं तै बिगरी कौ सँभारि लै री।
अब रैहै न रैहै यहै समयो, बहती नदी पायँ पखारि लै री॥

पावस में परदेस तें आय मिले पिय औ मनभाई भई है।
दादुर मोर पपीहरा बोलत, तापर आनि घटा उनई है॥
ठाकुर वा सुखकारी सुहावनि दामिनि कौंधि कितै कों गई है?
री अब तौ घनघोर घटा गरजौ बरसौ तुम्हें धूर दई है॥

पिय प्यार करैं जेहि पै सजनी तेहि की सब भाँतिन सैयत है।
मन मान करौं तौ परौं भ्रम में फिर पाछे परे पछितैयत है॥
कवि ठाकुर कौन की कासों कहौं दिन देखि दसा बिसरैयत है।
अपने अटके सुन एरी भटू! निज सौत के मायके जैयत है॥

---

(४०) ललकदास—बेनी कवि के भँड़ौवा से ये लखनऊ के कोई कंठीधारी महंत जान पड़ते हैं जो अपनी शिष्य-मंडली के साथ इधर उधर फिरा करते थे। अतः संवत् १८६० और १८८० के बीच इनका वर्त्तमान रहना अनुमान किया जा सकता है। इन्होंने "सत्योपाख्यान" नामक एक बड़ा वर्णनात्मक ग्रंथ लिखा है जिसमें रामचंद्र के जन्म से लेकर विवाह तक की कथा बड़े विस्तार के साथ वर्णित है। इस ग्रंथ का उद्देश्य कौशल के साथ कथा चलाने का नहीं बल्कि जन्म की बधाई, बाललीला, होली, जलक्रीड़ा, झूला, विवाहोत्सव आदि का बड़े ब्योरे और विस्तार के साथ वर्णन करने का है। जो उद्देश्य महाराज रघुराजसिंह के रामस्वयंवर का है वही इसका भी समझिए। पर इसमें सादगी है और यह केवल दोहे चौपाइयों में लिखा गया है। वर्णन करने में ललकदासजी ने भाषा के कवियों के भाव तो इकट्ठे ही किए हैं; संस्कृत कवियों के भाव भी कहीं कहीं रखे हैं। रचना अच्छी जान पड़ती है। कुछ चौपाइयाँ देखिए—

धरि निज अंक राम को माता।
लह्यो मोद लखि मुख मृदु गाता॥
दंत कुंद मुकुता सम सोहै।
बंधुजीव सम जीभ विमोहै॥
किसलय सधर अधर छबि छाजैं।
इंद्रनील सम गंड बिराजैं॥
सुंदर चिबुक नासिका सोहै।
कुंकुम तिलक चिलक मन मोहै॥
कामचाप सम भ्रुकुटि बिराजै।
अलक-कलित मुख अति छबि छाजै॥
यहि बिधि सकल राम के अंगा।
लखि चूमति जननी सुख संगा॥

---

(४१) खुमान—ये बंदीजन थे और चरखारी (बुंदेलखंड) के महाराज विक्रमसाहि के यहाँ रहते थे। इनके बनाए इन ग्रंथों का पता है—

अमरप्रकाश (सं० १८३६), अष्टजाम, (सं० १८५२),

लक्ष्मणशतक (सं० १८५५), हनुमान नखशिख, हनुमान पंचक, हनुमान पचीसी, नीतिनिधान, समरसार (युद्ध यात्रा के मुहूर्त आदि का विचार), नृसिंह-चरित्र (सं० १८७९), नृसिंह-पचीसी।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल सं० १८३० से १८८० तक माना जा सकता है। "लक्ष्मणशतक" में लक्ष्मण और मेघनाद का युद्ध बड़े फड़कते हुए शब्दों में कहा गया है। 'खुमान' कविता में अपना उपनाम 'मान' रखते थे। नीचे एक कवित्त दिया जाता है—

आयो इंद्रजीत दसकंध को निबंध बंध,
बोल्यो रामबंधु सों प्रबंध किरवान को।
को है अंसुमाल, को है काल विकराल,
मेरे सामुहे भए न रहै मान महेसान को॥
तू तौ सुकुमार यार लखन कुमार! मेरी
मार बेसुमार को सहैया घमासान को।
बीर ना चितैया, रनमंडल रितैया,
काल कहर बितैया हौं जितैया मघवान को॥

---

(४२) नवलसिंह कायस्थ—ये झाँसी के रहने वाले थे और समथरनरेश राजा हिंदूपति की सेवा में रहते थे। इन्होंने बहुत से ग्रंथों की रचना की है जो भिन्न भिन्न विषयों पर और भिन्न भिन्न शैली के हैं। ये अच्छे चित्रकार भी थे। इनका झुकाव भक्ति और ज्ञान की ओर विशेष था। इनके लिखे ग्रंथों के नाम ये हैं—

रासपंचाध्यायी, रामचंद्रविलास, शंकामोचन (सं० १८७३), जौहरिन तरंग (१८७५), रसिकरंजनी (१८७७), विज्ञानभास्कर (१८७८), व्रजदीपिका (१८८३), शुकरम्भासंवाद (१८८८), नाम चिंतामणि (१९०३), मूलभारत (१९१२), भारत-सावित्री (१९१२), भारत कवितावली (१९१३), भाषा सप्तशती (१९१७), कविजीवन (१९१८), आल्हारामायण (१९२२), रुक्मिणीमंगल (१९२५), मूलढोला (१९२५), रहस लावनी (१९२६), अध्यात्मरामायण, रूपक रामायण, नारीप्रकरण, सीतास्वयंवर, रामविवाहखंड, भारत वार्तिक, रामायण-सुमिरनी, पूर्व शृंगारखंड, मिथिला खंड, दानलोभ संवाद, जन्मखंड।

उक्त पुस्तकों में यद्यपि अधिकांश बहुत छोटी छोटी हैं फिर भी इनकी रचना की बहुरूपता का आभास देती है। इनकी पुस्तकें प्रकाशित नहीं हुई हैं। अतः इनकी रचना के संबंध में विस्तृत और निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। खोज की रिपोर्टों में उद्धृत उदाहरणों को देखने से रचना इनकी पुष्ट और अभ्यस्त प्रतीत होती है। व्रजभाषा में कुछ वार्तिक या गद्य भी इन्होंने लिखा है। इनके कुछ पद्य नीचे देखिए—

अभव अनादि अनंत अपारा। अमन, अप्रान, अमर, अविकारा॥
अग, अनीह आतम अविनासी। अगम अगोचर अविरल वासी॥
अकथनीय अद्वैत अरामा। अमल असेष अकर्म अकामा॥
रहत अलिप्त ताहि उर ध्याऊँ। अनुपम अमल सुजसमय गाऊँ॥

सगुन सरूप सदा सुषमा-निधान मंजु,
बुद्धि गुन गुनन अगाध बनपति से।
भनै नवलेस फैल्यो विशद मही में यश,
बरनि न पावै पार झार फनपति से॥
जक्त निज भक्तन के कलुष प्रभंजै रंजै,
सुमति बढ़ावै धन धाम धनपति से।
अवर न दूजो देव सहज प्रसिद्ध यह,
सिद्ध बरदैन सिद्ध ईस गनपति से॥

---

(४३) रामसहायदास—ये चौबेपुर (जिला बनारस) के रहनेवाले लाला भवानीदास कायस्थ के पुत्र थे और काशीनरेश महाराज उदितनारायण सिंह के आश्रय में रहते थे। "बिहारी सतसई" के अनुकरण पर इन्होंने "रामसतसई" बनाई। बिहारी के अनुकरण पर बनी हुई पुस्तकों में इसीको प्रसिद्धि प्राप्त हुई। इसके बहुत से दोहे सरस उद्भावना में बिहारी के दोहों के पास तक पहुँचते हैं। पर यह कहना कि वे दोहे बिहारी के दोहों में मिलाए जा सकते हैं, रसज्ञता और भावुकता से ही पुरानी दुश्मनी प्रकट करना नहीं, बिहारी को भी कुछ नीचे गिराने का प्रयत्न समझा जायगा। बिहारी में क्या क्या मुख्य विशेषताएँ हैं यह उनके प्रसंग में दिखाया

जा चुका है। जहाँ तक शब्दों की कारीगरी और वाग्वैदग्ध्य से संबंध है वहीं तक अनुकरण करने का प्रयत्न किया है और सफलता भी हुई है। पर हावों का वह सुंदर विधान, चेष्टाओं का वह मनोहर चित्रण, भाषा का वह सौष्ठव, संचारियों की वह सुंदर व्यंजना इस सतसई में कहाँ? नकल ऊपरी बातों की हो सकती है, हृदय की नहीं। पर हृदय पहचानने के लिये हृदय चाहिए, चेहरे पर की दो आँखों से ही नहीं काम चल सकता। इस बड़े भारी भेद के होते हुए भी 'रामसतसई" शृंगाररस का एक उत्तम ग्रंथ है। इस सतसई के अतिरिक्त इन्होंने तीन पुस्तकें और लिखी हैं—

वाणीभूषण, वृत्त-तरंगिणी (सं० १८७३) और ककहरा।

वाणीभूषण अलंकार का ग्रंथ है और वृत्त-तरंगिणी पिंगल का। ककहरा जायसी की 'अखरावट' के ढंग की छोटी सी पुस्तक है और शायद सबसे पिछली रचना है क्योंकि उसमें धर्म और नीति के उपदेश हैं। रामसहाय का कविता काल संवत् १८६० से १८८० तक तक माना जा सकता है। नीचे सतसई के कुछ दोहे उद्धृत किए जाते हैं—

गड़े नुकीले लाल के नैन रहैं दिन रैनि।
तव नाजुक ठोड़ी न क्यों गाड़ परै मृदुबैनि॥
भटक न झटपट चटक कै, अटक सुनट के संग।
लटक पीतपट की निपट हटकति कटक अनंग॥
लागे नैना नैन मे कियो कहाँ धौं मैन।
नहिं लागैं नैना, रहै लागे नैना नै न॥
गुलुफनि लगि ज्यों त्यों गयो करि करि साहस जोर।
फिर न फिर्‌यो मुरवान चपि, चित अति खात मरोर॥
यौं विभाति दसनावली ललना बदन मँझार।
पति को नातो मानि कै मनु आई उडुमार॥

---

(४४) **चंद्रशेखर**—ये वाजपेयी थे। इनका जन्म सं० १८५५ में मुअज्ज़माबाद (जि० फतहपुर) में हुआ था। इनके पिता मनीराम जी भी अच्छे कवि थे। ये कुछ दिनों तक दरभंगे की ओर फिर ६ वर्ष तक जोधपुर नरेश महाराज मानसिंह के यहाँ रहे। अंत में ये पटियाला-नरेश महाराज कर्मसिंह के यहाँ गए और जीवन भर पटियाला में ही रहे। इनका देहांत संवत् १९३२ में हुआ अतः ये महाराज नरेंद्रसिंह के समय तक वर्तमान थे और उन्हीं के आदेश से इन्होंने अपना प्रसिद्ध वीर काव्य "हम्मीरहठ" बनाया। इसके अतिरिक्त इनके रचे ग्रंथों के नाम ये हैं—

विवेक-विलास, रसिकविनोद, हरिभक्ति विलास, नखसिख, वृंदावनशतक, गुरुपंचाशिका, ताजकज्योतिष, माधवी वसंत।

यद्यपि शृंगाररस की कविता करने में भी ये बहुत ही प्रवीण थे पर इनकी कीर्ति को चिरकाल तक स्थिर रखने के लिये "हम्मीरहठ" ही पर्य्याप्त है। उत्साह की उमंग की व्यंजना जैसी चलती, स्वाभाविक और जोरदार भाषा में इन्होंने की है उस प्रकार करने में बहुत ही कम कवि समर्थ हुए हैं। वीररस के वर्णन में इस कवि ने बहुत ही सुंदर साहित्यिक विवेक का परिचय दिया है। सूदन आदि के समान शब्दों की तड़ातड़ और भड़ाभड़ के फेर में न पड़ कर उग्रोत्साह व्यंजक भाषण का ही अधिक सहारा इस कवि ने लिया है, जो वीररस की जान है। दूसरी बात ध्यान देने की यह है कि वर्णनों के अनावश्यक विस्तार को, जिसमें वस्तुओं की बड़ी लंबी चौड़ी सूची भरी जाती है, स्थान नहीं दिया गया है। भाषा भी पूर्ण व्यवस्थित, च्युतसंस्कृति आदि दोषों से मुक्त और प्रवाहमयी है। सारांश यह कि वीररस-वर्णन की अत्यंत श्रेष्ठ प्रणाली का अनुसरण चंद्रशेखर जी ने किया है।

रही प्रसंग-विधान की बात। इस विषय में कवि ने नई उद्भावनाएँ न करके पूर्ववर्ती कवियों का ही सर्वथा अनुसरण किया है। एक रूपवती और निपुण स्त्री के साथ महिमा मंगोल का अलाउद्दीन के दरबार में भागना, अलाउद्दीन का उसे हम्मीर से वापस माँगना, हम्मीर का उसे अपनी शरण में लेने के कारण उपेक्षापूर्वक इन्कार करना, ये सब बातें जोधराज क्या उसके पूर्ववर्त्ती प्राकृत कवियों की ही कल्पना है जो वीरगाथा काल की रूढ़ि के अनुसार की गई

थी। गढ़ के घेरे के समय गढ़पति की निश्चितता और निर्भीकता व्यंजित करने के लिये पुराने कवि गढ़ के भीतर नाचरंग का होना दिखाया करते थे। जायसी ने अपनी पद्मावती में अलाउद्दीन के द्वारा चित्तौरगढ़ के घेरे जाने पर राजा रतनसेन का गढ़ के भीतर नाच कराना और शत्रु के फेंके हुए तीर से नर्त्तकी का घायल होकर मरना वर्णित किया है। ठीक उसी प्रकार का वर्णन "हम्मीरहठ" में रखा गया है। यह चंद्रशेखर जी की अपनी उद्भावना नहीं; एक बँधी हुई परिपाटी का अनुसरण है। नर्त्तकी के मारे जाने पर हम्मीरदेव का यह कह उठना कि "हठ करि मंड्यो युद्ध वृथा ही" केवल उनके तात्कालिक शोक के आधिक्य को व्यंजना मात्र करता है। उसे करुण प्रलाप मात्र समझना चाहिए। इसी दृष्टि से इस प्रकार के करुण प्रलाप राम ऐसे सत्यसंध और वीरव्रती नायकों से भी कराए गए हैं। इनके द्वारा उनके चरित्र में कुछ भी लांछन लगता हुआ नहीं माना जाता।

एक त्रुटि हम्मीरहठ की अवश्य खटकती है। सब अच्छे कवियों ने प्रतिनायक के प्रताप और पराक्रम की प्रशंसा द्वारा उससे भिड़नेवाले या उसे जीतनेवाले नायक के प्रताप और पराक्रम की व्यंजना की है। राम का प्रतिनायक रावण कैसा था? इंद्र, मरुत, यम, सूर्य्य आदि सब देवताओं से सेवा लेनेवाला, पर हम्मीरहठ में अलाउद्दोन एक चुहिया के कोने में दौड़ने से डर के मारे उछल भागता है और पुकार मचाता है।

चंद्रशेखर जी का साहित्यिक भाषा पर बड़ा भारी अधिकार था। अनुप्रास की योजना प्रचुर होने पर भी भद्दी कहीं नहीं हुई, सर्वत्र रस में सहायक ही है। युद्ध, मृगया आदि के वर्णन तथा संवाद आदि सब बड़ी मर्मज्ञता से रखे गए हैं। जिस रस का वर्णन है ठीक उसके अनुकूल पदविन्यास है। जहाँ शृंगार का प्रसंग है वहाँ यही प्रतीत होता है कि किसी सर्वश्रेष्ठ शृंगारी कवि की रचना पढ़ रहे हैं। तात्पर्य यह है कि "हम्मीरहठ" हिंदी साहित्य का एक रत्न है। "तिरिया तेल, हमीर हठ चढ़ै न दूजी बार" वाक्य ऐसे ही ग्रंथ में शोभा देता है। नीचे कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ, दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै, काम रति-प्रीति विनासै॥
तजै गौरि अरधंग, अचल ध्रुव आसन चल्लै।
अचल पवन बरु होय, मेरु मंदर गिरि हल्लै॥
सुरतरु सुखाय, लोमस मरै, मीर! संक सब परिहरौ।
मुख-वचन बीर हम्मीर को बोलि न यह कबहूँ टरौ॥

आलम नेवाज सिरताज पातसाहन के,
गाज ते दराज कोप-नजर तिहारी है॥
जाके डर डिगत अडोल गढ़धारी डग-
मगत पहार औ डुलति महि सारी है॥
रंक जैसो रहत ससंकित सुरेस भयो,
देस देसपति में अतंक अति भारी है॥
भारी गढ़धारी सदा जंग की तयारी,
धाक मानै ना तिहारी या हमीर हठ धारी है॥

भागे मीरजादे पीरजादे औ अमीरजादे,
भागे खानजादे प्रान मरत बचाय कै।
भागे गज बाजि रथ पथ न सँभारैं, परैं
गोलन पै गोल सूर सहमि सकाय कै॥
भाग्यो सुलतान जान बचत न जानि बेगि,
बलित बितुंड पै बिराजि बिलखाय कै।
जैसे लगे जंगल में ग्रीषम की आगि
चलैं भागि मृग महिष बराह बिललाय कै॥

थोरी थोरी बैसवारी नवल किसोरी सबै,
भोरी भोरी बातन बिहँसि मुख मोरतीं।
बसन विभूषन विराजत बिमल वर,
मदन मरोरनि तरकि तन तोरतीं॥
प्यारे पातसाह के परम अनुराग-रँगी,
चाय भरी चायल चपल दृग जोरतीं।
काम-अबला सी, कलाधर की कला सी,
चारु चंपक-लता सी चपला सी चित चोरतीं॥

---

(४५) बाबा दीनदयाल गिरि—ये गोसाईं थे।

*इनका जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी संवत् १८५६ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक पाठक के कुल में हुआ था। जब ये ५ या ६ वर्ष के थे तभी इनके माता पिता इन्हें महंत कुशागिरि को सौंप चल बसे। महंत कुशागिरि पंचक्रोशी के मार्ग में पड़नेवाले देहली विनायक नामक स्थान के अधिकारी थे। काशी में महंत जी के और भी कई मठ थे। वे विशेषतः गायघाट वाले मठ में रहा करते थे। बाबा दीनदयालगिरि भी उनके चेले हो जाने पर प्रायः उसी मठ में रहते थे। जब महंत कुशागिरि के मरने पर बहुत सी जायदाद नीलाम हो गई तब ये देहली-विनायक के पास मौठली गाँव वाले मठ में रहने लगे। बाबाजी संस्कृत और हिंदी दोनों के अच्छे विद्वान थे। बाबू गोपालचंद (गिरधरदास) से इनका बड़ा स्नेह था। *इनका परलोकवास संवत् १६१५ में हुआ। ये एक अत्यंत सहृदय और भावुक कवि थे। इनकी सी अन्योक्तियाँ हिंदी के और किसी कवि की नहीं हुईं। यद्यपि इन अन्योक्तियों के भाव अधिकांश संस्कृत से लिए हुए हैं पर भाषा-शैली की सरसता और पदविन्यास की मनोहरता के विचार से वे स्वतंत्र काव्य के रूप में हैं। बाबा जी का भाषा पर बहुत ही अच्छा अधिकार था। इनकी सी परिष्कृत,स्वच्छ और सुव्यवस्थित भाषा बहुत थोड़े कवियों की है। कहीं कहीं कुछ पूरबीपन या अव्यवस्थित वाक्य मिलते हैं, पर बहुत कम। इसीसे इनकी अन्योक्तियाँ इतनी मर्मस्पर्शिणी हुई हैं। इनका अन्योक्तिकल्पद्रुम हिंदी साहित्य में एक अनमोल वस्तु है। अन्योक्ति के क्षेत्र में कवि की मार्मिकता और सौंदर्य्य-भावना के स्फुरण का बहुत अच्छा अवकाश रहता है। पर इसमें अच्छे भावुक कवि ही सफल हो सकते हैं। लौकिक विषयों पर तो इन्होंने सरस अन्योक्तियाँ कही ही हैं; अध्यात्मपक्ष में भी कई अन्योक्तियाँ बड़ी ही रहस्यमयी और मार्मिक हैं।

बाबा जी को जैसा कोमल व्यंजक पदविन्यास पर अधिकार था वैसा ही शब्द-चमत्कार आदि के विधान पर भी। यमक और श्लेषमयी रचना भी इन्होंने बहुत सी की है। जिस प्रकार ये अपनी भावुकता हमारे सामने रखते हैं उसी प्रकार चमत्कार-कौशल दिखाने में भी नहीं चूकते हैं। इससे जल्दी नहीं कहते बनता कि इनमें कला-पक्ष प्रधान है या हृदय-पक्ष। बड़ी अच्छी बात इनमें यह है कि इन्होंने दोनों को प्रायः अलग अलग रखा है। अपनी मार्मिक रचनाओं के भीतर इन्हों ने चमत्कार-प्रवृत्ति का प्रवेश प्रायः नहीं होने दिया है। अन्योक्तिकल्पद्रुम के आदि में कई श्लिष्ट पद्य आए हैं पर बीच में बहुत कम। इसी प्रकार अनुरागबाग में भी अधिकांश रचना शब्द-वैचित्र्य आदि से मुक्त है। यद्यपि अनुप्रास युक्त सरस कोमल पदावली का बराबर व्यवहार हुआ है। पर जहाँ चमत्कार का प्रधान उद्देश्य रख कर ये बैठे हैं वहाँ श्लेष, यमक, अंतर्लापिका, बहिर्लापिका सब कुछ मौजूद है। सारांश यह कि ये एक बहुरंगी कवि थे। रचना की विविध प्रणालियों पर इनका पूर्ण अधिकार था।

इनकी लिखी इतनी पुस्तकों का पता है—

अन्योक्ति-कल्पद्रुम (सं० १६१२), अनुराग-बाग (सं० १८८८), वैराग्य-दिनेश (सं० १६०६), विश्वनाथ नवरत्न, दृष्टांत-तरंगिणी (सं० १८७६)।

इस सूची के अनुसार इनका कविता-काल संवत् १८७६ से १६१२ तक माना जा सकता है। अनुरागबाग में श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का बड़े ही ललित कवित्तों में वर्णन हुआ है। मालिनी छंद का भी बड़ा मधुर-प्रयोग हुआ है। दृष्टांततरंगिणी में नीति-संबंधी दोहे हैं। विश्वनाथ-नवरत्न शिव की स्तुति है। वैराग्य-दिनेश में एक ओर तो ऋतुओं आदि की शोभा का वर्णन है और दूसरी ओर ज्ञान वैराग्य आदि का। इनकी कविता के कुछ नमूने दिए जाते हैं—

केतो सोम कला करौ, करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमणि *जो द्रवै, यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै दीनदयाल, चंद ! तुमही चित चेतौ।
कूर न कोमल होहिं कला जौ कीजै केतौ॥

बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।

यह तौ ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं ॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष सत जौ जल दैहै।
गरजै तरजै कहा ? वृथा तेरो श्रम जैहै ॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक ! ह्याँ तू बरसै ॥

चल चकई तेहि सर विषे जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही, सुहृद हंस-संदोह।
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख-अंबोह, मोह-दुख होय न ताको।
बरनै दीनदयाल भाग बिन जाय न सकई।
पिय-मिलाप नित रहै, ताहि सर चल तू चकई ॥

कोमल मनोहर मधुर सुरताल सने
नूपुर-निनादनि सों कौन दिन बोलिहै।
नीके मम ही के बुंद-बृंदन सुमोतिन को
गहि कै कृपा की अब चोंचन सों तोलिहैं ॥
नेम धरि छेम सों प्रमुद होय दीनद्याल,
प्रेम-कोकनद बीच कबधौं कलोलिहैं।
चरन तिहारे जदुबंस राजहंस कब
मेरे मन-मानस में मंद मंद डोलिहैं ॥

चरन-कमल राजैं, मंजु मंजीर बाजैं।
गमन लखि लजावैं हंसऊ नाहिं पावैं ॥
सुखद कदम-छाहीं क्रीड़ते कुंज माहीं।
लखि लखि हरिशोभा चित्त काको न लोभा ॥

बहु छुद्रन के मिलन तें हानि बली की नाहिं।
जूथ जंबुकन तें नहीं केहरि कहुँ नसि जाहिं ॥
पराधीनता दुख महा सुखी जगत स्वाधीन।
सुखी रमत सुक बन-बिषै कनक-पींजरे दीन ॥

---

(४६) पजनेस—ये पन्ना के रहनेवाले थे। इनका कुछ विशेष वृतांत प्राप्त नहीं। कविता-काल इनका संवत् १९०० के आस पास माना जा सकता है। कोई पुस्तक तो इनकी नहीं मिलती पर इनकी बहुत सी फुटकल कविता संग्रह-ग्रंथों में मिलती और लोगों के मुँह से सुनी जाती है। इनका स्थान ब्रजभाषा के प्रसिद्धकवियों में है। ठाकुर शिवसिंहजी ने "मधुरप्रिया और नखशिख" नाम की इनकी दो पुस्तकों का उल्लेख किया है, पर वे मिलती नहीं। भारतजीवन प्रेस ने इनकी फुटकल कविताओं का एक संग्रह 'पजनेस प्रकाश' के नाम से प्रकाशित किया है जिसमें १२७ कवित्त-सवैया हैं। इनकी कविताओं को देखने से पता चलता है कि ये फ़ारसी भी जानते थे। एक सवैया में इन्होंने फ़ारसी के शब्द और वाक्य भरे हैं। इनकी रचना शृंगाररस की ही है, पर उसमें कठोर वर्णों (जैसे ट, ठ, ड) का व्यवहार यत्र तत्र बराबर मिलता है। ये 'प्रतिकूल-वर्णत्व' की परवा कम करते थे। पर इसका तात्पर्य यह नहीं कि कोमल अनुप्रासयुक्त ललित भाषा का व्यवहार इनमें नहीं है। पद-विन्यास इनका अच्छा है। इनके फुटकल कवित्त अधिकतर अंग-वर्णन के मिलते हैं जिनसे अनुमान होता है कि इन्होंने कोई नखशिख लिखा होगा। शब्द-चमत्कार पर इनका ध्यान विशेष रहता था जिससे कहीं कहीं कुछ भद्दापन आ जाता था। कुछ नमूने लीजिए—

छहरै छबीली छटा छूटि छितिमंडल पै,
उमग उजेरो महाओज उजबक सी।
कवि पजनेस कंज-मंजुल-मुखी के गात,
उपमाधिकाति कल कुंदन तबक सी ॥
फैली दीपदीप दीप-दीपति दिपति जाकी,
दीपमालिका की रही दीपति दबक सी।
परत न ताब लखि मुख माहताब जब
निकसी सिताब आफताब की भभक सी ॥

पजनेस तसद्दुक ता बिसमिल जुल्फ़े फुरकत न कबूल कसे।
महबूब चुनाँ बदमस्त सनम अज़दस्त अलावल जुल्फ बसे ॥
मजमूए, न काफ़ शिगाफ़ रुए सम क्यामत चश्म से खूँ बरसे।
मिज़गाँ सुरमा तहरीर दुतां नुकते बिन बे, किन ते, किन से ॥

---

(४७) गिरिधरदास-ये भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के पिता थे और ब्रजभाषा के बहुत ही प्रौढ़ कवि थे।

इनका नाम तो बाबू गोपालचंद्र था पर कविता में अपना उपनाम ये 'गिरिधरदास,' 'गिरिधर' गिरिधारन' रखते थे। भारतेंदु ने इनके संबंध में लिखा है कि "जिन श्री गिरिधरदास कवि रचे ग्रंथ चालीस"। इनका जन्म पौष कृष्ण १५ संवत् १८९० को हुआ। इनके पिता काले हर्षचंद, जो काशी के बहुत बड़े प्रतिष्ठित रईस थे, इन्हें ग्यारह वर्ष के छोड़ कर ही परलोक सिधारे। इन्होंने अपने निज के परिश्रम से संस्कृत और हिंदी में बड़ी स्थिर योग्यता प्राप्त की और पुस्तकों का एक बहुत बड़ा और अनमोल संग्रह किया। पुस्तकालय का नाम इन्होंने "सरस्वती-भवन" रखा जिसका मूल्य स्वर्गीय डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र एक लाख रुपया तक दिलवाते थे। इनके यहाँ उस समय के विद्वानों और कवियों की मंडली बराबर जमी रहती थी और इनका समय अधिकतर काव्य-चर्चा में ही जाता था। इनका परलोकवास संवत् १९१७ में हुआ।

भारतेंदुजी ने इनके लिखे ४० ग्रंथो का उल्लेख किया है जिनमें से बहुतों का पता नहीं है। भारतेंदु जी के दौहित्र हिंदी के उत्कृष्ट लेखक श्रीयुत् बाबू ब्रजरत्नदास जी ने अपनी देखी हुई इन अठारह पुस्तकों के नाम इस प्रकार दिए हैं—

जरासंधवध महाकाव्य, भारतीभूषण (अलंकार), भाषाव्याकरण (पिंगल-संबंधी), रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन, मत्स्यकथामृत, बाराहकथामृत, नृसिंहकथामृत, वामनकथामृत, परशुरामकथामृत, रामकथामृत, बलरामकथामृत (कृष्णचरित्र ४७०१ पदो में), बुद्धकथामृत, कल्किकथामृत, नहुषनाटक, गर्गसंहिता (कृष्णचरित दोहे चौपाई में बड़ा ग्रंथ), एकादशी माहात्म्य।

इनके अतिरिक्त भारतेन्दु जी के एक नोट के अधार पर स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास ने इन २१ और पुस्तकों का उल्लेख किया है—

वाल्मीकि रामायण (सातोकांड पद्यानुवाद), छंदोर्णव, नीति, अद्भुतरामायण, लक्ष्मीनखशिख, वार्तासंस्कृत, ककारादि सहस्रनाम, गयायात्रा, गयाष्टक, द्वादश दलकमल, कीर्तन, संकर्षणाष्टक, दनुजारिस्तोत्र, शिवस्तोत्र, गोपालस्तोत्र, भगवतस्तोत्र, श्रीरामस्तोत्र, श्रीराधास्तोत्र, रामाष्टक, कालियकालाष्टक।

इन्होंने दो ढंग की रचनाएँ की हैं। गर्गसंहिता आदि भक्तिमार्ग की कथाएँ तो सरल और साधारण पद्यों में कही हैं, पर काव्यकौशल की दृष्टि से जो रचनाएँ की हैं—जैसे जरासंधवध, भारतीभूषण, रसरत्नाकर, ग्रीष्मवर्णन—वे यमक और अनुप्रास आदि से इतनी लदी हुई हैं कि बहुत स्थलों पर दुरूह हो गई हैं। सब से अधिक इन्होंने यमक और अनुप्रास का चमत्कार दिखाया है। अनुप्रास और यमक का ऐसा विधान जैसा जरासंधवध में है और कहीं नहीं मिलेगा। जरासंधवध अपूर्ण है, केवल ११ सर्ग तक लिखा गया है, पर अपने ढंग का अनूठा है। जो कविताएँ देखी गई हैं उनसे यही धारणा होती है कि इनका झुकाव कलापक्ष की ओर अधिक था। रसात्मकता इनकी रचनाओं में वैसी नहीं पाई जाती। २७ वर्ष की ही आयु पाकर इतनी अधिक पुस्तकें लिख डालना पद्यरचना का अद्भुत अभ्यास सूचित करता है। इनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं।

(जरासंधवध से)

खल्यो दरद जेहि फरद रच्यो बिधि मित्र-दरद-हर।
सरद सरोरुह बदन जाचकन-बरद मरद बर॥
लसत सिंह सम दुरद नरद दिसि-दुरद-अरद-कर।
निरखि होत अरि सरद हरद सम जरद-कांति-धर॥
कर करद करत बे परद जब गरद मिलत बपु गाज को।
रन जुआ-नरद वित नृप लख्यो करद मगध-महराज को॥

सब के सब केसव केसब के हित के गज सोहते सोभा अपार हैं।
जब सैलन सैलन सैलन ही फिरैं सैलन सैलहि सीस प्रहार हैं॥
'गिरिधारन' धारन सों पदकंजल धारन लै बसु धारन फार है।
अरि बारन बारन बारन पै सुर वारन वारन वारन वार हैं॥

(भारतीभूषण से)

असंगति—सिंधु जनित गर हर पियो, मरे असुर समुदाय।
नैन-बान नैनन लग्यो, भयो करेजे घाय॥

(रसरत्नाकर से)

जाहि बिवाहि दियो पितु मातु ने पावक साखि सबै जग जानी।
साहब से 'गिरिधारन जू' भगवान समान कहै मुनि ज्ञानी॥
तू जो कहै वह दच्छिन है तो हमैं कहा बाम हैं बाम अजानी।
भागन सो पति ऐसो मिलै सबहीन को दच्छिन जो सुखदानी॥

(ग्रीष्मवर्णन से)

जगह जड़ाऊ जामे जड़े है जवाहिरात,
जगमग जोति जाकी जग में जमति है।
जामें जदु जानि जान प्यारी जातरूप ऐसी,
जगमुख ज्वाल ऐसी जोन्ह सी जगति है॥
'गिरधर दास' जोर जबर जवानी को है,
जोहि जोहि जलजा हू जीव में जकति है।
जगत के जीवन के जिय को चुराए जोय,
जोए जोषिता को जेठ-जरनि जरति है॥

---

(४८) द्विजदेव (महाराज मानसिंह)—ये अयोध्या के महाराज थे और बड़ी ही सरस कविता करते थे। ऋतुओं के वर्णन इनके बहुत ही मनोहर हैं। इनके भतीजे भुवनेश जी (श्री त्रिलोकीनाथ जी, जिनसे अयोध्यानरेश ददुआ साहब से राज्य के लिए अदालत हुई थी) ने द्विजदेव जी की दो पुस्तकें बताई हैं, शृंगार बत्तीसी और शृंगारलतिका। ये शायद प्रकाशित नहीं हुई हैं। पर द्विजदेव के कवित्त काव्यप्रेमियों में वैसे ही प्रसिद्ध हैं जैसे पदमाकर के। ब्रजभाषा के शृंगारी कवियों की परंपरा में इन्हें अंतिम प्रसिद्ध कवि समझना चाहिए। जिस प्रकार लक्षणग्रंथ लिखनेवाले कवियों में पदमाकर अंतिम प्रसिद्ध कवि हैं उसी प्रकार समूची शृंगार-परंपरा में ये। इनकी सी सरस और भावमयी फुटकल शृंगारी कविता फिर दुर्लभ हो गई।

इनमें बड़ा भारी गुण है भाषा की स्वच्छता। अनुप्रास आदि शब्द-चमत्कारों के लिये इन्होंने भाषा भद्दी कहीं नहीं होने दी है। ऋतु-वर्णनों में इनके हृदय का उल्लास उमड़ा पड़ता है। बहुत से कवियों के ऋतु-वर्णन हृदय की सच्ची उमंग का पता नहीं देते, रस्म सी अदा करते जान पड़ते हैं। पर इनके चकोरों की चहक के भीतर इनके मन की चहक भी साफ़ झलकती है। एक ऋतु के उपरांत दूसरी ऋतु के आगमन पर इनका हृदय अगवानी के लिये मानो आपसे आप आगे बढ़ता था। इनकी कविता के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं—

मिलि माधवी मादिक फूल के ब्याज विनोद-लवा बरसायो करैं।
रचि नाच लतागन तानि बितान सबै विधि चित्त चुरायो करैं॥
द्विजदेव जू देखि अनोखी प्रभा अलि-चारन कीरति गायो करैं।
चिरजीवो, बसंत! सदा द्विजदेव प्रसूनन की झरि लायो करैं॥

सुरही के भार सूधे सबद सुकीरन के
मंदिरन त्यागि करैं अनत कहूँ न गौन।
द्विजदेव त्यौं ही मधुभारन अपारन सों
नेकु झुकि झूमि रहे मोगरे मरुअ दौन॥
खोलि इन नैनन निहारौं तौ निहारौं कहा?
सुषमा अभूत छाय रही प्रति भौन भौन।
चाँदनी के भारन दिखात उनयो सो चंद,
गंध ही के भारन बहत मंद मंद पौन॥

बोलि हारे कोकिल, बुलाय हारे केकीगन,
सिखै हारीं सखी सब जुगुति नई नई।
द्विजदेव की सौं लाज बैरिन कुसंग इन
अँगन हू आपने अनीति इतनी ठई।
हाय इन कुंजन तें पलटि पधारे स्याम,
देखन न पाई वह मूरति सुधामई।
आवन समैं मे दुखदाइनि भई री लाज,
चलन समैं मे चल पलन दगा दई॥

बाँके संकहीने राते कंज-छबि छीने माते,
झुकि झुकि झूमि झूमि काहू को कछू गनै न।
द्विजदेव की सौं ऐसी बनक बनाय बहु
भाँतिन बगारे चित चाहन चहूँधा चैन।
पेखि परे प्रात जौ पै गातन उछाह भरे,
बार बार तातें तुम्है बूझती कछूक बैन।

एहो ब्रजराज ! मेरो प्रेमधन लूटिबे को
बीरा खाय आए कितै आपके अनोखे नैन ?

भूले भूले भौंर बन भाँवरैं भरैंगे चहूँ,
फूलि फूलि किंसुक जके से रहि जायहैं।
द्विजदेव की सौं वह कूजन बिसारि कूर
कोकिल कलंकी ठौर ठौर पछितायहैं॥
आवत बसंत के न ऐहैं जो पै स्याम तो पै
बावरी ! बलाय सों, हमारेऊ उपाय है।
पीहैं पहिलेई तें हलाहल मँगाय या
कलानिधि की एकौ कला चलन न पायहै॥

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घेरि,
छहरि छहरि बिष-बूँद बरसावैं ना।
द्विजदेव की सौं अब चूक मत दावँ,
एरे पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना॥
फेरि ऐसो औसर न ऐहै तेरे हाथ, एरे,
मटकि मटकि मोर सोर तू मचावै ना।
हौं तौ बिन प्रान, प्रान चहत तजोई अब,
कत नभ चंद तू अकास चढ़ि धावै ना॥

आधुनिक काल।

(गद्य काल)

(संवत् १९००-१९८०)

रीति-काल के समाप्त होते होते अंगरेजी राज्य देश में पूर्ण रूप से स्थापित हो गया। इस राजनीतिक घटना के साथ ही साथ देशवासियों की शिक्षा विधि में भी परिवर्त्तन हो चला। अँगरेज सरकार ने अंगरेजी की शिक्षा के प्रचार की व्यवस्था की। सबसे पहले १८५४ में चार्ल्स ग्रांट ने ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों के पास अंगरेजी की शिक्षा द्वारा भारतवासियों को शिक्षित बनाने का परामर्श भेजा था। पर उस समय उस पर कुछ न हुआ। पीछे राजा राममोहन राय प्रभृति कुछ शिक्षित और प्रभावशाली सज्जनों के उद्योग से अंगरेजी की पढ़ाई के लिये कलकत्ते में हिंदू कालेज की स्थापना हुई जिसमें से लोग अंगरेजी पढ़ पढ़ कर निकलने और सरकारी नौकरियाँ पाने लगे। देशी-भाषा पढ़ कर भी कोई शिक्षित हो सकता है, यह विचार उस समय तक लोगों को न था। अंगरेजी के सिवाय यदि किसी भाषा पर ध्यान जाता था तो संस्कृत या अरबी पर। संस्कृत की पाठशालाओं और अरबी के मदरसों को सरकार से थोड़ी बहुत सहायता मिलती आ रही थी। पर अंगरेजी के शौक़ के सामने इन पुरानी संस्थाओं की ओर से लोग उदासीन होने लगे। धीरे धीरे इनको जो सहायता मिलती थी वह भी बंद हो गई। संवत् १८८३ में लार्ड मेकाले ने अंगरेजी-शिक्षा के प्रचार का जो बड़े जोरों के साथ समर्थन लिखा था उसमें पूर्वीय साहित्य के प्रति उपेक्षा का भाव प्रकट करते हुए भी उन्होंने देशभाषा द्वारा शिक्षा की संभावना स्वीकार की थी।

बात यह थी कि संस्कृत या अरबी तो व्यवहार योग्य मानी नहीं जा सकती थीं। व्यवहार की कठिनता के कारण ही सरकारी दफ्तरों से फारसी उठाई गई और उसके स्थान पर अंगरेजी और देशीभाषा (हिंदुस्तानी आदि) की व्यवस्था की गई। कहने की आवश्यकता नहीं कि देश के अधिकांश हिंदीभाषी भूखंड में जो भाषा सरकारी बनाई गई वह उर्दू थी। दफ्तरों और अदालतों की भाषा उर्दू नियत हो जानेपर भी विचारशील अंगरेज इस बात को अच्छी तरह समझते थे कि वह सर्वसाधारण की भाषा नहीं है, उसमें देश के परंपरागत साहित्य का संचय नहीं है। अतः वे जिस प्रकार अदालती व्यवहार की भाषा उर्दू सीखना आवश्यक समझते थे उसी प्रकार उन्हें देश की प्रचलित और परंपरागत साहित्यिक भाषा सीखने की भी उत्कंठा रहती थी। पर साहित्य की भाषा तो ब्रजभाषा थी जो ब्रजमंडल के बाहर बोलचाल की भाषा नहीं थी। देश के भिन्न भिन्न भागों में मुसलमानों के फैलने के साथ ही दिल्ली की खड़ी बोली शिष्ट-समुदाय के परस्पर व्यवहार की भाषा हो चली थी। खुसरो ने विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में ही ब्रजभाषा के साथ साथ ख़ालिस खड़ी बोली में कुछ पद्य और पहेलियाँ बनाई थीं। औरंगज़ेब के समय से तो फ़ारसी-मिश्रित खड़ी बोली या रेख़्ता

में शायरी भी शुरू हो गई और उसका प्रचार फ़ारसी पढ़े लिखे लोगों में बराबर बढ़ता गया। इस प्रकार खड़ी बोली को लेकर उर्दू साहित्य खड़ा हुआ, जिसमें आगे चलकर विदेशी भाषा के शब्दों का मेल भी बराबर बढ़ता गया और जिसका आदर्श भी विदेशी होता गया।

मोगल साम्राज्य के ध्वंस से भी खड़ी बोली के फैलने में सहायता पहुँची। दिल्ली, आगरे आदि पच्छाहीं शहरों की समृद्धि नष्ट हो चली और लखनऊ, पटना, मुर्शिदाबाद आदि नई राजधानियाँ चमक उठीं। जिस प्रकार उजड़ती हुई दिल्ली को छोड़ छोड़कर मीर, इंशा आदि अनेक उर्दू-शायर पूरब की ओर आने लगे उसी प्रकार दिल्ली के आसपास के प्रदेशों की हिंदू व्यापारी जातियाँ (अगरवाले, खत्री आदि) जीविका के लिये लखनऊ, फैज़ाबाद, प्रयाग, काशी, पटना आदि पूरबी शहरों में फैलने लगीं। उनके साथ साथ उनकी बोलचाल की भाषा खड़ीबोली भी लगी चलती थी। यह सिद्ध बात है कि उपजाऊ और सुखी प्रदेशों के लोग व्यापार में उद्योगशील नहीं होते। अतः धीरे धीरे पूरब के शहरों में भी इन पच्छिमी व्यापारियों की प्रधानता हो चली। इस प्रकार बड़े शहरों के बाजार की व्यावहारिक भाषा भी खड़ी बोली हुई। यह खड़ी बोली असली और स्वाभाविक भाषा थी; मौलवियों और मुंशियों की उर्दू-ए-मुअल्ला नहीं। यह अपने ठेठ रूप में बराबर पछाँह से आई हुई जातियों के घरों में बोली जाती है। अतः कुछ लोगों का यह कहना या समझना कि मुसलमानों के द्वारा ही खड़ी बोली अस्तित्व में आई और उसका मूल रूप उर्दू है जिससे आधुनिक हिंदीगद्य की भाषा अरबी फ़ारसी शब्दों को निकालकर बना ली गई, शुद्ध भ्रम या अज्ञान है। इस भ्रम का कारण यही है कि देश के परंपरागत साहित्य की—जो संवत् १६०० के पूर्व तक पद्यमय ही रहा—भाषा ब्रजभाषा ही रही और खड़ीबोली वैसे ही एक कोने में पड़ी रही जैसे और प्रांतों की बोलियाँ। साहित्य या काव्य में उसका व्यवहार नहीं हुआ।

पर किसी भाषा का साहित्य में व्यवहार न होना इस बात का प्रमाण नहीं है कि उस भाषा का अस्तित्व ही नहीं था। उर्दू का रूप प्राप्त होने के पहले भी खड़ी बोली अपने देशी रूप में वर्त्तमान थी और अब भी बनी हुई है। साहित्य में भी कभी कभी कोई इसका व्यवहार कर देता था। अकबर के समय में गंग कवि ने "चंद छंद बरनन की महिमा" नामक गद्य-पुस्तक खड़ी बोली में लिखी थी। उसकी भाषा का नमूना देखिए—

"सिद्धि श्री १०८ श्री श्री पातसाहि जी श्री दलपति जी अकबरसाह जी आमखास में तखत ऊपर बिराजमान हो रहे। और आमखास भरने लगा है जिसमें तमाम उमराव आय आय कुर्निश बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करे अपनी अपनी मिसल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रस्से में रेसम की लूमें पकड़ पकड़ के खड़े ताज़ीम में रहे।

× × × ×

इतना सुनके पातसाहि जी श्री अकबरसाह जी आद सेर सोना नरहरदास चारन को दिया। इनके डेढ़ सेर सोना हो गया। रास बंचना पूरन भया। आमखास बरखास हुआ।"

संवत् १६८० में मेवाड़ के रहनेवाले जटमल ने गोरा बादल की जो कथा लिखी थी वह कुछ राजस्थानीपन लिए खड़ीबोली में थी। भाषा का नमूना देखिए—

"गोराबादल की कथा गुरू के बस, सरस्वती के मैहरबानगी से, पूरन भई; तिस वास्ते गुरु कूँ व सरस्वती कूँ नमस्कार करता हूँ। ये कथा सोलः से असी के साल में फागुन सुदी पूनम के रोज बनाई। ये कथा में दो रस है—बीररस व सिंगार रस है, सो कथा मोरछड़ो नावँ गाँव का रहनेवाला कबेसर। उस गाँव के लोग भोहोत सुखी है। घर घर में आनंद होता है, कोई घर में फकीर दीखता नहीं।"

इन दोनों अवतरणों से स्पष्ट पता लगता है कि अकबर और जहाँगीर के समय में ही खड़ीबोली भिन्न भिन्न प्रदेशों में शिष्ट-समाज के व्यवहार की भाषा हो चली थी। यह भाषा उर्दू नहीं कही जा सकती, इसमें 'नमस्कार', 'सुखी', 'आनंद', 'वीररस' आदि संस्कृत शब्द

उसी प्रकार आए हैं जिस प्रकार आजकल आते हैं। यह हिंदी खड़ीबोली है।"

अकबर के पहले निर्गुण-धारा के संत कवि किस प्रकार अपनी मौज में आकर खड़ीबोली का व्यवहार बराबर कर जाते थे इसका उल्लेख "भक्ति-काल" के भीतर हो चुका है। कबीरदास जी के ये वचन ही लीजिए—

कबीर मन निर्मल भया जैसा गंगा नीर।

× × × × × ×

कबीर कहता जात हूँ सुनता है सब कोइ।
राम कहे भला होयगा नहिंतर भला न होइ॥

× × × × × ×

आऊँगा न जाऊँगा, मरूँगा न जीऊँगा।
गुरु के सबद रम रम रहूँगा॥

और पुराने, हम्मीर के समय के या उसके भी पहले, भोज के समय तक के, उदाहरण भी बहुत से प्राप्त हैं; जैसे—

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि! महारा कंतु।

× × × × × ×

अड़बिहि पत्ती नइहि जलु तो वि न बूहा हत्थ।

× × × × × ×

सोउ जुहिट्ठिर संकट पाआ। देवक लेखिअ कोण मिटाआ॥

ऊपर जो कहा गया कि खड़ीबोली का ग्रहण देश के परंपरागत साहित्य में नहीं हुआ उसका अर्थ यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिए। उक्त कथन में साहित्य से अभिप्राय लिखित साहित्य का है, कथित या मौखिक का नहीं। कोई भाषा हो उसका कुछ न कुछ साहित्य अवश्य होता है—चाहे वह लिखित न हो, श्रुति-परंपरा द्वारा ही चला आता हो। अतः खड़ीबोली के भी कुछ गीत, कुछ पद्य, कुछ तुकबंदियाँ खुसरो के पहले से अवश्य चली आती होंगी। खुसरो की सी पहेलियाँ दिल्ली के आसपास प्रचलित थीं जिनके नमूने पर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ या मुकरियाँ कहीं। हाँ, फ़ारसी पद्य में खड़ी बोली को ढालने का खुसरो का प्रयत्न प्रथम कहा जा सकता है।

खड़ीबोली का रूप रंग जब मुसलमानों ने बहुत कुछ बदल दिया और वे उसमें विदेशी भावों का भंडार भरने लगे तब हिंदी के कवियों की दृष्टि में वह मुसलमानों की ख़ास भाषा सी जँचने लगी। इससे भूषण, सूदन आदि कवियों ने मुसलमानी दरबारों के प्रसंग में या मुसलमान पात्रों के भाषण में इस बोली का व्यवहार किया है। पर जैसा कि अभी दिखाया जा चुका है, मुसलमानों के दिए हुए कृत्रिम रूप से स्वतंत्र खड़ीबोली का स्वाभाविक देशी रूप भी देश के भिन्न भिन्न भागों में पछाँह के व्यापारियों आदि के साथ साथ फैल रहा था। उसके प्रचार और उर्दू-साहित्य के प्रचार से कोई संबंध नहीं। धीरे धीरे यही खड़ीबोली व्यवहार की सामान्य शिष्ट भाषा हो गई। जिस समय अंगरेज़ी राज्य भारत में प्रतिष्ठित हुआ उस समय सारे उत्तरी भारत में खड़ीबोली व्यवहार की शिष्ट भाषा हो चुकी थी। जिस प्रकार उसके उर्दू कहलानेवाले कृत्रिम रूप का व्यवहार मौलवी मुंशी आदि फ़ारसी तालीम पाए हुए कुछ लोग करते थे उसी प्रकार उसके असली स्वाभाविक रूप का व्यवहार हिंदू साधु, पंडित, महाजन आदि अपने शिष्ट भाषण में करते थे। जो संस्कृत पढ़े लिखे या विद्वान् होते थे उनकी बोली में संस्कृत के शब्द भी मिले रहते थे।

अंगरेज यद्यपि विदेशी थे पर उन्हें यह स्पष्ट लक्षित हो गया कि जिसे उर्दू कहते हैं न तो वह देश की स्वाभाविक भाषा है न उसका साहित्य देश का साहित्य है, जिसमें जनता के भाव और विचार रक्षित हों। इसीलिये जब उन्हें देश की भाषा सीखने की आवश्यकता हुई और वे गद्य की खोज में पड़े तब दोनों प्रकार की पुस्तकों की आवश्यकता हुई—उर्दू की भी और हिंदी (शुद्ध खड़ीबोली) की भी। पर उस समय गद्य की पुस्तकें वास्तव में न उर्दू में थीं और न हिंदी में। जिस समय फ़ोर्ट विलियम कालेज की ओर से उर्दू और हिंदी गद्य की पुस्तकें लिखाने की व्यवस्था हुई उसके पहले हिंदी खड़ीबोली गद्य की दो पुस्तकें लिखी जा चुकी थीं—मुंशी सदासुखलाल का 'सुखसागर' (भागवत की कथा का अनुवाद) और इंशाअल्ला खाँ की "रानी केतकी की कहानी।" अतः यह कहना कि अंगरेज़ों की प्रेरणा से ही हिंदी खड़ी

बोली गद्य का प्रादुर्भाव हुआ, ठीक नहीं है। जिस समय दिल्ली के उजड़ने के कारण उधर के हिंदू व्यापारी तथा अन्य वर्ग के लोग जीविका के लिये देश के भिन्न भिन्न भागों में फैल गए और खड़ीबोली अपने स्वाभाविक देशी रूप में शिष्टों की बोलचाल की भाषा हो गई उसी समय से लोगों का ध्यान उसमें गद्य लिखने की ओर गया। तब तक हिंदी और उर्दू दोनों का साहित्य पद्यमय ही था। हिंदी-कविता में परंपरा-गत काव्यभाषा व्रज-भाषा का व्यवहार चला आता था और उर्दू-कविता में खड़ीबोली के अरबी-फारसी मिश्रित रूप का। जब खड़ी बोली अपने असली रूप में भी चारों ओर फैल गई तब उसकी व्यापकता और भी बढ़ गई और हिंदीगद्य के लिये उसके ग्रहण में सफलता की संभावना दिखाई पड़ी।

इसी लिए जब संवत् १८६० में फोर्टविलियम कालेज (कलकत्ता) के अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट ने देशी भाषा की गद्य-पुस्तकें तैयार कराने की व्यवस्था की तब उन्होंने उर्दू और हिंदी दोनों के लिये अलग अलग प्रबंध किया। इसका मतलब यही है कि उन्होंने उर्दू से स्वतंत्र हिंदी खड़ीबोली का अस्तित्व सामान्य शिष्ट भाषा के रूप में पाया। फ़ोर्ट विलियम कालेज के आश्रय में लल्लूलाल जी गुजराती ने खड़ीबोली के गद्य में "प्रेमसागर" और सदल मिश्र ने 'नासिकेतोपाख्यान' लिखा। अतः खड़ीबोली गद्य की नियमित रूप से प्रतिष्ठा करनेवाले एक ही समय में चार महानुभाव हुए है—मुंशी सदासुख लाल, सैयद इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र।

इसके पूर्व हिंदीगद्य का अस्तित्व किस परिमाण और किस रूप में था, संक्षेप में इसका विचार कर लेना चाहिए। हिंदी-पुस्तकों की खोज में हठयोग, ब्रह्मज्ञान आदि संबंधी बहुत से ग्रंथ गोरखनाथ के नाम पर मिले हैं जिनका निर्माण-काल संवत् १४०७ के आसपास है। इनमें से अधिकांश तो स्पष्ट ही गोरखनाथ के लिखे नहीं; उनके भक्त शिष्यों के लिखे हैं—जैसे, गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरखसंवाद, गोरखनाथ जी की सत्रह कला-इत्यादि। पर कुछ ग्रंथ ऐसे हैं—जैसे, गोरखनाथ की बानी, गोरखनाथ के पद, ज्ञानसिद्धांत जोग—जो उनके लिखे अनुमान किए जा सकते हैं। पर हमारी धारणा इन सब ग्रंथों के संबंध में यह है कि ये स्वयं गोरखनाथ जी के लिखे नहीं हैं; बल्कि पीछे से श्रुति-परंपरा के आधार पर उनके शिष्यों द्वारा संगृहीत या रचित हैं। गोरखनाथ जी हठयोग के प्रधान प्रवर्त्तक माने जाते हैं। हठयोग का उनका एक ग्रंथ संस्कृत में मिलता है। उनका समय १४०० से और पहले समझ पड़ता है। तिब्बत, नैपाल, सिकिम आदि पहाड़ी देशों में बौद्धों की महायान शाखा के प्रभाव से तंत्र और योग का बहुत प्रचार रहा। शैव और बौद्ध दोनों समान भाव से योगसाधन के पीछे लगे रहा करते थे और उनमें कोई भेद नहीं दिखाई पड़ता था। शैव और बौद्ध धर्मों की यह एकरूपता नैपाल में अब तक बनी हुई है। हमारा अनुमान है कि गोरखनाथ जी नैपाल की ओर से ही तराई में उतरे और अंत में उन्होंने उस स्थान पर समाधि ली जहाँ गोरखपुर है। गोरखपंथी साधु कनफटे कहलाते हैं। उनके कानों की लवें स्फटिक की भारी-मुद्रा पहनते पहनते बहुत बढ़ जाती हैं। बौद्धों के यहाँ बुद्धों और बोधिसत्वों के कान भी बड़े कहे गए हैं।

मिले हुए ग्रंथ चाहे गोरखनाथ जी के न हों—उनकी शिष्य परंपरा में किसी के हों—पर हैं वे संवत् १४०७ के आस पास के, क्योंकि इनमें से किसी किसी में निर्माण काल दिया हुआ है। एक ग्रंथ गद्य में भी है जिसका लिखनेवाला 'पूछिबा', 'कहिबा' आदि प्रयोगों के कारण राजपूताने का निवासी जान पड़ता है। साहित्य की भाषा व्रजभाषा ही चली आती थी। अतः इस पुस्तक की भाषा भी व्रज ही है। इस भाषा को हम—चाहे वह जिसकी हो—संवत् १४०० के गद्य का नमूना मान सकते हैं। थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"श्री गुरु परमानंद तिनको दंडवत है। है कैसे परमानंद, आनंद स्वरूप है सरीर जिन्हि को। जिन्हि के नित्य गाए तें सरीर चेतन्नि अरु आनंदमय होतु है। मैं जु हौं गोरिष सो मछंदरनाथ को दंडवत करत हौं। हैं कैसे वे मछंदरनाथ? आतमजोति निश्चल है अंतहकरन जिनके

अरु मूलद्वार तैं छह चक्र जिनि नीकी तरह जानैं।....
स्वामी तुम्ह तो सतगुर, अम्ह तो सिष। सबद एक पूछिबा, दया करि कहिबा, मनि न करिबा रोस"।

इसे हम निश्चयपूर्वक व्रजभाषा का पुराना रूप मान सकते हैं। 'अम्ह,' 'तुम्ह' सर्वनाम और अधिकरण का रूप "मनि" (मन में) प्राचीनता के लक्षण हैं। साथ ही यह भी ध्यान होता है कि यह किसी संस्कृत लेख का "कथंभूती" अनुवाद न हो। चाहे जो हो, है यह संवत् १४०० के व्रजभाषा-गद्य का नमूना।

इसके उपरांत सगुणोपासना की कृष्णभक्ति-शाखा में दो सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथ व्रज भाषा के मिलते हैं। "चौरासी वैष्णवों की वार्त्ता" तथा "दो सौ बावन वैष्णवों की वार्त्ता"। ये दोनों वार्त्ताएँ आचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्य जी के पौत्र और गोसाईं बिट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की लिखी हैं। इनमें वैष्णव भक्तों और आचार्य्य जी की महिमा प्रकट करनेवाली कथाएँ लिखी गई हैं। इनका रचनाकाल संवत् १६२५ और १६५० के बीच अर्थात् विक्रम की १७ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध माना जा सकता है। ये कथाएँ बोलचाल की व्रजभाषा में लिखी गई हैं जिसमें कहीं कहीं बहुत प्रचलित अरबी फारसी शब्द भी निःसंकोच रखे गए हैं। साहित्यिक निपुणता या चमत्कार की दृष्टि से ये कथाएँ नहीं लिखी गई हैं। उदाहरण के लिए यह उद्धृत अंश पर्य्याप्त होगा—

"सो श्री नंदगाम में रहतो हतो। सो खंडन ब्राह्मण शास्त्र पढ़्यो हतो। सो जितने पृथ्वी पर मत हैं सब को खंडन करतो; ऐसो वाको नेम हतो याही तें सब लोगन ने वाको नाम खंडन पार्‌यो हतो। सो एक दिन श्री महाप्रभुजी के सेवक वैष्णवन की मंडली में आयो। सो खंडन करन लाग्यो। वैष्णवन ने कही "जो तेरो शास्त्रार्थ करनो होवै तो पंडितन के पास जा, हमारी मंडली में तेरे आयबो को काम नहीं। इहाँ खंडन मंडन नहीं है। भगवद्वार्त्ता को काम है। भगवद्यश सुननो होवै तो इहाँ आवो"।

प्रचार के उद्देश्य से लिखा हुआ यह गद्य कैसा सरल और ठिकाने का है। उस काल से आगे उत्तरोत्तर व्रजभाषा गद्य की भी उन्नति यदि होती आती तो विक्रम की इस शताब्दी के आरंभ में भाषा-संबंधिनी बड़ी विषम समस्या उपस्थित होती। जिस धड़ाके के साथ खड़ीबोली गद्य के लिये ले ली गई उस धड़ाके के साथ न ली जा सकती। कुछ समय सोच-विचार और वाद-विवाद में जाता और कुछ समय तक दो प्रकार के गद्य की धाराएँ साथ साथ दौड़ लगातीं। अतः भगवान् का यह भी एक अनुग्रह समझना चाहिए कि यह भाषा-विप्लव नहीं संघटित हुआ और खड़ीबोली, जो कभी अलग और कभी व्रजभाषा की गोद में दिखाई पड़ जाती थी, धीरे धीरे व्यवहार की शिष्ट भाषा होकर गद्य के नये मैदान में दौड़ पड़ी।

गद्य लिखने की परिपाटी का सम्यक् प्रचार न होने के कारण व्रजभाषा गद्य जहाँ का तहाँ रह गया। उपर्युक्त "वैष्णव वार्त्ताओं" में उसका जैसा परिष्कृत और सुव्यवस्थित रूप दिखाई पड़ा वैसा फिर आगे चल कर नहीं। काव्यों की टीकाओं आदि में जो थोड़ा बहुत गद्य देखने में आता था वह बहुत ही अव्यवस्थित और अशक्त था। उसमें अर्थों और भावों को भी सम्बद्ध रूप में प्रकाशित करने की शक्ति न थी। ये टीकाएँ संस्कृत की "इत्यमरः" और "कथं भूतम्" वाली टीकाओं की पद्धति पर लिखी जाती थीं। इससे इनके द्वारा गद्य की उन्नति की संभावना न थी। भाषा ऐसी अनगढ़ और लद्धड़ होती थी कि मूल चाहे समझ में आ जाय पर टीका की उलझन से निकलना कठिन समझिए। विक्रम की अठारहवीं शताब्दी की लिखी "श्रृंगार-शतक" की एक टीका की कुछ पँक्तियाँ देखिए—

"उन्मत्तप्रेमसंरम्भादालभन्ते यदंगनाः
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः॥"

"अंगना जु है स्त्री सु। प्रेम के अति आवेश करि। जु कार्य करन चाहति है ता कार्य्य विषै। ब्रह्माऊ। प्रत्यूहं आधातुं। अन्तराउ कीबे कहँ। कातर। कादरु है। कादरु कहावै असमर्थ। जु कछु स्त्री कर्‌यो चाहैं सु अवस्य करहिं। ताको अन्तराउ ब्रह्मा पहँ न कर्‌यो जाइ

और को कितीक बात"।

आगे बढ़ कर संवत् १८७२ की लिखी जानकीप्रसाद वाली रामचंद्रिका की प्रसिद्ध टीका लीजिए तो उसकी भाषा की भी यही दशा है—

"राघव-शर लाघव गति छत्र मुकुट यो हयो।
हंस सबल अंसु सहित मानहु उड़ि कै गयो ॥"

"सबल कहैं अनेक रंग मिश्रित हैं, अंसु कहे किरण जा के ऐसे जे सूर्य्य हैं तिन सहित मानो कलिंदगिरि शृंग तें हंस कहे हंस समूह उड़ि गयो है। यहाँ जाति विषै एक वचन है हंसन के सदृश श्वेत छत्र है और सूर्य्यन के सदृश अनेक रंग नग जटित मुकुट हैं"।

इसी ढँग की सारी टीकाओं की भाषा समझिए। सरदार कवि अभी हाल में हुए हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सतसई आदि की उनकी टीकाओं की भाषा और भी अनगढ़ और असंबद्ध है। सारांश यह है कि जिस समय गद्य के लिये खड़ीबोली उठ खड़ी हुई उस समय तक गद्य का विकास नहीं हुआ था; उसका कोई साहित्य नहीं खड़ा हुआ था। इसीसे खड़ीबोली के ग्रहण में कोई संकोच नहीं हुआ।

अब खड़ी-बोली-गद्य के आरंभ-काल को लीजिए। उर्दू से स्वतंत्र हिंदी खड़ीबोली का अस्तित्व पहले दिखा आए हैं और यह भी सूचित कर चुके हैं कि नियमित रूप से उसके गद्य का आरंभ करनेवाले संवत् १८६० के आसपास चार सज्जन थे—मुंशी सदासुख लाल, इंशाअल्ला खाँ, लल्लूलाल और सदलमिश्र।

(१) मुंशी सदासुख लाल 'नियाज़' दिल्ली के रहनेवाले थे। इनका जन्म संवत् १८०३ और मृत्यु संवत् १८८१ में हुई। संवत् १८५० के लगभग ये कंपनी की अधीनता में चुनार (ज़िला मिर्जापुर) में एक अच्छे पद पर थे। इन्होंने उर्दू और फ़ारसी में बहुत सी किताबें लिखी हैं और काफ़ी शायरी की है। अपनी "मुंतख़बुत्तवारीख" में अपने संबंध में इन्होंने जो कुछ लिखा है उससे पता चलता है कि ६५ वर्ष की अवस्था में ये नौकरी छोड़ कर प्रयाग चले गए और अपनी शेष आयु वहीं हरिभजन में बिताई। उक्त पुस्तक संवत् १८७५ में समाप्त हुई जिसके ६ वर्ष उपरांत इनका परलोक वास हुआ। मुंशी जी ने श्रीमद्भागवत का स्वच्छंद अनुवाद "सुख-सागर" के नाम से किया जिसका थोड़ा सा अंश नीचे उद्धृत किया जाता है—

"इससे जाना गया कि संस्कार का भी प्रमाण नहीं; आरोपित उपाधि है। जो क्रिया उत्तम हुई तो सौ वर्ष में चांडाल से ब्राह्मण हुए और जो क्रिया भ्रष्ट हुई तो वह तुरंत ही ब्राह्मण से चांडाल होता है। यद्यपि ऐसे विचार से हमें लोग नास्तिक कहेंगे, हमें इस बात का डर नहीं। जो बात सत्य होय उसे कहा चाहिए, कोई बुरा माने कि भला माने। विद्या इस हेतु पढ़ते हैं कि तात्पर्य्य इसका (जो) सतोवृत्ति है वह प्राप्त हो और उससे निज स्वरूप में लय हूजिए। इस हेतु नहीं पढ़ते हैं कि चतुराई की बातें कह के लोगों को बहकाइए और फुसलाइए और सत्य छिपाइए, व्यभिचार कीजिए और सुरापान कीजिए और धनद्रव्य इकठौर कीजिए और मन को, कि तमोवृत्ति से भर रहा है, निर्मल न कीजिए। तोता है सो नारायण का नाम लेता है, परंतु उसे ज्ञान तो नहीं है।"

मुंशी जी ने यह गद्य न तो किसी अंगरेज अधिकारी की प्रेरणा से और न किसी दिए हुए नमूने पर लिखा। वे एक भगवद्भक्त आदमी थे। अपने समय में उन्होंने हिंदुओं की बोलचाल की जो शिष्ट भाषा चारों ओर—पूरबी प्रांतों में भी—प्रचलित पाई उसी में रचना की। स्थान स्थान शुद्ध तत्सम संस्कृत शब्दों का प्रयोग करके उन्होंने उसके भावी साहित्यिक रूप का पूर्ण आभास दिया। यद्यपि वे खास दिल्ली के रहनेवाले अहलेज़बान थे पर उन्होंने अपने हिंदी-गद्य में कथावाचकों, पंडितों और साधु-संतों के बीच दूर दूर तक प्रचलित खड़ीबोली का रूप रखा जिसमें संस्कृत शब्दों का पुट भी बराबर रहता था। इसी संस्कृत मिश्रित हिंदी को उर्दूवाले 'भाखा' कहते थे जिसका चलन उर्दू के कारण कम होते देख मुंशी सदासुख ने इस प्रकार खेद प्रकट किया था—

"रस्मो रिवाज भाखा का दुनिया से उठ गया।"

सारांश यह कि मुंशी जी ने हिंदुओं की शिष्ट बोल-चाल की भाषा ग्रहण की, उर्दू से अपनी भाषा नहीं ली। इन प्रयोगों से यह बात स्पष्ट हो जाती है—

"स्वभाव करके वे दैत्य कहलाए"। "बहुत जाघा चूक हुई"। "उन्हीं लोगों से बन आवै है"। "जो बात सत्य होय"। काशी पूरब में है पर यहाँ के पंडित सैकड़ों वर्ष से 'होयगा' 'आवता है' 'इस करके' आदि बोलते चले आते हैं। ये सब बातें उर्दू से स्वतंत्र खड़ीबोली के प्रचार की सूचना देती हैं।

(२) इंशाअल्ला खाँ उर्दू के बहुत प्रसिद्ध शायर थे जो दिल्ली के उजड़ने पर लखनऊ चले आए थे। इनके पिता मीर माशा अल्ला खाँ काश्मीर से दिल्ली आए थे जहाँ वे शाही हकीम हो गए थे। मोग़ल सम्राट् की अवस्था बहुत गिर जाने पर हकीम साहब मुर्शिदाबाद के नवाब के यहाँ चले गए थे। मुर्शिदाबाद ही में इंशा का जन्म हुआ। जब बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला मारे गए और बंगाल में अधेर मचा तब इंशा जो पढ़ लिख कर अच्छे विद्वान् और प्रतिभाशाली कवि हो चुके थे दिल्ली चले आए और शाहआलम दूसरे के दरबार में रहने लगे। वहाँ जब तक रहे अपनी अद्भुत प्रतिभा के बल से अपने विरोधी बड़े बड़े नामी शायरों को ये बराबर नीचा दिखाते रहे। जब गुलाम क़ादिर बादशाह को अंधा करके शाही ख़ज़ाना लूट कर चल दिया तब इंशा का निर्वाह दिल्ली में कठिन हो गया और वे लखनऊ चले आए। जब संवत् १८५५ में नवाब सआदत अली खाँ गद्दी पर बैठे तब ये उनके दरबार में आने जाने लगे। बहुत दिनों तक इनकी बड़ी प्रतिष्ठा रही पर अंत में एक दिल्लगी की बात पर इनका वेतन आदि सब बंद हो गया और इनके जीवन का अंतिम भाग बड़े कष्ट में बीता। संवत् १८७५ में इनकी मृत्यु हुई।

इंशा ने "उदयभान चरित या रानी केतकी की कहानी" संवत् १८५५ और १८६० के बीच लिखी होगी। कहानी लिखने का कारण इंशा साहब यों लिखते हैं—

"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदवी छुट और किसी बोली का पुट न मिले, तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप में खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। × × × × अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े लिखे, पुराने धुराने, डाँग, बूढ़े घाग यह खटराग लाए ... और लगे कहने "यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जैसे भले लोग—अच्छों से अच्छे आपस में बोलते चालते हैं ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न हो। यह नहीं होने का।"

इससे स्पष्ट है कि इंशा का उद्देश्य ठेठ हिंदी लिखने का था जिसमें हिंदी को छोड़ और किसी बोली का पुट न रहे। उद्धृत अंश में 'भाखापन' शब्द ध्यान देने योग्य है। मुसलमान लोग 'भाखा' शब्द का व्यवहार साहित्यिक हिंदी भाषा के लिये करते थे जिसमें आवश्यकतानुसार संस्कृत के शब्द आते थे—चाहे वह ब्रजभाषा हो, चाहे खड़ी बोली। तात्पर्य यह कि संस्कृत-मिश्रित हिंदी को ही उर्दू फ़ारसीवाले 'भाखा' कहा करते थे। 'भाखा' से खास ब्रजभाषा का अभिप्राय उनका नहीं होता था, जैसा कुछ लोग भ्रमवश समझते हैं। जिस प्रकार वे अपनी अरबी-फारसी-मिली हिंदी को 'उर्दू' कहते थे उसी प्रकार संस्कृत मिली हिंदी को 'भाखा'। भाषा का शास्त्रीय दृष्टि से विचार न करनेवाले या उर्दू की ही तालीम ख़ास तौर पर पानेवाले कई नए पुराने हिंदी लेखक इस 'भाखा' शब्द के चक्कर में पड़ कर ब्रजभाषा को हिंदी कहने में संकोच करते हैं। "खड़ीबोली-पद्य" का झंडा लेकर घूमनेवाले स्वर्गीय बाबू अयोध्या प्रसाद खत्री चारों ओर घूम घूम कर कहा करते थे कि अभी हिंदी में कविता हुई कहाँ, "सूर, तुलसी, बिहारी आदि ने जिसमें कविता की है वह तो 'भाखा' है, हिंदी नहीं"। संभव है इस सड़े गले ख्याल को लिये अब भी कुछ लोग पड़े हों।

इंशा ने अपनी भाषा को तीन प्रकार के शब्दों से मुक्त रखने की प्रतिज्ञा की है—

बाहर की बोली = अरबी, फारसी, तुरकी।
गँवारी = ब्रजभाषा, अवधी आदि।
भाखापन = संस्कृत के शब्दों का मेल।

इस विश्लेषण से, आशा है, ऊपर लिखी बात स्पष्ट हो गई होगी। इंशा ने "भाखापन" और "मुअल्लापन" दोनों को दूर रखने का प्रयत्न किया पर दूसरी बला किसी न किसी सूरत में कुछ लगी रह गई। फ़ारसी के ढंग का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं, विशेषतः बड़े वाक्यों में, आही गया है। पर बहुत कम जैसे,—

"सिर झुका कर नाक रगड़ता हूँ अपने बनानेवाले के सामने जिसने हम सब को बनाया'।

"इस सिर झुकाने के साथ ही दिन रात जपता हूँ उस अपने दाता के भेजे हुए प्यारे को"।

"यह चिट्ठी जो पीक भरी कुँवर तक जा पहुँची"।

आरंभ काल के चारों लेखकों में इंशा की भाषा सबसे चटकीली मटकीली, मुहावरेदार और चलती है। पहली बात यह है कि खड़ीबोली उर्दू-कविता में पहले से बहुत कुछ मँज चुकी थी जिससे उर्दूवालों के सामने लिखते समय मुहावरे आदि बहुतायत से आया करते थे। दूसरी बात यह है कि इंशा रंगीन और चुलबुली भाषा द्वारा अपना लेखन-कौशल दिखाया चाहते थे।* मुंशी सदासुख लाल भी ख़ास दिल्ली के थे और उर्दूसाहित्य का अभ्यास भी पूरा रखते थे, पर वे धर्मभाव से जान बूझ कर अपनी भाषा गंभीर और संयत रखना चाहते थे। अनुप्रास-युक्त विराम भी इंशा के गद्य में बहुत स्थलों पर मिलते हैं—जैसे,

"जब दोनों महाराजों में लड़ाई **होने लगी**, रानी केतकी सावन भादों के रूप **रोने लगी** और दोनों के जी में यह आ गई यह कैसी चाहत जिसमें लहू **बरसने लगा** और अच्छी बातों को जी **तरसने लगा**।"

इंशा के समय तक वर्त्तमान कृदंत वा विशेषण और विशेष्य के बीच का समानाधिकरण कुछ बना हुआ था जो उनके गद्य में जगह जगह पाया जाता है, जैसे,—

आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। उसके बिन ध्यान यह सब फाँसे हैं।

× × × ×

घरवालियाँ जो किसी डौल से बहलातियाँ हैं।

इन विचित्रताओं के होते हुए भी इंशा ने जगह जगह बड़ी प्यारी घरेलू ठेठ भाषा का व्यवहार किया है और वर्णन भी सर्वथा भारतीय रखे हैं। इनकी चलती चटपटी भाषा का नमूना देखिए—

"इस बात पर पानी डाल दो नहीं तो पछताओगी और अपना किया पाओगी। मुझसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हारी जो कुछ अच्छी बात होती तो मेरे मुँह से जीते जी न निकलती, पर यह बात मेरे पेट नहीं पच सकती। तुम अभी अल्हड़ हो, तुमने अभी कुछ देखा नहीं। जो ऐसी बात पर सचमुच ढलाव देखूँगी तो तुम्हारे बाप से कहकर वह भभूत जो वह मुआ निगोड़ा भूत, मुछंदर का पूत अवधूत दे गया है, हाथ मुरकवा कर छिनवा लूँगी।

(३) लल्लूलालजी आगरे के रहनेवाले गुजराती ब्राह्मण थे। इनका जन्म संवत् १८२० में और मृत्यु संवत् १८८२ में हुई। संस्कृत के विशेष जानकार तो ये नहीं जान पड़ते पर भाषा-कविता का अभ्यास इन्हें था। उर्दू भी ये जानते थे। संवत् १८६० में कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के अध्यक्ष जान गिलक्राइस्ट के आदेश से इन्होंने खड़ीबोली गद्य में "प्रेमसागर" लिखा जिसमें भागवत दशमस्कंध की कथा वर्णन की गई है। इंशा के समान इन्होंने केवल ठेठ हिंदी लिखने का संकल्प तो नहीं किया था पर विदेशी शब्दों के न आने देने की प्रतिज्ञा अवश्य लक्षित होती है। यदि ये उर्दू न जानते होते तो अरबी फारसी के शब्द बचाने में उतने कृतकार्य कभी न होते जितने हुए। बहुतेरे अरबी फारसी के शब्द बोलचाल की भाषा में इतने मिल गए थे कि उन्हें केवल संस्कृत हिंदी जाननेवाले के लिये पहचानना भी कठिन था। मुझे एक पंडित जी का स्मरण है जो 'लाल' शब्द तो बराबर बोलते थे पर 'कलेजा' और 'बैंगन' शब्दों को म्लेच्छ भाषा के समझ बचाते थे। लल्लूलाल जी अनजान में कहीं कहीं ऐसे शब्द लिख गए हैं जो फ़ारसी या तुरकी के हैं। जैसे, 'बैरख' शब्द तुरकी का 'बैरक' है, जिसका अर्थ झंडा है। प्रेमसागर में यह शब्द आया है। देखिए—

* अपनी कहानी का आरंभ ही उन्होंने इस प्रकार किया है जैसे लखनऊ के भाँड़ घोड़ा कुदाते हुए महफ़िल में आते हैं।

"शिव जी ने एक ध्वजा बाणासुर को देके कहा इस बैरख को ले जाय"।

पर ऐसा एक ही आध जगह हुआ है।

यद्यपि मुंशी सदासुख लाल ने भी अरबी, फारसी के शब्दों का प्रयोग न कर संस्कृत-मिश्रित साधु भाषा लिखने का प्रयत्न किया है पर लल्लूलाल की भाषा से उस में बहुत कुछ भेद दिखाई पड़ता है। मुंशी जी की भाषा साफ़ सुथरी खड़ीबोली है। पर लल्लूलाल की भाषा कृष्णोपासक व्यासों की सी व्रज-रंजित खड़ीबोली है। 'सम्मुख जाय', 'सिर नाय', 'सोई', 'भई', 'कीजै', 'निरख', लीजौ', ऐसे शब्द बराबर प्रयुक्त हुए हैं। अकबर के समय में गंग कवि ने जैसी खड़ी बोली लिखी थी वैसी ही खड़ीबोली लल्लूलाल ने भी लिखी। दोनों की भाषाओं में अंतर इतना ही है कि गंग ने इधर उधर फ़ारसी अरबी के प्रचलित शब्द भी रखे हैं पर लल्लूलाल जी ने ऐसे शब्द बचाए हैं। भाषा की सजावट भी प्रेमसागर में पूरी है। विरामों पर तुकबंदी के अतिरिक्त वर्णनों में वाक्य भी बड़े बड़े आए हैं और अनुप्रास भी यत्र तत्र हैं। मुहावरों का प्रयोग कम है। सारांश यह कि लल्लूलाल जी का 'काव्याभास' गद्य भक्तों की कथावार्त्ता के काम का ही अधिकतर है; न नित्य-व्यवहार के अनुकूल है, न संबद्ध विचारधारा के योग्य। प्रेम-सागर से दो नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"श्री शुकदेव मुनि बोले—महाराज! ग्रीष्म की अति अनीति देख, नृप पावस प्रचंड पशु-पक्षी, जीव जंतुओं की दशा विचार, चारो ओर से दल-बादल साथ ले लड़ने को चढ़ आया। तिस समय घन जो गरजता था सोई तौ धौंसा बजता था और वर्ण वर्ण की घटा जो घिर आई थी सोई शूर वीर रावत थे, तिनके बीच बिजली की दमक शस्त्र की सी चमकती थी, बगपाँत ठौर ठौर ध्वजा सी फहराय रही थी, दादुर, मोर, कड़खैतों की सी भाँति यश बखानते थे और बड़ी बड़ी बूंदों की झड़ी बाणों की सी झड़ी लगी।

इतना कह महादेव जी गिरिजा को साथ ले गंगा तीर पर जाय, नीर में न्हाय न्हिलाय, अति लाड़ प्यार से लगे पार्वती जी को वस्त्र आभूषण पहिराने। निदान अति आनंद में मग्न हो डमरू बजाय बजाय, तांडव नाँच नाच, संगीत शास्त्र की रीति से गाय गाय लगे रिझाने।

× × × ×

जिस काल ऊषा बारह वर्ष की हुई तो उसके मुखचंद्र की ज्योति देख पूर्णमासी का चंद्रमा छविछीन हुआ, बालों की श्यामता के आगे अमावस्या की अँधेरी फीकी लगने लगी। उसकी चोटी सटकाई लख नागिन अपनी केंचली छोड़ सटक गई। भौंहें की बकाई निरख धनुष धकधकाने लगा; आँखों की बड़ाई चंचलाई पेख मृग मीन खंजन खिसाय रहे।"

लल्लूलाल ने उर्दू, खड़ी बोली हिंदी और व्रजभाषा तीनों में गद्य की पुस्तकें लिखीं। ये संस्कृत नहीं जानते थे। व्रजभाषा में लिखी हुई कथाओं और कहानियों को उर्दू और हिंदी गद्य में लिखने के लिये इनसे कहा गया था जिसके अनुसार इन्होंने सिंहासनबत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुंतला नाटक, माधोनल और प्रेमसागर लिखे। प्रेमसागर के पहले की चारों पुस्तकें बिलकुल उर्दू में हैं। इनके अतिरिक्त सं० १८६९ में इन्होंने "राज-नीति" के नाम से हितोपदेश की कहानियाँ (जो पद्य में लिखी जा चुकी थीं) व्रजभाषा-गद्य में लिखीं। माधव-विलास और सभाविलास नामक व्रजभाषा के संग्रहग्रंथ भी इन्होंने प्रकाशित किए थे। इन्होंने अपना एक निज का प्रेस कलकत्ते में (पटलडाँगे में) खोला था जिसे ये सं० १८८१ में, फोर्ट विलियम कालेज की नौकरी से पेंशन लेने पर, आगरे लेते गए। आगरे में प्रेस जमा कर ये एक बार फिर कलकत्ते गए जहाँ इनकी मृत्यु हुई। अपने प्रेस का नाम इन्होंने "संस्कृत प्रेस" रखा था, जिसमें अपनी पुस्तकों के अतिरिक्त ये रामायण आदि पुरानी पोथियाँ भी छापा करते थे। इनके प्रेस की छपी पुस्तकों की लोग बहुत कदर करते थे।

(४) **सदलमिश्र**— ये बिहार के रहनेवाले थे। फोर्ट विलियम कालेज में ये भी काम करते थे। जिस प्रकार उक्त कालेज के अधिकारियों की प्रेरणा से लल्लूलाल ने खड़ी बोली गद्य की पुस्तक तैयार की उसी

प्रकार इन्होंने भी। इनका "नासिकेतोपाख्यान" भी उसी समय लिखा गया जिस समय प्रेमसागर। पर दोनों की भाषा में बहुत अंतर है। लल्लूलाल के समान इनकी भाषा में न तो व्रजभाषा के रूपों की वैसी भरमार है और न परंपरागत काव्यभाषा की पदावली का स्थान स्थान पर समावेश। इन्होंने व्यवहारोपयोगी भाषा लिखने का प्रयत्न किया है और जहाँ तक हो सका है खड़ी बोली का ही व्यवहार किया है। पर इनकी भाषा भी साफ़ सुथरी नहीं है। व्रजभाषा के भी कुछ रूप हैं और पूरबी बोली के शब्द तो स्थान स्थान पर मिलते हैं। "फूलन्ह के बिछौने", "चहुँदिस", "सुनि", "सोनन्ह के थंभ" आदि प्रयोग व्रजभाषा के हैं। "इहाँ", "मतारी", "बरते थे", "जुड़ाई", "बाजने लगा" "जौन" आदि पूरबी शब्द हैं। भाषा के नमूने के लिये "नासिकेतोपाख्यान" से थोड़ा सा अवतरण नीचे दिया जाता है—

"इस प्रकार के नासिकेत मुनि यम की पुरी सहित नरक का वर्णन कर फिर जौन जौन कर्म किए से जो भोग होता है सो सब ऋषियों को सुनाने लगे कि गौ, ब्राह्मण, मातापिता, मित्र, बालक, स्त्री, स्वामी, वृद्ध, गुरु इनका जो वध करते हैं वो झूठी साक्षी भरते, झूठ ही कर्म में दिन रात लगे रहते है, अपनी भार्य्या को त्याग दूसरे की स्त्री को व्याहते औरों की पीड़ा देख प्रसन्न होते हैं और जो अपने धर्म से हीन पाप ही में गड़े रहते है वो मातापिता की हित बात को नहीं सुनते, सबसे बैर करते हैं, ऐसे जो पापीजन हैं सो महा डेरावने दक्षिण द्वार से जा नरकों में पड़ते हैं।"

गद्य की एक साथ प्रतिष्ठा करने वाले उपर्युक्त चार लेखकों में से आधुनिक हिंदी का पूरा पूरा आभास मुंशी सदासुख और सदल मिश्र की भाषा में ही मिलता है। व्यवहारोपयोगी इन्हीं की भाषा ठहरती है। इन दो में भी मुंशी सदासुख की साधु भाषा अधिक महत्व की है। मुंशी सदासुख ने लेखनी भी चारों में पहले उठाई अतः उन्हीं को आधुनिक गद्य का प्रधान प्रतिष्ठापक मानना चाहिए।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य की प्रतिष्ठा तो हुई पर उसकी अखंड परंपरा उस समय से नहीं चली। ऊपर कह आए हैं कि गद्य की यह प्रतिष्ठा रीतिकाल के भीतर ही हुई पर उसकी परंपरा पचास पचपन वर्ष पीछे राजा लक्ष्मणसिंह और राजा शिवप्रसाद के समय से चली। संवत् १८६० और १९१५ के बीच का काल गद्य रचना की दृष्टि से प्रायः शून्य ही मिलता है। संवत् १९१४ के बलवे के पीछे ही हिंदी गद्य साहित्य की परंपरा का आरंभ हुआ।

संवत् १८६० के लगभग हिंदी गद्य की जो प्रतिष्ठा हुई उसका उस समय यदि किसी ने लाभ उठाया तो ईसाई धर्म प्रचारकों ने, जिन्हें अपने मत को साधारण जनता के बीच फैलाना था। सिरामपुर उस समय पादरियों का प्रधान अड्डा था। विलियम केरे (William Carey) तथा और कई अंगरेज पादरियों के उद्योग से इंजील का अनुवाद उत्तर भारत की कई भाषाओं में हुआ। कहा जाता है कि बाइबिल का हिंदी अनुवाद स्वयं केरे साहब ने किया। संवत् १८६६ में उन्होंने "नए धर्म-नियम" का हिंदी अनुवाद प्रकाशित किया और संवत् १८७५ में समग्र ईसाई-धर्म पुस्तक का अनुवाद पूरा हुआ। इस संबंध में ध्यान देने की बात यह है कि इन ईसाई अनुवादकों ने सदासुख और लल्लूलाल की विशुद्ध भाषा को ही आदर्श माना, उर्दूपन को बिलकुल दूर रखा। इससे यही सूचित होता है कि फारसी-अरबी-मिली भाषा से साधारण जनता का लगाव नहीं था जिसके बीच मत का प्रचार करना था। जिस भाषा में साधारण हिंदू जनता अपने कथा पुराण कहती सुनती आती थी उसी भाषा का अवलंबन ईसाई उपदेशकों को आवश्यक दिखाई पड़ा। जिस संस्कृत-मिश्रित भाषा का विरोध करना कुछ लोग एक फैशन समझते हैं उससे साधारण जनसमुदाय उर्दू की अपेक्षा कहीं अधिक परिचित रहा है और है। जिन अंगरेज़ों को उत्तर भारत में रहकर केवल मुंशियों और ख़ानसामों की ही बोली सुनने का अवसर मिलता है वे अब भी उर्दू या हिंदुस्तानी को यदि जनसाधारण की भाषा समझा करें तो कोई आश्चर्य नहीं। पर उन पुराने

पादरियों ने जिस शिष्ट भाषा में जनसाधारण को धर्म और ज्ञान आदि के उपदेश सुनते सुनाते पाया उसी को ग्रहण किया।

ईसाइयों ने अपनी धर्मपुस्तक के अनुवाद की भाषा में फ़ारसी और अरबी के उतने शब्द नहीं दिए हैं और ठेठ ग्रामीण हिंदी शब्द तक बेधड़क रखे हैं। उनकी भाषा सदासुख और लल्लूलाल के ही नमूने पर चली है। उसमें जो कुछ विलक्षणता सी दिखाई पड़ती है वह मूल विदेशी भाषा की वाक्य रचना और शैली के कारण। प्रेमसागर के समान ईसाई धर्मपुस्तक में भी 'करनेवाले' के स्थान पर 'करनहारे', 'तक' के स्थान पर 'लौं,' 'कमरबंद' के स्थान पर "पटुका" प्रयुक्त हुए हैं। पर लल्लूलाल के इतना व्रजभाषापन नहीं आने पाया है। 'आय' 'जाय' का व्यवहार न होकर 'आके' 'जाके' व्यवहृत हुए हैं। सारांश यह कि ईसाई मतप्रचारकों ने विशुद्ध हिंदी का व्यवहार किया है। एक नमूना नीचे लिख दिया जाता है।

"तब यीशु योहन से बपतिस्मा लेने को उस पास गालील से यर्दन के तीर पर आया। परंतु योहन यह कह के उसे बर्जने लगा कि मुझे आप के हाथ से बपतिस्मा लेना अवश्य है और क्या आप मेरे पास आते हैं। यीशु ने उसको उत्तर दिया कि अब ऐसा होने दे क्योंकि इसी रीति से सब धर्म को पूरा करना चाहिए। यीशु बपतिस्मा ले के तुरंत जल के ऊपर आया और देखो उसके लिए स्वर्ग खुल गया और उसने ईश्वर के आत्मा को कपोत की नाईं उतरते और अपने ऊपर आते देखा, और देखो यह आकाशवाणी हुई कि यह मेरा प्रिय पुत्र है जिससे मैं अति प्रसन्न हूँ"।

इसके आगे ईसाइयों की पुस्तकें और पैंफलेट बराबर निकलते रहे। उक्त "सीरामपुर प्रेस" से संवत् १८८३ में "दाऊद के गीतें" नाम की पुस्तक छपी जिसकी भाषा में कुछ फ़ारसी अरबी के बहुत चलते शब्द भी रखे मिलते हैं। पर इसके पीछे अनेक नगरों में बालकों की शिक्षा के लिये ईसाइयों के छोटे मोटे स्कूल खुलने लगे और शिक्षा संबंधिनी पुस्तकें भी निकलने लगीं। इन पुस्तकों की हिंदी भी वैसी ही सरल और विशुद्ध होती थी जैसी 'बाइबिल' के अनुवाद की थी। आगरा, मिर्ज़ापूर, मुंगेर आदि उस समय ईसाइयों के प्रचार के मुख्य केंद्र थे।

अगरेज़ी की शिक्षा के लिये कई स्थानों पर स्कूल और कालेज खुल चुके थे जिनमें अंगरेज़ी के साथ हिंदी, उर्दू की पढ़ाई भी कुछ चलती थी। अतः शिक्षा संबंधिनी पुस्तकों की माँग संवत् १९०० के पहले ही पैदा हो गई थी। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकों के प्रकाशन के लिये संवत् १८९० के लगभग आगरे में पादरियों की एक "स्कूल-बुक-सोसाइटी" स्थापित हुई थी जिसने संवत् १८९४ में इंगलैंड के एक इतिहास का और संवत् १८९६ में मार्शमैन साहब के "प्राचीन इतिहास" का अनुवाद "कथासार" के नाम से प्रकाशित किया। "कथासार" के लेखक या अनुवादक पंडित रतनलाल थे। इसके सम्पादक पादरी मूर साहब (J. J. Moore) ने अपने छोटे से अंगरेजी वक्तव्य में लिखा था कि यदि सर्व साधारण से इस पुस्तक को प्रोत्साहन मिला तो इसका दूसरा भाग "वर्तमान इतिहास" भी प्रकाशित किया जायगा। भाषा इस पुस्तक की विशुद्ध और पंडिताऊ है। 'की' के स्थान पर 'करी' और 'पाते हैं' के स्थान पर 'पावते हैं' आदि प्रयोग बराबर मिलते हैं। भाषा का नमूना यह है—

"परंतु सोलन की इन अत्युत्तम व्यवस्थाओं से विरोध भंजन न हुआ। पक्षपातियों के मन का क्रोध न गया। फिर कुलीनों में उपद्रव मचा और इस लिये प्रजा को सहायता से पिसिस-ट्रेटस नामक पुरुष सबों पर पराक्रमी हुआ। इसने सब उपाधियों को दबाकर ऐसा निष्कंटक राज्य किया कि जिसके कारण वह अनाचारी कहाया, तथापि यह उस काल में दूरदर्शी और बुद्धिमानों में अग्रगण्य था।"

आगरे की उक्त सोसाइटी के लिये संवत् १८९७ में पंडित ओंकार भट्ट ने 'भूगोलसार' और संवत् १९०४ में पंडित बद्रीलाल शर्मा ने "रसायन प्रकाश" लिखा। कलकत्ते में भी ऐसी ही एक स्कूल-बुक-सोसाइटी थी जिसने "पदार्थविद्यासार" (संवत् १९०३) आदि कई वैज्ञानिक पुस्तकें निकाली थीं। इसी प्रकार कुछ रीडरें भी

मिशनरियों के छापेखानों से निकली थीं—जैसे आजमगढ़ रीडर जो इलाहाबाद मिशन प्रेस से संवत् १८८७ में प्रकाशित हुई थी।

बलवे के कुछ पहले ही मिर्जापुर में ईसाइयों का एक "आरफ़ेन प्रेस" खुला था जिससे शिक्षा-संबंधिनी कई पुस्तकें शेरिंग साहब के संपादन में निकली थीं, जैसे—भूचरित्रदर्पण, भूगोलविद्या, मनोरंजक वृत्तांत, जंतु प्रबंध, विद्यासार, विद्वान संग्रह। ये पुस्तकें संवत् १९१२ और १९१९ के बीच की हैं। तब से मिशन सोसाइटियों के द्वार बराबर विशुद्ध हिंदी में पुस्तकें और पैंफ़लेट आदि छपते आ रहे हैं जिनमें कुछ खंडन मंडन, उपदेश और भजन आदि रहा करते हैं। भजन रचने वाले कई अच्छे ईसाई कवि हो गए हैं जिनमें दो एक अँगरेज़ भी थे। "आसी" और "जान" के भजन देशी ईसाइयों में बहुत प्रचलित हुए और अब तक गाए जाते हैं। सारांश यह कि हिंदी गद्य के प्रसार में ईसाइयों का बहुत कुछ योग रहा। शिक्षा-संबंधिनी पुस्तकें तो पहले पहल उन्हींने तैयार कीं। इन बातों के लिये हिंदी प्रेमी उनके सदा कृतज्ञ रहेंगे।

कई नगरों में अब छापेखाने खुल चुके थे अतः सामयिक पत्रों की ओर भी लोगों का ध्यान जाने लगा। बंगाल में कुछ अँगरेज़ी और बंगला के पत्र निकलने लगे थे जिनके पढ़नेवाले भी हो गए थे। पर यहाँ हिंदी की दशा कुछ और ही हो रही थी। सरकार की कृपा से खड़ी बोली का अरबी-फ़ारसीमय रूप लिखने पढ़ने की अदालती भाषा होकर सब के सामने हो रहा था। जीविका और मानमर्य्यादा की दृष्टि से उर्दू सीखना आवश्यक हो गया था। देशभाषा के नाम पर लड़कों को उर्दू ही सिखाई जाने लगी थी। उर्दू पढ़े लिखे लोग ही शिक्षित कहलाते थे। हिंदी की काव्यपरंपरा यद्यपि राजदरबारों के आश्रय में चली चलती थी पर उसके पढ़नेवालों की संख्या भी घटती जा रही थी। नव-शिक्षित लोगों का लगाव उसके साथ कम होता जा रहा था। ऐसे प्रतिकूल समय में साधारण जनता के साथ साथ उर्दू पढ़े लिखे लोगों की भी जो थोड़ी बहुत दृष्टि अपने पुराने साहित्य की ओर बनी हुई थी वह धर्मभाव से। तुलसीकृत रामायण की चौपाइयाँ और सूरदास जी के भजन आदि ही उर्दूग्रस्त लोगों का कुछ लगाव "भाखा" से भी बनाए हुए थे। अन्यथा अपने परंपरागत साहित्य से नवशिक्षित लोगों का अधिकांश कालचक्र के प्रभाव से विमुख हो रहा था। शृंगाररस की भाषा-कविता का अनुशीलन भी गाने बजाने आदि के शौक की तरह इधर उधर बना हुआ था। इस स्थिति का वर्णन करते हुए स्वर्गीय बाबू बालमुकुंद लिखते हैं—

"जो लोग नागरी अक्षर सीखते थे फ़ारसी अक्षर सीखने पर विवश हुए और हिंदीभाषा हिंदी न रहकर उर्दू बन गई। .. .... हिंदी उस भाषा का नाम रहा जो टूटी फूटी चाल पर देवनागरी अक्षरों में लिखो जाती थी।"

संवत् १९०२ में यद्यपि राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में नहीं आए थे पर विद्या व्यसनी होने के कारण अपनी भाषा हिंदी की ओर उनका ध्यान था। अतः इधर उधर दूसरी भाषाओं में समाचारपत्र निकलते देख उन्होंने उक्त संवत् में उद्योग करके काशी से "बनारस अखबार" निकलवाया। पर अखबार पढ़ने वाले पहले-पहल नवशिक्षितों में ही मिल सकते थे जिनकी लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। अतः इस पत्र की भाषा भी उर्दू ही रखी गई यद्यपि अक्षर देवनागरी के थे। यह पत्र बहुत ही घटिया काग़ज़ पर लीथो में छपता था। भाषा इसकी यद्यपि गहरी उर्दू होती थी पर हिंदी की कुछ सूरत पैदा करने के लिये बीच बीच में 'धर्मात्मा', 'परमेश्वर', 'दया' ऐसे कुछ शब्द भी रख दिये जाते थे। इसमें राजा साहब भी कभी कभी कुछ लिख दिया करते थे। इस पत्र की भाषा का अंदाज़ नीचे उद्धृत अंश से लग सकता है—

"यहाँ जो नया पाठशाला कई साल से जनाब कप्तान किट साहब बहादुर के इहतिमाम और धर्मात्माओं के मदद से बनता है उनका हाल कई दफ़ा ज़ाहिर हो चुका है।... . देखकर लोग उस पाठशाले के क़िते के मकानों की खूबियाँ अक्सर बयान करते हैं

और उनके बनने के खर्च की तजवीज करते हैं कि जमा से ज़ियादा लगा होगा और हर तरफ़ से लायक तारीफ़ के हैं। सो यह सब दानाई साहब ममदूह की है।"

इस भाषा को लोग हिंदी कैसे समझ सकते थे? अतः काशी से ही एक दूसरा पत्र "सुधाकर" बाबू तारामोहन मित्र आदि कई सज्जनों के उद्योग से संवत् १९०७ में निकला। कहते हैं कि काशी के प्रसिद्ध ज्योतिष सुधाकर जी का नामकरण इसी पत्र के नाम पर हुआ था। जिस समय उनके चाचा के हाथ में डाकिये ने यह पत्र दिया था ठीक उसी समय भीतर से उनके पास सुधाकर जी के उत्पन्न होने की खबर पहुँची थी। इस पत्र की भाषा बहुत कुछ सुधरी हुई तथा ठीक हिंदी थी, पर यह पत्र कुछ दिन चला नहीं। इसी समय के लगभग अर्थात् संवत् १९०९ में आगरे से मुंशी सदासुख लाल के प्रबंध और संपादन में "बुद्धिप्रकाश" निकला जो कई वर्ष तक चलता रहा। पहले कह आए हैं कि मुंशी सदासुख हिंदी गद्य के प्रतिष्ठापकों में थे और उनकी भाषा बहुत ही चलती और विशुद्ध होती थी। अतः "बुद्धिप्रकाश" की भाषा भी उस समय को देखते हुए बहुत अच्छी होती थी। नमूना देखिए—

कलकत्ते के समाचार

उस पश्चिमीय देश में बहुतों को प्रगट है कि बंगाले की रीति के अनुसार उस देश के लोग आसन्न-मृत्यु रोगी को गंगा तट पर ले जाते हैं और यह तो नहीं करते कि उस रोगी के अच्छे होने के लिये उपाय करने में काम करें और उसे यत्न से रक्षा में रक्खें वरन् उसके विपरीत रोगी को जल के तट पर ले जाकर पानी में गोते देते हैं और हरीबोल हरीबोल कह कर उसका जीव लेते हैं।

स्त्रियों की शिक्षा के विषय

स्त्रियों में संतोष और नम्रता और प्रीत यह सब गुण कर्त्ता ने उत्पन्न किए हैं, केवल विद्या की न्यूनता है, जो यह भी हो तो स्त्रियाँ अपने सारे ऋण से चुक सकती हैं और लड़कों को सिखाना पढ़ाना जैसा उनसे बन सकता है वैसा दूसरों से नहीं। यह काम उन्हीं का है कि शिक्षा के कारण बाल्यावस्था में लड़कों को भूलचूक से बचावें और सरल सरल विद्या उन्हें सिखावें।"

संवत् १९११ में चार्ल्स उड (Sir Charles Wood) ने एक आयोजन-पत्र तैयार किया जिसमें शिक्षा के प्रचार के लिये गाँवों और कसबों में देशी भाषा के मदरसे खोलने की व्यवस्था थी। उक्त व्यवस्था के अनुसार जब मदरसे खुले तब भाषा का सवाल बड़े आग्रह के साथ सामने आया। अदालतों की भाषा उर्दू बनाई तो जा चुकी थी, पर साथ ही यह बात भी प्रत्यक्ष थी कि वह सर्व साधारण की भाषा नहीं है। जिस भाँति देश भर में प्रचलित वर्णमाला को छोड़ना असंभव दिखाई पड़ता था उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए हिंदी-साहित्य को भी। अतः अदालती भाषा उर्दू होते हुए भी शिक्षा-विधान में देश की असली भाषा हिंदी को भी स्थान देना ही पड़ा। काव्य साहित्य तो प्रचुर परिमाण में संचित था। अतः जिस रूप में वह था उसी रूप में उसे लेना ही पड़ा। गद्य की भाषा को लेकर खींचतान आरंभ हुई। इसी खींचतान के समय में राजा लक्ष्मण-सिंह और राजा शिवप्रसाद मैदान में आए।

किस प्रकार हिंदी के नाम से नागरी अक्षरों में उर्दू ही लिखी जाने लगी थी इसकी चर्चा बनारस अखबार के संबंध में कर आए हैं। संवत् १९१३ में अर्थात् बलवे के एक वर्ष पहले राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में इंस्पेक्टर के पद पर नियुक्त हुए। उस समय और विभागों के समान शिक्षा विभाग में भी मुसलमानों का जोर था जिनके मन में "भाखापन" का डर बराबर समाया रहता था। वे इस बात से डरा करते थे कि कहीं नौकरी के लिये "भाखा", संस्कृत से लगाव रखने वाली हिंदी, न सीखनी पड़े। अतः उन्होंने पहले तो उर्दू के अतिरिक्त हिंदी की भी पढ़ाई की व्यवस्था का घोर विरोध किया। उनका कहना था कि जब अदालत आदि के कामों में उर्दू ही काम में लाई जाती है तब एक और ज़बान का बोझ डालने से क्या लाभ? 'भाखा' में हिंदुओं की कथा वार्त्ता आदि कहते सुन वे हिंदी को हिंदुओं की मज़हबी ज़बान कहने लगे थे। उनमें से कुछ लोग हिंदी को "गँवारी बोली" समझते थे। अतः राजा

शिवप्रसाद को हिंदी की रक्षा के लिये बड़ी मुश्किलों का सामना करना पड़ा। हिंदी का सवाल जब आता तब उर्दू पढ़े लिखे लोग उसे 'मुश्किल ज़बान' कह कर विरोध करते। अतः राजा साहब के लिये उस समय यही संभव दिखाई पड़ा कि जहाँ तक हो सके ठेठ हिंदी का आश्रय लिया जाय जिसमें कुछ फारसी अरबी के चलते शब्द भी आवें। उस समय साहित्य के कोर्स के लिये पुस्तकें नहीं थीं। राजा साहब स्वयं तो पुस्तकें तैयार करने में लग ही गए, पंडित श्रीलाल और पंडित वंशीधर आदि अपने कई मित्रों को भी उन्होंने पुस्तकें लिखने में लगाया। राजा साहब ने पाठ्यक्रम के उपयोगी कई कहानियाँ आदि लिखीं—जैसे राजाभोज का सपना, वीरसिंह का वृत्तांत, आलसियों को कोड़ा इत्यादि। राजा साहब की प्रेरणा से पंडित वंशीधर ने संवत् १६१३ में "भारतवर्षीय इतिहास" और "जीविका परिपाटी" (अर्थशास्त्र की पुस्तक) और १६१५ में "जगत वृत्तांत" नाम की पुस्तकें लिखीं।

यहाँ यह कह देना आवश्यक है कि प्रारंभ में राजा साहब ने जो पुस्तकें लिखीं वे बहुत ही चलती सरल हिंदी में थीं, उनमें वह उर्दूपन नहीं भरा था जो उनकी पिछली किताबों (इतिहास-तिमिरनाशक आदि में) दिखाई पड़ता है। उदाहरण के लिये "राजा भोज का सपना" से कुछ अंश उद्धृत किया जाता है—

"वह कौनसा मनुष्य है जिसने महाप्रतापी महाराज भोज का नाम न सुना हो। उसकी महिमा और कीर्त्ति तो सारे जगत में व्याप रही है। बड़े बड़े महिपाल उसका नाम सुनते ही काँप उठते और बड़े बड़े भूपति उसके पाँव पर अपना सिर नवाते। सेना उसकी समुद्र की तरंगों का नमूना और ख़ज़ाना उसका सोने चाँदी और रत्नों की खान से भी दूना। उसके दान ने राजा कर्ण को लोगों के जी से भुलाया और उसके न्याय ने विक्रम को भी लजाया"।

अपने "मानव धर्मसार" की भाषा उन्होंने अधिक संस्कृत-गर्भित रखी है। इसका पता इस उद्धृत अंश से लगेगा—

"मनुस्मृति हिंदुओं का मुख्य धर्मशास्त्र है। उसको कोई भी हिंदू अप्रमाणिक नहीं कह सकता। वेद में लिखा है कि मनु जी ने जो कुछ कहा उसे जीव के लिये औषधि समझना; और बृहस्पति लिखते हैं कि धर्म शास्त्राचार्यों में मनु जी सबसे प्रधान और अति मान्य हैं क्यों कि उन्होंने अपने धर्मशास्त्र में संपूर्ण वेदों का तात्पर्य्य लिखा है। × × × × × × खेद की बात है कि हमारे देशवासी हिंदू कहला के अपने मानव धर्मशास्त्र को न जानें और सारे कार्य्य उसके विरुद्ध करें।"

"मानवधर्मसार" की भाषा राजा शिवप्रसाद की स्वीकृत भाषा नहीं। प्रारंभ काल से ही वे ऐसी चलती ठेठ हिंदी के पक्षपाती थे जिसमें सर्व साधारण के बीच प्रचलित अरबी-फारसी शब्दों का भी स्वच्छंद प्रयोग हो। यद्यपि अपने 'गुटका' में, जो साहित्य की पाठ्य पुस्तक थी, उन्होंने थोड़ी संस्कृत मिली ठेठ और सरल भाषा का ही आदर्श बनाए रखा, पर संवत् १६१७ के पीछे उनका झुकाव उर्दू की ओर होने लगा जो बराबर बना क्या रहा, कुछ न कुछ बढ़ता ही गया। इसका कारण चाहे जो समझिए। या तो यह कहिए कि अधिकांश शिक्षित लोगों की प्रवृत्ति देखकर उन्होंने ऐसा किया अथवा अंगरेज अधिकारियों का रुख़ देखकर। अधिकतर लोग शायद पिछले कारण को ही ठीक समझेंगे। जो हो। संवत् १६१७ के उपरांत जो इतिहास, भूगोल आदि की पुस्तकें राजा साहब ने लिखीं उनकी भाषा बिल्कुल उर्दूपन लिए है। "इतिहास तिमिरनाशक" भाग २ की अंगरेज़ी भूमिका में जो सन् १८६४ की लिखी है, राजा साहब ने साफ लिखा है कि "मैंने "बैताल पचीसी" की भाषा का अनुकरण किया है"—

"I may be pardoned for saying a few words here to those who always urge the exclusion of Persian words, even those which have become our house-hold words, from our Hindi books and use in their stead Sanskrit words, quite out of place and fashion or those course expressions

which can be tolerated only among a rustic population × × × × I have adopted to a certain extent, the language of the Baital Pachisi."

लल्लू लाल जी के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि "बैताल पचीसी" की भाषा बिलकुल उर्दू है। राजा साहब ने अपने इस उर्दू वाले पिछले सिद्धांत का "भाषा का इतिहास" नामक जिस लेख में निरुपण किया है वही उनकी उस समय की भाषा का एक ख़ास उदाहरण है, अतः उसका कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"हम लोगों को जहाँ तक बन पड़े चुनने में उन शब्दों को लेना चाहिए कि जो आम-फ़हम और ख़ास-पसंद हों अर्थात् जिनको जियादा आदमी समझ सकते हैं और जो यहाँ के पढ़े लिखे, आलिम फ़ाज़िल, पंडित, विद्वान् की बोलचाल में छोड़े नहीं गए हैं, और जहां तक बन पड़े हम लोगों को हर्गिज़ ग़ैर मुल्क के शब्द काम में न लाने चहिएँ और न संस्कृत की टकशाल क़ायम करके नए नए ऊपरी शब्दों के सिक्के जारी करने चाहिएँ। जब तक कि हम लोगों को उसके जारी करने की ज़रूरत न साबित हो जाय अर्थात् यह कि उस अर्थ का कोई शब्द हमारी ज़बान में नहीं है, या जो है अच्छा नहीं है, या कविताई की ज़रूरत या इल्मी ज़रूरत या कोई और ख़ास ज़रूरत साबित हो जाय।"

भाषा संबंधी जिस सिद्धांत का प्रतिपादन राजा साहब ने किया है उसके अनुकूल उनकी यह भाषा कहाँ तक है, पाठक आप समझ सकते हैं। 'आम-फहम', 'ख़ास-पसंद' 'इल्मी ज़रूरत' जनता के बीच प्रचलित शब्द कदापि नहीं हैं। फारसी के 'आलिम फ़ाज़िल' चाहे ऐसे शब्द बोलते हों पर संस्कृत हिंदी के 'पंडित विद्वान्' तो ऐसे शब्दों से परिचित नहीं। किसी देश के साहित्य का संबंध उस देश की संस्कृति परंपरा से होता है। अतः साहित्य की भाषा उस संस्कृति का त्याग करके नहीं चल सकती। भाषा में जो रोचकता या शब्दों में जो सौंदर्य्य का भाव रहता है वह देश की प्रकृति के अनुसार होता है। इस प्रकृति के निर्माण में जिस प्रकार देश के प्राकृतिक रूप रंग, आचार व्यवहार आदि का योग रहता है उसी प्रकार परंपरा से चले आते हुए साहित्य का भी। संस्कृत शब्दों के थोड़े बहुत मेल से भाषा का जो रुचिकर साहित्यिक रूप हज़ारों वर्ष से चला आता था उसके स्थान पर एक विदेशी रूपरंग की भाषा गले में उतारना देश की प्रकृति के विरुद्ध था। यह प्रकृति-विरुद्ध भाषा खटकी तो बहुत लोगों को होगी, पर असली हिंदी का नमूना लेकर उस समय राजा लक्ष्मणसिंह ही आगे बढ़े। उन्होंने संवत् १९१८ में "प्रजाहितैषी" नाम का एक पत्र आगरे से निकाला और १९१९ में "अभिज्ञान शाकुंतल" का अनुवाद बहुत ही सरस और विशुद्ध हिंदी में प्रकाशित किया। इस पुस्तक की बड़ी प्रशंसा हुई और भाषा के संबंध में मानो फिर से लोगों की आँख खुली। राजा साहब ने उस समय इस प्रकार की भाषा जनता के सामने रखी—

"अनसूया—(हौले प्रियंवदा से) सखी! मैं भी इसी सोच विचार में हूँ। अब इससे कुछ पूछूँगी। (प्रगट) महात्मा! तुम्हारे मधुर वचनों के विश्वास में आकर मेरा जी यह पूछने को चाहता है कि तुम किस राजवंश के भूषण हो और किस देश की प्रजा को विरह में व्याकुल छोड़ यहाँ पधारे हो? क्या कारन है जिससे तुमने अपने कोमल गात को कठिन तपोवन में आकर पीड़ित किया है?"

यह भाषा ठेठ और सरल होते हुए भी साहित्य में चिरकाल से व्यवहृत संस्कृत के कुछ रससिद्ध शब्द लिए हुई है। रघुवंश के गद्यानुवाद के प्राक्कथन में राजा लक्ष्मणसिंह जी ने भाषा के संबंध में अपना मत स्पष्ट शब्दों में प्रकट किया है—

"हमारे मत में हिंदी और उर्दू दो बोली न्यारी न्यारी हैं। हिंदी इस देश के हिंदू बोलते हैं और उर्दू यहाँ के मुसलमानों और पारसी पढ़े हुए हिंदुओं की बोल चाल है। हिंदी में संस्कृत के पद बहुत आते हैं; उर्दू में अरबी पारसी के। परंतु कुछ अवश्य नहीं है कि अरबी पारसी के शब्दों के बिना हिंदी न बोली जाय

और न हम उस भाषा को हिंदी कहते हैं जिसमें अरबी पारसी के शब्द भरे हों।"

पहले कहा जा चुका है कि राजा शिवप्रसाद ने उर्दू की ओर झुकाव हो जाने पर भी साहित्य की पाठ्य पुस्तक "गुटका" में भाषा का आदर्श हिंदी ही रखा। उक्त गुटका में उन्होंने 'राजा भोज का सपना' "रानी केतकी की कहानी" के साथ ही साथ राजा लक्ष्मणसिंह के "शकुंतला नाटक" का भी बहुत सा अंश रखा। पहला गुटका शायद संवत् १९२४ में प्रकाशित हुआ था।

जिस प्रकार इधर युक्त प्रांत में राजा शिवप्रसाद शिक्षा विभाग में रहकर हिंदी की किसी न किसी रूप में रक्षा कर रहे थे उसी प्रकार पंजाब में बाबू नवीनचंद्र राय महाशय थे। संवत् १९२० और १९३७ के बीच नवीन बाबू ने भिन्न भिन्न विषयों की बहुत सी हिंदी पुस्तकें तैयार कीं और दूसरों से तैयार कराईं। पंजाब में स्त्री-शिक्षा का प्रचार करनेवालों में ये मुख्य थे। ये पुस्तकें बहुत दिनों तक वहाँ कोर्स में रहीं। शिक्षा प्रचार के साथ साथ समाज सुधार आदि के उद्योग में भी ये बराबर रहा करते थे। इससे समय समय पर कई पत्र पत्रिकाएँ भी इन्होंने निकालीं। "ज्ञानप्रदायिनी पत्रिका" में शिक्षा-संबंधी तथा साधारण ज्ञान-विज्ञान-पूर्ण लेख निकला करते थे। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि शिक्षा-विभाग द्वारा जिस हिंदी गद्य के प्रचार में ये सहायक हुए थे वह शुद्ध हिंदी गद्य था। उर्दू के झमेले में उन्होंने हिंदी को नहीं पड़ने दिया।

शिक्षा के आंदोलन के साथ ही साथ उस समय मतमतांतर संबंधी आंदोलन भी, ईसाई मत का प्रचार रोकने के लिये देश के कई भागों में चल पड़े थे। पैगंबर एकेश्वरवाद की ओर नवशिक्षित लोगों को खिंचते देख स्वामी दयानंद सरस्वती वैदिक एकेश्वरवाद लेकर खड़े हुए और संवत् १९२० से उन्होंने अनेक नगरों में घूम घूम कर शास्त्रार्थ करना और व्याख्यान देना आरंभ कर दिया। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये व्याख्यान देश में बहुत दूर तक प्रचलित साधु हिंदी भाषा में ही होते थे। स्वामी जी ने अपना "सत्यार्थप्रकाश" तो हिंदी या आर्य्य भाषा में प्रकाशित ही किया, वेदों के भाष्य भी संस्कृत हिंदी दोनों में किए। स्वामी जी के अनुयायी हिंदी को "आर्य्यभाषा" ही कहते थे। स्वामी जी ने संवत् १९३२ में आर्य्य समाज की स्थापना की और सब आर्य्यसमाजियों के लिये हिंदी या आर्य्य भाषा का पढ़ना आवश्यक ठहराया। युक्त प्रांत के पश्चिमी जिलों और पंजाब में आर्य्य समाज के प्रभाव से हिंदी गद्य का प्रचार बड़ी तेजी से हुआ। पंजाबी बोली में लिखित साहित्य न होने से और मुसलमानों के बहुत अधिक संपर्क से पंजाब वालों की लिखने पढ़ने की भाषा उर्दू हो रही थी। आज जो पंजाब में हिंदी की पूरी चर्चा सुनाई देती है इन्हीं की बदौलत है।

संवत् १९२० के लगभग ही विलक्षण प्रतिभाशाली विद्वान पंडित श्रद्धाराम फुल्लौरी के व्याख्यानों और कथाओं की धूम पंजाब में आरंभ हुई। जलंधर के पादरी गोकुलनाथ के व्याख्यानों के प्रभाव से कपूरथला-नरेश महाराज रणधीरसिंह ईसाई मत की ओर झुक रहे थे। पंडित श्रद्धाराम जी तुरंत संवत् १९२० में कपूरथले पहुँचे और उन्होंने महाराज के सब संशयों का समाधान करके प्राचीन वर्णाश्रमधर्म का ऐसा सुंदर निरूपण किया कि सब लोग मुग्ध हो गए। पंजाब के सब छोटे बड़े स्थानों में घूम कर पंडित श्रद्धाराम जी उपदेश और वक्तृताएँ देते तथा रामायण, महाभारत आदि की कथाएँ सुनाते। इनकी कथाएँ सुनने के लिये बहुत दूर दूर से लोग आते और सहस्रों आदमियों की भीड़ लगती थी। इनकी वाणी में अद्भुत आकर्षण था और इनकी भाषा बहुत ज़ोरदार होती थी। स्थान स्थान पर इन्होंने धर्मसभाएँ स्थापित कीं और उपदेशक तैयार किए। इन्होंने पंजाबी और उर्दू में भी कुछ पुस्तकें लिखी हैं, पर अपनी मुख्य पुस्तकें हिंदी में ही लिखी हैं। अपना सिद्धांत ग्रंथ "सत्यामृत प्रवाह" इन्होंने बड़ी प्रौढ़ भाषा में लिखा है। ये बड़े ही स्वतंत्र विचार के मनुष्य थे और वेदशास्त्र के यथार्थ अभिप्राय को किसी उद्देश्य से छिपाना अनुचित समझते थे। इसी से स्वामी दयानंद की बहुत सी बातों का विरोध ये बराबर करते रहे। यद्यपि ये बहुत सी

ऐसी बातें कह और लिख जाते थे जो कट्टर अंध-विश्वासियों को खटक जाती थी और कुछ लोग इन्हें नास्तिक तक कह देते थे पर जब तक ये जीवित रहे सारे पंजाब के हिंदू इन्हें धर्म का स्तंभ समझते रहे।

पंडित श्रद्धाराम जी यद्यपि पद्य रचना भी करते थे पर हिंदी गद्य में इन्होंने बहुत कुछ लिखा और वे हिंदी भाषा के प्रचार में बराबर लगे रहे। संवत् १९२४ में इन्होंने "आत्मचिकित्सा" नाम की एक अध्यात्म-संबंधी पुस्तक लिखी जिसे संवत् १९२८ में हिंदी में अनुवाद करके छपाया। इसके पीछे 'तत्त्वदीपक', 'धर्मरक्षा', 'उपदेश-संग्रह' (व्याख्यानों का संग्रह) शतोपदेश (दोहे) इत्यादि धर्म संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने अपना एक बड़ा जीवनचरित (१४०० पृष्ठ के लगभग) लिखा था जो कहीं खो गया। "भाग्यवती" नाम का एक सामाजिक उपन्यास भी संवत् १९३४ में इन्होंने लिखा, जिसकी बड़ी प्रशंसा हुई।

अपने समय के ये एक सच्चे हिंदी-हितैषी और सिद्धहस्त लेखक थे। संवत् १९३८ में इनकी मृत्यु हुई। जिस दिन उनका देहांत हुआ उस दिन उनके मुँह से सहसा निकला कि "भारत में भाषा के लेखक दो हैं—एक काशी में, दूसरा पंजाब में। परंतु आज एक ही रह जायगा।" कहने की आवश्यकता नहीं कि काशी के लेखक से अभिप्राय हरिश्चंद्र से था।

राजा शिवप्रसाद "आम फहम" और ख़ास पसंद" भाषा का उपदेश ही देते रहे उधर हिंदी अपना रूप आप स्थिर कर चली। इस बात में धार्मिक और सामाजिक आंदोलनों ने भी बहुत कुछ सहायता पहुँचाई। हिंदी गद्य की भाषा किस दशा की ओर स्वभावतः जाना चाहती है इसकी सूचना तो काल अच्छी तरह दे रहा था। सारी भारतीय भाषाओं का साहित्य चिर काल से संस्कृत की परिचित और भावपूर्ण पदावली का आश्रय लेता चला आ रहा था। अतः गद्य के नवीन विकास में उस पदावली का त्याग और किसी विदेशी पदावली का सहसा ग्रहण कैसे हो सकता था? जब कि बँगला, मराठी आदि अन्य देशी भाषाओं का गद्य परंपरागत संस्कृत पदावली का आश्रय लेता हुआ चल पड़ा तब हिंदी गद्य उर्दू के झमेले में पड़कर कब तक रुका रहता? सामान्य संबंध सूत्र को त्याग कर दूसरी देश भाषाओं से अपना नाता हिंदी कैसे तोड़ सकती थी? उनकी सगी बहिन होकर एक अजनबी के रूप में उनके साथ वह कैसे चल सकती थी? जब कि यूनानी और लैटिन के शब्द योरप की भिन्न भिन्न मूलों से निकली हुई देशभाषाओं के बीच एक प्रकार का साहित्यिक संबंध बनाए हुए हैं तब एक ही मूल से निकली हुई आर्य्य भाषाओं के बीच उस मूल भाषा के साहित्यिक शब्दों की परंपरा यदि संबंध-सूत्र के रूप में चली आ रही है तो इसमें आश्चर्य्य की क्या बात है?

कुछ अंगरेज़ विद्वान् संस्कृतगर्भित हिंदी की हँसी उड़ाने के लिये किसी अंगरेजी वाक्य में उसी मात्रा में लैटिन के शब्द भर कर पेश करते हैं। उन्हें यह समझना चाहिए कि अंग्रेज़ी का लैटिन के साथ मूल संबंध नहीं है पर हिंदी, बंगला, मराठी, गुजराती आदि भाषाएँ संस्कृत के ही कुटुंब की हैं—उसी के प्राकृतिक रूप से निकली हैं। उन आर्य्य भाषाओं का संस्कृत के साथ बहुत घनिष्ठ संबंध है। इन भाषाओं के साहित्य की परंपरा को भी संस्कृत साहित्य की परंपरा का विस्तार कह सकते हैं। देश-भाषा के साहित्य को उत्तराधिकार में जिस प्रकार संस्कृत साहित्य के कुछ संचित शब्द मिले हैं उसी प्रकार विचार और भावनाएँ भी मिली हैं। विचार और वाणी की इस धारा से हिंदी अपने को विच्छिन्न कैसे कर सकती थी?

राजा लक्ष्मणसिंह के समय में ही हिंदी गद्य की भाषा अपने भावी रूप का आभास दे चुकी थी। अब आवश्यकता ऐसे शक्तिसंपन्न लेखकों की थी जो अपनी प्रतिभा और उद्भावना के बल से उसे सुव्यवस्थित और परिमार्जित करते और उसमें ऐसे साहित्य का विधान करते जो शिक्षित जनता की रुचि के अनुकूल होता। ठीक इसी परिस्थिति में भारतेंदु का उदय हुआ।

भारतेंदु हरिश्चंद्र का प्रभाव भाषा और साहित्य दोनों पर बड़ा गहरा पड़ा। उन्होंने जिस प्रकार गद्य

की भाषा को परिमार्जित करके उसे बहुत ही चलता मधुर और स्वच्छ रूप दिया, उसी प्रकार हिंदी-साहित्य को भी नए मार्ग पर लाकर खड़ा कर दिया। उनके भाषा-संस्कार की महत्ता को सब लोगों ने मुक्तकंठ से स्वीकार किया और वे वर्त्तमान हिंदी गद्य के प्रवर्त्तक माने गए हैं। मुंशी सदासुख की भाषा साधु होते हुए भी पंडिताऊपन लिए थी, लल्लूलाल में ब्रजभाषापन और सदल मिश्र में पूरबीपन था, राजा शिवप्रसाद का उर्दूपन शब्दों तक ही परिमित न था, वाक्य-विन्यास तक में घुसा था। राजा लक्ष्मणसिंह की भाषा विशुद्ध और मधुर तो अवश्य थी पर आगरे की बोल चाल का पुट उसमें कम न था। भाषा का निखरा हुआ शिष्ट सामान्य रूप भारतेंदु की कला के साथ ही प्रकट हुआ। भारतेंदु हरिश्चंद्र ने पद्य की ब्रजभाषा का भी बहुत कुछ संस्कार किया। पुराने पड़े हुए शब्दों को हटा कर काव्य भाषा में भी वे बहुत कुछ चलतापन और सफाई लाए।

इससे भी बड़ा काम उन्होंने यह किया कि साहित्य को नवीन मार्ग दिखाया और उसे वे शिक्षित जनता के साहचर्य्य में ले आए। नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचारधारा बदल चली थी। उनके मन में देशहित, समाज-हित आदि की नई उमगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गए थे, पर साहित्य पीछे ही पड़ा था। भक्ति, शृंगार आदि की पुराने ढंग की कविताएँ ही होती चली आ रही थीं। बीच बीच में कुछ शिक्षा संबंधिनी पुस्तकें अवश्य निकल जाती थीं पर देशकाल के अनुकूल साहित्य निर्माण का कोई विस्तृत प्रयत्न तब तक नहीं हुआ था। बंग देश में नए ढंग के नाटकों और उपन्यासों का सूत्रपात हो चुका था जिनमें देश और समाज की नई रुचि और भावना का प्रतिबिंब आने लगा था। पर हिंदी साहित्य अपने पुराने रास्ते पर ही पड़ा था। भारतेंदु ने उस साहित्य को दूसरी ओर मोड़ कर हमारे जीवन के साथ फिर से लगा दिया। इस प्रकार हमारे जीवन और हमारे साहित्य के बीच जो विच्छेद पड़ रहा था उसे उन्होंने दूर किया। हमारे साहित्य को नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त करने वाले हरिश्चंद्र ही हुए।

संवत् १९२२ में वे अपने परिवार के साथ जगन्नाथ जी गए। उसी यात्रा में उनका परिचय बंग देश की नवीन साहित्यिक प्रगति से हुआ। उन्होंने बँगला में नए ढंग के सामाजिक, देश देशांतर संबंधी, ऐतिहासिक और पौराणिक नाटक, उपन्यास आदि देखे और हिंदी में वैसी पुस्तकों के अभाव का अनुभव किया। संवत् १९२५ में उन्होंने 'विद्या सुंदर नाटक' बँगला से अनुवाद करके प्रकाशित किया। इस अनुवाद में ही उन्होंने हिंदी गद्य के बहुत ही सुडौल रूप का आभास दिया। इसी वर्ष उन्होंने "कविवचनसुधा" नाम की एक पत्रिका निकाली जिसमें पहले पुराने कवियों की कविताएँ छपा करती थी पर पीछे गद्य लेख भी रहने लगे। संवत् १९३० में उन्होंने "हरिश्चंद्र मैगज़ीन" नाम की मासिक पत्रिका निकाली जिसका नाम ८ संख्याओं के उपरांत "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" हो गया। हिंदी गद्य का ठीक परिष्कृत रूप पहले पहल इसी "चंद्रिका" में प्रकट हुआ। जिस प्यारी हिंदी को देश ने अपनी विभूति समझा, जिसको जनता ने उत्कंठा-पूर्वक दौड़कर अपनाया उसका दर्शन इसी पत्रिका में हुआ। भारतेंदु ने नई सुधरी हुई हिंदी का उदय इसी समय से माना है। उन्होंने "कालचक्र" नाम की अपनी पुस्तक में नोट किया है कि "हिंदी नई चाल में ढली सन् १८७३ ई०।"

उस "हरिश्चंदी हिंदी" के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' में भारतेंदु आप तो लिखते ही थे बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह दे देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण चौधरी बाबू हरिश्चंद्र के संपादन कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बड़ी तेज़ी के साथ वे चंद्रिका के लिये लेख और नोट लिखते थे और मैटर को बड़े ढंग से सजाते थे। हिंदी गद्य साहित्य के इस आरंभ काल में ध्यान देने की बात यह है कि उस समय जो थोड़े से गिनती के लेखक थे उनमें विदग्धता और मौलिकता थी और उनकी हिंदी हिंदी होती थी। वे अपनी भाषा की प्रकृति को पहचानने वाले थे। बँगला,

मराठी, उर्दू, अंगरेज़ी के अनुवाद का वह तूफान जो पचीस तीस वर्ष पीछे चला और जिसके कारण हिंदी का स्वरूप ही संकट में पड़ गया था, उस समय नहीं था। उस समय ऐसे लेखक न थे जो बंगला की पदावली और वाक्य ज्यों के त्यों रखते हों या अंग्रेज़ी वाक्यों और मुहावरों का शब्द प्रति शब्द अनुवाद कर हिंदी लिखने का दावा करते हों। उस समय की हिंदी में न 'दिक् दिक् अशांति थी', न 'कांदना सिहरना और छल छल अश्रुपात', न 'जीवन होड़' और 'कवि का संदेश' था, न "भाग लेना और स्वार्थ लेना"।

मैगज़ीन में प्रकाशित हरिश्चंद्र का "पाँचवें पैगंबर" मुंशी ज्वालाप्रसाद का "कलिराज की सभा", बाबू तोताराम का "अद्भुत अपूर्व स्वप्न", मुंशी कमलाप्रसाद का "रेल का विकट खेल" आदि लेख बहुत दिनों तक लोग बड़े चाव से पढ़ते थे। संवत् १९३१ में भारतेंदु ने स्त्रीशिक्षा के लिये "बालाबोधिनी" निकाली थी। इस प्रकार उन्होंने तीन पत्रिकाएँ निकालीं। इसके पहले ही संवत् १९३० में उन्होंने अपना पहला मौलिक नाटक 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' नाम का प्रहसन लिखा, जिसमें धर्म और उपासना के नाम से समाज में प्रचलित अनेक अनाचारों का जघन्य रूप दिखाते हुए उन्होंने राजा शिवप्रसाद को लक्ष्य करके खुशामदियों और केवल अपनी मानवृद्धि की फिक्र में रहनेवालों पर भी छींटे छोड़े। भारत के प्रेम में मतवाले, देशहित की चिंता में व्यग्र हरिश्चंद्र जी पर सरकार की जो कुदृष्टि हो गई थी उसके कारण बहुत कुछ राजा साहब ही समझते थे।

"वैदिकी हिंसा" के उपरांत 'कर्पूरमंजरी' 'सत्यहरिश्चंद्र' 'चंद्रावली नाटिका' 'भारतदुर्दशा' 'अंधेर नगरी' 'नीलदेवी' इत्यादि बहुत से नाटक इन्होंने प्रस्तुत किए। इनमें पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक आदि हर प्रकार के नाटक हैं। इन नाटकों की रचना में उन्होंने मध्यम मार्ग का अवलंबन किया। न तो बँगला के नाटकों की तरह प्राचीन भारतीय शैली को एक बारगी छोड़ वे अंग्रेजी नाटकों की नकल पर चले और न प्राचीन नाट्यशास्त्र की जटिलता में अपने को फँसाया। उनके बड़े नाटकों में प्रस्तावना बराबर रहती थी। वे नाटकों के अभिनय का उद्योग भी करते रहते थे। यद्यपि सब से अधिक रचना उन्होंने नाटकों ही की की पर हिंदी साहित्य के सर्वतोमुख विकास की ओर भी वे बराबर दत्तचित्त रहे। 'काश्मीरकुसुम', 'बादशाहदर्पण' आदि लिखकर इन्होंने इतिहास रचना का मार्ग दिखाया। अपने पिछले दिनों में वे उपन्यास लिखने की ओर प्रवृत्त हुए थे पर चल बसे। ये सिद्ध वाणी के अत्यंत सरस हृदय कवि थे। इससे एक ओर तो इनको लेखनी से शृंगार रस के ऐसे रस पूर्ण और मार्मिक कवित्त-सवैये निकले कि इनके जीवन काल में ही चारों ओर लोगों के मुँह से सुनाई पड़ने लगे और दूसरी ओर स्वदेश प्रेम से भरी हुई इनकी कविताएँ चारों ओर देश के मंगल का मंत्र सा फूँकने लगीं।

अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के बल से एक ओर तो वे पद्माकर और द्विजदेव की परंपरा में दिखाई पड़ते थे, दूसरी ओर बंगदेश के माइकेल और हेमचंद्र की श्रेणी में। एक ओर तो राधाकृष्ण की भक्ति में झूमते हुए नई भक्तमाल गूँथते दिखाई देते थे, दूसरी ओर मंदिरों के अधिकारियों और टीकाधारी भक्तों के चरित्र की हँसी उड़ाते और स्त्रीशिक्षा समाज-सुधार आदि पर व्याख्यान देते पाए जाते थे। प्राचीन और नवीन का यही सुंदर सामंजस्य भारतेंदु की कला का विशेष माधुर्य्य है। साहित्य के एक नवीन युग के आदि में प्रवर्त्तक के रूप में खड़े होकर उन्होंने यह भी प्रदर्शित किया कि नए नए या बाहरी भावों को पचाकर इस प्रकार मिलाना चाहिए कि वे अपने ही साहित्य के विकसित अंग से लगें। प्राचीन नवीन के उस संधिकाल में जैसी शीतल कला का संचार अपेक्षित था वैसी ही शीतल कला के साथ भारतेंदु का उदय हुआ, इसमें संदेह नहीं।

हरिश्चंद्र के जीवन काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया था। उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला

श्रीनिवास दास पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित केशवराम भट्ट, पंडित अम्बिकादत्त व्यास; पंडित राधाचरण गोस्वामी इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिंदी साहित्य के इस नूतन विकास में योग दिया था। भारतेंदु का अस्त तो संवत् १९४२ में ही हो गया पर उनका यह मंडल बहुत दिनों तक साहित्य-निर्माण करता रहा। अनेक प्रकार के गद्य प्रबंध, नाटक, उपन्यास आदि इन लेखकों को लेखनी से निकलते रहे। पचीसों पत्र पत्रिकाएँ तो हरिश्चंद्र के जीवनकाल में ही निकलीं जिनमें से मुख्य ये हैं—

अलमोड़ा अखबार (संवत् १९२८ संपादक पंडित सदानंद सलवाल), हिंदीदीप्तिप्रकाश (संवत् १९२९, संपादक कार्त्तिकप्रसाद खत्री कलकत्ता), विहारबंधु (संवत् १९२९ सं० केशवराम भट्ट), सदादर्श (१९३१ सं० श्रीनिवासदास दिल्ली), काशीपत्रिका (१९३३ सं० लक्ष्मीशंकर मिश्र एम० ए० काशी), भारतबंधु (१९३३ सं० तोताराम अलीगढ़); भारतमित्र (१९३४ सं० रुद्रदत्त कलकत्ता), मित्रविलास (१९३४ सं० कन्हैया लाल लाहौर), हिंदी प्रदीप (१९३४ सं० बालकृष्ण भट्ट प्रयाग), सारसुधानिधि (१९३५ सं० सदानंद मिश्र, कलकत्ता), उचितवक्ता (१९३५ सं० दुर्गाप्रसाद मिश्र, कलकत्ता), सज्जनकीर्त्तिसुधाकर (१९३६ सं० वंशीधर उदयपुर), आर्य्यदर्पण (१९३४ सं० बख्तावर सिंह शाहजहाँपुर), भारतसुदशाप्रवर्त्तक (१९३६ सं० गणेश प्रसाद फर्रुखाबाद), आनंदकादंबिनी (१९३९ सं० उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी मिर्जापुर), कविकुलकंजदिवाकर (१९४१ सं० रामनाथ शुक्ल बस्ती), दिनकर प्रकाश (१९४० सं० रामदास वर्मा लखनऊ), देशहितैषी (१९३९ अजमेर), धर्मदिवाकर (१९४० सं० देवीसहाय, कलकत्ता), प्रयाग समाचार (१९४० सं० देवकीनंदन त्रिपाठी), पीयूषप्रवाह (१९४१ सं० अंबिकादत्त व्यास), ब्राह्मण (१९४० सं० प्रतापनारायण मिश्र), भारतजीवन (१९४१ सं० रामकृष्ण वर्मा काशी), भारतेंदु (१९४१ सं० राधाचरण गोस्वामी, वृंदाबन), शुभचिंतक (१९४० सं० सीताराम, जबलपुर), सदाचार मार्त्तंड (१९४० सं० लालचंद्र शास्त्री जयपुर), हिंदोस्थान (१९४० सं० राजा रामपाल सिंह इंगलैंड)।

इनमें से अधिकांश पत्र पत्रिकाएँ तो थोड़े ही दिन चल कर बंद होगई पर कुछ ने लगातार बहुत दिनों तक लोकहित-संपादन और हिंदी की सेवा की है, जैसे विहारबंधु, भारतमित्र, उचितवक्ता, आर्य्यदर्पण, ब्राह्मण, हिंदी प्रदीप और हिन्दोस्थान। 'मित्रविलास' सनातनधर्म का समर्थक पत्र था जिसने पंजाब में हिंदी प्रचार का बहुत कुछ कार्य्य किया था। 'ब्राह्मण' 'हिंदी प्रदीप' और "आनंदकादंबिनी" साहित्यिक पत्र थे जिनमें बहुत अच्छे अच्छे मौलिक गद्य प्रबंध और कविताएँ निकला करती थीं। भारतेंदु के पहले तो हिंदी गद्य अपना स्वरूप ही स्थिर करने में लगा था। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह ने जो कुछ गद्य लिखा था वह प्रस्ताव के रूप में था। जब प्रस्ताव काल समाप्त हुआ और भारतेंदु के समय में अच्छे लेखकों का मंडल तैयार हुआ तब लेखकों की भिन्न भिन्न शैलियों की आलोचना का अवसर आया। हरिश्चंद्र जी और उनके समसामयिक लेखकों में जो एक सामान्य गुण लक्षित होता है वह है सजीवता वा जिंदःदिली। पंडित बालकृष्ण भट्ट, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, पंडित बदरी नारायण चौधरी आदि के लेखों में हास्य और विनोद की मात्रा पूरी पाई जाती है। राजा शिवप्रसाद और राजा लक्ष्मणसिंह भाषा पर अधिकार रखनेवाले स्थिर प्रकृति के लेखक थे। उनमें वह चपलता, स्वच्छंदता और उमंग नहीं पाई जाती जो हरिश्चंद्र मंडल के लेखकों में दिखाई पड़ती है। शिक्षित समाज में संचरित भावों को इन पिछले लेखकों ने बड़े अनुरंजनकारी रूप में ग्रहण किया।

शैली का भेद भी इन लेखकों में स्पष्ट रूप से लक्षित होता है। भारतेंदुजी में ही हम दो प्रकार की शैलियों का व्यवहार पाते हैं। उनकी भावावेश की शैली दूसरी है और तथ्यनिरूपण की शैली दूसरी। भावावेश की भाषा में प्रायः वाक्य बहुत छोटे छोटे होते हैं और पदावली सरल बोल-चाल की होती है जिसमें बहुत

प्रचलित साधारण फारसी-अरबी के शब्द भी कभी कभी, पर बहुत कम, आ जाते हैं। चंद्रावली-नाटिका से उद्धृत यह अंश देखिए—

"झूठे, झूठे, झूठे! झूठे ही नहीं, विश्वासघातक। क्यों इतनी छाती ठोंक और हाथ उठा उठाकर लोगों को विश्वास दिया? आप ही सब मरते, चाहे जहन्नुम में पड़ते!........ भला क्या काम था कि इतना पचड़ा किया? किसने इस उपद्रव और जाल करने को कहा था? कुछ न होता, तुम्हीं तुम रहते, बस चैन था, केवल आनंद था। फिर क्यों यह विषमय संसार किया। बखेड़िये! और इतने बड़े कारखाने पर बेहयाई परले सिरे की। नाम बिके, लोग झूठा कहें, अपने मारे फिरें, पर वाहरे शुद्ध बेहयाई—पूरी निर्लज्जता! लाज को जूतों मार के, पीट पीट के निकाल दिया है। जिस मुहल्ले में आप रहते हैं लाज की हवा भी नहीं जाती। हाय एक बार भी मुँह दिखा दिया होता तो मत-वाले मतवाले बने क्यों लड़लड़ कर सिर फोड़ते? काहे को ऐसे बेशरम मिलेंगे? हुक्मी बेहया हो।"

जहाँ चित्त के किसी स्थायी क्षोभ की व्यंजना है और चिंतन के लिये कुछ अवकाश है वहाँ की भाषा कुछ अधिक साधु और गंभीर तथा वाक्य कुछ बड़े हैं, पर अन्वय जटिल नहीं है, जैसे प्रेम योगिनी में सूत्रधार के इस भाषण में—

"क्या सारे संसार के लोग सुखी रहें और हम लोगों का परम बंधु, पिता, मित्र, पुत्र, सब भावनाओं से भावित, प्रेम की एक मात्र मूर्ति, सौजन्य का एक मात्र पात्र, भारत का एक मात्र हित, हिंदी का एक मात्र जनक, भाषा नाटकों का एक मात्र जीवनदाता, हरिश्चंद्र ही दुखी हो? (नेत्र में जल भर कर) हा सज्जन शिरोमणे! कुछ चिंता नहीं, तेरा तो बाना है कि कितना भी दुख हो उसे सुख ही मानना। × × × × × × मित्र! तुम तो दूसरों का अपकार और अपना उपकार दोनों भूल जाते हो, तुम्हें इनकी निंदा से क्या? इतना चित्त क्यों क्षुब्ध करते हो? स्मरण रक्खो, ये कीड़े ऐसे ही रहेंगे और तुम लोक-बहिष्कृत हो कर इनके सिर पर पैर रख के विहार करोगे।"

तथ्य-निरूपण या वस्तुवर्णन के समय उनकी भाषा में संस्कृत-पदावली का कुछ अधिक समावेश होता है। इसका सबसे बढ़ा चढ़ा उदाहरण नीलदेवी के वक्तव्य में मिलता है। देखिए—

"आज बड़ा दिन है, क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़ कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किंतु मुझको आज उलटा और दुख है। इसका कारण मनुष्य स्वभाव-सुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं कि राग द्वेष से विहीन हूँ। जब मुझे अंग्रेजी रमणी लोग मेदसिंचित केशराशि, कृत्रिम कुंतलजूट, मिथ्या रत्नाभरण, विविध वर्ण, वसन से भूषित, क्षीण कटिदेश कसे, निज निज पतिगण के साथ प्रसन्नवदन इधर से उधर फर फर कल की पुतली की भाँति फिरती हुई दिखलाई पड़ती हैं तब इस देश की सीधी सादी स्त्रियों की हीन अवस्था मुझको स्मरण आती है और यही बात मेरे दुःख का कारण होती है"।

पर यह भारतेंदु की असली भाषा नहीं। उनकी असली भाषा का रूप पहले दो अवतरणों में ही समझना चाहिए। भाषा चाहे जिस ढंग की हो उनके वाक्यों का अन्वय सरल होता है, उनमें जटिलता नहीं होती। उनके लेखों में भावों की मार्मिकता पाई जाती है, वाग्वैचित्र्य या चमत्कार की प्रवृत्ति नहीं।

पंडित प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखन-कला में भारतेंदु को ही आदर्श मानते थे पर उनकी शैली में भारतेंदु की शैली से बहुत कुछ विभिन्नता भी लक्षित होती है। प्रतापनारायण जी में विनोद-प्रियता विशेष थी इससे उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः रहती है। इसके लिये वे पूरबीपन की परवा न करके अपने बैसवारे की ग्राम्य कहावतें और शब्द भी कभी कभी बेधड़क रख दिया करते थे। कैसा ही विषय हो, वे उसमें विनोद और मनोरंजन की सामग्री ढूँढ़ लेते थे। अपना 'ब्राह्मण' पत्र उन्होंने विविध विषयों पर गद्यप्रबंध लिखने के लिये ही निकला था। लेख हर तरह के निकलते थे। देशदशा, समाज-सुधार, नागरी-हिंदी-प्रचार,

साधारण मनोरंजन आदि सब विषयों पर मिश्र जी की लेखनी चलती थी। शीर्षकों के नामों से ही विषयों की अनेकरूपता का पता चलेगा जैसे, "घूरे क लत्ता बिनैं कनातन क डौल बाँधैं", "समझदार की मौत है", "बात", "मनोयोग", "वृद्ध", "भौं"। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य विनोद की ओर ही अधिक रहती थी पर जब कभी कुछ गंभीर विषयों पर वे लिखते थे तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनों प्रकार की लिखावटों के नमूने नीचे दिए जाते हैं—

"समझदार की मौत है।

सच है "सब तें भले हैं मूढ जिन्हें न व्यापै जगत-गति"। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारा करना, जो कोई तिथ-त्योहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगापुत्र को चार पैसे देकर सेंत मेत में धरम-मूरत, धरम-औतार का खिताब पाना; संसार परमार्थ दोनों दो बन गए, अब काहे की है है और काहे की खै खै ? आफ़त तो बेचारे ज़िंदादिलों की है जिन्हें न यों कल न वों कल; जब स्वदेशी भाषा का पूर्ण प्रचार था तब के विद्वान् कहते थे "गीर्वाणवाणीषु विशालबुद्धिस्तथान्यभाषा–रसलोलुपोहम्" अब आज अन्य भाषा वरंच अन्य भाषाओं का करकट (उर्दू) छातीका पीपल हो रही है; अब यह चिंता खाए लेती है कि कैसे इस चुड़ैल से पीछा छूटे।

मनोयोग

शरीर के द्वारा जितने काम किए जाते हैं उन सब में मन का लगाव अवश्य रहता है। जिनमें मन प्रसन्न रहता है वही उत्तमता के साथ होते हैं और जो उसकी इच्छा के अनुकूल नहीं होते वह वास्तव में चाहे अच्छे कार्य्य भी हों किंतु भले प्रकार पूर्ण रीति से संपादित नहीं होते, न उनका कर्त्ता ही यथोचित आनंद लाभ करता है। इसी से लोगों ने कहा है कि मन शरीर रूपी नगर का राजा है और स्वभाव उसका चंचल है। यदि स्वच्छंद रहे तो बहुधा कुत्सित ही मार्ग में धावमान रहता है। यदि रोका न जाय तो कुछ काल में आलस्य और अकृत्य का व्यसन उत्पन्न करके जीवन को व्यर्थ एवं अनर्थपूर्ण कर देता है।"

पंडित बालकृष्ण जी भट्ट ने भी संवत् १९३३ में अपना "हिंदी प्रदीप" गद्य साहित्य का ढर्रा निकालने के लिये ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे छोटे गद्यप्रबंध वे अपने पत्र में तीस बत्तीस वर्ष तक निकालते रहे। उनके लिखनेका ढंग पंडित प्रतापनारायण के ढंग से मिलता जुलता है। मिश्र जी के समान भट्ट जी भी स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग करते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है। व्यंग्य और वक्रता उनके लेखों में भी भरी रहती है और वाक्य भी कुछ बड़े बड़े होते हैं। ठीक खड़ीबोली के आदर्श का निर्वाह भट्ट जी ने भी नहीं किया है। पूरबी प्रयोग बराबर मिलते हैं। "समझा बुझाकर" के स्थान पर "समझाय बुझाय" वे प्रायः लिख जाते थे। उनके लिखने के ढंग से यह जान पड़ता है कि वे अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे नवशिक्षित लोगों को हिंदी की ओर आकर्षित करने के लिये लिख रहे हैं। स्थान स्थान पर ब्रैकेट में घिरे "Education", "Society", "National vigour and strength", "Standard", "Character" आदि अंग्रेज़ी शब्द पाए जाते हैं। इसी प्रकार फारसी अरबी के लफ़्ज ही नहीं बड़े बड़े फिकरे तक भट्ट जी अपनी मौज में आकर रखा करते थे। इस प्रकार उनकी शैली में एक निरालापन झलकता है। प्रतापनारायण के हास्यविनोद से भट्ट जी के हास्यविनोद में यह विशेषता है कि वह कुछ चिड़चिड़ाहट लिए रहता था। पदविन्यास भी कभी कभी उनका बहुत ही चोखा और अनूठा होता था।

अनेक प्रकार के गद्य-प्रबंध भट्ट जी ने लिखे हैं, पर सब छोटे छोटे। वे बराबर कहा करते थे कि न जाने कैसे लोग बड़े बड़े लेख लिख डालते हैं। मुहावरों की सूझ उनकी बहुत अच्छी थी। "आँख," "कान," "नाक" आदि शीर्षक देकर उन्होंने कई लेखों में बड़े ढंग के साथ मुहावरों की झड़ी बाँध दी है। एक बार वे मेरे घर पधारे थे। मेरा छोटा भाई आँखों पर हाथ रखे उन्हें

दिखाई पड़ा। उन्होंने पूछा 'भैया! आँख में क्या हुआ है.?" उत्तर मिला "आँख आई है।" वे चट बोल उठे "भैया! यह आँख बड़ी बला है; इसका आना, जाना, उठना, बैठना सब बुरा है।" अनेक विषयों पर गद्य प्रबंध लिखने के अतिरिक्त 'हिंदीप्रदीप' द्वारा भट्ट जी संस्कृत-साहित्य और संस्कृत के कवियों का परिचय भी अपने पाठकों को समय समय पर कराते रहे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र और पंडित बालकृष्ण भट्ट ने हिंदी गद्य साहित्य में वही काम किया है जो अंग्रेज़ी गद्य-साहित्य में एडीसन और स्टील ने किया था। भट्ट जी के लिखावट के दो नमूने देखिए—

"कल्पना

× × × यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है। अनुमान करते करते हैरान गौतम से मुनि 'गोतम' हो गए। कणाद तिनका खा खा कर किनका बीनने लगे पर मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते करते 'कपिल' अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा, कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे, यह सम्पूर्ण विश्व जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षणभंगुर है, अतएव हेय है।"

आत्म-निर्भरता

इधर पचास साठ वर्षों से अंग्रेजी राज्य के अमनचैन का फ़ायदा पाय हमारे देश वाले किसी भलाई की ओर न झुके वरन् दस वर्ष की गुड़ियों का ब्याह कर पहिले से ड्योढ़ी दूनी सृष्टि अलबत्ता बढ़ाने लगे। हमारे देश की जन-संख्या अवश्य घटनी चाहिए। × × × × आत्म-निर्भरता में दृढ़, अपने कूवते बाज़ू पर भरोसा रखनेवाला, पुष्टवीर्य्य, पुष्टबल, भाग्यवान् एक संतान अच्छा। 'कूकर सूकर से' निकम्मे, रग रग में दास-भाव से पूर्ण, परभाग्योपजीवी दस किस काम के?"

उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी• (प्रेमघन) की शैली सब से विलक्षण थी। वे गद्य-रचना को एक कला के रूप में ग्रहण करनेवाले—कलम की कारीगरी समझनेवाले-लेखक थे और कभी कभी ऐसे पेचीले मज़मून बाँधते थे कि पाठक एक एक डेढ़ डेढ़ कालम के लंबे वाक्य में उलझा रह जाता था। अनुप्रास और अनूठे पदविन्यास की ओर भी उनका ध्यान रहता था। किसी बात को साधारण ढंग से कह जाने को ही वे लिखना नहीं कहते थे। वे कोई लेख लिख कर जब तक कई बार उसका परिष्कार और मार्जन नहीं कर लेते थे तब तक छपने नहीं देते थे। भारतेंदु के वे घनिष्ठ मित्र थे पर लिखने में उनके "उतावलेपन" की शिकायत अकसर किया करते थे। वे कहते थे कि बाबू हरिश्चंद्र अपनी उमंग में जो कुछ लिख जाते थे उसे यदि एक बार और देख कर परिमार्जित कर लिया करते तो वह और भी सुडौल और सुंदर हो जाता। एक बार उन्होंने मुझसे कांग्रेस के दो दल हो जाने पर एक नोट लिखने को कहा। मैंने जब लिख कर दिया तब उसके किसी वाक्य को पढ़कर वे कहने लगे कि इसे यों कर दीजिए—"दोनों दलों को दलादली में दलपति का विचार भी दलदल में फँसा रहा"। भाषा अनुप्रास मयी और चुहचुहाती हुई होने पर भी उनका पद-विन्यास व्यर्थ के आडंबर के रूप में नहीं होता था। उनके लेख अर्थगर्भित और सूक्ष्म विचारपूर्ण होते थे। लखनऊ की उर्दू का जो आदर्श था वही उनकी हिंदी का था। बहुत सी कविताओं के अतिरिक्त उन्होंने "भारत सौभाग्य" और "वारांगना रहस्य" (अधूरा) ये दो नाटक भी लिखे।

सच पूछिए तो "आनंद-कादंबिनी" प्रेमघन जी ने अपने ही उमड़ते हुए विचारों और भावों को अंकित करने के लिये निकाली थी। और लोगों के लेख उसमें नहीं के बराबर रहा करते थे। इस पर भारतेंदुजी ने उनसे एक बार कहा था कि "जनाब! यह किताब नहीं कि जो आप अकेले ही हरकाम फरमाया करते हैं, बल्कि अख़बार है कि जिसमें अनेक जन-लिखित लेख होना आवश्यक है; और यह भी ज़रूरत नहीं कि सब एक

तरह के लिक्खाड़ हों।" अपनी पत्रिका में किस शैली की भाषा लेकर चौधरी साहब मैदान में आए इसे दिखाने के लिये हम उसके प्रारंभकाल संवत् १६३८ की एक संख्या से कुछ अंश नीचे देते हैं—

"परिपूर्ण पावस

जैसे किसी देशाधीश के प्राप्त होने से देश का रंग ढंग बदल जाता है तद्रूप पावस के आगमन से इस सारे संसार ने भी दूसरा रंग पकड़ा; भूमि हरी-भरी होकर नाना प्रकार की घासों से सुशोभित भई, मानो मारे मोद के रोमांच की अवस्था को प्राप्त भई। सुंदर हरित् पत्रावलियों से भरित तरुगनों की सुहावनी लताएं लिपट लिपट मानो मुग्ध मयंकमुखियों को अपने प्रियतमों के अनुरागालिंगन की विधि बतलातीं। इनसे युक्त पर्वतों के शृंगों के नीचे सुंदरी दरी-समूह से स्वच्छ श्वेत जल-प्रवाह ने मानो पारा की धारा और बिल्लौर की ढार को तुच्छ कर युगल पार्श्व की हरी भरी भूमि के, कि जो मारे हरेपन के श्यामता की झलक दे अलक की शोभा लाई है, बीचोबीच माँग सी काढ़ मन माँग लिया और पत्थर की चट्टानों पर सुंबुल अर्थात् हंसराज की जटाओं का फैलना बिथरी हुई लटों के लावण्य का लाना है।"

'कादंबिनी में समाचार तक कभी कभी बड़ी रंगीन भाषा में लिखे जाते थे। संवत् १६४२ की संख्या का एक "स्थानिक संवाद" देखिए—

"दिव्य देवी श्री महाराणी बड़हर लाख झंझट झेल और चिरकाल पर्य्यंत बड़े बड़े उद्योग और मेल से दुःख के दिन सकेल, अचल 'कोर्ट' का पहाड़ ढकेल, फिर गद्दी पर बैठ गईं। ईश्वर का भी क्या खेल है कि कभी तो मनुष्य पर दुःख की रेलपेल और कभी उसी पर सुख की कुलेल है"।

पीछे जो उनका साप्ताहिक-पत्र "नागरी नीरद" निकला उसके शीर्षक भी वर्षा के खासे रूपक हुए, जैसे, "संपादकीय-सम्मति-समीर", "प्रेरित कलापि कलरव", "हास्य-हरितांकुर", "वृत्तांत बलाकावलि", "काव्यामृत-वर्षा", "विज्ञापन-वीरबहूटियाँ", "नियम-निर्घोष"।

समालोचना का सूत्रपात हिंदी में एक प्रकार से चौधरी साहब ने ही किया। समालोच्य पुस्तक के विषयों का अच्छी तरह विश्लेषण करके उसके गुण दोष के विस्तृत निरूपण की चाल उन्हीं ने चलाई। बाबू गदाधर सिंह ने "वंगविजेता" का जो अनुवाद किया था उसकी आलोचना कादंबिनी में पाँच पृष्ठों में हुई थी। लाला श्री निवास दास के "संयोगता स्वयंबर" की बड़ी विशद और कठोर समालोचना उन्होंने लिखी थी।

भारतेंदु के समसामयिक लेखकों में दिल्ली के लाला श्रीनिवास दास का भी एक विशेष स्थान है। उन्होंने "तप्तासंवरण", "संयोगता-स्वयंवर", "रणधीर-प्रेम-मोहनी" ये तीन नाटक और "परीक्षा गुरु" नाम का एक शिक्षाप्रद उपन्यास लिखा। वे खड़ीबोली की बोल चाल के शब्द और मुहावरे अच्छे लाते थे। उपर्युक्त चारों लेखकों में प्रतिभाशालियों का मनमौजीपन था, पर लाला श्रीनिवास दास व्यवहार में दक्ष और संसार का ऊँचा नीचा समझनेवाले पुरुष थे। अतः उनकी भाषा संयत और साफ़ सुथरी तथा रचना बहुत कुछ सोद्देश्य होती थी। 'परीक्षा-गुरु' से कुछ अंश नीचे दिया जाता है—

"मुझे आपकी यह बात बिलकुल अनोखी मालूम होती है। भला, परोपकारादि शुभ कामों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?" पंडित पुरुषोत्तम दास ने कहा।

"जैसे अन्न प्राणाधार है परंतु अति भोजन से रोग उत्पन्न होता है" लाला व्रजकिशोर कहने लगे "देखिए, परोपकार की इच्छा अत्यंत उपकारी है परंतु हद से आगे बढ़ने पर वह भी फ़िज़ूलख़र्ची समझी जायगी और अपने कुटुंब परिवारादि का सुख नष्ट हो जायगा। जो आलसी अथवा अधर्मियों की सहायता की, तो उससे संसार में आलस्य और पाप की वृद्धि होगी। इसी तरह कुपात्र में भक्ति होने से लोक परलोक दोनों नष्ट हो जायँगे। न्यायपरता यद्यपि सब वृत्तियों को समान रखने वाली है, परंतु इसकी अधिकता से भी मनुष्य के स्वभाव में मिलनसारी नहीं रहती, क्षमा नहीं रहती। जब बुद्धिवृत्ति के कारण किसी वस्तु के विचार में

मन अत्यंत लग जायगा तो और जानने लायक पदार्थों की अज्ञानता बनी रहेगी। आनुषंगिक प्रवृत्ति के प्रबल होने से जैसा संग होगा वैसा रंग तुरंत लग जाया करेगा"।

ऊपर के उद्धरण में अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर भाषण के बीच में या अंत में "अमुक ने कहा," "अमुक कहने लगे" ध्यान देने योग्य है। खैरियत हुई कि इस प्रथा का अनुसरण हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।

भारतेंदु जी के मित्रों में, कई बातों में उन्हीं की सी तबीयत रखनेवाले, विजयराघवगढ़ (मध्य प्रदेश) के राजकुमार ठाकुर जगमोहन सिंह जी थे। वे संस्कृत-साहित्य और अँगरेज़ी के अच्छे जानकार तथा हिंदी के एक प्रेम-पथिक कवि और माधुर्य्यपूर्ण गद्य लेखक थे। प्राचीन संस्कृत साहित्य के अभ्यास और विंध्याटवी के रमणीय प्रदेश में निवास के कारण विविध भाव-मयी प्रकृति के रूप माधुर्य्य की जैसी सच्ची परख, जैसी सच्ची अनुभूति, इनमें थी वैसी उस काल के किसी हिंदी-कवि या लेखक में नहीं पाई जाती। अब तक जिन लेखकों की चर्चा हुई उनके हृदय में इस भूखंड की रूप माधुरी के प्रति कोई सच्चा प्रेम संस्कार न था। परंपरा पालन के लिये चाहे प्रकृति का वर्णन उन्होंने किया हो पर वहाँ उनका हृदय नहीं मिलता। अपने हृदय पर अंकित भारतीय ग्राम्य जीवन के माधुर्य्य का जो संस्कार ठाकुर साहब ने अपने "श्यामा स्वप्न" में व्यक्त किया है उसकी सरसता निराली है। बाबू हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण आदि कवियों और लेखकों की अपनी दृष्टि और अपने हृदय की पहुँच मानव क्षेत्र तक ही थी, प्रकृति के अपर क्षेत्रों तक नहीं। पर ठाकुर जगमोहनसिंह जी ने नरक्षेत्र के सौंदर्य्य को प्रकृति के और क्षेत्रों के सौंदर्य्य के मेल में देखा है। प्राचीन संस्कृत-साहित्य के रुचि-संस्कार के साथ भारतभूमि की प्यारी रूप-रेखा को मन में बसानेवाले ये पहले हिंदी लेखक थे, यहाँ पर बस इतना ही कह कर हम इनके "श्यामा स्वप्न" का एक दृश्य खंड नीचे देते हैं—

"नर्मदा के दक्षिण दंडकारण्य का एक देश दक्षिण कोशल नाम से प्रसिद्ध है—

याही मग ह्वै कै गए दंडकबन श्री राम।
तासों पावन देश यह विंध्याटवी ललाम॥

मैं कहाँ तक इस सुंदर देश का वर्णन करूँ? जहाँ की निर्झरिणी—जिनके तीर वानीर से भिरे, मदकल कूजित विहंगमों से शोभित हैं, जिनके मूल से स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है और जिनके किनारे के श्याम जंबू के निकुंज फलभार से नमित जनाते हैं—शब्दायमान होकर झरती है। × × × × जहाँ के शल्लकी-वृक्षों की छाल में हाथी अपना बदन रगड़ रगड़ खुजली मिटाते हैं और उनमें से निकला छीर सब वन के शीतल समीर को सुरभित करता है। मंजु वंजुल की लता और नील निचुल के निकुंज जिनके पत्ते ऐसे सघन जो सूर्य्य की किरनों को भी नहीं निकलने देते, इस नदी के तट पर शोभित हैं।

ऐसे दण्डकारण्य के प्रदेश में भगवती चित्रोत्पला, जो नीलोत्पलों की झाड़ियों और मनोहर पहाड़ियों के बीच होकर बहती है, कंकगृद्ध नामक पर्वत से निकल अनेक दुर्गम विषम और असम भूमि के ऊपर से, बहुत से तीर्थों और नगरों को अपने पुण्य जल से पावन करती, पूर्व समुद्र में गिरती है।

इसी नदी के तीर अनेक जंगली गाँव बसे हैं। मेरा ग्राम इन सभों से उत्कृष्ट और शिष्ट जनों से पूरित है। इसके नाम ही को सुन कर तुम जानोगे कि यह कैसा सुंदर ग्राम है। × × × × इस पावन अभिराम ग्राम का नाम श्यामापुर है। यहाँ आम के आराम पथिकों और पवित्र यात्रियों को विश्राम और आराम देते हैं। × × × पुराने टूटे फूटे दिवाले इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं। ग्राम के सीमांत के झाड़, जहाँ झुंड के झुंड कौवे और बगुले बसेरा लेते हैं, गँवई की शोभा बढ़ाते हैं। पौ फटते और गोधूली के समय गैयों के खुरों से उड़ी धूल ऐसी गलियों में छा जाती है मानो कुहिरा गिरता हो। × × × × ऐसा सुंदर ग्राम, जिसमें श्यामसुंदर स्वयं विराजमान हैं, मेरा जन्म-स्थान था।"

कवियों के पुराने प्यार की बोली में देश की दश्यावलि को सामने रखने का मूक समर्थन तो इन्होंने किया ही है, साथ ही भाव को प्रबलता से प्रेरित कल्पना के विप्लव और विक्षेप को अंकित करनेवाली एक प्रकार की प्रलापशैली भी इन्होंने निकाली जिसमें रूपविधान का वैलक्षण्य प्रधान था न कि शब्दविधान का। क्या अच्छा होता यदि इस शैली का हिंदी में स्वतंत्र रूप से विकास होता? तब तो बंग साहित्य में प्रचलित इस शैली का शब्दप्रधान रूप, जो हिंदी पर कुछ काल से चढ़ाई कर रहा है और अब काव्यक्षेत्र का अतिक्रमण कर कभी कभी विषयनिरूपक निबंधों तक का अर्थग्रास करने दौड़ता है, शायद जगह न पाता।

हिंदी का हर एक प्रकार से हितसाधन करने के लिये जब भारतेंदु जी खड़े हुए थे उस समय उनका साथ देने वालों में अलीगढ़ के बाबू तोताराम बी० ए० भी थे जिन्होंने "भाषा संवर्द्धनी" नाम की एक सभा स्थापित की थी और "भारतबंधु" नाम का एक साप्ताहिक पत्र भी निकाला था। ये हरिश्चंद्र-चंद्रिका के लेखकों में से थे। ये जब तक रहे हिंदी के प्रचार और उन्नति में लगे रहे। इन्होंने कई पुस्तकें लिखकर अपनी सभा के सहायतार्थ अर्पित की थीं—जैसे 'केटोकृतांत नाटक' (अंग्रेजी का अनुवाद), स्त्री सुबोधिनी। भाषा इनकी साधारण अर्थात् विशेषता रहित है। इनके नाटक के एक पात्र का भाषण देखिए—

"यह कौन नहीं जानता, परंतु इस नीच संसार के आगे कीर्तिकेतु बिचारे की क्या चलती है? जो पराधीन होने ही से प्रसन्न रहता है और सिसुमार की सरन जा गिरने का जिसे चाव है, हमारा पिता अत्रिपुर में बैठा हुआ वृथा रमावती नागरी को नाम मात्र प्रतिष्ठा बनाए है। नवपुर की निबल सेना और एक रीती थोथी सभा, जो निष्फल युद्धों से शेष रह गई हैं, वह उसके संग है। हे ईश्वर!"

भारतेंदु के साथ हिंदी की उन्नति में योग देने वालों में नीचे लिखे महानुभाव भी विशेष उल्लेख योग्य हैं—

पंडित केशवराम भट्ट—इन्होंने बिहार प्रांत में हिंदी प्रचार के लिये कई प्रकार से उद्योग किया था। "बिहार-बंधु" नामक साप्ताहिक पत्र निकालने के अतिरिक्त इन्होंने कुछ पुस्तकें भी लिखी, जैसे, "शमशाद सौसन" और "सज्जाद संबुल" नाटक जिनकी भाषा बहुत कुछ उर्दू थी।

पंडित राधाचरण गोस्वामी—हरिश्चंद्र चंद्रिका को देख इनमें समाज-सुधार और देशभक्ति का भाव जाग्रत हुआ था। इन्होंने बंगभाषा के अनुवाद के अतिरिक्त "विदेश-यात्रा विचार" और "विधवा-विवाह विवरण" नामक दो पुस्तकें लिखीं और साहित्य सेवा के विचार से कुछ दिनों तक "भारतेंदु" नामक पत्र भी निकाला था।

पंडित अंबिकादत्त व्यास—ये संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान्, हिंदी के अच्छे कवि और सनातन धर्म के बड़े उत्साही उपदेशक थे। इनके धर्म संबंधी व्याख्यानों की धूम रहा करती थी। "अवतार मीमांसा" आदि धर्म संबंधी पुस्तकों के अतिरिक्त इन्होंने बिहारी के दोहों के भाव को विस्तृत करने के लिये "बिहारी बिहार" नाम का एक बड़ा ग्रंथ लिखा। गद्य रचना का भी विवेचन इन्होंने अच्छा किया है। पुरानी चाल की कविता (जैसे, पावस-पचासा) के अतिरिक्त इन्होंने 'ललिता नाटिका' 'गोसंकट नाटक', 'गद्यकाव्य मीमांसा' आदि अनेक गद्य की पुस्तकें भी लिखीं। 'इन्होंने', 'उन्होंने' के स्थान पर ये 'इनने', 'उनने' लिखते थे।

पंडित मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या—इन्होंने गिरती दशा में "हरिश्चंद्र चंद्रिका" को सँभाला था और उसमें अपना नाम भी जोड़ा था। अपने समय में ये इतिहास के अच्छे जानकार और विद्वान् माने जाते थे। कविराजा श्यामलदान जी ने जब अपने "पृथ्वीराज चरित्र" ग्रंथ में "पृथ्वीराज रासो" को जाली ठहराया था तब इन्होंने "रासो-संरक्षा" लिख कर उसको असल सिद्ध करने का प्रयत्न किया था।

पंडित भीमसेन शर्म्मा—ये पहले स्वामी दयानंद जी के दहने हाथ थे। संवत् १९४० और १९४२ के बीच इन्होंने धर्म संबंधी कई पुस्तकें हिंदी में लिखीं और कई

संस्कृत ग्रंथों के हिंदी भाष्य भी निकाले। इन्होंने "आर्य-सिद्धांत" नामक एक मासिक पत्र भी निकाला था। भाषा के संबंध में ये घोर विशुद्धतावादी थे। "संस्कृत भाषा की अद्भुत शक्ति" नाम का एक लेख लिखकर इन्होंने अरबी फारसी शब्दों को भी संस्कृत बना डालने की राय बड़े ज़ोर शोर से दी थी—जैसे दुश्मन को "दुःशम्न", सिफारिश को "क्षिप्राशिष", "चश्मा" को "चक्ष्मा", शिकायत को "शिक्षायत्न" इत्यादि।

पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदु के उदय के साथ ही जिस प्रकार लेखकों का एक साहित्य-मंडल तैयार हुआ उसी प्रकार देश के भिन्न भिन्न भागों से पत्र पत्रिकाएँ भी चल पड़ीं। इन पत्र-पत्रिकाओं की सूची पहले ही दी जा चुकी है। कलकत्ते से हिंदी का एक अच्छा पत्र और पत्रिका निकालने का प्रथम प्रयत्न करनेवाले बाबू कार्तिकप्रसाद खत्री थे। उन्होंने संवत् १९२८ में "हिंदी दीप्ति प्रकाश" नाम का एक संवाद पत्र और "प्रेम विलासिनी" नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी संवादपत्र पढ़नेवाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिये बाबू कार्त्तिक प्रसाद ने बहुत दौड़ धूप की थी। लोगों के घर जा जा कर वे पत्र सुना तक आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़े दिन चल कर बंद हो गया। संवत् १९३४ तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था। अतः संवत् १९३४ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र, पंडित छोटूलाल मिश्र, पंडित सदानंद मिश्र और बाबू जगन्नाथ खन्ना के उद्योग से कलकत्ते में "भारतमित्र कमेटी" बनो और "भारतमित्र" पत्र बड़ी धूमधाम से निकला जो बहुत दिनों तक हिंदी संवादपत्रों में एक ऊँचा स्थान ग्रहण किए रहा और अब तक चला जा रहा है। प्रारंभ काल में जब पंडित छोटूलाल मिश्र इसके संपादक थे तब भारतेंदु जी भी कभी कभी इसमें लेख दिया करते थे। उसी संवत् में लाहौर से "मित्र विलास" नामक पत्र पंडित गोपीनाथ के उत्साह से निकला। इसके पहले पंजाब में कोई हिंदी का पत्र न था। केवल "ज्ञानप्रदायिनी" नाम की एक पत्रिका उर्दू हिंदी में बाबू नवीनचंद्र द्वारा निकलती थी जिसमें शिक्षा और सुधार-संबंधी लेखों के अतिरिक्त ब्राह्मोमत की बातें रहा करती थीं। उसके पीछे जो "हिंदू बांधव" निकला उसमें भी उर्दू और हिंदी दोनों रहती थी। केवल हिंदी का एक भी पत्र न था। 'कवि-वचन-सुधा' की मनोहर लेखशैली और भाषा पर मुग्ध होकर ही पंडित गोपीनाथ ने 'मित्र विलास' निकाला था, जिसकी भाषा बहुत सुष्ठ और ओजस्विनी होती थी। भारतेंदु के गोलोकवास पर बड़ी ही मार्मिक भाषा में इस पत्र ने शोकप्रकाश किया था और उनके नाम का संवत् चलाने का आंदोलन उठाया था।

इसके उपरांत संवत् १९३५ में पंडित दुर्गाप्रसाद मिश्र के सम्पादन में "उचितवक्ता" और पंडित सदानंद मिश्र के संपादन में "सार सुधानिधि" ये दो पत्र कलकत्ते से निकले। इन दोनों महाशयों ने बड़े समय पर हिंदी के एक बड़े अभाव की पूर्ति में योग दिया था। पीछे कालाकाँकर के मनस्वी और देशभक्त राजा रामपाल सिंह जी अपनी मातृभाषा की सेवा के लिये खड़े हुए और संवत् १९४० में उन्होंने हिंदोस्थान नामक पत्र इंगलैंड से निकाला जिसमें हिंदी और अंग्रेज़ी दोनों रहती थी। भारतेंदु के गोलोकवास के पीछे संवत् १९४२ में यह हिंदी-दैनिक के रूप में निकला और बहुत दिनों तक चलता रहा। इसके संपादकों में देश पूज्य पंडित मदन मोहन मालवीय, पंडित प्रताप नारायण मिश्र, बाबू बालमुकुंद गुप्त ऐसे लोग रह चुके हैं। बाबू हरिश्चंद्र के जीवन-काल में ही अर्थात् मार्च सन् १८८४ ई० में बाबू रामकृष्ण वर्म्मा ने काशी से "भारत-जीवन" पत्र निकाला। इस पत्र का नामकरण भारतेंदु जी ने ही किया था।

भारतेंदु के साथ ही कितने प्रतिभाशाली लेखक हिंदी साहित्य की समृद्धि के लिये उठ खड़े हुए थे, यह दिखाया जा चुका है और यह सूचित किया जा चुका है कि इतिहास, नाटक, उपन्यास आदि की जो नई परंपरा उन्होंने प्रतिष्ठित की थी वह उनके सामने ही धूम से चल पड़ी थी।

अंगरेज़ी ढंग का मौलिक उपन्यास पहले पहल हिंदी में लाला श्रीनिवासदास का "परीक्षागुरु" ही।

निकला थी, पर बंगभाषा में बहुत से उपन्यास निकल चुके थे। अतः हिंदी में सामाजिक, ऐतिहासिक उपन्यासों की परंपरा प्रतिष्ठित करने के लिये बँगला के कुछ अच्छे उपन्यासों का चटपट अनुवाद करना आवश्यक दिखाई पड़ा। अनुवाद में लग्गा भारतेंदु के सामने ही लग गया। बाबू गदाधर सिंह ने "बंगविजेता" और "दुर्गेशनंदिनी" का अनुवाद किया। भारतेंदु जी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्ण दास ने 'स्वर्णलता' 'मरता क्या न करता' आदि उपन्यास अनुवाद करके निकाले। पंडित प्रतापनारायणमिश्र ने "राज सिंह" "इन्दिरा", "राधा रानी" "युगलांगुलीय" और पंडित राधा चरण गोस्वामी ने 'विरजा', 'जावित्री', "मृणमयी" का अनुवाद किया। फिर तो बँगला के उपन्यासों के अनुवाद का ऐसा रास्ता खुला कि भरमार हो गई। पर पिछले अनुवादकों का अपनी भाषा पर वैसा अधिकार न था जैसा उपर्युक्त लेखकों का था। अधिकांश अनुवादक ठीकठीक हिंदी रूप देने में समर्थ नही हुए। बँगला के शब्द और मुहावरे वे ज्यों के त्यों रख देते थे—जैसे "काँदना,, "सिहरना", "धू धू करके आग जलाना," "छल छल आँसू गिरना"। इन अनुवादों से काम यह हुआ कि नए ढंग के ऐतिहासिक सामाजिक उपन्यासों का अच्छा परिचय हो गया और स्वतंत्र उपन्यास लिखने की प्रवृत्ति और योग्यता उत्पन्न हुई। पंडित बालकृष्ण भट्ट ने "नूतन ब्रह्मचारी" और "सौ अजान एक सुजान" दो छोटे छोटे मौलिक उपन्यास बहुत पहले लिखे थे।

अब नाटकों का प्रादुर्भाव लीजिए। भारतेंदु ने अपने "नाटक' नाम की पुस्तक में लिखा है कि हिंदी में मौलिक नाटक उनके पहले दो ही लिखे गए थे—महाराज विश्वनाथ सिंह का "आनंद रघुनंदन नाटक" और बाबू गोपालचंद का 'नहुष नाटक'। कहने की आवश्यकता नहीं कि ये दोनों व्रजभाषा में थे। यह तो प्रत्येक हिंदीप्रेमी जानता है कि भारतेंदु जी ने नाटक ही अधिक लिखे। उनके रचे नाटकों के नाम ये हैं—

अनुवाद

विद्या सुंदर, पाखंड विडंबन, धनंजय विजय, कर्पूर-मंजरी, मुद्राराक्षस, सत्य हरिश्चंद्र; *।

मौलिक

वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति, चंद्रावली, विषस्य विष मौषधम्, भारतदुर्दशा, नीलदेवी, अंधेर नगरी, प्रेम जोगिनी, सती प्रताप (अधूरा)।

नाटक लिखने का जो रास्ता भारतेंदु ने दिखाया उस पर चलने वाले सिद्धहस्त लेखक भी उन्हीं के समय में तैयार हो गए थे। पंडित प्रतापनारायण मिश्र के कलिकौतुक रूपक, कलि प्रभाव, हठी हमीर, गोसंकट, जुवारा खुवारी; उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी के भारत सौभाग्य, वारांगना-रहस्य, प्रयाग-रामागमन, वृद्ध विलाप; लाला श्रीनिवास दास के रणधीर-प्रेममोहिनी, संयोगता-स्वयंवर और तप्तासंवरण; बाबू तोताराम का केटो कृतांत, पंडित अंबिकादत्त व्यास का गोसंकट नाटक, ललिता नाटिका, मरहट्टा नाटक, भारत सौभाग्य तथा बाबू राधाकृष्ण दास के निस्सहाय हिंदू, दुःखिनी बाला, और पीछे लिखा हुआ महाराणा प्रताप इत्यादि नाटक एक ही परम्परा के अंतर्भूत हैं। इसके पीछे भारतजीवन प्रेस के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्मा ने बँगला के नाटकों का अनुवाद करके कुछ दिनों तक नाटकों का सिलसिला जारी रखा। 'वीरनारी' 'पद्मावती' और 'कृष्णकुमारी' आदि नाटक उस समय के स्मारक हैं। खेद के साथ कहना पड़ता है कि नाटकों की यह परंपरा थोड़े दिन चल कर बंद हो गई; उपन्यासों की परंपरा के समान बराबर चली नहीं। इसका कुछ कारण तो हिंदी की अभिनय शालाओं का अभाव था। अभिनय द्वारा नाटकों की ओर अभिरुचि बढ़ती है और उनका अच्छा प्रचार होता है। नाटक दृश्य काव्य हैं। उनका बहुत कुछ आकर्षण अभिनय पर अवलंबित होता है। उस समय नाटक खेलनेवाली जो व्यवसायी पारसी कंपनियाँ थीं वे उर्दू छोड़ हिंदी के नाटक खेलने के लिये तैयार न थीं। ऐसी दशा में नाटकों की ओर हिंदी-प्रेमियों का उत्साह कैसे बना रह सकता था?

* यद्यपि सत्यहरिश्चद्र मौलिक समझा जाता है पर मैंने एक पुराना बँगला नाटक देखा है जिसका सत्यहरिश्चद्र—अनुवाद कहा जा सकता है।

साहित्य के बड़े ऊँचे अंग गद्यप्रबंध भी हैं। पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदु के साथ जिस लेखक-मंडल का आविर्भाव हुआ वह भिन्न भिन्न विषयों पर निबंध लिखने में भी दत्तचित्त रहा। हरिश्चंद्र-चंद्रिका, ब्राह्मण, आनंदकादंबिनी, हिंदीप्रदीप आदि में इस प्रकार के बहुत से निबंध उस काल के लेखकों के भरे पड़े हैं। पर पीछे निबंध लिखने की परंपरा कुछ शिथिल सी पड़ गई। पंडित गोविंदनारायण मिश्र, पंडित माधवप्रसाद मिश्र, पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ऐसे दो चार इने गिने लेखक ही कुछ शुद्ध साहित्यिक निबंध लिखते रहे।

भारतेंदु के समय से साहित्य-निर्माण का कार्य्य तो धूमधाम से चल पड़ा पर उस साहित्य के सम्यक् प्रचार में कई प्रकार की बाधाएँ थीं। अदालतों की भाषा बहुत पहले से उर्दू चली आ रही थी इससे अधिकतर बालकों को अँगरेज़ी के साथ या अकेले उर्दू की ही शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर सरकारी नौकरियों के योग्य बनाना ही समझा जाता रहा है। इससे चारों ओर उर्दू पढ़ेलिखे लोग ही दिखाई पड़ते थे। ऐसी अवस्था में साहित्य-निर्माण के साथ हिंदी के प्रचार का उद्योग भी बराबर चलता रहा। स्वयं बाबू हरिश्चंद्र को हिंदीभाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता समझाने के लिये बहुत से नगरों में व्याख्यान देने के लिये जाना पड़ता था। उन्होंने इस संबंध में कई पैंफलेट भी लिखे। वे जहाँ जाते अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे—

निज भाषा—उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

इसी प्रकार पण्डित प्रतापनारायण मिश्र भी "हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान" का राग अलापते फिरते थे। कई स्थानों पर हिंदीप्रचार के लिये सभाएँ स्थापित हुईं। बाबू तोताराम द्वारा स्थापित अलीगढ़ की 'भाषा संवर्द्धिनी" सभा का उल्लेख हो चुका है। ऐसी ही एक सभा सन् १८८४ ई० में "हिंदी-उद्धारणी प्रतिनिधि मध्य-सभा" के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई थी। सरकारी दफ्तरों में नागरी के प्रवेश के लिए बाबू हरिश्चंद्र ने कई बार उद्योग किया था। सफलता न प्राप्त होने पर भी इस प्रकार का उद्योग बराबर चलता रहा। जब लेखकों की दूसरी पीढ़ी तैयार हुई तब उसे अपनी बहुत कुछ शक्ति प्रचार के काम में भी लगानी पड़ी।

भारतेंदु के अस्त होने के उपरांत ज्यों ज्यों हिंदी गद्यसाहित्य की वृद्धि होती गई त्यों त्यों प्रचार की आवश्यकता भी अधिक दिखाई पड़ती गई। अदालती भाषा उर्दू होने से नवशिक्षितों की अधिक संख्या उर्दू पढ़नेवालों की थी जिससे हिंदी-पुस्तकों के प्रकाशन का उत्साह बढ़ने नहीं पाता था। इस साहित्य-संकट के अतिरिक्त नागरी का प्रवेश सरकारी दफ्तरों में न होने से जनता का घोर संकट भी सामने था। अतः संवत् १९५० में कई उत्साही छात्रों के उद्योग से, जिनमें बाबू श्यामसुंदरदास, पंडित रामनारायण मिश्र और ठाकुर शिवकुमार सिंह मुख्य थे, काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की स्थापना हुई। इसके प्रथम सभापति भारतेंदु जी के फुफेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास हुए। इसके सहायकों में भारतेंदु के सहयोगियों में से कई सज्जन थे, जैसे—राय बहादुर पंडित लक्ष्मीशंकर मिश्र एम. ए०, खड्गविलास प्रेस के स्वामी बाबू रामदीन सिंह, 'भारत जीवन' के अध्यक्ष बाबू रामकृष्ण वर्म्मा, बाबू गदाधर सिंह, बाबू कार्त्तिक प्रसाद खत्री इत्यादि। इस सभा के उद्देश्य दो हुए—नागरी अक्षरों का प्रचार और हिंदी-साहित्य की समृद्धि।

उक्त दो उद्देश्यों में से यद्यपि प्रथम का प्रत्यक्ष संबंध हिंदी-साहित्य के इतिहास से नहीं जान पड़ता, पर परोक्ष संबंध अवश्य है। पहले कह आए हैं कि सरकारी दफ्तरों आदि में नागरी का प्रवेश न होने से नवशिक्षितों में हिंदी पढ़नेवालों की पर्य्याप्त संख्या नहीं थी। इससे नूतन साहित्य के निर्माण और प्रकाशन में पूरा उत्साह नहीं बना रहने पाता था। पुस्तकों का प्रचार होते न देख प्रकाशक भी हतोत्साह हो जाते थे और लेखक भी। ऐसी परिस्थिति में नागरीप्रचार के आंदोलन का साहित्य की वृद्धि के साथ भी संबंध मान हम संक्षेप में उसका उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं।

बाबू हरिश्चंद्र किस प्रकार नागरी और हिंदी के संबंध में अपनी चंद्रिका में लेख छापा करते और जगह जगह घूमकर वक्तृता दिया करते थे, यह हम पहले कह आए हैं। वे जब बलिया के हिंदी प्रेमी कलक्टर के निमंत्रण पर वहाँ गए थे तब कई दिनों तक बड़ी धूम रही। हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता पर उनका बहुत अच्छा व्याख्यान तो हुआ ही था साथ ही सत्यहरिश्चंद्र, 'अंधेरनगरी' और 'देवाक्षर चरित्र' के अभिनय भी हुए थे। "देवाक्षर चरित्र" पंडित रविदत्त शुक्ल का लिखा हुआ एक प्रहसन था जिसमें उर्दू लिपि की गड़बड़ी के बड़े ही विनोदपूर्ण दृश्य दिखाए गए थे। भारतेंदु के अस्त होने के कुछ पहले ही नागरी-प्रचार का झंडा पंडित गौरीदत्त जी ने उठाया। ये मेरट के रहनेवाले सारस्वत ब्राह्मण थे और मुदर्रिसी करते थे। अपनी धुन के ऐसे पक्के थे कि चालीस वर्ष की अवस्था हो जाने पर इन्होंने अपनी सारी जायदाद नागरी-प्रचार के लिये लिखकर रजिस्टरी करा दी और आप सन्यासी होकर 'नागरी प्रचार' का झंडा हाथ में लिए चारों ओर घूमने लगे। इनके व्याख्यानों के प्रभाव से न जाने कितने देवनागरी-स्कूल मेरट के आस पास खुले। शिक्षासंबंधिनी कई पुस्तकें भी इन्होंने लिखीं। प्रसिद्ध "गौरी-नागरी-कोश" इन्हीं का है। जहाँ कहीं कोई मेला तमाशा होता वहाँ पंडित गौरीदत्त जी लड़कों की ख़ासी भीड़ पीछे लगाए नागरी का झंडा हाथ में लिए दिखाई देते थे। मिलने पर 'प्रणाम', 'जयराम' आदि के स्थान पर लोग इनसे "जय नागरी की" कहा करते थे। इन्होंने संवत् १९५१ में दफ़्तरों में नागरी जारी करने के लिये एक मेमोरियल भी भेजा था।

नागरी प्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के कुछ ही दिनों पीछे दबाई हुई नागरी के उद्धार के उद्योग में लग गई। संवत् १९५२ में जब इस प्रदेश के छोटे लाट सर ऐंटनी (पीछे लार्ड) मैकडानल काशी में आए तब सभा ने एक आवेदन पत्र उनको दिया और सरकारी दफ़्तरों से नागरी को दूर रखने से जनता को जो कठिनायाँ हो रही थीं और शिक्षा के सम्यक् प्रचार में जो बाधाएँ पड़ रही थीं उन्हें सामने रखा। जब उन्होंने इस विषय पर पूरा विचार करने का वचन दिया तब से बराबर सभा व्याख्यानों और परचों द्वारा जनता के उत्साह को जाग्रत करती रही। न जाने कितने स्थानों पर डेपुटेशन भेजे गए और हिंदी भाषा और नागरी अक्षरों की उपयोगिता की ओर ध्यान आकर्षित किया गया। भिन्न भिन्न नगरों में सभा की शाखाएँ स्थापित हुईं। संवत् १९५५ में एक बड़ा प्रभावशाली डेपुटेशन—जिसमें अयोध्यानरेश महाराज प्रतापनारायण सिंह, माँडा के राजा रामप्रसाद सिंह, आवागढ़ के राजा बलवंतसिंह, डाक्टर सुंदर लाल और पंडित मदनमोहन मालवीय ऐसे मान्य और प्रतिष्ठित लोग थे—लाट साहब से मिला और नागरी का मेमोरियल अर्पित किया।

उक्त मेमोरियल की सफलता के लिये कितना भीषण उद्योग प्रांत भर में किया गया यह बहुत लोगों को स्मरण होगा। सभा की ओर से न जाने कितने सज्जन सब नगरों में जनता के हस्ताक्षर लेने के लिये भेजे गए जिन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इस आंदोलन के प्रधान नायक देशपूज्य श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे। उन्होंने "अदालती लिपि और प्राइमरी शिक्षा" नाम की एक बड़ी अंग्रेजी पुस्तक, जिसमें नागरी को दूर रखने के परिणामों की बड़ी ही विस्तृत और अनुसंधान पूर्ण मीमांसा थी, लिख कर प्रकाशित की। अंत में संवत् १९५७ में भारतेंदु के समय से ही चले आते हुए इस उद्योग का फल प्रकट हुआ और कचहरियों में नागरी के प्रवेश की घोषणा प्रकाशित हुई।

सभा के साहित्यिक आयोजनों के भीतर हम बराबर हिंदीप्रमियों की सामान्य आकांक्षाओं और प्रवृत्तियों का परिचय पाते आ रहे हैं। पहले ही वर्ष "नागरीदास का जीवनचरित्र" नामक जो लेख पढ़ा गया वह कवियों के विषय में बढ़ती हुई लोकजिज्ञासा का पता देता है। हिंदी के पुराने कवियों का कुछ इतिवृत्-संग्रह पहले पहल संवत् १९४० में ठाकुर शिवसिंह सेंगर ने अपने "शिवसिंह सरोज" में किया। उसके पीछे प्रसिद्ध भाषावेत्ता डाक्टर (अब सर) ग्रियर्सन ने संवत् १९४६ में

Modern Vernacular Literature of Northern Hindustan प्रकाशित किया। कवियों का वृत्त भी साहित्य का एक अंग है। अतः सभा ने आगे चल कर हिंदी पुस्तकों की खोज का काम भी अपने हाथ में लिया जिससे बहुत से गुप्त और अप्रकाशित रत्नों के मिलने की पूरी आशा के साथ साथ कवियों का बहुत कुछ वृत्तांत प्रकट होने की भी पूरी संभावना थी। संवत् १९५६ में सभा को गवर्मेंट से ४००) वार्षिक सहायता इस काम के लिये प्राप्त हुई और खोज धूमधाम से आरंभ हुई। यह वार्षिक सहायता ज्यों ज्यों बढ़ती गई त्यों त्यों यह काम भी अधिक विस्तृत रूप में होता गया। इसी खोज का फल है कि आज कई सौ ऐसे कवियों की कृतियों का परिचय हमें प्राप्त है जिनका पहले पता न था। कुछ कवियों के संबंध में बहुत सी बातों की भी नई जानकारी हुई। सभा की "ग्रंथमाला "में कई पुराने कवियों के अच्छे अच्छे अप्रकाशित ग्रंथ छपे। सारांश यह कि इस खोज के द्वारा हिंदी-साहित्य का इतिहास लिखने की ख़ासी सामग्री उपस्थित हुई जिसकी सहायता से दो एक अच्छे कविवृत्त-संग्रह भी हिंदी में निकले।

हिंदीभाषा के द्वारा ही सब प्रकार के वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा की व्यवस्था का विचार भी लोगों के चित्त में अब उठ रहा था। पर बड़ी भारी कठिनता पारिभाषिक शब्दों के संबंध में थीं। इससे अनेक विद्वानों के सहयोग और परामर्श से संवत् १९६३ में सभा ने "वैज्ञानिक कोश "प्रकाशित किया। भिन्न भिन्न विषयों पर पुस्तकें लिखा कर प्रकाशित करने का काम तो तब से अब तक बराबर चल ही रहा है। स्थापना के तीन वर्ष पीछे ही सभा ने अपनी पत्रिका (ना० प्र० पत्रिका) निकाली जिसमें साहित्यिक, वैज्ञानिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक सब प्रकार के लेख आरंभ ही से निकलने लगे थे और जो आज हिंदी में खोज-संबंधिनी एक मात्र पत्रिका है। 'छत्रप्रकाश', 'सुजानचरित्र' 'जंगनामा', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' आदि पुराने ऐतिहासिक काव्यों को प्रकाशित करने के अतिरिक्त तुलसी, जायसी, भूषण, देव ऐसे प्रसिद्ध कवियों की ग्रंथावलियों के भी बहुत सुंदर संस्करण सभा ने निकाले हैं। 'मनोरंजन पुस्तकमाला" में ५० से ऊपर भिन्न भिन्न विषयों पर उपयोगी पुस्तकें निकल चुकी हैं। हिंदी का सब से बड़ा और प्रामाणिक व्याकरण तथा कोश (हिंदी शब्दसागर) इस सभा के चिरस्थायी कार्य्यों में गिने जायंगे।

इस सभा ने अपने ३५ वर्ष के जीवन में हिंदी साहित्य के "वर्त्तमान काल" की तीनों अवस्थाएं देखी हैं। जिस समय यह स्थापित हुई थी उस समय भारतेंदु द्वारा प्रवर्तित प्रथम उत्थान की ही परंपरा चली आ रही थी। वह प्रचार-काल था। नागरी अक्षरों और हिंदी साहित्य के प्रचार के मार्ग में बड़ी बड़ी बाधाएँ थीं। 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' की प्रारंभिक संख्याओं को यदि हम निकाल कर देखें तो उनमें अनेक विषयों के लेखों के अतिरिक्त कहीं कहीं ऐसी कविताएं भी मिल जायंगी जैसी श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "नागरी तेरी यह दशा!" नूतन हिंदी साहित्य का वह प्रथम उत्थान कैसा हँसता खेलता सामने आया था, भारतेंदु के सहयोगी लेखकों का वह मंडल किस जोश और ज़िंदःदिली के साथ और कैसी चहल-पहल के बीच अपना काम कर गया इसका उल्लेख पहले हो चुका है। सभा की स्थापना के पीछे घर सँभालने की चिंता और व्यग्रता के से कुछ चिह्न हिंदी-सेवक-मंडल के बीच दिखाई पड़ने लगे थे। भारतेंदु जी के सहयोगी अपने ढर्रे पर कुछ न कुछ लिखते तो जा रहे थे, पर उनमें वह तत्परता और वह उत्साह नहीं रह गया था। बाबू हरिश्चंद्र के गोलोकवास के कुछ आगे पीछे जिन लोगों ने साहित्य-सेवा ग्रहण की थी वे ही अब प्रौढ़ता प्राप्त कर के काल की गति परखते हुए अपने कार्य में तत्पर दिखाई देते थे। उनके अतिरिक्त कुछ नए लोग भी मैदान में धीरे धीरे उतर रहे थे। यह नवीन हिंदी-साहित्य का द्वितीय उत्थान था जिसके आरंभ में 'सरस्वती' पत्रिका के दर्शन हुए।

द्वितीय उत्थान

१९५७—१९७७

इस उत्थान का आरंभ हम संवत् १९५७ से मान सकते हैं। इसमें हम कुछ ऐसी चिंताओं और आकांक्षाओं का आभास पाते हैं जिनका समय भारतेंदु के सामने नहीं आया था। भारतेंदु-मंडल मनोरंजक साहित्य-निर्माण द्वारा हिंदीभाषा और साहित्य की स्वतंत्र सत्ता का भाव ही प्रतिष्ठित करने में अधिकतर लगा रहा। अब यह भाव पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो गया था और शिक्षित समाज को अपने इस नए गद्य साहित्य का बहुत कुछ परिचय भी हो गया था। प्रथम उत्थान के भीतर बहुत बड़ी शिकायत यह रहा करती थी कि अंग्रजी की ऊँची शिक्षा पाए हुए बड़े बड़े डिग्रीधारी लोग हिंदी-साहित्य के नूतन निर्माण में योग नहीं देते और अपनी मातृभाषा से उदासीन रहते हैं। द्वितीय उत्थान में यह शिकायत बहुत कुछ कम हुई। उच्च शिक्षा प्राप्त लोग धीरे धीरे आने लगे—पर अधिकतर यह कहते हुए कि "मुझे तो हिंदी आती नहीं।" इधर से जवाब मिलता था "तो क्या हुआ? आ न जायगी। कुछ काम तो शुरू कीजिए।" अतः बहुत से लोगों ने हिंदी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दर गुज़र कर दिए जाते थे। जब वे कुछ काम कर चुकते थे—दो चार चीज़ें लिख चुकते थे तब तो पूरे लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिंदी आने न आने की परवा क्यों होने लगी?

इस काल-खंड के बीच हिंदी-लेखकों की तारीफ़ में प्रायः यही कहा सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, वे अरबी फ़ारसी के पूरे विद्वान् हैं, ये अंगरेज़ी के अच्छे पंडित हैं। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिंदी बहुत अच्छी जानते हैं। यह मालूम ही नहीं पड़ता था कि हिंदी भी कोई जानने की चीज़ है। परिणाम यह हुआ कि बहुत से हिंदी के प्रौढ़ और अच्छे लेखक भी अपने लेखों में फ़ारसीदानी, अंग्रेज़ीदानी, संस्कृतदानी आदि का कुछ प्रमाण देना ज़रूरी समझने लगे थे।

भाषा बिगड़ने का एक और सामान दूसरी ओर खड़ा हो गया था। हिंदी के पाठकों का अब वैसा अकाल नहीं था—विशेषतः उपन्यास पढ़नेवालों का। बंगला उपन्यासों के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे थे। बहुत से लोग हिंदी लिखना सीखने के लिये केवल संस्कृत शब्दों की जानकारी ही आवश्यक समझते थे जो बँगला की पुस्तकों से प्राप्त हो जाती थी। यह जानकारी थोड़ी बहुत होते ही वे बँगला से अनुवाद भी कर लेते थे और हिंदी के लेख भी लिखने लगते थे। अतः एक ओर तो अंगरेज़ीदानों की ओर से "स्वार्थ लेना", "जीवन होड़" "कवि का संदेश", 'दृष्टिकोण" आदि आने लगे; दूसरी ओर बंगभाषाश्रित लोगों की ओर से 'सिहरना 'काँदना', 'बसंतरोग' आदि। इतना अवश्य था कि पिछले कैंड़े के लोगों की लिखावट उतनी अजनबी नहीं लगती थी जितनी पहले कैंड़े वालों की। बंगभाषा फिर भी अपने देश की और हिंदी से मिलती जुलती भाषा थी। उसके अभ्यास से प्रसंग या स्थल के अनुरूप बहुत ही सुंदर और उपयुक्त संस्कृत शब्द मिलते थे। अतः बँग भाषा की ओर जो झुकाव रहा उसके प्रभाव से बहुत ही परिमार्जित और सुंदर संस्कृत पद-विन्यास की परंपरा हिंदी में आई, यह स्वीकार करना पड़ता है।

पर "अंगरेज़ी में विचार करनेवाले" जब आपटे का अंगरेज़ी संस्कृत कोश लेकर अपने विचारों का शाब्दिक अनुवाद करने बैठते थे तब तो हिंदी बेचारी कोसों दूर जा खड़ी होती थी। वे हिंदी और संस्कृत के शब्द भर लिखते थे, हिंदी भाषा नहीं लिखते थे। उनके बहुत से वाक्यों का तात्पर्य अंगरेज़ी भाषा की भाव-भंगी से परिचित लोग ही समझ सकते थे, केवल हिंदी या संस्कृत जाननेवाले नहीं।

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदु जी और उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह जमी नहीं थी। वे "इच्छा किया", "आशा किया" ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और कभी कभी

वाक्य विन्यास की सफ़ाई पर भी ध्यान नहीं रखते थे, पर उनकी भाषा हिंदी ही होती थी, मुहावरे के ख़िलाफ़ प्रायः नहीं जाती थी। पर द्वितीय उत्थान के भीतर बहुत दिनों तक व्याकरण की शिथिलता और भाषा की रूपहानि दोना साथ साथ दिखाई पड़ती रहीं। व्याकरण के व्यतिक्रम और भाषा की अस्थिरता पर तो थोड़े ही दिनों में कोपदृष्टि पड़ी, पर भाषा की रूपहानि की ओर उतना ध्यान नहीं दिया गया। पर जो कुछ हुआ वही बहुत हुआ और उसके लिये हमारा हिंदी-साहित्य श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता के प्रवर्त्तक द्विवेदी जी ही हैं। 'सरस्वती' के संपादक के रूप में उन्होंने आई हुई पुस्तकों के भीतर व्याकरण और भाषा की अशुद्धियाँ दिखा दिखा कर लेखकों को बहुत कुछ सतर्क कर दिया। यद्यपि दो एक हठी और अनाड़ी लेखक अपनी भूलों और ग़लतियों का समर्थन तरह तरह की बातें बना कर करते रहे पर अधिकतर लेखकों ने लाभ उठाया और लिखते समय व्याकरण आदि का पूरा ध्यान रखने लगे। गद्य की भाषा पर द्विवेदी जी के इस शुभ प्रभाव का स्मरण जब तक भाषा के लिये शुद्धता आवश्यक समझी जायगी जब तक बना रहेगा।

व्याकरण की ओर इस प्रकार ध्यान जाने पर कुछ दिनों व्याकरण-संबंधिनी बातों की चर्चा भी पत्रों में अच्छी चली। विभक्तियाँ शब्दों से मिला कर लिखी जानी चाहिएँ या अलग, इसी प्रश्न को लेकर कुछ काल तक खंडन मंडन के लेख जोर शोर से निकले। इस आंदोलन के नायक हुए थे—पंडित गोविंदनारायण जी मिश्र जिन्होंने "विभक्ति विचार" नाम की एक छोटी सी पुस्तक द्वारा हिंदी की विभक्तियों को शुद्ध विभक्तियाँ बता कर लोगों को उन्हें मिला कर लिखने की सलाह दी थी।

इस द्वितीय उत्थान में जैसे अधिक प्रकार के विषय लेखकों की विस्तृत दृष्टि के भीतर आए वैसे ही शैली की अनेकरूपता का अधिक विकास भी हुआ। ऐसे लेखकों की संख्या कुछ बढ़ी जिनकी शैली में कुछ उनकी निज की विशिष्टता रहती थी, जिनकी लिखावट को परख कर लोग कह सकते थे कि यह उन्हीं की है। साथ ही वाक्य-विन्यास में अधिक सफ़ाई और व्यवस्था आई। विराम चिन्हों का आवश्यक प्रयोग होने लगा। अंग्रेज़ी आदि अन्य समुन्नत भाषाओं की उच्च विचार धारा से परिचित और अपनी भाषा पर भी यथेष्ट अधिकार रखनेवाले कुछ लेखकों की कृपा से हिंदी की अर्थोद्घाटिनी शक्ति की अच्छी वृद्धि और अभिव्यंजन-प्रणाली का भी अच्छा प्रसार हुआ। सघन और गुंफित विचार-सूत्रों को व्यक्त करनेवाली तथा सूक्ष्म और निहित भावों को खींच लानेवाली भाषा हिंदी-साहित्य को कुछ कुछ प्राप्त होने लगी। उसी के अनुरूप हमारे साहित्य का डौल भी बहुत कुछ ऊँचा हुआ। बँगला के उत्कृष्ट सामाजिक, पारिवारिक और ऐतिहासिक उपन्यासों के लगातार आते रहने से रुचि परिष्कृत होती रही, जिससे कुछ दिनों की तिलस्म ऐयारी और जासूसी के उपरांत उच्च कोटि के सच्चे साहित्यिक उपन्यासों की मौलिक रचना का दिन भी ईश्वर ने दिखाया। नाटक के क्षेत्र में वैसी उन्नति नहीं दिखाई पड़ी। बाबू राधाकृष्ण दास के "महाराणा प्रताप" (या राजस्थान केसरी) की कुछ दिन धूम रही और उसका अभिनय भी बहुत बार हुआ। राय देवीप्रसाद जी पूर्ण ने "चंद्रकला भानुकुमार" नामक एक बहुत बड़े डीलडौल का नाटक लिखा पर वह साहित्य के विविध अंगो से पूर्ण होने पर भी वस्तु-वैचित्र्य के अभाव तथा भाषणों की कृत्रिमता आदि के कारण उतना प्रसिद्ध न हो सका। बँगला के नाटकों के कुछ अनुवाद बाबू रामकृष्ण वर्मा के बाद भी होते रहे पर उतनी अधिकता से नहीं जितनी उपन्यासों के। इससे नाटक की गति बहुत मंद रही। हिंदीप्रेमियों के उत्साह से स्थापित प्रयाग और काशी की नाटक मंडलियों (जैसे, भारतेंदु नाटक मंडली, नागरी नाटक मंडली) के लिये रंगशाला के अनुकूल दो एक छोटे मोटे नाटक अवश्य लिखे गए पर वे साहित्यिक प्रसिद्धि न पा सके। प्रयाग में पंडित माधव शुक्ल जी और काशी में पंडित दुगवेकर जी अपनी रचनाओं और अनूठे अभिनयों द्वारा बहुत

दिनों तक दृश्यकाव्य की रुचि जगाए रहे। इसके उपरांत बंगाल में श्री द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों की धूम हुई और उनके अनुवाद हिंदी में धड़ाधड़ हुए। इसी प्रकार रवींद्र बाबू के कुछ नाटक भी हिंदी रूप में लाए गए। द्वितीय उत्थान के भीतर दृश्यकाव्य की अवस्था यही रही।

निबंध—ऐसे महत्व-पूर्ण विषय की ओर यद्यपि बहुत कम ध्यान दिया गया और उसकी परंपरा ऐसी न चली कि हम ५-७ उच्च कोटि के निबंध लेखकों को उसी प्रकार झट से छाँट कर बता सकें जिस प्रकार अंग्रेज़ी साहित्य में बता दिए जाते हैं, फिर भी बीच बीच में अच्छे और उच्च कोटि के निबंध मासिक पत्रिकाओं में दिखाई पड़ते रहे। इस द्वितीय उत्थान में साहित्य के एक एक अंग को लेकर जैसी विशिष्टता लेखकों में आ जानी चाहिए थी वैसी विशिष्टता न आ पाई। किसी विषय में अपनी सबसे अधिक शक्ति देख उसे अपना कर बैठने की प्रवृत्ति बहुत कम दिखाई दी। बहुत से लेखकों का यह हाल रहा कि कभी अखबार-नवीसी करते, कभी उपन्यास लिखते, कभी नाटक में दखल देते, कभी कविता की आलोचना करने लगते। ऐसी अवस्था में भाषा की पूर्ण शक्ति प्रदर्शित करनेवाले गूढ़ गंभीर निबंधलेखक कहाँ से तैयार होते? फिर भी भिन्न भिन्न शैलियाँ प्रदर्शित करनेवाले कई अच्छे लेखक इस बीच में बताए जा सकते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जो कुछ लिखा है वह महत्व का है। नागरी प्रचारिणी सभा की 'मनोरंजन पुस्तक माला' के अंतर्गत जो 'हिंदी निबंधमाला' दो भागों में निकली है उसमें इस काल की कृतियों का कुछ नमूना मिलेगा।

समालोचना का आरंभ यद्यपि भारतेंदु के जीवन-काल में ही कुछ न कुछ हो गया था पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्रीयुत पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्रबंधु और पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने अपने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार प्रकट किए। पर यह सब आलोचना अधिकतर बाह्य-विश्लेषण के रूप में ही रही। भाषा के गुणदोष, रस, अलंकार आदि की समीचीनता, इन्हीं सब परंपरागत बातों तक पहुँची। स्थायी साहित्य में परिगणित होनेवाली समालोचना जिसमें किसी कवि की अंतर्वृत्ति का सूक्ष्म विश्लेषण होता है, उसकी मानसिक प्रवृत्ति की विशेषताएँ दिखाई जाती हैं, बहुत ही कम दिखाई पड़ी।

साहित्यिक मूल्य रखनेवाले तीन जीवनचरित महत्व के निकले—पंडित माधव प्रसाद मिश्र की "विशुद्ध चरितावली" (स्वामी विशुद्धानंद का जीवनचरित) तथा बाबू शिवनंदन सहाय लिखित "बाबू हरिश्चंद्र का जीवनचरित" और "गो० तुलसीदास जी का जीवन चरित"।

इस द्वितीय उत्थान के भीतर गद्य साहित्य की गति विधि का निदर्शन हम सुभीते के लिए उसके चार खंड करके अत्यंत संक्षेप में करते हैं।

नाटक

बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा बंग भाषा के वीरनारी, कृष्णकुमारी, पद्मावती आदि नाटकों के अनुवाद का उल्लेख पहले हो चुका है। संवत् १६५७ के पहले ही गहमर के बाबू गोपालराम 'बभ्रुवाहन', 'देशदशा', 'विद्या-विनोद' और रवींद्र बाबू के 'चित्रांगदा' नाटक का अनुवाद कर चुके थे। संवत् १६४६ के लगभग श्रीयुत पुरोहित गोपीनाथ जी एम० ए० ने शेक्सपियर के दो नाटकों—रोमियो जूलियट और ऐज़ यू लाइक इट—के अनुवाद निकाले थे। इसी समय के लगभग पंडित किशोरी लाल गोस्वामी का "प्रणयिनी-परिणय" नाटक छपा था।

संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के लिए राय बहादुर लाला सीताराम बी० ए० सदा आदर के साथ स्मरण किए जायँगे। भारतेंदु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्होंने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में लग्गा लगाया और सन् १८८३ ई० में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी छंदों में प्रकाशित किया। इसके उपरांत वे बराबर किसी न किसी काव्य नाटक का अनुवाद करते रहे। सन् १८८७ ई० में उनका 'नागानंद' का अनुवाद निकला। फिर तो

धीरे धीरे उन्होंने मृच्छकटिक, महावीरचरित, उत्तर रामचरित, मालतीमाधव, मालविकाग्निमित्र का भी अनुवाद कर डाला। यद्यपि पद्यभाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नहीं हुई पर उनकी हिंदी बहुत सीधी सादी, सरल और आडंबरशून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नहीं आने पाई है।

संवत् १९७० में पंडित सत्यनारायण कविरत्न ने भवभूति के उत्तर रामचरित का और पीछे 'मालतीमाधव' का अनुवाद किया। कविरत्न जी के ये दोनों अनुवाद बहुत ही सरस हुए जिनमें मूल के भावों की रक्षा का भी पूरा ध्यान रखा गया है। पद्य अधिकतर व्रजभाषा के सवैयों में हैं जो पढ़ने में बहुत मधुर हैं। इन पद्यों में खटकनेवाली केवल दो बातें कहीं कहीं मिलती हैं। पहली बात तो यह कि व्रजभाषा-साहित्य में स्वीकृत शब्दों के अतिरिक्त वे कुछ स्थलों पर ऐसे शब्द भी लाए हैं जो एक भूभाग तक ही (चाहे वह व्रजमंडल के अंतर्गत ही क्यों न हो) परिमित हैं। शिष्ट साहित्य में व्रजमंडल के भीतर बोले जानेवाले सब शब्द नहीं ग्रहण किए गए हैं। व्रजभाषा देश की सामान्य काव्यभाषा रही है। अतः उसमें वे ही शब्द लिए गए हैं जो बहुत दूर तक बोले जाते हैं और थोड़े बहुत सब स्थानों में समझ लिए जाते हैं। उदाहरण के लिए 'सिदौसी' शब्द लीजिए जो ख़ास मथुरा वृंदावन में बोला जाता है, पर साहित्य में नहीं मिलता। दूसरी बात यह कि, कहीं कहीं श्लोकों का पूरा भाव लाने के प्रयत्न में भाषा दुरूह और अव्यवस्थित हो गई है।

ध्यान देने योग्य मौलिक नाटक इस द्वितीय उत्थान के बीच केवल कानपुर के राय देवीप्रसाद जी पूर्ण का चंद्रकला-भानुकुमार निकला। "पूर्ण जी" व्रजभाषा के एक बड़े ही सिद्धहस्त कवि थे, साहित्य के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने इस नाटक को शुद्ध साहित्यिक उद्देश्य से ही लिखा था, अभिनय के उद्देश्य से नहीं। वस्तु-विन्यास में कुतूहल उत्पन्न करनेवाला जो वैचित्र्य होता है उसके न रहने से कम ही लोगों के हाथ में यह नाटक पड़ा। ललित और अलंकृत भाषण, बीच बीच में मधुर पद्य पढ़ने की उत्कंठा रखने वाले पाठकों ही ने अधिकतर इसे पढ़ा। द्वितीय उत्थान के अंतिम भाग में पंडित रूपनारायण पांडे तथा दो एक और लेखकों ने बंगभाषा के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के कुछ नाटकों के अनुवाद उपस्थित किए जिनका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ा। तृतीय उत्थान में कुछ अच्छे मौलिक नाटकों की रचना हुई।

उपन्यास

इस द्वितीय उत्थान में आलस्य का जैसा त्याग उपन्यासकारों में देखा गया वैसा किसी और वर्ग के हिंदी-लेखकों में नहीं। अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले—किस प्रकार के, यह आगे प्रगट किया जायगा। पहले अनुवादों की बात ख़तम कर देनी चाहिए। प्रथम उत्थान के पूर्वार्द्ध में अर्थात् भारतेंदु जी के सामने बंगभाषा के उपन्यासों के अनुवादकों में बाबू गदाधर सिंह का एक विशेष स्थान था। उसके उत्तरार्द्ध में इस स्थान पर बाबू रामकृष्ण वर्म्मा और बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री दिखाई पड़ते हैं। बाबू रामकृष्ण ने उर्दू और अंगरेज़ी से भी कुछ अनुवाद किया था। संवत् १९५७ के पहले वे ठगवृत्तांतमाला (सं० १९४६), पुलिस वृत्तांत माला (१९४७), अकबर (१९४८), अमला वृत्तांतमाला (१९५१) और चित्तौर-चातकी (१९५२) का तथा बाबू कार्त्तिकप्रसाद खत्री 'इला' (१९५२) और 'प्रमीला' (१९५३) का अनुवाद कर चुके थे। 'जया' और 'मधुमालती' के अनुवाद दो एक बरस पीछे निकले।

भारतेंदु-प्रवर्त्तित प्रथम उत्थान के अनुवादकों में भारतेंदु-काल की हिंदी की विशेषता बनी रही। उपर्युक्त तीनों लेखकों की भाषा बहुत ही साधु और संयत रही। यद्यपि उसमें चटपटापन न था पर हिंदीपन पूरा पूरा था। फ़ारसी अरबी के शब्द बहुत ही कम दिखाई देते हैं, साथ ही संस्कृत के शब्द भी ऐसे ही आए हैं जो हिंदी के परंपरागत रूप में किसी प्रकार का असामंजस्य नहीं उत्पन्न करते। सारांश यह कि उन्होंने 'शूरता',

'चपलता', 'लघुता', 'मूर्खता' 'सहायता' 'दीर्घता', 'मृदुता' ऐसी संस्कृत का सहारा लिया है 'शौर्य्य', 'चापल्य', 'लाघव' "मौर्ख्य" 'साहाय्य', 'दैर्घ्य' और "मार्दव" ऐसी संस्कृत का नहीं।

द्वितीय उत्थान के आरंभ में हमें बाबू गोपालराम (गहमर) बंगभाषा के गार्हस्थ्य उपन्यासों के अनुवाद में तत्पर मिलते हैं। उनके कुछ उपन्यास तो इस उत्थान (सं० १९५७) के पूर्व लिखे गए—जैसे चतुर चंचला (१९५०), भानमती (१९५१), नए बाबू १९५१ —और बहुत से इसके आरंभ में, जैसे 'बड़ा भाई (१९५७), देवरानी जेठानी (१९५८), दो बहिन (१९५९), तीन पतोहू (१९६१), और सास पतोहू। भाषा उनकी चटपटी और वक्रतापूर्ण है। ये गुण लाने के लिये कहीं कहीं उन्होंने पूरबी शब्दों और मुहावरों का भी बेधड़क प्रयोग किया है। उनके लिखने का ढंग बहुत ही मनोरंजक है। इसी काल के आरंभ में ग़ाज़ीपुर के मुंशी उदितनारायण लाल के भी कुछ अनुवाद निकले जिनमें मुख्य "दीपनिर्वाण" नामक ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें पृथ्वीराज के समय का चित्र है।

सं० १९४५ के लगभग हिंदी के प्रसिद्ध कवि और लेखक पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय ने उर्दू से अनुवाद कर के अत्यत संस्कृतपूर्ण भाषा में "वेनिस का बांका" निकाला।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद्र, रमेशचंद्र दत्त, हाराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत बाबू, चारुचंद्र इत्यादि बंगभाषा के प्रायः सब प्रसिद्ध प्रसिद्ध उपन्यासकारों के अनुवाद तो हो ही गए, रवींद्र बाबू के 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिंदी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत में आविर्भूत होनेवाले हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ। इस अनुवाद विधान में योग देनेवालों में पंडित ईश्वरीप्रसाद शर्म्मा और पंडित रूपनारायण पांडे विशेष उल्लेख योग्य हैं। बंगभाषा के अतिरिक्त मराठी और गुजराती के भी कुछ उपन्यासों का अनुवाद हिंदी में हुआ पर बंगला की अपेक्षा बहुत कम। बाबू रामचंद्र वर्मा का 'छत्रसाल' इस प्रकार के अच्छे उपन्यासों में है।

अंगरेज़ी की मासिक पत्रिकाओं में जैसी छोटी छोटी आख्यायिकाएँ निकलती हैं वैसी आख्यायिकाओं की रचना "गल्प" के नाम से बंगभाषा में चल पड़ी थी। इन आख्यायिकाओं में बड़े ही मधुर और भावव्यंजक ऐतिहासिक या सामाजिक खंड चित्र रहते थे। द्वितीय उत्थान की प्रवृत्तियों का आभास लेकर उदय होनेवाली "सरस्वती" पत्रिका में इस प्रकार की छोटी छोटी आख्यायिकाओं के दर्शन होने लगे। जहाँ तक मुझे स्मरण आता है इस प्रकार की कहानियों का आरंभ सरस्वती के दूसरे या तीसरे वर्ष से बाबू गिरजाकुमार घोष ने किया था जो हिंदी में अपना नाम "लाला पार्वतीनंदन" रखते थे। ये उस समय इंडियन प्रेस के प्रबंधकर्त्ता थे और अच्छी चलती हिंदी लिखते थे। उसके पीछे तो बराबर इस प्रकार के 'गल्प' या छोटी कहनियाँ पत्रिकाओं में निकलने लगीं जिनमें पीछे से कुछ मौलिक भी होने लगीं। ऐसी कहानियों की ओर लोग बहुत आकर्षित हुए और धीरे धीरे इस द्वितीय उत्थान काल के समाप्त होते होते कई एक बहुत अच्छे स्वतंत्र गल्प लेखक हिंदी में निकल पड़े। अनुवादों की चर्चा यहीं समाप्त कर अब मौलिक उपन्यास रचना के संबंध में कुछ विचार किया जाता है।

पहले मौलिक उपन्यास-लेखक जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई बाबू देवकीनंदन खत्री थे। द्वितीय उत्थान काल के पहले ही ये नरेंद्रमोहिनी, कुसुम कुमारी, वीरेंद्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त काल के आरंभ में तो 'चंद्रकांता' और 'चंद्रकांता संतति' नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नहीं पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गए। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों का लक्ष्य केवल घटना-वैचित्र्य रहा; रससंचार, भावविभूति या चरित्र-चित्रण नहीं। इससे ये साहित्य-कोटि में नहीं आते। पर हिंदी-साहित्य के इतिहास में बाबू देवकीनंदन का स्मरण इस बात के लिये सदा बना रहेगा कि जितने पाठक

उन्होंने उत्पन्न किए उतने और किसी ग्रंथकार ने नहीं। चंद्रकांता पढ़ने के लिये ही न जाने कितने उर्दूदाँ लोगों ने हिंदी सीखी। चंद्रकांता पढ़ चुकने पर वे "चंद्रकांता की क़िस्म की कोई किताब" ढूँढ़ने में परेशान रहते थे। शुरू शुरू में चंद्रकांता और चंद्रकांता संतति पढ़कर न जाने कितने नवयुवक हिंदी के लेखक हो गए। चंद्रकांता पढ़कर वे हिंदी की और और प्रकार की साहित्यिक पुस्तकें भी पढ़ चले और अभ्यास हो जाने पर कुछ लिखने भी लगे। बाबू देवकीनंदन के प्रभाव से "तिलस्म" और "ऐयारी" के उपन्यासों की हिंदी में बहुत दिनों तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक़ बिलकुल ठंढा नहीं हुआ है। बाबू देवकी नंदन के तिलस्मी रास्ते पर चलनेवालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष उल्लेख योग्य हैं।

बाबू देवकीनंदन के संबंध में इतना और कह देना जरूरी है कि उन्होंने ऐसी भाषा का व्यवहार किया है जिसे थोड़ी हिंदी और थोड़ी उर्दू पढ़े लोग भी समझ लें। कुछ लोगों का यह समझना कि उन्होंने राजा शिव प्रसाद वाली उस पिछली 'आम-फ़हम' भाषा का बिलकुल अनुसरण किया जो एकदम उर्दू की ओर झुक गई थी, ठीक नहीं। कहना चाहे तो यों कह सकते हैं कि उन्होंने साहित्यिक हिंदी न लिख कर "हिंदुस्तानी" लिखी, जो केवल इसी प्रकार की हलकी रचनाओं में काम दे सकती है।

उपन्यासों का ढेर लगा देनेवाले दूसरे मौलिक उपन्यासकार पंडित किशोरीलाल जी गोस्वामी हैं, जिनकी रचनाएं साहित्य-कोटि में आती हैं। इनके उपन्यासों में समाज के सजीव चित्र, वासनाओं के रूप रंग, चित्ताकर्षक वर्णन और थोड़ा बहुत चरित्र-चित्रण भी पाया जाता है। गोस्वामी जी संस्कृत के अच्छे जानकार, साहित्य के मर्मज्ञ तथा हिंदी के पुराने कवि और लेखक हैं। संवत् १९५५ में उन्होंने "उपन्यास" मासिक पत्र निकाला और इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर ६५ छोटे बड़े उपन्यास लिख कर प्रकाशित किए। अतः साहित्य की दृष्टि से उन्हें हिंदी का पहला उपन्यासकार कहना चाहिए कि इस द्वितीय उत्थान-काल के भीतर उपन्यासकार इन्हीं को कह सकते हैं। और लोगों ने भी मौलिक उपन्यास लिखे पर वे वास्तव में उपन्यासकार न थे। और चीज़ें लिखते लिखते वे उपन्यास की ओर भी जा पड़ते थे। पर गोस्वामी जी वहीं घर करके बैठ गए। एक क्षेत्र उन्होंने अपने लिये चुन लिया और उसी में रम गए। यह दूसरी बात है कि उनके बहुत से उपन्यासों का प्रभाव नवयुवकों पर बुरा पड़ सकता है, उनमें उच्च वासनाएँ व्यक्त करनेवाले दृश्यों की अपेक्षा निम्न कोटि की वासनाएँ प्रकाशित करनेवाले दृश्य अधिक भी हैं और चटकीले भी। इस बात की शिकायत 'चपला' के संबंध में अधिक हुई थी।

एक और बात ज़रा खटकती है। वह है उनका भाषा के साथ मज़ाक़। कुछ दिन पीछे इन्हें उर्दू लिखने का शौक़ हुआ—उर्दू भी ऐसी वैसी नहीं, उर्दू-ए-मुअल्ला। इसी शौक के कुछ आगे पीछे उन्होंने राजा शिवप्रसाद का जीवनचरित लिखा जो 'सरस्वती' के आरंभ के ३ अंकों में (भाग १ संख्या २, ३, ४) निकला। उर्दू ज़बान और शेर सखुन की बेढंगी नक़ल से, जो असल से कभी कभी साफ़ अलग हो जाती है, उनके बहुत से उपन्यासों का साहित्यिक गौरव घट गया है। ग़लत या ग़लत मानी में लाए हुए शब्द भाषा को शिष्टता के दरजे से गिरा देते हैं। खैरियत यह हुई है कि अपने सब उपन्यासों को आपने यह मँगनी का लिबास नहीं पहनाया है। 'मल्लिका देवी या वंगसरोजिनी' में संस्कृतप्राय समास-बहुला भाषा काम में लाई गई है। इन दोनों प्रकार की लिखावटों को देख कर कोई विदेशी चकपका कर पूछ सकता है कि "क्या दोनों हिंदी हैं?" 'हम यह भी कर सकते हैं, वह भी कर सकते हैं" इस हौसले ने जैसे बहुत से लेखकों को किसी एक विषय पर पूर्ण अधिकार के साथ जमने न दिया वैसे ही कुछ लोगों की भाषा को बहुत कुछ डावाँडोल रखा, कोई एक टेढ़ा सीधा रास्ता पकड़ने न दिया।

गोस्वामीजी के ऐतिहासिक उपन्यासों से भिन्न भिन्न समयों की सामाजिक और राजनीतिक अवस्था का

अध्ययन और संस्कृति के स्वरूप का अनुसंधान नहीं सूचित होता। कहीं कहीं तो कालदोष तुरंत ध्यान में आ जाते हैं—जैसे वहाँ जहाँ अकबर के सामने हुक्के या पेचवान रखे जाने की बात कही गई है। पंडित किशोरी लाल जी गोस्वामी के कुछ उपन्यासों के नाम ये हैं—तारा, चपला, तरुण-तपस्वनी, रज़िया बेगम, इंदुमती, लीलावती, राजकुमारी, लवंगलता, हृदयहारिणी, हीराबाई, लखनऊ की क़ब्र इत्यादि इत्यादि।

प्रसिद्ध कवि और गद्यलेखक पंडित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय ने भी दो उपन्यास ठेठ हिंदी में लिखे—ठेठ हिंदी का ठाट (सं० १९५६) और अधखिला फूल (१९६४)। पर ये दोनों पुस्तकें भाषा के नमूने की दृष्टि से लिखी गईं, औपन्यासिक कौशल की दृष्टि से नहीं। उनकी सबसे पहले लिखी पुस्तक "वेनिस का बाँका" में जैसे भाषा संस्कृतपन की सीमा पर पहुँची हुई थी वैसे ही इन दोनों पुस्तकों में ठेठपन की हद पर दिखाई देती है। इन तीनों पुस्तकों को सामने रखने पर पहला ख़याल यही पैदा होता है कि उपाध्याय जी क्लिष्ट संस्कृतप्राय भाषा भी लिख सकते हैं और सरल से सरल ठेठ हिंदी भी। अधिकतर इसी भाषा वैचित्र्य पर ख़याल जम कर रह जाता है। उपाध्याय जी के साथ पंडित लज्जाराम मेहता का भी स्मरण आता है जो अख़बार-नवीसी के बीच बीच में पुरानी हिंदू-मर्य्यादा, हिंदूधर्म और हिंदू पारिवारिक व्यवस्था की सुंदरता और समीचीनता दिखाने के लिये छोटे बड़े उपन्यास भी लिखा करते थे। उपन्यासों में मुख्य ये हैं—'धूर्त्त रसिकलाल' (सं० १९५६), हिंदू गृहस्थ, आदर्श दंपति (१९६१) बिगड़े का सुधार (१९६४) और आदर्श हिंदू (१९७२)। ये दोनों महाशय वास्तव में उपन्यासकार नहीं। उपाध्याय जी कवि हैं और मेहता जी पुराने अख़बार-नवीस।

शुद्ध साहित्य कोटि में आनेवाले भावप्रधान उपन्यास, जिनमें भावों या मनोविकारों की प्रगल्भ और वेगवती व्यंजना का लक्ष्य प्रधान हो—चरित्र चित्रण या घटना-वैचित्र्य का लक्ष्य नहीं—हिंदी में न देख, और बंग भाषा में काफ़ी देख, बाबू व्रजनंदन सहाय बी० ए० ने दो उपन्यास इस ढंग के प्रस्तुत किए—"सौंदर्य्योपासक" और "राधाकांत" (सं० १९६९)।

निबंध

यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है। भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है। इसी लिये गद्यशैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबंध ही चुना करते हैं। निबंध या गद्यविधान कई प्रकार के हो सकते हैं—विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक। प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुंदर मेल भी करते हैं। लक्ष्यभेद से कई प्रकार की शैलियों का व्यवहार देखा जाता है। जैसे, विचारात्मक निबंधों में व्यास और समास की रीति; भावात्मक निबंधों में धारा और विक्षेप की रीति। इसी विक्षेप के भीतर वह 'प्रलाप-शैली' आवेगी जिसका बँगला की देखा देखी कुछ दिनों से हिंदी में भी चलन बढ़ रहा है। शैलियों के अनुसार गुण-दोष भी भिन्न भिन्न प्रकार के हो सकते हैं।

भारतेंदु जी के समय से ही निबंधों की परंपरा हमारी भाषा में चल पड़ी थी जो उनके सहयोगी लेखकों में कुछ दिनों तक जारी रही। पर जैसा कि पहले कहा जा चुका है स्थायी विषयों पर निबंध लिखने की परंपरा बहुत जल्दी बंद हो गई। उसके साथ ही वर्णनात्मक निबंध पद्धति पर सामयिक घटनाओं, देश और समाज की जीवनचर्य्या, ऋतुचर्य्या आदि का चित्रण भी बहुत कम हो गया। इस द्वितीय उत्थान के भीतर उत्तरोत्तर उच्च कोटि के स्थायी गद्य-साहित्य का निर्माण जैसा होना चाहिए था न हुआ। अधिकांश लेखक ऐसे ही कामों में लगे जिनमें बुद्धि को श्रम कम पड़े। फल यह हुआ कि आज विश्वविद्यालयों में हिंदी की ऊँची शिक्षा का विधान हो जाने पर भी उच्च कोटि के गद्य की पुस्तकों की कमी का अनुभव चारों ओर हो रहा है।

भारतेंदु के सहयोगी लेखक स्थायी विषयों के साथ साथ समाज की जीवनचर्य्या, ऋतुचर्य्या, पर्व त्योहार

आदि पर भी साहित्यिक निबंध लिखते आ रहे थे। उनके लेखों में देश की परंपरा गत भावनाओं और उमंगों का प्रतिबिंब रहा करता था। होली विजया-दशमी, दीपावली, रामलीला इत्यादि पर उनके लिखे प्रबंधों में जनता के जीवन का रंग पूरा पूरा रहता था। इसके लिये वे वर्णनात्मक और भावात्मक दोनों विधानों का बड़ा सुंदर मेल करते थे। यह सामाजिक सजीवता भी द्वितीय उत्थान के लेखकों में वैसी न रही।

इस उत्थान काल के आरंभ में ही निबंध का रास्ता दिखानेवाले दो अनुवादग्रंथ प्रकाशित हुए "बेकन-विचार-रत्नावली" (अंगरेजी के बहुत पुराने क्या पहले निबंध-लेखक लार्ड बेकन के कुछ निबंधों का अनुवाद) और "निबंधमालादर्श" (चिपलूणकर के मराठी निबंधों का अनुवाद)। पहली पुस्तक पंडित महावीर प्रसाद जी द्विवेदी की थी और दूसरी पंडित गंगाप्रसाद अग्निहोत्री की। उस समय यह आशा हुई थी कि इन अनुवादों के पीछे ये दोनों महाशय शायद उसी प्रकार के मौलिक निबंध लिखने में हाथ लगावें। पर ऐसा न हुआ। मासिक पत्रिकाएँ इस द्वितीय उत्थान काल के भीतर बहुत सी निकलीं पर उनमें अधिकतर लेख "बातों के संग्रह" के रूप में ही रहते थे; लेखकों के अंतःप्रयास से निकली विचारधारा के रूप में नहीं। इस काल के भीतर जिनकी कुछ कृतियाँ निबंध कोटि में आ सकती हैं उनका संक्षेप में उल्लेख किया जाता है।

पंडित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ने सन् १६०३ में "सरस्वती" के संपादन का भार लिया। तब से अपना सारा समय उन्होंने लिखने में ही लगाया। सरस्वती का संपादन काल ही उनके जीवन में सबसे अधिक साहित्यिक श्रम का समय रहा। छोटी बड़ी बहुत सी उपयोगी पुस्तकों के अतिरिक्त उन्होंने फुटकल लेख भी बहुत लिखे। पर इन लेखों में अधिकतर लेख 'बातों के संग्रह' के रूप में ही हैं। भाषा के नूतन शक्ति-चमत्कार के साथ नए नए विचारों की उद्भावना-वाले निबंध बहुत ही कम मिलते हैं। स्थायी निबंधों की श्रेणी में आनेवाले दो ही चार लेख जैसे, 'कवि और कविता', 'प्रतिभा', आदि मिलते हैं। पर ये लेखन कला या साहित्यिक विमर्श की दृष्टि से लिखे नहीं जान पड़ते। 'कवि और कविता' कैसा गंभीर विषय है, कहने की आवश्यकता नहीं। पर इस विषय की बहुत मोटी मोटी बातें बहुत मोटे तौर पर कही गई हैं, जैसे—

"इससे स्पष्ट है कि किसी किसी में कविता लिखने की इस्तेदाद स्वाभाविक होती है, ईश्वरदत्त होती है। जो चीज़ ईश्वरदत्त है वह अवश्य लाभदायक होगी। वह निरर्थक नहीं हो सकती। उससे समाज को अवश्य कुछ न कुछ लाभ पहुँचता है।

कविता यदि यथार्थ में कविता है तो संभव नहीं कि उसे सुनकर कुछ असर न हो। कविता से दुनियाँ में आज तक बड़े बड़े काम हुए हैं। × × × × कविता में कुछ न कुछ झूठ का अंश ज़रूर रहता है। असभ्य अथवा अर्द्धसभ्य लोगों को यह अंश कम खटकता है, शिक्षित और सभ्य लोगों को बहुत। × × × संसार में जो बात जैसी देख पड़े कवि को उसे वैसी ही वर्णन करनी चाहिए।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि द्विवेदी जी के लेख या निबंध विचारात्मक श्रेणी में आवेंगे। पर विचारों की वह गूढ़ गुम्फित परंपरा उनमें नहीं मिलती जिससे पाठक की बुद्धि उत्तेजित होकर किसी नई विचार पद्धति पर दौड़ पड़े। शुद्ध विचारात्मक निबंधों का चरम उत्कर्ष वहीं कहा जा सकता है जहाँ एक एक पैराग्राफ़ में विचार दबा दबाकर ठूँसे गए हों और एक एक वाक्य किसी संबद्ध विचार-खंड को लिए हो। द्विवेदी जी के लेखों को पढ़ने से ऐसा जान पड़ता है कि लेखक बहुत मोटी अक्ल के पाठकों के लिये लिख रहा है। एक एक सीधी बात कुछ हेर फेर-कहीं कहीं केवल शब्दों के ही—के साथ पांच छ तरह से पांच छ वाक्यों में कही हुई मिलती है। उनकी यही प्रवृत्ति उनकी गद्य-शैली निर्धारित करती है। उनके लेखों में छोटे छोटे वाक्यों का प्रयोग अधिक मिलता है। नपे तुले वाक्य को कई बार शब्दों के कुछ हेर फेर के साथ कहने का ढंग वही है जो वाद या संवाद में बहुत शांत होकर समझाने बुझाने के

काम में लाया जाता है। उनकी यह व्यास-शैली विपक्षी को क़ायल करने के प्रयत्न में बड़े काम की है।

द्वितीय उत्थान के आरंभ काल में एक बड़े ही प्रभावशाली लेखक के उदय की उज्वल आभा हिंदी-साहित्य-गगन में कुछ समय के लिये दिखाई पड़ी, पर खेद है कि अकाल ही विलीन हो गई। 'सुदर्शन'-संपादक पंडित माधवप्रसाद मिश्र के मार्मिक और ओजस्वी लेखों को जिन्होंने पढ़ा होगा उनके हृदय में उनकी मधुर स्मृति अवश्य बनी होगी। उनके निबंध अधिकतर भावात्मक होते थे और धारा-शैली पर चलते थे। उनमें बहुत सुंदर मर्मपथ का अनुसरण करती हुई स्निग्ध वाग्धारा लगातार चली चलती थी। उनके "रामलीला" नामक एक लेख का थोड़ा सा अंश देखिए—

"आर्य्य वंश के धर्म, कर्म और भक्ति भाव का वह प्रबल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग, विरोधी भूधरों का दर्पदलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था, अब कहाँ है? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि सब भगवान् महाकाल के पेट में समा गया। × × × जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल स्पर्शी जल था वहाँ अब पत्थरों में दबी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल बारिधारा बह रही है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेहशून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है जिससे कभी कभी यह भूभाग प्रकाशित हो जाता है। × × × × भारतवर्ष की सुखशांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। × × × पर जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है वह कब तक सुरक्षित रहेगा?"

उपन्यासों से कुछ छुट्टी पाकर बाबू गोपालराम (गहमर) पत्र-पत्रिकाओं में कभी कभी लेख और निबंध भी दिया करते थे। उनके लेखों और निबंधों की भाषा बड़ी चंचल, चटपटी, प्रगल्भ और मनोरंजक होती थी। विलक्षण मूर्त्तिमत्ता उनके निबंधों की विशेषता है। वे किसी अनुभूत बात को चरम सीमा तक चरितार्थ करनेवाले ऐसे विलक्षण और कुतूहल जनक चित्रों के बीच से पाठक को ले चलते हैं कि उसे एक तमाशा देखने का सा आनंद आता है। उनके "ऋद्धि और सिद्धि" नामक निबंध का थोड़ा सा अंश उद्धृत किया जाता है—

"अर्थ या धन अलाउद्दीन का चिराग है। यदि यह हाथ में है तो तुम जो चाहो सो पा सकते हो। यदि अर्थ के अधिपति हो तो बज्रमूर्ख होने पर भी विश्वविद्यालय तुम्हें डी० एल० की उपाधि देकर अपने तईं धन्य समझेगा। × × × बरहे पर चलनेवाला नट हाथ में बाँस लिए हुए बरहे पर दौड़ते समय 'हाय पैसा, हाय पैसा' करके चिल्लाया करता है। दुनियाँ के सभी आदमी वैसे ही नट हैं। मैं दिव्य दृष्टि से देखता हूँ कि खुद पृथ्वी भी अपने रास्ते पर 'हाय पैसा, हाय पैसा' करती हुई सूर्य्य की परिक्रमा कर रही है।

कालमाहात्म्य और दिनों के फेर से ऐश्वर्य्यशाली भगवान् ने तो अब स्वर्ग से उतर कर दरिद्र के घर शरण ली है और उनके सिंहासन पर अर्थ जा बैठा है। × × × अर्थ ही इस युग का परब्रह्म है। इस ब्रह्म-वस्तु के बिना विश्व-संसार का अस्तित्व नहीं रह सकता। यही चक्राकार चैतन्यरूप कैशबाक्स में प्रवेश करके संसार को चलाया करते हैं। × × × साधकों के हित के लिये अर्थनीति-शास्त्र में इसकी उपासना की विधि लिखी है। × × × × बच्चों की पहली पोथी में लिखा है—"बिना पूछे दूसरे का माल लेना चोरी कहलाता है।" लेकिन कह कर ज़ोर से दूसरे का धन हड़प कर लेने से क्या कहलाता है, यह उसमें नहीं लिखा है। मेरी राय में यही कर्म्मयोग का मार्ग है।"

कहने की आवश्यकता नहीं कि उद्धृत अंश में बंकिमचंद्र की शैली का पूरा आभास है।

बाबू बालमुकुंद गुप्त ने सामयिक और राजनीतिक परिस्थिति को लेकर बहुत ही मनोरंजक प्रबंध लिखे हैं जिनमें "शिवशम्भु का चिट्ठा" बहुत प्रसिद्ध है। गुप्त जी की भाषा बहुत चलती, सजीव और विनोदपूर्ण होती

थी। किसी प्रकार का विषय हो गुप्त जी की लेखनी उस पर विनोद का रंग चढ़ा देती थी।' वे पहले उर्दू के एक अच्छे लेखक थे, इससे उनकी हिंदी बहुत चलती और फड़कती हुई होती थी। वे अपने विचारों को विनोदपूर्ण वर्णनों के भीतर ऐसा लपेट कर रखते थे कि उनका आभास बीच बीच में ही मिलता था। उनके विनोदपूर्ण वर्णनात्मक विधान के भीतर विचार और भाव लुके-छिपे से रहते थे। यह उनकी लिखावट की एक बड़ी विशेषता थी। "शिवशम्भु का चिट्ठा" से थोड़ा सा अंश नमूने के लिए दिया जाता है—

"इतने में देखा कि बादल उमड़ रहे हैं। चीलें नीचे उतर रही हैं। तबीयत भुरभुरा उठी। इधर भंग, उधर घटा—बहार में बहार। इतने में वायु का वेग बढ़ा, चीलें अदृश्य हुईं। अँधेरा छाया, बूँदे गिरने लगीं, साथही तड़ तड़ धड़ धड़ होने लगी। देखा ओले गिर रहे हैं। ओले, थमे; कुछ वर्षा हुई, बूटी तैयार हुई। 'बमभोला' कहकर शर्मा जी ने एक लोटा भर चढ़ाई। ठीक उसी समय लाल-डिग्गी पर बड़े लाट मिंटो ने बंगदेश के भूतपूर्व छोटे लाट उडवर्न की मूर्ति खोली। ठीक एक ही समय कलकत्ते में यह दो आवश्यक काम हुए। भेद इतना ही था कि शिवशंभु शर्मा के बरामदे की छत पर बूंदें गिरती थीं और लार्ड मिंटो के सिर या छाते पर।

भंग छान कर महाराज जी ने खटिया पर लंबी तानी और कुछ काल सुषुप्ति के आनंद में निमग्न रहे। × × × × हाथ पाँव सुख में; पर विचार के घोड़ों को विश्राम न था। वह ओलों की चोट से बाजुओं को बचाता हुआ परिंदों की तरह इधर उधर उड़ रहा था। गुलाबी नशे में विचारों का तार बँधा कि बड़े लाट फुरती से अपनी कोठी में घुस गए होंगे और दूसरे अमीर भी अपने अपने घरों में चले गए होंगे। पर वह चील कहाँ गई होगी? × × × × हा! शिवशंभु को इन पक्षियों की चिंता है, पर वह यह नहीं जानता कि इन अभ्रस्पर्शी अट्टालिकाओं से परिपूरित महानगर में सहस्रों अभागे रात बिताने को झोपड़ी भी नहीं रखते।"

यद्यपि पंडित गोविंदनारायण मिश्र हिंदी के बहुत पुराने लेखकों में थे पर उस पुराने समय में वे अपने फुफेरे भाई पंडित सदानंद मिश्र के 'सारसुधा-निधि' पत्र में कुछ सामयिक और कुछ साहित्यिक लेख ही लिखा करते थे जो पुस्तकाकार छप कर स्थायी साहित्य में परिगणित न हो सके। अपनी गद्यशैली का निर्दिष्ट रूप इस द्वितीय उत्थान के भीतर ही उन्होंने पूर्णतया प्रकाशित किया। इनकी लेखशैली का पता इनके सम्मेलन के भाषण और "कवि और चित्रकार" नामक लेख से लगता है। गद्य के संबंध में इनकी धारणा प्राचीनों के "गद्य काव्य" की सी थी। लिखते समय वाण और दंडी इनके ध्यान में रहा करते थे। पर यह प्रसिद्ध बात है कि संस्कृत-साहित्य में गद्य का वैसा विकास नहीं हुआ। वाण और दंडी का गद्य काव्य-अलंकार की छटा दिखाने वाला गद्य था, विचारों को उत्तेजना देनेवाला व्यावहारिक गद्य नहीं। विचार पद्धति को उन्नत करनेवाले गद्य का अच्छा और उपयोगी विकास योरोपीय भाषाओं में ही हुआ। गद्यकाव्य की पुरानी रूढ़ि के अनुसरण से शक्तिशाली गद्य का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता।

पंडित गोविंदनारायण मिश्र के गद्य को समास अनुप्रास में गुंथे शब्दगुच्छों का एक अटाला समझिए। जहाँ वे कुछ विचार उपस्थित करते हैं वहाँ भी पदच्छटा ही ऊपर दिखाई पड़ती है। शब्दावलि दोनों प्रकार की रहती है—संस्कृत की भी और व्रजभाषा-काव्य की भी। एक ओर 'प्रगल्भ-प्रतिभा-स्रोत से समुत्पन्न शब्द कल्पना-कलित अभिनव-भाव माधुरी' है तो दूसरी ओर 'तम-तोम सटकाती मुकाती पूरनचंद की सकल-मन-भाई छिटकी जुन्हाई' है—यद्यपि यह गद्य एक क्रीड़ा-कौतुक मात्र है पर इसकी भी थोड़ी सी झलक देख लेनी चाहिए—

(साधारण गद्य का नमूना)

"परंतु मंदमति अरसिकों के अयोग्य मलिन, अथवा कुशाग्र बुद्धि चतुरों के स्वच्छ मलहीन मन को भी यथोचित शिक्षा से उपयुक्त बना लिए बिना उन पर कवि की परम रसीली उक्ति छवि-छबीली का अलंकृत नखशिख

लों स्वच्छ सर्वांग सुंदर अनुरूप यथार्थ प्रतिबिंब कभी न पड़ेगा। × × × स्वच्छ दर्पण पर ही अनुरूप यथार्थ सुस्पष्ट प्रतिबिंब प्रतिफलित होता है। उससे साम्हना होते ही अपनी ही प्रतिबिंबित प्रतिकृति मानो समता की स्पर्द्धा में आ, उसी समय साम्हना करने आमने सामने आ खड़ी होती है।"

(काव्यमय गद्य का नमूना)

"सरद पूनो के समुदित पूरनचंद की छिटकी जुन्हाई सकल-मनभाई के भी मुँह मसि मल पूजनीय अलौकिक पद नख चंद्रिका की चमक के आगे तेजहीन मलीन और कलंकित कर दरसाती, लजाती, सरस-सुधा धौली अलौकिक सुप्रभा फैलाती, अशेष मोह-जड़ता-प्रगाढ़-तम-तोम सटकाती मुकाती, निज भक्तजन-मन-वांछित वराभय भुक्ति मुक्ति सुचारु चारो मुक्त हाथों से मुक्ति लुटाती × × + × × मुक्ताहारी नीरक्षीर-विचार सुचतुर-कवि-कोविद—राजराजहिय-सिंहासन—निवासिनी मंदहासिनी, त्रिलोक-प्रकासिनी सरस्वती माता के अति दुलारे, प्राणों से प्यारे पुत्रों की अनुपम अनोखी अतुल-बलवाली परम प्रभावशाली सुजन-मन-मोहनी नव रस भरी सरस सुखद विचित्र वचन रचना का नाम ही साहित्य है।"

भारतेंदु के सहयोगी लेखक प्रायः 'उचित', 'उत्पन्न', 'उच्चारित' 'नव' आदि से ही संतोष करते थे पर मिश्र जी ऐसे लेखकों ने बिना किसी ज़रूरत के उपसर्गों का पुछल्ला जोड़ जनता के इन जाने-बूझे शब्दों को भी—'समुचित', 'समुत्पन्न', 'समुच्चारित', 'अभिनव' करके—अजनबी बना दिया। 'मृदुता', 'कुटिलता', 'सुकरता', 'समीपता' 'ऋजुता' आदि के स्थान पर 'मार्दव', 'कौटिल्य', "सौकर्य्य", 'सामीप्य', 'आर्जव' आदि ऐसे ही लोगों की प्रवृत्ति से लाए जाने लगे।

हास्य-विनोद-पूर्ण लेख लिखनेवालों में कलकत्ते के पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम भी बराबर लिया जाता है। हिंदी भाषा या साहित्य से संबंध रखनेवाले सभा-समाजों में उनके कारण कैसी चहल पहल हो जाया करती है, यह सब लोग जानते हैं। पर उनके अधिकांश लेख भाषण मात्र हैं, स्थायी विषयों पर लिखे हुए निबंध नहीं।

इस द्वितीय उत्थान के भीतर हम दो ऐसे निबंध-लेखकों का नाम लेते हैं जिन्होंने लिखा तो कम है पर जिनके लेखों में भाषा की एक नई गति विधि तथा आधुनिक जगत् की विचारधारा से उद्दीप्त नूतन भाव भंगी के दर्शन होते हैं। 'सरस्वती' के पुराने पाठकों में से बहुतों को अध्यापक पूर्णसिंह के लेखों का स्मरण होगा। उनके तीन चार निबंध ही उक्त पत्रिका में निकले, पर उन्होंने दिखा दिया कि विचारों और भावों को एक अनूठे ढंग से व्यंजित करनेवाली एक नई शैली का अवलंबन किसे कहते हैं। उनकी लाक्षणिकता" हिंदी गद्य साहित्य में एक नई चीज़ थी। भाषा की बहुत कुछ उड़ान, उसकी बहुत कुछ शक्ति, 'लाक्षणिकता' में ही देखी जाती है। भाषा और भाव की जो नई विभूति उन्होंने सामने रखी उसकी ओर क्या किसी ने ध्यान दिया? ध्यान कैसे दिया जाता? वे किसी 'साहित्यिक दल' में तो दाखिल ही नहीं हुए। उनके निबंध भावात्मक कोटि में ही आवेंगे यद्यपि उनकी तह में सूक्ष्म विचारधारा स्पष्ट लक्षित होती है। इस समय उनके तीन निबंध हमारे सामने हैं "आचरण की सभ्यता", "मज़दूरी और प्रेम" और "सच्ची वीरता"। यहाँ हम उनके निबंधों से कुछ अंश उद्धृत करते हैं—

'आचरण की सभ्यता' से

"पश्चिमी ज्ञान से मनुष्य मात्र को लाभ हुआ है। ज्ञान का वह सेहरा—बाहरी सभ्यता की अंतर्वर्तिनी आध्यात्मिक सभ्यता का वह मुकुट—जो आज मनुष्य-जाति ने पहन रखा है, युरोप को कदापि प्राप्त न होता, यदि धन और तेज को एकत्र करने के लिये युरोप-निवासी इतने कमीने न बनते। यदि सारे पूरबी जगत् ने इस महत्ता के लिये अपनी शक्ति से अधिक भी चंदा देकर सहायता की तो बिगड़ क्या गया? एक तरफ़ जहाँ युरोप के जीवन का एक अंश असभ्य प्रतीत होता है—कमीना और कायरतापन से भरा मालूम होता है—वहीं दूसरी ओर युरोप के जीवन का वह भाग जहाँ

विद्या और ज्ञान का सूर्य्य चमक रहा है इतना महान् है कि थोड़े ही समय में पहले अंश को मनुष्य अवश्य ही भूल जाएँगे।

× × × आचरण की सभ्यता का देश ही निराला है। उसमें न शारीरिक झगड़े हैं, न मानसिक, न आध्यात्मिक। × × × जब पैगंबर मुहम्मद ने ब्राह्मण को चीरा और उसके मौन आचरण को नंगा किया तब सारे मुसलमानों को आश्चर्य हुआ कि काफ़िर में मौमिन किस प्रकार गुप्त था। जब शिव ने अपने हाथ से ईसा के शब्दों को परे फेंक कर उसकी आत्मा के नंगे दर्शन कराए तो हिंदू चकित हो गए कि वह नग्न करने अथवा नग्न होने वाला उनका कौन सा शिव था।"

'मज़दूरी और प्रेम' से

"जब तक जीवन के अरण्य में पादरी, मौलवी, पंडित और साधु-सन्यासी हल कुदाल और खुरपा लेकर मज़दूरी न करेंगे तबतक उनका मन और उनकी बुद्धि अनंत काल बीत जाने तक मलिन मानसिक जुआ खेलती रहेगी। उनका चिंतन बासी, उनका ध्यान बासी, उनकी पुस्तकें बासी, उनका विश्वास बासी और उनका खुदा भी बासी हो गया है।" × × ×

इस कोटि के दूसरे लेखक हैं बाबू गुलाबराय एम० ए० एल० एल० बी०। उन्होंने विचारात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार के निबंध थोड़े बहुत लिखे हैं—जैसे, 'कर्त्तव्य संबंधी रोग, निदान और चिकित्सा', 'समाज और कर्तव्य पालन,' 'फिर निराशा क्यों'। 'फिर निराशा क्यों' एक छोटी सी पुस्तक है जिसमें कई विषयों पर बहुत छोटे छोटे आभासपूर्ण निबंध हैं। इन्हीं में से एक कुरुपता भी है जिसका थोड़ा सा अंश नीचे दिया जाता है—

"सौंदर्य्य की उपासना करना उचित है सही, पर क्या उसीके साथ साथ कुरूपता घृणास्पद वा निंद्य है? नहीं, सौंदर्य्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुंदर पदार्थ अपनी सुंदरता पर चाहे जितना मान करे किंतु असुंदर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुंदर कहलाता है। अंधों में काना ही श्रेष्ठ समझा जाता है। सत्ता-सागर में दोनों की स्थिति है। दोनों ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनों ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों? रूप-हीन वस्तु से तभी तक घृणा है जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए हुए बैठे हैं। सुंदर वस्तु को भी हम इसी कारण सुंदर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं। आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य्यपूर्ण हो जाने पर सुंदर और असुंदर दोनों ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूपवान नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने आपको ही देखेंगे तब हमको कुरूपवान भी रूपवान् दिखाई देगा।"

अब निबंध का प्रसंग यहीं समाप्त किया जाता है। खेद है कि समास-शैली पर ऐसे विचारात्मक निबंध लिखनेवाले जिनमें बहुत ही चुस्त भाषा के भीतर एक पूरी अर्थ परंपरा कसी हो, दो चार लेखक हमें न मिले।

समालोचना

समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुण-दोष-विवेचन ही समझा जाता रहा है। संस्कृत-साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह था कि जब कोई आचार्य्य या साहित्यक मीमांसक कोई नया लक्षणग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस अलंकार आदि के उदाहरण के रूप में उद्धृत करता था और जिन्हें दुष्ट समझता था उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता था। फिर जिसे उसकी राय नापसंद होती थी वह उन्हीं उदाहरणों में से अच्छे ठहराए हुए पद्यों में दोष दिखाता था और बुरे ठहराए हुए पद्यों के दोष का परिहार करता था।* इसके अतिरिक्त जो दूसरा उद्देश्य समालोचना का होता है—अर्थात् कवियों की अलग अलग विशेषताओं का दिग्दर्शन—उसकी पूर्ति

* हिंदी कवियों में श्रीपतिने इसी प्रथा का अनुसरण करके दोषों के उदाहरण में केशवदास के पद्य रखे हैं।

किसी कवि की स्तुति में दो एक श्लोकबद्ध उक्तियाँ कह कर ही लोग मान लिया करते थे, जैसे—

निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिः मधु सांद्रासु मञ्जरीष्विव जायते॥

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम्।
नैषधे पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः॥

किसी कवि या पुस्तक के गुणदोष या सूक्ष्म विशेषताएँ दिखाने के लिये एक दूसरी पुस्तक तैयार करने की चाल हमारे यहाँ न थी। योरप में इसकी चाल खूब चली। वहाँ समालोचना काव्य-सिद्धांत-निरूपण से स्वतंत्र एक विषय ही हो गया। केवल गुणदोष दिखानेवाले लेखों या पुस्तकों की धूम तो थोड़े ही दिनों रहती थी, पर किसी कवि की विशेषताओं का दिग्दर्शन करानेवाली, उसकी विचारधारा में डूब कर उसकी अंतर्वृत्तियों का विश्लेषण करनेवाली पुस्तक, जिसमें गुणदोष-कथन भी आ जाता था, स्थायी साहित्य में स्थान पाती थी।

कहने की आवश्यकता नहीं कि हमारे हिंदी साहित्य में समालोचना पहले पहल केवल गुण-दोष-दर्शन के रूप में प्रकट हुई। लेखों के रूप में तो इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चंद्र के समय में ही हुआ। लेख के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना, मैं समझता हूँ, उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी ने अपनी "आनंद कादंबिनी" में शुरू की। लाला श्रीनिवास दास के "संयोगता स्वयंवर" नाटक की बड़ी विशद और कड़ी आलोचना, जिसमें दोषों का उद्घाटन बड़ी बारीकी से किया गया था, उक्त पत्रिका में निकली थी। पर किसी ग्रंथकार के गुण अथवा दोष ही दिखाने के लिये कोई पुस्तक भारतेंदु के समय में न निकली थी। इस प्रकार की पहली पुस्तक पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी की "हिंदी कालिदास की आलोचना" थी जो इस द्वितीय उत्थान के आरंभ में ही निकली। इसमें लाला सीताराम बी. ए के अनुवाद किए हुए नाटकों के भाषा तथा भाव-संबंधी दोष बड़े विस्तार से दिखाए गए हैं। यह अनुवादों की समालोचना थी अतः भाषा की त्रुटियों और मूल भाव के विपर्य्यय आदि के आगे जा ही नहीं सकती थी। दूसरी बात यह कि इसमें दोषों का ही उल्लेख हो सका, गुण नहीं ढूँढ़े गए।

इसके उपरांत द्विवेदी जी ने कुछ संस्कृत कवियों को लेकर दूसरे ढंग की—अर्थात् विशेषता परिचायक-समीक्षाएँ भी निकालीं। इस प्रकार की पुस्तकों में "विक्रमांकदेव-चरितचर्चा" और "नैषधचरित-चर्चा" मुख्य हैं। इनमें कुछ तो पंडित-मंडली में प्रचलित रूढ़ि के अनुसार चुने हुए श्लोकों की खूबियों पर साधुवाद है (जैसे, क्या उत्तम उत्प्रेक्षा है!) और कुछ भिन्न भिन्न विद्वानों के मतों का संग्रह। इस प्रकार की पुस्तकों से संस्कृत न जाननेवाले हिंदी-पाठकों को दो तरह की जानकारी हासिल होती है—संस्कृत के किसी कवि की कविता किस ढंग की है, और वह पंडितों और विद्वानों के बीच कैसी समझी जाती है। द्विवेदी जी की तीसरी पुस्तक "कालिदास की निरंकुशता" में भाषा और व्याकरण के वे व्यतिक्रम इकट्ठे किए गए हैं जिन्हें संस्कृत के विद्वान् लोग कालिदास की कविता में बताया करते हैं। यह पुस्तक हिंदीवालों के या संस्कृतवालों के फ़ायदे के लिये लिखी गई, यह ठीक ठीक नहीं समझ पड़ता। जो हो। इन पुस्तकों को एक मुहल्ले में फैली बातों से दूसरे मुहल्लेवालों को कुछ परिचित कराने के प्रयत्न के रूप में समझना चाहिए; स्वतंत्र समालोचना के रूप में नहीं।

यद्यपि द्विवेदी जी ने हिंदी के बड़े बड़े कवियों को लेकर गंभीर साहित्य-समीक्षा का स्थायी साहित्य नहीं प्रस्तुत किया, पर नई निकली पुस्तकों की भाषा आदि की खरी आलोचना करके हिंदीसाहित्य का बड़ा भारी उपकार किया। यदि द्विवेदी जी न उठ खड़े होते तो जैसी अव्यवस्थित, व्याकरण-विरुद्ध और ऊटपटांग भाषा चारों ओर दिखाई पड़ती थी उसकी परंपरा जल्दी न रुकती। उनके प्रभाव से लेखक सावधान हो गए और जिनमें भाषा की समझ और योग्यता थी उन्होंने अपना सुधार किया।

कवियों का बड़ा भारी इतिवृत्त-संग्रह (मिश्रबंधु विनोद) तैयार करने के पहले मिश्रबंधुओं ने "हिंदी नवरत्न" नामक समालोचनात्मक ग्रंथ निकाला जिसमें सबसे बढ़ कर नई बात यह थी कि 'देव' हिंदी के सब से बड़े कवि हैं। हिंदी के पुराने कवियों को समालोचना के लिये सामने लाकर मिश्रबंधुओं ने बेशक बड़ा ज़रूरी काम किया। उनकी बातें समालोचना कही जा सकती हैं या नहीं, यह दूसरी बात है। रीतिकाल के भीतर यह सूचित किया जा चुका है कि हिंदी में साहित्य शास्त्र का वैसा निरूपण नहीं हुआ जैसा संस्कृत में हुआ है। हिंदी के रीतिग्रंथों के अभ्यास से लक्षणा,व्यंजना, रस आदि के वास्तविक स्वरूप की पूर्ण धारणा नहीं हो सकती। कविता की समालोचना के लिये यह धारणा कितनी आवश्यक है, कहने की आवश्यकता नहीं। इसके अतिरिक्त उच्च कोटि की आधुनिक शैली की समालोचना के लिये सूक्ष्म विश्लेषण-बुद्धि और मर्मग्राहिणी प्रज्ञा अपेक्षित है। "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों को लेकर यह राय ज़ाहिर करना कि "तुलसी कभी राम की निंदा नहीं करते; पर सूर ने दो चार स्थानों पर कृष्ण के कामों की निंदा भी की है।" साहित्यमर्मज्ञों के निकट क्या समझा जायगा ?

"सूरदास प्रभु वै अति खोटे," "कारो कृतहि न मानै" ऐसे ऐसे वाक्यों पर साहित्यिक दृष्टि से जो थोड़ा भी ध्यान देगा, वह जान लेगा कि कृष्ण न तो वास्तव में खोटे कहे गए हैं, न काले कलूटे कृतघ्न। पहला वाक्य सखी की विनोद या परिहास की उक्ति है, सरासर गाली नहीं है। सखी का यह विनोद हर्ष का ही एक स्वरूप है जो उस सखी का राधाकृष्ण के प्रति रतिभाव व्यंजित करता है। इसी प्रकार दूसरा वाक्य विरहाकुल गोपी का वचन है जिससे कुछ विनोद-मिश्रित अमर्ष व्यंजित होता है। यह अमर्ष यहाँ विप्रलंभ शृंगार में रतिभाव का ही व्यंजक है *। इसी प्रकार कुछ 'दैन्य' भाव की उक्तियों को लेकर तुलसीदास जी खुशामदी कहे गए हैं। 'देव' को बिहारी से बड़ा सिद्ध करने के लिये बिहारी में बिना दोष के दोष ढूँढ़े गए हैं। 'संक्रोन' को 'संक्रांति' का (संक्रमण तक ध्यान कैसे जा सकता था?) अपभ्रंश समझ आप लोगों ने उसे बहुत बिगाड़ा हुआ शब्द माना है। 'रोज' शब्द 'रुलाई' के अर्थ में कबीर, जायसी आदि पुराने कवियों में न जाने कितनी जगह आया है और आगरे आदि के आसपास अब तक बोला जाता है; पर वह भी 'रोज़ा' समझा गया है। इसी प्रकार की बे सिर पैर की बातों से पुस्तक भरी है। कवियों की विशेषताओं के मार्मिक निरूपण की आशा से जो इसे खोलेगा, वह निराश ही होगा।

इसके उपरांत पंडित पद्मसिंह शर्म्मा ने बिहारी पर एक अच्छी आलोचनात्मक पुस्तक निकाली। इसमें उस साहित्य-परंपरा का बहुत ही अच्छा उद्‌घाटन है जिसके अनुकरण पर बिहारी ने अपनी प्रसिद्ध सतसई की रचना की। 'आर्य्यासप्तशती' और 'गाथा सप्तशती' के बहुत से पद्यों के साथ बिहारी के दोहों का पूरा पूरा मेल दिखा कर शर्मा जी ने बड़ी विद्वत्ता के साथ एक चली आती हुई साहित्यिक परंपरा के बीच बिहारी को रख कर दिखाया। किसी चली आती हुई साहित्यिक परंपरा का उद्‌घाटन भी साहित्य-समीक्षक का एक भारी कर्त्तव्य है। हिंदी के दूसरे कवियों के मिलते जुलते पद्यों की बिहारी के दोहों के साथ तुलना करके शर्माजी ने तारतम्यिक आलोचना का शौक़ पैदा किया। इस पुस्तक में शर्माजी ने उन आक्षेपों का भी बहुत कुछ परिहार किया जो देव को ऊँचा सिद्ध करने के लिये बिहारी पर किए गए थे। हो सकता है कि शर्माजी ने भी बहुत से स्थलों पर बिहारी का पक्षपात किया हो, पर उन्होंने जो कुछ किया है, वह एक ढंग से किया है। उनके पक्षपात का भी साहित्यिक मूल्य है।

यहाँ यह बात सूचित कर देना आवश्यक है कि शर्माजी की यह समीक्षा भी रूढ़िगत (Conventional) है। शृंगारी कवियों से अलग करनेवाली बिहारी की विशेषताओं के अन्वेषण और अंतःप्रवृत्तियों के उद्‌घाटन का—जो आधुनिक समालोचना का प्रधान लक्ष्य समझा जाता है—प्रयत्न इसमें नहीं हुआ है। एक

* देखिए "भ्रमरगीत सार" की भूमिका।

खटकनेवाली बात है, बिना ज़रूरत के जगह जगह चुहल-बाज़ी और शाबाशी का महफ़िली तर्ज़।

शर्माजी की पुस्तक से दो बातें हुई। एक तो "देव बड़े कि बिहारी" यह भद्दा झगड़ा सामने आया; दूसरे "तुलनात्मक समालोचना" के पीछे लोग बेतरह पड़े।

"देव और बिहारी" के झगड़े को लेकर पहली पुस्तक पंडित कृष्णबिहारी मिश्र बी. ए., एल एल. बी. की मैदान में आई। इस पुस्तक में बड़ी शिष्टता, सभ्यता और मार्मिकता के साथ दोनों बड़े कवियों की भिन्न भिन्न रचनाओं का मिलान किया गया है। इसमें जो बातें कही गई हैं, वे बहुत कुछ साहित्यिक विवेचना के साथ कही गई हैं, 'नवरत्न' की तरह योंही नहीं कही गई हैं। यह साहित्य-समीक्षा के साहित्य के भीतर बहुत अच्छा स्थान पाने के योग्य है। मिश्रबंधुओं की अपेक्षा पंडित कृष्णबिहारी जी साहित्यिक आलोचना के कहीं अधिक अधिकारी कहे जा सकते हैं। "देव और बिहारी" के उत्तर में लाला भगवानदीन जी ने "बिहारी और देव" नामकी पुस्तक निकाली जिसमें उन्होंने मिश्र-बंधुओं के भद्दे आक्षेपों का उचित शब्दों में जवाब देकर पंडित कृष्णबिहारी जी की बातों पर भी पूरा विचार किया। अच्छा हुआ कि 'छोटे बड़े' के इस भद्दे झगड़े की ओर अधिक लोग आकर्षित नहीं हुए।

अब "तुलनात्मक समालोचना" की बात लीजिए। उसकी ओर लोगों का कुछ आकर्षण देखते ही बहुतों ने 'तुलना' को ही समालोचना का चरम लक्ष्य समझ लिया और पत्रिकाओं में तथा इधर उधर भी लगे भिन्न भिन्न कवियों के पद्यों को लेकर मिलान करने। यहाँ तक कि जिन दो पद्यों में वास्तव में कोई भावसाम्य नहीं, उनमें भी बादरायण संबंध स्थापित करके लोग इस "तुलनात्मक समालोचना" के मैदान में उतरने का शौक़ ज़ाहिर करने लगे। इसका असर कुछ समालोचकों पर भी पड़ा। पंडित कृष्णबिहारी मिश्र जी ने जो "मतिराम ग्रंथावली" निकाली, उसकी भूमिका का आवश्यकता से बहुत अधिक अंश उन्होंने इस 'तुलनात्मक आलोचना' को ही अर्पित कर दिया; और बातों के लिये बहुत कम जगह रखी।

द्वितीय उत्थान के भीतर 'समालोचना' की यद्यपि बहुत कुछ उन्नति हुई, पर उसका स्वरूप प्रायः रूढ़िगत (Conventional) ही रहा। कवियों की विशेषताओं का अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति का विश्लेषण करनेवाली उच्च कोटि की समालोचना का प्रारंभ तृतीय उत्थान में जाकर हुआ।

तृतीय उत्थान

(संवत् १९७७ से)

इस तृतीय उत्थान के आरंभ काल में ही उसके संबंध में कुछ विशेष नहीं कहा जा सकता। अतः यहाँ पर गद्य के भिन्न भिन्न अंगों की उन्नति का बहुत संक्षेप में उल्लेख कर जो भिन्न भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ लक्षित हो रही हैं, उनका बहुत थोड़े में दिग्दर्शन मात्र कराया जाता है।

सबसे पहले नाटक को लेते हैं। बंग भाषा के प्रसिद्ध नाटककार द्विजेंद्रलाल राय के नाटकों का अनुवाद सामने आ जाने पर नाटक रचना की ओर फिर से कुछ रुचि जाग्रत हुई और अभिनय के उपयुक्त तथा चरित्र-वैचित्र्य पर पूरा लक्ष्य रखनेवाले आधुनिक ढंग के कई नाटक लिखे गए। इनमें बाबू जयशंकरप्रसाद के लिखे "जनमेजय का नागयज्ञ","अजातशत्रु" और 'स्कंदगुप्त" आदि ऐतिहासिक नाटक विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनमें और बातों के सिवा प्राचीन संस्कृति और सामाजिक परिस्थिति का भी बहुत अच्छा ध्यान रखा गया है। रंगशाला के उपयुक्त नाटकों में "वरमाला" और"दुर्गावती" नाटक भी अच्छे हैं।

उपन्यास के क्षेत्र में श्रीयुत प्रेमचंद जी के उतरते ही उसमें एक समुन्नत युग का आभास मिला। उच्च कोटि के प्रथम मौलिक उपन्यासकार ये ही हुए और हिंदी-प्रेमियों ने बड़े गर्व और आह्लाद से इनका स्वागत किया। मनुष्य की अंतःप्रकृति का जो विश्लेषण और वस्तु-विन्यास की जो अकृत्रिमता इनके उपन्यासों में मिली, वह पहले और किसी मौलिक उपन्यासकार में नहीं पाई गई थी। इनकी जैसी चलती और पात्रों के अनुरूप

रूप बदलनेवाली भाषा भी पहले नहीं देखी गई थी। बहुत से लोगों की राय है—और यह राय बहुत कुछ ठीक जान पड़ती है—कि बड़े उपन्यासों से भी सुंदर और मार्मिक प्रेमचंद जी की छोटी छोटी कहानियाँ (गल्प) होती हैं। उनके बड़े उपन्यासों में 'सेवा सदन' 'रंगभूमि', 'प्रेमाश्रम' विशेष उल्लेख योग्य हैं। छोटी कहानियाँ तो वे सैकड़ों लिख चुके होंगे जिनके दो तीन संग्रह भी निकल चुके हैं। 'प्रेम द्वादशी' में उनकी चुनी हुई बारह कहानियाँ हैं। छोटी छोटी कहानियाँ या गल्प लिखने में पंडित विश्वंभरनाथ शर्म्मा कौशिक भी अपने ढंग के निराले हैं।

निबंधों में इधर भावात्मक निबंधों की ओर लोग अधिक प्रवृत्त दिखाई दे रहे हैं। पहले तो बंग भाषा के 'उद्भ्रांत प्रेम' को देख लोग उसी प्रकार की रचना की ओर आकर्षित हुए। पीछे भावात्मक गद्य की कई शैलियों की ओर लोग झुकने लगे। "उद्भ्रांत प्रेम" विक्षेप-शैली पर लिखा गया था। कुछ दिनों तक तो उसी शैली पर प्रेमोद्गार के रूप में पत्रिकाओं में कुछ प्रबंध निकले जिनमें भाव के प्रबल वेग की व्यंजना ही, कुछ असंबद्धता का आभास लिए हुए, रहा करती थी। पीछे पंडित चतुरसेन शास्त्री के 'अंतस्तल' में प्रेम के अतिरिक्त और दूसरे भावों को प्रबलता की व्यंजना भी अलग अलग भावात्मक प्रबंधों में की गई जिनमें 'धारा' और 'विक्षेप' दोनों शैलियों का मेल दिखाई पड़ा। पर ये दोनों प्रकार के गद्य रंगभूमि के भाषण के रूप में ही प्रतीत हुए। उनमें सुंदर लाक्षणिक मूर्तिमत्ता और भाषा की कोमल पद-माधुरी का योग न था। पीछे रवींद्र बाबू के प्रभाव से कुछ रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता का रंग लिए जिस भावात्मक गद्य का आविर्भाव हुआ, उसमें इन दोनों का योग पूरा पूरा हुआ। इस प्रकार की रचनाओं में राय कृष्णदास जी की "साधना" और वियोगी हरि जी का "अंतर्नाद" विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनमें उस परोक्ष आलंबन के प्रति प्रेमभाव का जैसा पुनीत उत्कर्ष है, उसी के अनुरूप मनोरम रूपविधान और सरस पद विन्यास भी है।

जितना अपने उपयुक्त क्षेत्र में इस भावात्मक गद्य की प्रथा को चलते देख आनंद होता है, उतना ही बाहर की दुनियाँ में पहले पहल आँख खोलनेवाले कुछ नवयुवकों की लपक झपक से इसे दूसरे क्षेत्रों में भी घसीटे जाते देख दुःख होता है। जो गूढ़ विचार और चिंतन के विषय हैं, उनको भी इस भावात्मक प्रणाली के भीतर लेकर खेलवाड़ करना कभी उचित नहीं कहा जा सकता। विचार-क्षेत्र के ऊपर इस भावात्मक प्रणाली का धावा पहले पहल "काव्य का स्वरूप" बतलानेवाले निबंधों में देखा गया—ख़ास कर बंगाल में, जहाँ शेक्सपियर की यह उक्ति कानों में गूँज रही थी—

The poet's eye in fine frenzy rolling
Doth glance from heaven to earth and
earth to heaven.

काव्य पर न जाने कितने ऐसे निबंध लिखे गए जिनमें सिवा इसके कि "कविता अमरावती से गिरती हुई अमृत की धारा है," "कविता हृदय-कानन में खिली हुई कुसुममाला है," "कविता देवलोक के मधुर संगीत की गूँज है" और कुछ भी न मिलेगा। यह कविता का प्रकृत स्वरूप बतलाना है या उसकी विरुदावली बखानना? हमारे यहाँ के पुराने लोगों में भी "जहाँ न जाय रवि वहाँ जाय कवि" ऐसी ऐसी बहुत सी विरुदावलियाँ प्रचलित थीं, पर वे लक्षण या स्वरूप पूछने पर नहीं कही जाती थीं। कविता भावमयी रसमयी होती है; इससे क्या यह भी आवश्यक है कि उसके स्वरूप का निरूपण भी भावमय हो? 'कविता' के ही निरूपण तक भावात्मक प्रणाली का यह धावा रहता तो भी एक बात थी। और और विषयों के निरूपण में भी इसका दख़ल हो रहा है, यह खटके की बात है। इससे हमारे साहित्य में घोर विचार-शैथिल्य और बुद्धि का आलस्य फैलने की आशंका है। जिन विषयों के निरूपण में सूक्ष्म और सुव्यवस्थित विचार-क्रिया अपेक्षित है, उन्हें भी इस हवाई शैली पर हवा बताना कहाँ तक ठीक होगा?

इस तृतीय उत्थान में समालोचना का आदर्श भी बदला। गुण दोष-कथन के आगे बढ़कर कवियों की विशेषता के अन्वेषण और उनकी अंतःप्रकृति के विश्लेषण

की ओर भी ध्यान दिया गया। तुलसी, सूर, जायसी, दीनदयालगिरि और कबीरदास की इस ढंग पर विस्तृत आलोचनाएँ निकलीं।

काव्य-रचना

पुरानी धारा

गद्य के विकास-काल में कविता की वह परंपरा भी बहुत दिनों तक चलती रही जिसका उल्लेख भक्तिकाल और रीतिकाल के भीतर हुआ है। इसके अतिरिक्त और प्रकार की पुराने ढंग की व्रजभाषा कविता भी होती रही। इस प्रकार के कुछ बहुत प्रसिद्ध कवियों का उल्लेख संक्षेप में किया जाता है।

सेवक—ये असनीवाले ठाकुर कवि के पौत्र थे और काशी के रईस बाबू देवकीनंदन के प्रपौत्र बाबू हरिशंकर के आश्रय में रहते थे। ये व्रजभाषा के अच्छे कवि थे। इन्होंने "वाग्विलास" नाम का एक बड़ा ग्रंथ नायिकाभेद का बनाया। इसके अतिरिक्त बरवा छंद में एक छोटा नख-शिख भी इनका है। इनके सवैये सर्वसाधारण में प्रचलित हो गए थे। "कवि सेवक बूढ़े भए तो कहा पै हनोज है मौज मनोज ही की" कुछ बुड्ढे रसिक अब तक कहते सुने जाते हैं। इनका जन्म संवत् १८७२ में और मृत्यु संवत् १९३८ में हुई।

महाराज रघुराजसिंह रीवाँनरेश—इनका जन्म संवत् १८८० में और मृत्यु संवत् १९३६ में हुई। इन्होंने भक्ति और श्रृंगार के बहुत ग्रंथ रचे। इनका "रामस्वयंवर" (सं० १९२६) नामक वर्णनात्मक प्रबंध-काव्य बहुत ही प्रसिद्ध है जिसमें अनेक छंदों में सीताराम के विवाह का बहुत ही विस्तृत वर्णन है। वर्णनों में इन्होंने वस्तुओं की गिनती (राजसी ठाट बाट, घोड़ों हाथियों के भेद आदि) गिनानेवाली प्रणाली का खूब अवलंबन किया है। 'रामस्वयंवर' के अतिरिक्त 'रुक्मिणी परिणय' 'आनंदांबुनिधि' 'रामाष्टयाम' इत्यादि इनके लिखे बहुत से अच्छे ग्रंथ हैं।

सरदार—ये काशीनरेश महाराज ईश्वरीप्रसाद नारायणसिंह के आश्रित थे। इनका कविता-काल संवत् १९०२ से १९४० तक कहा जा सकता है। ये बहुत ही सिद्धहस्त और साहित्यमर्मज्ञ कवि थे। 'साहित्य रसी', 'वाग्विलास', 'षटऋतु', 'हनुमतभूषण', 'तुलसीभूषण', 'श्रृंगारसंग्रह', 'रामरत्नाकर', 'साहित्य-सुधाकर', 'रामलीला प्रकाश' इत्यादि कई मनोहर काव्यग्रंथ इन्होंने रचे हैं। इसके अतिरिक्त हिंदी के प्राचीन काव्यों पर बड़ी विशद टीकाएँ इन्होंने लिखी हैं। कविप्रिया, रसिकप्रिया, सूर के दृष्टकूट और बिहारी सतसई पर बहुत अच्छी टीकाएँ इनकी हैं।

बाबा रघुनाथदास रामसनेही—ये अयोध्या के एक महंत थे और अपने समय के बड़े भारी महात्मा माने जाते थे। संवत् १९११ में इन्होंने 'विश्रामसागर' नामक एक बड़ा ग्रंथ बनाया जिसमें अनेक पुराणों की कथाएँ संक्षेप में दी गई हैं। भक्तजन इस ग्रंथ का बड़ा आदर करते हैं।

ललितकिशोरी—इनका नाम साह कुंदनलाल था। ये लखनऊ के एक समृद्ध वैश्य घराने में उत्पन्न हुए थे। पीछे वृंदाबन में जाकर एक विरक्त भक्त की भाँति रहने लगे। इन्होंने भक्ति और प्रेम-संबंधी बहुत से पद और ग़ज़लें बनाई हैं। कविता-काल संवत् १९१३ से १९३० तक समझना चाहिए। वृंदाबन का प्रसिद्ध साह जी का मंदिर इन्हीं का बनवाया है।

राजा लक्ष्मणसिंह—ये हिंदी के गद्य-प्रवर्तकों में हैं। इनका उल्लेख गद्य के विकास के प्रकरण में हो चुका है। इनकी व्रज भाषा की कविता भी बड़ी ही मधुर और सरस होती थी। व्रज भाषा की सहज मिठाई इनकी वाणी से टपकी पड़ती है। इनके शकुंतला के पहले अनुवाद में तो पद्य न था, पर पीछे जो संस्करण इन्होंने निकाला, उसमें मूल श्लोकों के स्थान पर पद्य रखे गए। ये पद्य बड़े ही सरस हुए। इसके उपरांत संवत् १९३८ और १९४० के बीच में इन्होंने मेघदूत का बड़ा ही ललित और मनोहर अनुवाद निकाला। मेघदूत जैसे मनोहर काव्य के लिये ऐसा ही अनुवादक होना चाहिए था। इस अनुवाद के सवैये बहुत ही ललित और सुंदर हैं। जहाँ चौपाई-दोहे आए हैं, वे स्थल उतने सरस नहीं हैं।

लछिराम (ब्रह्मभट्ट)—इनका जन्म संवत् १८९८ में अमोढ़ा (ज़िला बस्ती) में हुआ था। ये कुछ दिन अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह (प्रसिद्ध कवि द्विजदेव) के यहाँ रहे। पीछे बस्ती के राजा शीतला-बख्श सिंह से, जो एक अच्छे कवि थे, बहुत सी भूमि पाई। दर्भंगा, पुरनियाँ आदि अनेक राजधानियों में इनका सम्मान हुआ। प्रत्येक सम्मानित करनेवाले राजा के नाम पर इन्होंने कुछ न कुछ रचना की है—जैसे, मान सिंहाष्टक, प्रतापरत्नाकर, प्रेमरत्नाकर (राजा बस्ती के नाम पर), लक्ष्मीश्वर रत्नाकर (दर्भंगानरेश के नाम पर) रावणेश्वर कल्पतरु (गिद्धौर नरेश के नाम पर), कमलानंद कल्पतरु (पुरनियाँ के राजा के नाम पर जो हिंदी के अच्छे कवि और लेखक थे) इत्यादि इत्यादि। इन्होंने अनेक रसों पर कविता की है। समस्यापूर्त्तियाँ बहुत जल्दी करते थे। वर्त्तमान काल में ब्रजभाषा की पुरानी परिपाटी पर कविता करनेवालों में ये बहुत प्रसिद्ध हुए हैं।

गोविंद गिल्ला भाई—कोई समय था जब गुजरात में ब्रजभाषा की कविता का बहुत प्रचार था। अब भी इसका चलन वैष्णवों में बहुत कुछ है। गोविंद गिल्ला भाई का जन्म संवत् १९०५ में भावनगर रियासत के अंतर्गत सिहोर नामक स्थान में हुआ था। इनके पास ब्रजभाषा के काव्यों का बड़ा अच्छा संग्रह था। भूषण का एक बहुत शुद्ध संस्करण इन्होंने निकाला। ब्रजभाषा की कविता इनकी बहुत ही सुंदर और पुराने कवियों के टक्कर की होती थी। इन्होंने बहुत सी काव्य की पुस्तकें लिखी हैं जिनमें से कुछ के नाम ये हैं—नीति विनोद, श्रृंगार-सरोजिनी, षटऋतु, पावस-पयोनिधि, समस्यापूर्त्ति-प्रदीप, वक्रोक्ति-विनोद, श्लेषचंद्रिका, प्रारब्ध पचासा, प्रवीन-सागर।

यहाँ तक संक्षेप में उन कवियों का उल्लेख हुआ जिन्होंने केवल पुरानी परिपाटी पर कविता की है। इसके आगे अब उन लोगों का समय आता है जिन्होंने एक ओर तो हिंदी साहित्य की नवीन गति के प्रवर्त्तन में योग दिया, दूसरी ओर पुरानी परिपाटी की कविता के साथ भी अपना पूरा संबंध बनाए रखा। ऐसे लोगों में भारतेंदु हरिश्चंद्र, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय पंडित बदरीनारायण चौधरी, ठाकुर जगमोहन सिंह, पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा मुख्य हैं।

भारतेंदु जी ने जिस प्रकार हिंदी गद्य की भाषा का परिष्कार किया, उसी प्रकार काव्य की ब्रजभाषा का भी। उन्होंने देखा कि बहुत से शब्द जिन्हें बोलचाल से उठे कई सौ वर्ष हो गए थे, कवित्तों और सवैयों में बराबर लाए जाते हैं, जिसके कारण वे जनसाधारण की भाषा से दूर पड़ते जाते हैं। बहुत से शब्द तो प्राकृत और अपभ्रंश-काल की परंपरा के स्मारक के रूप में ही बने हुए थे। 'चक्कवै', 'अमेजे', 'ठायो', 'दीह', 'ऊनो', 'लोइ' आदि के कारण बहुत से लोग ब्रजभाषा की कविता से किनारा खींचने लगे हैं। दूसरा दोष जो बढ़ते बढ़ते बहुत बुरी हद को पहुँच गया था, वह शब्दों का तोड़ मरोड़ और गढ़ंत के शब्दों का प्रयोग था। उन्होंने ऐसे शब्दों को भरसक अपनी कविता से दूर रखा और अपने रसीले सवैयों में जहाँ तक हो सका, बोलचाल की ब्रजभाषा का व्यवहार किया। इसी से उनके जीवनकाल में ही उनके सवैये चारों ओर सुनाई देने लगे।

भारतेंदु जी ने कविसमाज भी स्थापित किए थे जिनमें समस्यापूर्त्तियाँ बराबर हुआ करती थीं। दूर-दूर से कवि लोग आकर उसमें सम्मिलित हुआ करते थे। पंडित अंबिकादत्त व्यास ने अपनी प्रतिभा का चमत्कार पहले पहल ऐसे ही कविसमाज के बीच समस्यापूर्त्ति करके दिखाया था। भारतेंदु जी के श्रृंगार रस के कवित्त-सवैये बड़े ही सरस और मर्मस्पर्शी होते थे। "पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना दुखिया अँखियाँ नहिं मानति हैं", "मरेहू पै आँखें ये खुली ही रहि जायँगी" आदि उक्तियों का रसिक समाज में बड़ा आदर रहा। उनके श्रृंगार रस के कवित्त सवैयों का संग्रह "प्रेममाधुरी" में मिलेगा। कवित्त सवैयों के अतिरिक्त भक्ति और श्रृंगार के न जाने कितने पद और गाने उन्होंने बनाए जो "प्रेम-फुलवारी", "प्रेममालिका", 'प्रेमप्रलाप' आदि पुस्तकों में संगृहीत हैं।

पंडित प्रतापनारायणजी भी समस्यापूर्त्ति और पुराने ढंग की शृंगारी कविता बहुत अच्छी करते थे। कानपुर के "रसिक समाज" में वे बड़े उत्साह से अपनी पूर्त्तियाँ सुनाया करते थे। देखिए "पपिहा जब पूछिहै पीव कहाँ" की कैसी अच्छी पूर्त्ति उन्होंने की है—

बनि बैठी है मान की मूरतिसी मुख खोलत बोलै न "नाहीं" न "हाँ"।
तुमही मनुहारि कै हारि परे, सखियान की कौन चलाई तहाँ।
बरषा है 'प्रतापजू' धीर धरौ, अबलौं मन को समझायो जहाँ।
यह ब्यारि तबै बदलैगी कछू पपिहा जब पूछिहै "पीव कहाँ?"

प्रतापनारायणजी कैसे मनमौजी आदमी थे, यह कहा जा चुका है। लावनीबाज़ों के बीच बैठ कर वे लावनियाँ बना बना कर भी गाया करते थे।

उपाध्याय बदरीनारायण (प्रेमघनजी) भी इस प्रकार की पुरानी कविता किया करते थे। "चरचा चलिबे की चलाइए ना" को लेकर बनाया हुआ उनका यह अनुप्रास-पूर्ण सवैया देखिए—

बगियान बसंत बसेरो कियो,
बसिए, तेहि त्यागि तपाइए ना।
दिन काम-कुतूहल के जो बने,
तिन बीच बियोग बुलाइए ना।
घनप्रेम बढ़ाय कै प्रेम, अहो!
बिथा बारि बृथा बरसाए ना।
चित चैत की चाँदनी चाहभरी,
चरचा चलिबे की चलाइए ना॥

ठाकुर जगमोहनसिंह जी के सवैये भी बहुत सरस होते थे। उनके शृंगारी कवित्त सवैयों का संग्रह कई पुस्तकों में है। ठाकुर साहब ने कवित्त-सवैयों में "मेघदूत" का भी बहुत सरस अनुवाद किया है। उनकी शृंगारी कविताएँ 'श्यामा' से ही संबंध रखती हैं और 'प्रेमसंपत्तिलता' (संवत् १८८५), 'श्यामालता' और "श्यामा-सरोजिनी" (संवत् १८८६) में संगृहीत हैं। 'प्रेमसम्पत्तिलता' का एक सवैया दिया जाता है—

अब यों उर आवत है सजनी,
मिलि जाउँ गरे लगिकै छतियाँ।
मन की करि भाँति अनेकन औ,
मिली कीजिय री रस की बतियाँ॥
हम हारीं अरी करि कोटि उपाय,
लिखी बहु नेह भरी पतियाँ।
जगमोहन मोहनी मूरति के बिना
कैसे कटैं दुख की रतियाँ॥

पंडित अंबिकादत्त व्यास और बाबू रामकृष्ण वर्म्मा (बलवीर) के उत्साह से ही काशी-कवि-समाज चलता रहा। उसमें दूर दूर के कविजन भी कभी कभी आ जाया करते थे। समस्याएँ कभी कभी बहुत टेढ़ी दी जाती थीं—जैसे, "सूरज देखि सकै नहिं घुग्घू", "मोम के मंदिर माखन के मुनि बैठे हुतासन आसन मारे"। उक्त दोनों समस्याओं की पूर्ति व्यासजी ने बड़े विलक्षण ढंग से की थी। उक्त समाज की ओर से ही शायद "समस्या-पूर्त्ति प्रकाश" निकला था जिसमें "व्यासजी" और बलबीर जी (रामकृष्ण वर्म्मा) की बहुत सी पूर्त्तियाँ हैं। व्यासजी का "बिहारी बिहार" (बिहारी के सब दोहों पर कुंडलियाँ) बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें उन्होंने बिहारी के दोहों के भाव बड़ी मार्मिकता से पल्लवित किए हैं। डुमराँव निवासी पंडित नकछेदी तिवारी (अजान) भी इस रसिक मंडली के बड़े उत्साही कार्य्यकर्त्ता थे। वे बड़ी सुंदर कविता करते थे और पढ़ने का ढंग तो उनका बड़ा ही अनूठा था। उन्होंने 'मनोजमंजरी' आदि कई अच्छे संग्रह भी निकाले और कवियों का वृत्त भी बहुत कुछ संग्रह किया। बाबू रामकृष्ण की मंडली में पंडित विजयानंद त्रिपाठी भी व्रजभाषा की कविता बड़ी अच्छी करते थे।

इसी पुरानी धारा के भीतर लाला सीताराम बी० ए० के पद्यानुवादों को भी लेना चाहिए। ये 'कविता' में अपना 'भूप' उपनाम रखते थे। 'रघुवंश' का अनुवाद इन्होंने दोहा-चौपाइयों में और 'मेघदूत' का घनाक्षरी में किया है।

यद्यपि पंडित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय इस समय खड़ी बोली के और आधुनिक विषयों के ही कवि प्रसिद्ध हैं, पर आरंभ काल में ये भी पुराने ढंग की शृंगारी कविता

बहुत सुंदर और सरस करते थे। इनके निवासस्थान निज़ामाबाद में सिक्ख-सम्प्रदाय के महंत बाबा सुमेरसिंह जी हिंदी-काव्य के बड़े प्रेमी थे। उनके यहाँ प्रायः कवि-समाज एकत्र हुआ करता था जिसमें उपाध्याय जी भी अपनी पूर्त्तियाँ पढ़ा करते थे। इनका "हरिऔध" उपनाम उसी समय का है। आजकल भी आप "रसकलश" नाम की एक रस संबंधिनी पुस्तक, जिसमें रसों के उदाहरण के व्रजभाषा के कवित्त-सवैये हैं, छपा रहे हैं।

पंडित श्रीधर पाठक का संबंध भी लोग खड़ी बोली के साथ ही अकसर बताया करते हैं। पर खड़ी बोली की कविताओं की अपेक्षा पाठक जी की व्रजभाषा की कविताएँ ही अधिक सरस, हृदयग्राहिणी और उनकी मधुर-स्मृति को चिरकाल तक बनाए रखनेवाली हैं। यद्यपि उन्होंने समस्या-पूर्त्ति नहीं की, नायिकाभेद के उदाहरण के रूप में कविता नहीं की, पर जैसी मधुर और रसभरी व्रजभाषा की शृंगारी कविता उनके 'ऋतुसंहार' के अनुवाद में है, वैसी व्रजभाषा के पुराने कवियों में किसी किसी की ही मिलती है। उनके सवैयों में हम व्रजभाषा का जीता जागता रूप पाते हैं। वर्षा ऋतुवर्णन का यह सवैया ही लीजिए—

बारि-फुहार-भरे बदरा सोइ,
सोहत कुंजर से मतवारे।
बीजुरी-जोति धुजा फहरै, घन
गर्जन सब्द सोई हैं नगारे॥
रोर को, घोर को ओर न छोर,
नरेसन की सी छटा छवि धारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस,
आयो, प्रिये! नव मोहनी डारे॥

व्रजभाषा की पुरानी परिपाटी के कवियों में बाबू जगन्नाथदास (रत्नाकर) का स्थान बहुत ऊँचा माना जाता है। भारतेंदु के पीछे संवत् १९४६ से ही ये व्रजभाषा में कविता करने लगे थे। हिंडोला आदि इनकी पुस्तकें बहुत पहले निकली थीं। काव्यसंबंधिनी एक पत्रिका भी इन्होंने कुछ दिनों तक निकाली थी। इनकी कविता बड़े बड़े पुराने कवियों के टक्कर की होती है। पुराने कवियों में भी इनकी सी सूझ और उक्ति-वैचित्र्य बहुत कम देखा जाता है। भाषा भी वैसी ही चुस्त और गढ़ी हुई होती है। इस समय ये साहित्य तथा व्रजभाषा काव्य के बहुत बड़े मर्मज्ञ माने जाते हैं। रोला छंद में इन्होंने 'हरिश्चंद्र' और 'गंगावतरण', ये दो काव्य लिखे हैं और बिहारी का बहुत प्रामाणिक तथा विशद-संस्करण निकाला है। इनके गंगाष्टक का एक कवित्त देखिए—

बोधि बुधि बिधि के कमंडल उठावत ही,
धाक सुरधुनि की धँसी यों घट घट में।
कहै 'रतनाकर' सुरासुर ससंक सबै,
बिबस बिलोकत लिखे से चित्रपट में।
लोकपाल दौरन दसौ दिसि हहरि लागे,
हरि लागे हेरन सुपात बर बट मे।
खसन गिरीस लागे, त्रसन नदीस लागे,
ईस लागे कसन फनीस कटितट में॥

कानपुर के रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण' की कविता भी व्रजभाषा के पुराने कवियों का स्मरण दिलानेवाली होती थी। जब तक ये कानपुर में रहे, तब तक कविता की चर्चा की बड़ी धूम रही। वहाँ के 'रसिक-समाज' में पुरानी परिपाटी के कवियों की बड़ी चहल पहल रहा करती थी। "पूर्ण" जी ने कुछ दिनों तक 'रसिकवाटिका' नाम की एक पत्रिका भी चलाई जिसमें समस्यापूर्त्तियाँ और पुराने ढंग की कविताएँ छपा करती थीं। खेद है कि केवल ४७ वर्ष की अवस्था में ही संवत् १९७७ में इनका देहांत हो गया। इनकी रचना कैसी सरस होती थी और ललित पदावली पर इनका कैसा अच्छा अधिकार था, इसका अनुमान इनके "धाराधर-धावन" (मेघदूत का अनुवाद) से उद्धृत इस पद्य से हो सकता है—

नव कलित केसर-वलित हरित सुपीत नीप निहारिकै।
करि असन दल कदलीन जो कलियाहिं प्रथम कछार पै॥
हे घन! विपिन थल अमल परिमल पाय भूतल की भली।
मधुकर मतंग कुरंग बृंद जनायहैं तेरी गली॥

इनके अतिरिक्त आजकल की नई प्रणाली पर खड़ी

बोली की कविता करनेवालों में कई एक और कवि भी जैसे, लाला भगवानदीन, सनेही जी आदि पहले भी पुरानी परिपाटी की बड़ी सुंदर कविता करते थे और अब भी करते हैं।

काव्य-रचना

नई धारा

प्रथम उत्थान

यह सूचित किया जा चुका है कि भारतेंदु हरिश्चंद्र ने जिस प्रकार गद्य की भाषा का स्वरूप स्थिर करके गद्य-साहित्य को देश-काल के अनुसार नए नए विषयों की ओर लगाया, उसी प्रकार कविता की धारा को भी नए नए क्षेत्रों की ओर मोड़ा। इस नए रंग में सब से ऊँचा स्वर देशभक्ति की वाणी का था। उसी से लगे हुए विषय लोक-हित, समाज-सुधार, मातृभाषा का उद्धार आदि थे। हास्य और विनोद के नए विषय भी इस काल में कविता को प्राप्त हुए। रीति काल के कवियों की रूढ़ि में हास्य रस के आलंबन कंजूस ही चले आते थे। पर साहित्य के इस नए युग के आरम्भ से ही कई प्रकार के आलंबन सामने आने लगे—जैसे, पुरानी लकीर के फ़कीर, नए फ़ैशन के गुलाम, नोच खसोट करनेवाले अदालती अमले, मूर्ख और खुशामदी रईस, नाम या दाम के भूखे देशभक्त इत्यादि। इसी प्रकार वीरता के आश्रय भी जन्मभूमि के उद्धार के लिये रक्त बहानेवाले, अन्याय और अत्याचार का दमन करनेवाले इतिहास-प्रसिद्ध वीर होने लगे। सारांश यह कि इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नए नए विषयों के प्रतिबिंब आवे, अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले। काल चक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं, उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाए बिना जैसे काम नहीं चल सकता, वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।

विषयों की अनेकरूपता के साथ साथ उनके विधान का ढंग भी बदल चला। प्राचीन धारा में 'मुक्तक' और 'प्रबन्ध' की जो प्रणाली चली आती थी, उससे कुछ भिन्न प्रणाली का अनुसरण करना पड़ा। पुरानी कविता में 'प्रबन्ध' का रूप कथात्मक और वस्तुवर्णात्मक ही चला आता था। या तो पौराणिक कथाओं, ऐतिहासिक वृत्तों को लेकर छोटे बड़े आख्यान काव्य रचे जाते थे—जैसे, पद्मावत, रामचरित मानस, रामचन्द्रिका, छत्रप्रकाश, सुदामाचरित्र, दानलीला, चीरहरन लीला इत्यादि—अथवा विवाह, मृगया, झूला, हिंडोला, ऋतुविहार आदि को लेकर वस्तु-वर्णात्मक प्रबन्ध। अनेक प्रकार के सामान्य विषयों पर जैसे बुढ़ापा, विधिविडंबना, जगत-सचाई सार, गोरक्षा, माता का स्नेह, सपूत, कपूत-कुछ दूर तक चलती हुई विचारों और भावों की मिश्रित धारा के रूप में छोटे छोटे प्रबंधों या निबंधों की चाल न थी। इस प्रकार के विषय कुछ उक्तिवैचित्र्य के साथ एक ही पद्य में कहे जाते थे अर्थात् वे मुक्तक की सूक्तियों के रूप में ही होते थे। पर नवीन धारा के आरम्भ में छोटे छोटे पद्यात्मक निबंधों की परंपरा भी चली जो प्रथम उत्थान-काल के भीतर तो भावप्रधान रही, पर आगे चलकर शुष्क और इतिवृत्तात्मक (Matter of Fact) होने लगी।

नवीन धारा के प्रथम उत्थान के भीतर हम हरिश्चन्द्र, प्रतापनारायण मिश्र, अम्बिकादत्त व्यास, राधाकृष्ण दास, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी आदि को ले सकते हैं।

जैसा ऊपर कह आए हैं, नवीन धारा के बीच भारतेंदु की वाणी का सब से ऊँचा स्वर देशभक्ति का था। नीलदेवी, भारत दुर्दशा आदि नाटकों के भीतर आई हुई कविताओं में देशदशा की जो मार्मिक व्यंजना है, वह तो है ही; बहुत सी स्वतंत्र कविताएँ भी उन्होंने लिखीं जिनमें कहीं देश की अतीत गौरव गाथा का गर्व, कहीं वर्तमान अधोगति की क्षोभ भरी वेदना, कहीं भविष्य की भावना से जगी हुई चिन्ता इत्यादि अनेक पुनीत भावों का संचार पाया जाता है। "विजयिनी विजय वैजयंती" में, जो मिस्र में भारतीय सेना के विजयी होने पर लिखी

गई थी, देशभक्ति-व्यंजक कैसे भिन्न भिन्न संचारी भावों का उद्गार है! कहीं गर्व, कहीं क्षोभ, कहीं विषाद। "सहसन बरसन सों सुन्यो जो सपने नहिं कान सो जय आरज शब्द" को सुन और "फरकि उठीं सब की भुजा, खरकि उठीं तरवार। क्यों आपुहि ऊँचे भए आर्य्य-मोछ के बार॥" का कारण जान प्राचीन आर्य्य गौरव का गर्व कुछ आ ही रहा था कि वर्त्तमान अधोगति का दृश्य ध्यान में आया और फिर वही "हाय भारत!" की धुन!

हाय! वहै भारत-भुव भारी। सब ही बिधि सों भई दुखारी।
हाय पंचनद, हा पानीपत। अजहुँ रहे तुम धरनि बिराजत!
हाय चितौर! निलज तू भारी। अजहुँ खरो भारतहि मँझारी!
तुम में जल नहिं जमुना गंगा? बढ़हु बेगि किन प्रबल तरंगा?
बोरहु किन झट मथुरा कासी? धोवहु यह कलंक की रासी।

'चित्तौर', 'पानीपत', इन नामों में ही हिंदू-हृदय के लिये कितने भावों की व्यंजना भरी है। उसके लिये ये नाम ही काव्य हैं। 'नीलदेवी' में यह कैसी करुण पुकार है—

कहाँ करुणानिधि केसव सोए।
जागत नाहिं अनेक जतन करि भारतवासी रोए।

यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि भारतेंदु जी ने हिंदी काव्य को केवल नए नए विषयों की ओर ही उन्मुख किया, उसके भीतर किसी नवीन विधान या प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके संबंध में ध्यान देने की यह है कि वे केवल "नर-प्रकृति" के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनंत-रूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता। अपने नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रखे हैं (जैसे, सत्य हरिश्चंद्र में गंगा का वर्णन, चंद्रावली में यमुना का वर्णन) वे केवल परंपरा-पालन के रूप में हैं। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता। वे केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के चमत्कार के लिये लिखे जान पड़ते हैं। एक पंक्ति में कुछ अलग अलग वस्तुएँ और व्यापार हैं और दूसरी पंक्ति में उपमा या उत्प्रेक्षा। यही क्रम बराबर चला गया है।

भारतेंदु जी स्वयं पद्यात्मक निबन्धों की ओर प्रवृत्त नहीं हुए, पर उनके भक्त और अनुयायी पं० प्रतापनारायण मिश्र इस ओर बढ़े। उन्होंने देश-दशा पर आँसू बहाने के अतिरिक्त 'बुढ़ापा', 'गोरक्षा' ऐसे विषय भी कविता के लिये चुने। ऐसी कविताओं में कुछ तो विचारणीय बातें हैं, कुछ भावव्यंजना और विचित्र विनोद। उनके कुछ इतिवृत्तात्मक पद्य भी उनके हैं जिनमें शिक्षितों के बीच प्रचलित बातें साधारण भाषण के रूप में कही गई हैं। उदाहरण के लिये 'क्रंदन' की ये पंक्तियाँ देखिए—

तबहि लख्यो जहँ रह्यो एक दिन कंचन बरसत।
तहँ चौथाई जन रूखी रोटिहु को तरसत॥
जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्पसेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहुँ कैसहु नाहीं॥
कहिय कहाँ लगि नृपति दबे है जहँ ऋन-भारत।
तहँ तिनकी धनकथा कौन जे गृही सधारत॥

इस प्रकार के इति-वृत्तात्मक पद्य भारतेंदु जी ने भी कुछ लिखे हैं। जैसे—

अँगरेज-राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन बिदेस चलि जात यहै अति ख्वारी॥

मिश्र जी की विशेषता वास्तव में उनकी हास्य-विनोद-पूर्ण रचनाओं में ही दिखाई पड़ती है। 'हरगंगा', 'तृप्यन्ताम्', 'बुढ़ापा' इत्यादि कविताएँ बड़ी ही विनोद-पूर्ण और मनोरंजक हैं। 'हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान' वाली 'हिंदी की हिमायत' भी बहुत प्रसिद्ध हुई।

उपाध्याय पं० बदरीनारायण चौधरी (प्रेमघन) ने अधिकतर विशेष विशेष अवसरों पर—जैसे, दादाभाई नौरोजी के पार्लामेंट के मेम्बर होने के अवसर पर, महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबली के अवसर पर, नागरी के कचहरियों में प्रवेश पाने पर, प्रयाग के सनातन धर्म महासम्मेलन (सं० १६६३) के अवसर पर—आनन्द आदि प्रकट करने के लिये कविताएँ लिखी हैं। भारतेंदु के समान नवीन विषयों के लिये ये भी प्रायः रोला छन्द ही लेते थे। इनके छंदों में यतिभंग प्रायः मिलता है। एक बार जब इस विषय पर मैंने इनसे बात चीत की, तब इन्होंने कहा—"मैं यतिभंग को कोई दोष नहीं मानता; पढ़नेवाला ठीक चाहिए।" देश की राजनीतिक परिस्थिति पर इनकी दृष्टि बराबर रहती थी। देश की

देश सुधारने के लिये जो राजनीतिक या धर्म संबंधी आंदोलन चलते रहे, उन्हें ये बड़ी उत्कंठा से परखा करते थे। जब कहीं कुछ सफलता दिखाई पड़ती, तब लेखों और कविताओं द्वारा हर्ष प्रकट करते; और जब बुरे लक्षण दिखाई देते, तब क्षोभ और खिन्नता। कांग्रेस के अधिवेशनों में ये प्रायः जाते थे। 'हीरक जुबिली' आदि की कविताओं को खुशामदी कविता न समझना चाहिए। उनमें ये देशदशा का सिंहावलोकन करते थे—और मार्मिकता के साथ।

विलायत में दादा भाई नौरोजी के 'काले' कहे जाने पर इन्होंने 'कारे' शब्द को लेकर बड़ी सरस और क्षोभपूर्ण कविता लिखी थी। कुछ पंक्तियाँ देखिए—

अचरज होत तुमहूँ सम गोरे बाजत कारे।
तासों कारे 'कारे' शब्दहु पर हैं वारे॥
कारे काम, राम, जलधर जल बरसनवारे।
कारे लागत ताही सों कारन कों प्यारे॥
यातें नीको है तुम 'कारे' जाहु पुकारे।
यहै असीस देत तुमकों मिलि हम सब कारे॥
सफल होहिं मन के सब ही संकल्प तुम्हारे।

हीरक जुबली के अवसर पर लिखे "हार्दिक हर्षादर्श" में देश की दशा का ही वर्णन है। जैसे—

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भए बीरवर सकल सुभट एकहि सँग गारत॥
मरे बिबुध नरनाह सकल चातुर गुनमंडित।
बिगरो जनसमुदाय बिना पथदर्शक पंडित॥
नए नए मत चले, नए झगरे नित बाढ़े।
नए नए दुख परे सीस भारत पै गाढ़े॥

'प्रेमघन' जी की कई बहुत ही प्रांजल और सरस कविताएँ उनके दोनों नाटकों में हैं। "भारत-सौभाग्य" नाटक चाहे खेलने योग्य न हो, पर देश-दशा पर वैसा बड़ा, अनूठा और मनोरंजक नाटक दूसरा नहीं लिखा गया। उसके प्रारंभ के अंकों में 'सरस्वती', 'लक्ष्मी' और 'दुर्गा' इन तीनों देवियों के भारत से क्रमशः प्रस्थान का दृश्य बड़ा ही भव्य है। इसी प्रकार उक्त तीनों देवियों के मुँह से बिदा होते समय जो कविताएँ कहलाई गई हैं, वे भी बड़ी मार्मिक हैं। 'हंसा-रूढ़ा सरस्वती' के चले जाने पर 'दुर्गा' कहती हैं—

आजु लौं रही अनेक भाँति धीर धारि कै।
पै न भाव मोहिं बैठनो सु मौन मारि कै॥
जाति हौं चली वहीं सरस्वती गई जहाँ।

उद्धृत कविताओं में उनकी गद्यवाली चमत्कार-प्रवृत्ति नहीं दिखाई पड़ती। अधिकांश कविताएँ ऐसी ही हैं। पर कुछ कविताएँ उनकी ऐसी भी हैं—जैसे, मयंक और आनन्द अरुणोदय—जिनमें कहीं लंबे लंबे रूपक हैं और कहीं उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं की भरमार।

यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंह जी अपनी कविता को नए विषयों की ओर नहीं ले गए, पर प्राचीन संस्कृत-काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिए हुए अपनी प्रेमचर्य्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्य-प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिंदी-काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था। जिस समय हिंदी साहित्य का अभ्युदय हुआ, उस समय संस्कृत काव्य अपनी प्राचीन विशेषता बहुत कुछ खो चुका था, इससे वह उसके पिछले रूप को ही ले कर चला। प्रकृति का जो सूक्ष्म निरीक्षण वाल्मीकि, कालिदास और भवभूति में पाया जाता है, वह संस्कृत के पिछले कवियों में नहीं रह गया। प्राचीन संस्कृत कवि प्राकृतिक दृश्यों के विधान में कई वस्तुओं की संश्लिष्ट योजना द्वारा "बिंब-ग्रहण" कराने का प्रयत्न करते थे। इस कार्य्य को अच्छी तरह सम्पन्न करके तब वे इधर उधर थोड़ा बहुत उपमा, उत्प्रेक्षा आदि द्वारा अप्रस्तुत वस्तु-विधान भी कर देते थे। पर पीछे मुक्तकों में सूक्ष्म और संश्लिष्ट योजना के स्थान पर कुछ इनी-गिनी वस्तुओं को अलग अलग गिना कर 'अर्थ-ग्रहण' कराने का प्रयत्न ही रह गया और प्रबंध-काव्यों के वर्णनों में उपमा और उत्प्रेक्षा की इतनी भरमार हो चली कि प्रस्तुत दृश्य गायब हो चला*।

* देखिए "माधुरी" (ज्येष्ठ, आषाढ़ १९८०) में प्रकाशित मेरा "काव्य में प्राकृतिक दृश्य"।

यही पिछला विधान हमारे हिंदी साहित्य में आया। 'षट् ऋतु वर्णन' में प्राकृतिक वस्तुओं और व्यापारों का जो उल्लेख होता था, वह केवल 'उद्दीपन' की दृष्टि से; अर्थात् नायक या नायिका के प्रति पहले से प्रतिष्ठित भाव को और जगाने या उद्दीप्त करने के लिये। इस काम के लिये कुछ वस्तुओं का अलग अलग नाम ले लेना ही काफ़ी होता है। स्वयं प्राकृतिक दृश्यों के प्रति कवि के भाव का पता देनेवाले वर्णन हिंदी काव्य में नहीं पाए जाते।

संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर हिन्दी काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। प्राकृतिक वर्णन की इस प्राचीन भारतीय प्रणाली के सम्बन्ध में थोड़ा विचार कर के हम आगे बढ़ते हैं। प्राकृतिक दृश्यों की ओर यह प्यार-भरी सूक्ष्म दृष्टि प्राचीन संस्कृत काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो फ़ारसी या अरबी के काव्यक्षेत्र में नही पाई जाती। योरप के कवियों में जाकर ही यह मिलती है। अंगरेजी साहित्य में वर्डस्वर्थ, शेली और मेरडिथ (Wordsworth, Shelley & Meredith) आदि में उसी ढंग का सूक्ष्म प्रकृति-निरीक्षण और मनोरम रूप-विधान पाया जाता है जैसा प्राचीन संस्कृत साहित्य में। प्राचीन भारतीय और नवीन योरपीय दृश्य-विधान में थोड़ा लक्ष्य भेद है। भारतीय प्रणाली में कवि के भाव का आलंबन प्रकृति ही रहती है, अतः उसके रूप का प्रत्यक्षीकरण ही काव्य का एक स्वतंत्र लक्ष्य दिखाई पड़ता है। पर योरपीय साहित्य में काव्य-निरूपण की बराबर बढ़ती हुई परंपरा के बीच धीरे धीरे यह मत प्रचार पाने लगा कि "प्राकृतिक दृश्यों का प्रत्यक्षीकरण मात्र तो स्थूल व्यवसाय है; उसके भीतर छिपी भावसत्ता का दर्शन करना कराना ही काव्य का ऊँचा लक्ष्य है।"

उक्त प्रवृत्ति के अनुसार कुछ अंगरेज कवियों ने तो प्रकृति के नाना रूपों के बीच व्यंजित होनेवाली भावधारा का बहुत सुन्दर उद्‌घाटन किया, पर बहुतेरे अपनी बेमेल भावनाओं का आरोप कर के उन रूपों को अपनी अन्तर्वृत्तियों से छोपने लगे। अब इन दोनों प्रणालियों में से किस प्रणाली पर हमारे काव्य में दृश्यवर्णन का विकास होना चाहिए, यह विचारणीय है। मेरे विचार में प्रथम प्रणाली का अनुसरण ही समीचीन है। अनन्त रूपों से भरा हुआ प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र उस 'महामानस' की कल्पनाओं का अनन्त प्रसार है। सूक्ष्मदर्शी सहृदयों को उसके भीतर नाना भावों की व्यंजना मिलेगी। नाना रूप जिन नाना भावों की सचमुच व्यंजना कर रहे हैं, उन्हें छोड़ अपने परिमित अन्तः कोटर की वासनाओं से उन्हें छोपना एक झूठे खेलवाड़ के ही अन्तर्गत होगा। यह बात मैं स्वतंत्र दृश्यविधान के सम्बन्ध में कर रहा हूँ जिसमें दृश्य ही प्रस्तुत विषय होता है। जहाँ किसी पूर्व प्रतिष्ठित भाव की प्रबलता व्यंजित करने के लिये ही प्रकृति के क्षेत्र से वस्तु-व्यापार लिए जायँगे, वहाँ तो वे उस भाव में रँगे दिखाई ही देंगे। पद्माकर की विरहिणी का यह कहना कि "किंसुक गुलाब कचनार औ अनारन की डारन पै डोलत अंगारन के पुंज है।" ठीक ही है। पर बराबर इसी रूप में प्रकृति को देखना दृष्टि को संकुचित करना है। अपने ही सुख दुःख के रंग में रँग कर प्रकृति को देखा तो क्या देखा? मनुष्य ही सब कुछ नहीं है। प्रकृति का अपना रूप भी है।

पं० अम्बिकादत्त व्यास ने नए नए विषयों पर भी कुछ फुटकर कविताएँ रची हैं जो पुरानी पत्रिकाओं में निकली हैं। एक बार उन्होंने कुछ बेतुके पद्य भी आज़माइश के लिये बनाए थे, पर इस प्रयत्न में उन्हें सफलता नहीं दिखाई पड़ी थी, क्योंकि उन्होंने हिंदी का कोई प्रचलित छंद लिया था।

भारतेन्दु के सहयोगियों की बात यहीं समाप्त कर अब हम उन लोगों की ओर आते हैं जो उनकी मृत्यु के उपरान्त मैदान में आए और जिन्होंने काव्य की भाषा और शैली में भी कुछ परिवर्तन उपस्थित किया। भारतेन्दु के सहयोगी लेखक यद्यपि देशकाल के अनुकूल नए नए विषयों की ओर प्रवृत्त हुए, पर उन्होंने भाषा परंपरा से चली आती हुई ब्रज भाषा ही रखी और छन्द भी वे ही लिए जो ब्रज भाषा में प्रचलित थे। पर भारतेन्दु के

गोलोकवास के थोड़े ही दिनों पीछे भाषा के सम्बन्ध में नए विचार उठने लगे। लोगों ने देखा कि हिंदी गद्य की भाषा तो खड़ी बोली हो गई और उसमें साहित्य भी बहुत कुछ प्रस्तुत हो चुका, पर कविता की भाषा अभी ब्रज भाषा ही बनी है। गद्य एक भाषा में लिखा जाय और पद्य दूसरी भाषा में, यह बात खटक चली। इसकी कुछ चर्चा भारतेन्दु के समय में ही उठी थी, जिसके प्रभाव से उन्होंने 'दशरथ-विलाप' नाम की एक कविता खड़ी बोली में (फारसी छंद में) लिखी थी। कविता इस ढङ्ग की थी—

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़ कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में यह दुख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था॥

यह कविता राजा शिवप्रसाद को बहुत पसंद आई थी और इसे उन्होंने अपने 'गुटका' में दाख़िल किया था।

उर्दू छंद में हिंदी खड़ी बोली की कविता का सूत्रपात भारतेंदुजी के पहले भी थोड़ा बहुत हो चुका था। इंशा ने "रानी केतकी की कहानी" में जो पद्य दिए थे, वे तो दिए ही थे, उनके ३०—४० वर्ष पहले नज़ीर अकबराबादी (जन्म संवत् १७६७-मृत्यु १८७७) कृष्ण लीला संबंधी बहुत से पद्य हिंदी खड़ी बोली में लिख चुके थे। वे एक मनमौजी सूफ़ी भक्त थे। उनके पद्यों के नमूने देखिए—

यारो सुनो ये दधि के लुटैया का बालपन।
औ मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन॥
मोहन-सरूप नृत्य करैया का बालपन।
बन बन में ग्वाल गौवें चरैया का बालपन॥
ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन।
क्या क्या कहूँ मैं कृष्ण कन्हैया का बालपन॥
परदे मे बालपन के ये उनके मिलाप थे।
जोती-सरूप कहिए जिन्हें सो वो आप थे॥

याँ कृष्ण मदनमोहन ने जब सब ग्वालों से यह बात कही।
औ आपी से झट गेंद डँडा उस कालीदह में फेंक दई॥
यह लीला है उस नंदललन मनमोहन जसुमत-दैया की।
रख ध्यान सुनो दंडवत करो, जय बोलो कृष्ण कन्हैया की॥

इसके अतिरिक्त रीतिकाल के कुछ पिछले कवि भी, जैसा कि हम दिखा आए हैं, इधर उधर खड़ी बोली के दो चार कवित्त-सवैये रच दिया करते थे। उधर लावनीबाज़ और ख़्यालबाज़ भी अपने ढंग पर कुछ ठेठ हिंदी में गाया करते थे। इस प्रकार खड़ी बोली की तीन छंद-प्रणालियाँ उस समय लोगों के सामने थीं जिस समय भारतेंदुजी के पीछे कविता की भाषा का सवाल लोगों के सामने आया—हिंदी के कवित्त-सवैया की प्रणाली, उर्दू छंदों की प्रणाली और लावनी का ढंग। संवत् १९४३ में पं० श्रीधर पाठक ने इसी पिछले ढंग पर "एकांत-वासी योगी" खड़ी बोली पद्य में निकाला। इसकी भाषा अधिकतर बोलचाल की और सरल थी। नमूना देखिए—

आज रात इससे परदेसी चल कीजे विश्राम यहीं।
जो कुछ वस्तु कुटी में मेरे करो ग्रहण संकोच नहीं॥
तृण शय्या औ अल्प रसोई, पाओ स्वल्प प्रसाद।
पैर पसार चलो निद्रा लो, मेरा आसिर्वाद॥

× × × ×

प्रानपियारे की गुन गाथा, साधु ! कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥

इसके पीछे तो "खड़ी बोली" के लिये एक आंदोलन ही खड़ा हुआ। मुज़फ्फरपुर के बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री खड़ी बोली का झंडा लेकर उठे। संवत् १९४५ में उन्होंने 'खड़ी बोली आंदोलन' की एक पुस्तक छपाई जिसमें उन्होंने बड़े ज़ोर शोर से यह राय जाहिर की कि अब तक जो कविता हुई, वह तो ब्रज भाषा की थी, हिंदी की नहीं। हिंदी में भी कविता हो सकती है। वे भाषातत्त्व के जानकार न थे। उनकी समझ में खड़ी बोली ही हिंदी थी। अपनी पुस्तक में उन्होंने खड़ी बोली-पद्य की पाँच स्टाइलें क़ायम की थीं—जैसे, मौलवी स्टाइल, मुंशी स्टाइल, पंडित स्टाइल, मास्टर स्टाइल। उनकी पोथी में और पद्यों के साथ पाठक जी का "एकांतवासी योगी" भी दर्ज हुआ। और कई लोगों से भी अनुरोध करके उन्होंने खड़ी बोली की कविताएँ लिखाईं। चंपारन के प्रसिद्ध संस्कृत विद्वान् और कवि पं० चंद्रशेखरधर

मिश्र, जो भारतेंदुजी के मित्रों में थे, संस्कृत के अतिरिक्त हिंदी में भी बड़ी सुंदर और आशु कविता करते हैं। मैं समझता हूँ कि हिंदी साहित्य के वर्त्तमान काल में संस्कृत वृत्तों में हिंदी पद्य लिखना उन्हींने आरंभ किया। बाबू अयोध्याप्रसाद जी उनके पास भी पहुँचे और कहने लगे—"लोग कहते हैं कि खड़ी बोली में अच्छी कविता नहीं हो सकती। क्या आप भी यही कहते हैं? यदि नहीं, तो मेरी सहायता कीजिए"। उक्त पंडित जी ने कुछ कविता लिख कर उन्हें दी जिसे उन्होंने अपनी पोथी में शामिल किया। इसी प्रकार खड़ी बोली के पक्ष में जो राय मिलती, वह भी उसी पोथी में दर्ज होती जाती थी। धीरे धीरे एक बड़ा पोथा हो गया जिसे बगल में दबाए वे जहाँ कहीं हिंदी के संबंध में सभा होती, जा पहुँचते। यदि बोलने का अवसर न मिलता तो वे चिड़चिड़ा उठते थे।

"एकांतवासी योगी" के बहुत दिनों पीछे पंडित श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली में और भी रचनाएँ कीं। खड़ी बोली की इनकी दूसरी पुस्तक "श्रांत पथिक" (गोल्डस्मिथ के Traveller का अनुवाद) निकली। इनके अतिरिक्त खड़ी बोली में फुटकर कविताएँ भी पाठक जी ने बहुत सी लिखीं। मन की मौज के अनुसार कभी कभी ये एक ही विषय के वर्णन में दोनों बोलियों के पद्य रख देते थे। खड़ी बोली और ब्रज भाषा दोनों में ये बराबर कविता करते रहे। ऊजड़ गाम (Deserted Village) इन्होंने ब्रज भाषा में ही लिखा। अंगरेज़ी और संस्कृत दोनों के काव्य-साहित्य का अच्छा परिचय रखने के कारण हिंदी कवियों में पाठक जी की रुचि बहुत ही परिष्कृत थी। शब्दशोधन में तो पाठक जी अद्वितीय थे। जैसी चलती और रसीली इनकी ब्रज भाषा होती थी, वैसा ही कोमल और मधुर संस्कृत पद-विन्यास भी। ये वास्तव में एक बड़े प्रतिभाशाली, भावुक और सुरुचि-संपन्न कवि थे। भद्दापन इनमें न था—न रूप रंग में, न भाषा में, न भाव में, न चाल में, न भाषण में। 'सुघराई' के ये मूर्त्ति थे। एक कवि को भीतर और बाहर से जैसा होना चाहिए वैसे ही ये थे।

इनकी प्रतिभा बराबर रचना के नए नए मार्ग भी निकाला करती थी। छंद, पदविन्यास, वाक्य विन्यास, आदि के संबंध में नई नई बंदिशें इन्हें खूब सूझा करती थीं। अपनी रुचि के अनुसार न जाने कितने नए छंद इन्होंने निकाले जो पढ़ने में बहुत ही मधुर लय पर चलते थे। यह छंद देखिए—

नाना कृपान निज पानि लिए वपुनील वसन परिधान किए।
गंभीर घोर अभिमान हिये, छकि पारिजात-मधुपान किए।
छिन छिन पर जोर मरोर दिखावत, पल पल पर आकृत-कोर झुकावत।
यह मोर नचावत सोर मचावत, स्वेत स्वेत बगपाँति उड़ावत।
नंदन प्रसून-मकरंद-बिंदु-मिश्रित समीर बिनु धीर चलावत।

अन्त्यानुप्रास-रहित बेठिकाने समाप्त होनेवाले गद्य के से लंबे वाक्यों के छंद भी (जैसे अंगरेजी में होते हैं) इन्होंने लिखे हैं। 'सांध्य अटन' का यह छंद देखिए—

विजन-वन-प्रांत था, प्रकृति-मुख शान्त था।
अटन का समय था, रजनि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा मे लसा।
बाल-शशि व्योम की ओर था आ रहा॥
सद्य-उत्फुल्ल-अरविंद-नभ नील सुविः।
शाल नभवक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥

यह कह आए हैं कि 'खड़ी बोली' की पहली पुस्तक "एकांतवासी योगी" इन्होंने लावनी या ख़्याल के ढंग पर लिखी थी। पीछे "खड़ी बोली" को हिंदी के प्रचलित छंदों में ले आए। 'श्रांत पथिक' की रचना इन्होंने रोला छंद में की। इसके आगे भी ये बढ़े, और यह दिखा दिया कि सवैया में भी खड़ी बोली कैसी मधुरता के साथ ढल सकती है—

इस भारत में बन पावन तू ही तपस्वियों का तप-आश्रम था।
जगतत्व की खोज में लग्न जहाँ ऋषियों ने अभग्न किया श्रम था॥
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था, सात्विक जीवन का क्रम था।
महिमा बनवास की थी तब और प्रभाव पवित्र अनूपम था॥

पाठक जी कविता के लिये हर एक विषय ले लेते थे। समाज-सुधार के ये बड़े आकांक्षी थे; इससे विधवाओं की वेदना, शिक्षा प्रचार ऐसे ऐसे विषय भी इनकी कलम के नीचे आया करते थे। विषयों को काव्य

का पूरा पूरा स्वरूप देने में चाहे ये सफल न हुए हों, गंभीर नूतन विचारधारा चाहे इनकी कविताओं के भीतर कम मिलती हो, पर इनकी वाणी में कुछ ऐसा प्रसाद था कि जो बात उसके द्वारा प्रकट की जाती थी, उसमें सरसता आ जाती थी। अपने समय के कवियों में प्रकृति का वर्णन पाठक जी ने सब से अधिक किया, इससे हिंदी प्रेमियों में वे प्रकृति के उपासक कहे जाते हैं। यहाँ पर यह कह देना आवश्यक है कि उनकी यह उपासना प्रकृति के उन्हीं रूपों तक परिमित थी जो मनुष्य को सुखदायक और आनंदप्रद होते हैं, या जो भव्य और सुंदर होते हैं। प्रकृति के सीधे सादे, नित्य आँखों के सामने आनेवाले, देश के परंपरा-गत जीवन से संबंध रखनेवाले दृश्यों की मधुरता की ओर उनकी वृत्ति उन्मुख न थी।

भारतेंदु के पीछे और द्वितीय उत्थान के पहले ही हिंदी के लब्धप्रतिष्ठ कवि पंडित अयोध्यासिंह जी उपाध्याय (हरिऔध) नए विषयों की ओर चल पड़े थे। खड़ी बोली के लिये उन्होंने पहले उर्दू के छंदों और ठेठ बोली को ही उपयुक्त समझा, क्योंकि उर्दू के छंदों में खड़ी बोली अच्छी तरह मँज चुकी थी। संवत् १९५७ के पहले ही वे बहुत सी फुटकर रचनाएँ इस उर्दू ढंग पर कर चुके थे। नागरीप्रचारिणी सभा के गृहप्रवेशोत्सव के समय संवत् १९५७ में उन्होंने जो कविता पढ़ी थी, उसके ये चरण मुझे अब तक याद हैं—

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥
मौलवी ऐसा न होगा एक भी।
खूब उर्दू जो न होवे जानता॥

इसके उपरांत तो वे बराबर इसी ढंग की कविता करते रहे। द्वितीय उत्थान के पीछे जब पंडित महावीर-प्रसाद जी द्विवेदी के प्रभाव से खड़ी बोली ने संस्कृत छंदों और संस्कृत की समस्त पदावली का सहारा लिया, तब उपाध्याय जी—जो गद्य में अपनी भाषा-संबंधिनी पटुता उसे दो हदों पर पहुँचा कर दिखा चुके थे—उस शैली की ओर भी बढ़े और संवत् १९७१ में उन्होंने अपना 'प्रिय-प्रवास' नामक बहुत बड़ा काव्य प्रकाशित किया।

उपाध्याय जी में लोकसंग्रह का भाव बड़ा प्रबल है। उक्त काव्य में श्रीकृष्ण व्रज के रक्षक-नेता के रूप में अंकित किए गए हैं। खड़ी बोली में इतना बड़ा काव्य अभी तक नहीं निकला है। बड़ी भारी विशेषता इस काव्य की यह है कि यह संस्कृत के वर्णवृत्तों में है जिसमें अधिक परिमाण में रचना करना कठिन काम है। उपाध्याय जी का संस्कृत पद-विन्यास बहुत ही चुना हुआ और काव्योपयुक्त होता है। द्विवेदी जी और उनके अनुयायी कवि वर्ग की रचनाओं से उपाध्याय जी की रचना सबसे पहले तो इसी बात में अलग दिखाई पड़ती है। यद्यपि द्विवेदी जी अपने अनुयायियों के सहित जब इस संस्कृत वृत्त के मार्ग पर बहुत दूर तक चल चुके थे, तब उपाध्याय जी उस पर आए, पर वे बिलकुल अपने ढंग पर चले। किसी प्रकार की रचना को हद्द पर—चाहे उस हद तक जाना अधिकतर लोगों को इष्ट न हो—पहुँचा कर दिखाने की प्रवृत्ति के अनुसार उपाध्यायजी ने अपने इस काव्य में कई जगह संस्कृत शब्दों की ऐसी लंबी लड़ी बाँधी है कि हिंदी को 'है', 'था', 'किया', 'दिया' ऐसी दो एक क्रियाओं के भीतर ही सिमट कर रह जाना पड़ा है। पर सर्वत्र यह बात नहीं है। अधिकतर पदों में बड़े ढंग से हिंदी अपनी चाल पर चली जाती हुई दिखाई पड़ती है।

यह काव्य अधिकतर वर्णनात्मक है। वर्णन कहीं कहीं बहुत मार्मिक हैं—जैसे कृष्ण के चले जाने पर व्रज की दशा का वर्णन। विरह-वेदना से क्षुब्ध वचनावली के भीतर जो भाव की धारा अनेक बल खाती बहुत दूर तक लगातार चली चलती है, उसमें पाठक अपनी सुध बुध के साथ कुछ काल के लिये मग्न हो जाता है। दो प्रकार के नमूने उद्धृत करके हम आगे बढ़ते हैं—

रूपोद्यान प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेंदु-बिंबानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीड़ा कला पुत्तली॥
शोभा-वारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्रीराधा मृदुभाषिणी मृगदृगी माधुर्य्य-सन्मूर्त्ति थी॥

धीरे धीरे दिन गत हुआ; पद्मिनीनाथ डूबे।
आई दोषा, फिर गत हुई, दूसरा वार आया॥
यों ही बीती विपुल घटिका औ कई वार बीते।
आया कोई न मधुपुर से औ न गोपाल आए॥

इस काव्य के उपरांत उपाध्याय जी का ध्यान फिर बोलचाल की ओर गया। इस बार उनका मुहावरों पर अधिक ज़ोर रहा। बोलचाल की भाषा में अनेक फुटकर विषयों पर उन्होंने कविताएँ रचीं जिनकी प्रत्येक पंक्ति में कोई न कोई मुहावरा अवश्य खपाया गया। ऐसी कविताओं का संग्रह 'चोखे चौपदे, (सं० १९८१) में निकला। 'पद्यप्रसून' (१९८२) में भाषा दोनों प्रकार की है-बोलचाल की भी और साहित्यिक भी। मुहावरों के नमूने के लिये 'चोखे चौपदे" का एक पद्य दिया जाता है—

क्यों पले पीस कर किसी को तू।
है बहुत पालिसी बुरी तेरी॥
हम रहे चाहते पटाना ही।
पेट तुझ से पटी नहीं मेरी॥

भाषा के दोनों प्रकार के नमूने ऊपर हैं। यह द्विकलात्मक कला उपाध्याय जी की बड़ी भारी विशेषता है। इससे उनका भाषा पर बहुत ही विस्तृत अधिकार प्रकट होता है।

द्वितीय उत्थान

इस द्वितीय उत्थान के आरम्भ काल में हम पण्डित महावीरप्रसाद जी द्विवेदी ही को पद्य-रचना की एक प्रणाली के प्रवर्त्तक के रूप में पाते हैं। गद्य पर जो शुभ प्रभाव द्विवेदी जी का पड़ा, उसका उल्लेख गद्य के प्रकरण में हो चुका है। खड़ी बोली के पद्यविधान पर भी आपका पूरा पूरा असर पड़ा। पहली बात तो यह हुई कि उनके कारण भाषा में बहुत कुछ सफ़ाई आई। बहुत से कवियों की भाषा शिथिल और अव्यवस्थित होती थी और बहुत से लोग व्रज और अवधी आदि का मेल भी कर देते थे। सरस्वती के संपादन काल में उनकी प्रेरणा से बहुत से नए लोग खड़ी बोली में कविता करने लगे। उनकी भेजी हुई कविताओं की भाषा आदि दुरुस्त करके वे सरस्वती में दिया करते थे। इस प्रकार के लगातार संशोधन से धीरे धीरे उनकी भाषा साफ़ हो गई। उन्हीं नमूनों पर और लोगों ने भी अपना सुधार किया।

यह तो हुई भाषा-परिष्कार की बात। अब उन्होंने पद्य रचना की जो प्रणाली स्थिर की, उसके संबंध में भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। द्विवेदी जी कुछ दिनों तक बंबई की ओर रहे थे जहाँ मराठी के साहित्य से उनका परिचय हुआ। उसके साहित्य का प्रभाव उन पर बहुत कुछ पड़ा। मराठी कविता में अधिकतर संस्कृत के वृत्तों का व्यवहार होता है। पद्य विन्यास भी प्रायः गद्य का सा ही रहता है। बंग भाषा की सी 'कोमलकांतपदावली' उसमें नहीं पाई जाती। इसी मराठी के नमूने पर द्विवेदी जी ने हिंदी में पद्य रचना शुरू की। पहले तो उन्होंने व्रज भाषा का ही अवलंबन किया। नागरीप्रचारिणी-पत्रिका में प्रकाशित "नागरी तेरी यह दशा!" और रघुवंश का कुछ आधार लेकर रचित "अयोध्या का विलाप" नाम की उनकी कविताएँ व्रज भाषा में ही लिखी गई थीं। जैसे,—

श्रीयुक्त नागरि निहारि दशा तिहारी।
होवै विषाद मन माहिं अतीव भारी॥

प्राकार जासु नभ मंडल में समाने।
प्राचीर जासु लखि लोकप हू सकाने॥
जाकी समस्त सुनि संपति की कहानी।
नीचे निवाय सिर देवपुरी लजानी॥

यह वृत्त संस्कृत का था। पीछे आपने व्रज भाषा एक दम छोड़ ही दी और खड़ी बोली में ही काव्य-रचना करने लगे।

मराठी का संस्कार तो था ही, पीछे जान पड़ता है, उनके मन में वर्ड्सवर्थ (Wordsworth) का वह पुराना सिद्धांत भी कुछ जम गया था कि "गद्य और पद्य का पदविन्यास एक ही प्रकार का होना चाहिए।" पर यह प्रसिद्ध बात है कि वर्ड्सवर्थ का वह सिद्धांत

असंगत सिद्ध हुआ था और वह आप अपनी उत्कृष्ट कविताओं में उसका पालन न कर सका था। द्विवेदी जी ने भी बराबर उक्त सिद्धान्त के अनुकूल रचना नहीं की है। अपनी कविताओं के बीच बीच में सानुप्रास कोमल पदावली का व्यवहार उन्होंने किया है। जैसे,—

सुरम्यरूपे, रसराशि-रंजिते,
विचित्र-वर्णाभरणे! कहाँ गई।
अलौकिकानन्दविधायिनी महा,
कवीन्द्रकान्ते, कविते! अहो कहाँ।
मांगल्य-मूलमय-वारिद-वारि-वृष्टि ॥

पर उनका जोर बराबर इस बात पर रहता था कि कविता बोलचाल की भाषा में होनी चाहिए। बोलचाल से उनका मतलब ठेठ या हिन्दुस्तानी का नहीं रहता था, गद्य की व्यवहारिक भाषा का रहता था। परिणाम यह हुआ कि उनकी भाषा बहुत अधिक गद्यवत् (Prosaic) हो गई। पर जैसा कि गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—"गिरा-अर्थ जलबीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न"—भाषा से विचार अलग नहीं रह सकता। उनकी अधिकतर कविताएँ इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) हुई। उनमें वह लाक्षिणकता, वह मूर्त्तिमत्ता और वह वक्रता बहुत कम आ पाई जो रस-संचार की गति को तीव्र और मन को आकर्षित करती है। 'यथा' 'सर्वथा' 'तथैव' ऐसे शब्दों के प्रयोग ने उनकी भाषा को और भी अधिक गद्य का स्वरूप दे दिया।

यद्यपि उन्होंने संस्कृत वृत्तों का व्यवहार अधिक किया है, पर हिंदी के कुछ चलते छंदों में भी उन्होंने बहुत सी कविताएँ रची हैं जिनमें संस्कृत शब्दों का प्रयोग भी कम है। अपना "कुमारसम्भव-सार" उन्होंने इसी ढंग पर लिखा है। कुमारसम्भव का यह अनुवाद बहुत ही उत्तम हुआ है। उसमें मूल के भाव बड़ी सफाई से आए हैं। संस्कृत के अनुवादों में मूल का भाव लाने के प्रयत्न में भाषा में प्रायः जटिलता आ जाया करती है। पर इसमें यह बात ज़रा भी नहीं है। ऐसा साफ सुथरा दूसरा अनुवाद जो मैंने देखा है, वह पं० केशवप्रसाद जी मिश्र का 'मेघदूत' है। द्विवेदी जी की रचनाओं के दो नमूने देकर हम आगे बढ़ते हैं।

आरोग्ययुक्त बलयुक्त सुपुष्ट गात,
ऐसा जहाँ युवक एक न दृष्टि आता।
सारी प्रजा निपट दीन दुखी जहाँ है,
कर्त्तव्य क्या न कुछ भी तुझको वहाँ है॥

इन्द्रासन के इच्छुक किसने करके तप अतिशय भारी,
की उत्पन्न असूया तुझमें मुझ से कहो कथा सारी।
मेरा यह अनिवार्य शरासन पाँच-कुसुम-सायक, धारी,
अभी बना लेवे तत्क्षण ही उसको निज आज्ञाकारी॥

द्विवेदी जी की कविताओं का संग्रह "काव्यमंजूषा" नाम की पुस्तक में हुआ है।

द्विवेदी जी के प्रभाव और प्रोत्साहन से हिंदी के कई अच्छे अच्छे कवि निकले जिनमें बाबू मैथिलीशरण गुप्त, पं० रामचरित उपाध्याय और पं० लोचनप्रसाद पांडेय मुख्य है।

बा० मैथिलीशरण गुप्त की कविताएँ द्विवेदी जी के संपादन काल में सरस्वती में बराबर निकलती रहीं। उनकी पहली प्रसिद्ध पुस्तक 'भारत भारती' है जिसे सर्व साधारण ने, विशेषतः देशभक्ति-पूर्ण नवयुवक छात्रों ने, बहुत पसंद किया। यह हाली की प्रसिद्ध उर्दू पुस्तक के आदर्श पर लिखी गई है। इसमें भारत की अतीत, वर्तमान और भविष्य दशा का बहुत ही चलती और साफ़ सुथरी भाषा में वर्णन है। इस पुस्तक में खड़ी बोली बहुत ही व्यवस्थित, स्वच्छ और परिष्कृत रूप में दिखाई पड़ी। यद्यपि इसमें प्रस्तुत विषय को काव्य का पूर्ण स्वरूप नहीं प्राप्त हो सका है, वर्णन प्रायः इतिवृत्त के रूप में ही हैं, पर इसने हिंदी कविता के लिये खड़ी बोली का सौष्ठव अच्छी तरह सिद्ध कर दिया। इसके उपरांत गुप्त जी की जो कविताएँ निकलती गईं, उनमें उत्तरोत्तर काव्यत्व आता गया। जैसे, 'जयद्रथवध' की रचना में रसात्मकता अधिक परिमाण में दिखाई पड़ी। 'केशों की कथा' 'स्वर्ग सहोदर' इत्यादि बहुत सी फुट-

कल कविताएँ जो इन्होंने लिखीं, वे सब रुचिर भावों से पूर्ण हैं। अंत में जब रवींद्र बाबू की 'नीरव क्रांति' हिंदी काव्यक्षेत्र में प्रवेश करने लगी, तब गुप्तजी की वाणी में काव्य की मनोहर लाक्षणिकता और सुंदर मूर्तिमत्ता का विधान हुआ। उदाहरण के लिये "आय का उपयोग" का यह पद्य देखिए—

निकल रही है उर से आह।
ताक रहे सब तेरी राह॥
चातक खड़ा चोंच खोले है, सम्पुट खोले सीप खड़ी।
मैं अपना घट लिए खड़ा हूँ, अपनी अपनी हमें पड़ी॥
सब को है जीवन की चाह।
ताक रहे सब तेरी राह॥

गुप्त जी की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकों के नाम ये हैं—रंग में भंग, किसान, विरहिणी व्रजांगना, पत्रावली, वैतालिक, चंद्रहास, तिलोत्तमा, पलासी का युद्ध, पंचवटी, मेघनाद-बध, स्वदेशी संगीत, सैरिंध्री, वीरांगना। इनमें कई एक माइकेल मधुसूदन दत्त की बँगला कविताओं के अनुवाद हैं।

पं० रामचरित उपाध्याय संस्कृत के अच्छे ज्ञाता हैं। खड़ी बोली की कविता की ओर आकर्षित होने के उपरांत उन्होंने बहुत सी फुटकल सुंदर रचनाओं के अतिरिक्त "रामचरित-चिंतामणि" नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य भी विविध छंदों में लिखा। इनकी रचनाओं में भाषा की सफ़ाई के अतिरिक्त वाग्वैदग्ध्य भी है। पंडित लोचनप्रसाद पांडेय बहुत छोटी अवस्था में कविता करने लगे। उनकी कविताएँ उधर बराबर सरस्वती में निकलती रही हैं। रचनाएँ इनकी बहुत सरस हैं। 'मृगी-दुःख-मोचन' में इन्होंने बड़े सुंदर सवैयों में एक मार्मिक कथा कही है जिससे पशुजगत् तक पहुँचनेवाली इनकी उदार कविदृष्टि का पता लगता है। इन प्रसिद्ध कवियों के अतिरिक्त और न जाने कितने कवियों ने खड़ी बोली में कविताएँ लिखीं जिन पर द्विवेदी जी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। उनकी कविताओं से बराबर मासिक पत्रिकाएँ भरी रहती थीं। इन कविताओं के संबंध में यह समझ रखना चाहिए कि ये अधिकतर इतिवृत्तात्मक गद्य-निबंध के रूप में रहती थीं। फल इसका यह हुआ कि लोगों को उनमें कुछ काव्यत्व नहीं दिखाई पड़ा और वे खड़ी बोली की अधिकांश कविता को 'तुकबंदी' मात्र समझने लगे। आगे चलकर तृतीय उत्थान में इसके विरुद्ध गहरा प्रतिवर्त्तन (Reaction) हुआ।

द्विवेदी जी के प्रभाव से स्वतंत्र कई एक बहुत अच्छे कवि भी इस द्वितीय उत्थान के भीतर अपने ढंग पर सरस कविता करते रहे जिनमें मुख्य राय देवीप्रसाद (पूर्ण), पंडित नाथूराम शंकर शर्म्मा, पंडित गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही), पंडित सत्यनारायण कविरत्न, लाला भगवानदीन, पंडित रामनरेश त्रिपाठी, वियोगी हरि, पंडित रूपनारायण पांडे मुख्य हैं।

राय देवीप्रसाद (पूर्ण) का उल्लेख 'पुरानी धारा' के भीतर हो चुका है। यहाँ पर इतना और कहने की आवश्यकता है कि उन्होंने देशकाल के अनुकूल नए नए विषयों पर बहुत सी फुटकल कविताएँ रची हैं जिनमें से अधिकतर व्रजभाषा की हैं। अपने जीवन के अंतिम भाग में खड़ी बोली की रचना की ओर भी वे प्रवृत्त हुए थे। सभा समाजों के प्रति उनका बहुत उत्साह रहता था और उपाध्याय जी की तरह वे भी उनमें सम्मिलित होकर कविताएँ पढ़ा करते थे। इनकी फुटकल कविताओं का संग्रह "पूर्ण-संग्रह" के नाम से प्रकाशित हो चुका है।

पंडित नाथूराम शर्म्मा हिंदी के पुराने कवियों में हैं। ये पहले व्रजभाषा में ही बड़ी सुंदर और गठी हुई कविता करते थे। वियोग का उनका यह वर्णन पढ़िए—

शंकर नदी नद नदीसन के नीरन की
भाप बन अंबर ते ऊँची चढ़ जायगी।
दोनों ध्रुव-छोरन लौं पल में पिघल कर
घूम घूम धरनी धुरी सी बढ़ जायगी॥
झारैंगे अँगारे ये तरनि तारे तारापति
जारैंगे खमंडल में आग मढ़ जायगी।
काहू विधि विधि की बनावट बचैगी नाहिं
जो पै वा वियोगिनी की आह कढ़ जायगी॥

पीछे खड़ी बोली का प्रचार होने पर ये उसमें भी

बहुत अच्छी रचना करने लगे। इनकी पदावली कुछ उद्दंडता लिए होती है। इसका कारण यह है कि इनका संबंध आर्य्य-समाज से रहा है जिसमें अंधविश्वास और सामाजिक कुरीतियों के उग्र विरोध की प्रवृत्ति बहुत दिनों तक जाग्रत रही। उसी अंतर्वृत्ति का आभास इनकी रचनाओं में दिखाई पड़ता है। "गर्भरंडा-रहस्य" नामक एक बड़ा प्रबंधकाव्य इन्होंने विधवाओं की बुरी परिस्थिति और देवमंदिरों के अनाचार आदि दिखाने के उद्देश्य से लिखा है। उसका एक पद्य देखिए —

फैल गया हुड़दंग होलिका की हलचल में।
फूल फूल कर फाग फला महिला-मंडल में॥
जननी भी तज लाज बनी ब्रजमक्खो सबकी।
पर मैं पिंड छुड़ाय जवनिका में जा दबकी॥

फबतियाँ और फटकार इनकी कविताओं की एक विशेषता है। फ़ैशनवालों पर कही हुई "ईश गिरिजा को छोड़ि ईशु गिरजा में जाय" वाली प्रसिद्ध फबती इन्हीं की है। पर जहाँ इनकी चित्तवृत्ति दूसरे प्रकार की रही है, वहाँ की उक्तियाँ बड़ी मनोहर भाषा में हैं। यह कवित्त ही लीजिए—

तेज न रहेगा तेजधारियों का नाम को भी,
मंगल मयंक मंद मंद पड़ जायँगे।
मीन बिन मारे, मर जायँगे सरोवर में;
डूब डूब शंकर सरोज सड़ जायँगे॥
चौंक चौंक चारो ओर चौकड़ी भरेंगे मृग,
खंजन खिलाड़ियों के पंख झड़ जायँगे।
बोलो इन अँखियों की होड़ करने को अब,
कौन से अड़ीले उपमान अड़ जायँगे॥

पं० गयाप्रसाद शुक्ल (सनेही) हिन्दी के एक बड़े ही भावुक और सरस-हृदय कवि हैं। वे पुरानी और नई दोनों चाल की कविताएँ लिखते हैं। इसके अतिरिक्त उर्दू-कविता भी उनकी बहुत ही अच्छी होती है। उनकी पुराने ढंग की कविताएँ 'रसिकमित्र', 'काव्य-सुधानिधि' और 'साहित्य सरोवर' आदि में बराबर निकलती रहीं। पीछे उनकी प्रवृत्ति खड़ी बोली की ओर हुई। इस मैदान में भी उन्होंने अच्छी सफलता पाई। उनका एक पद्य नीचे दिया जाता है—

तू है गगन विस्तीर्ण तो मैं एक तारा क्षुद्र हूँ।
तू है महासागर अगम, मैं एक धारा क्षुद्र हूँ॥
तू है महानद तुल्य तो मैं एक बूँद समान हूँ।
तू है मनोहर गीत तो मैं एक उसकी तान हूँ॥

पं० रामनरेश त्रिपाठी का नाम भी खड़ी बोली के कवियों में बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। उनकी कविताओं में भाषा की सफ़ाई और भावों की मार्मिकता पूरी पूरी मिलती है। उनके "पथिक" नामक प्रबन्ध-काव्य की हिन्दी प्रेमियों में बहुत दिनों तक चर्चा रही। वास्तव में वह बहुत ही उत्कृष्ट भावों से पूर्ण है। त्रिपाठी जी की फुटकल रचनाएँ भी बड़ी मनोहारिणी हैं। वे हिन्दी और उर्दू दोनो के छंदों का बेधड़क व्यवहार करते हैं। हिन्दी काव्य के दो बड़े विस्तृत और सुन्दर संग्रह निकालने के अतिरिक्त आज कल वे ग्राम्य गीतों के संग्रह के लिये बहुत गहरा परिश्रम कर रहे हैं। इनकी "अन्वेषण" नाम की कविता का एक पद्य देखिए—

मेरे लिये खड़ा था दुखियों के द्वार पर तू।
मैं बाट जोहता था तेरी किसी चमन में।
बनकर किसी के आँसू मेरे लिये बहा तू।
मैं देखता तुझे था माशूक़ के बदन में।

लाला भगवानदीन 'दीन' ने अपनी जवानी के आलम में पुरानी ढंग की कविता का खूब जौहर दिखाया था। फिर 'लक्ष्मी' के मुस्तक़िल संपादक हो जाने पर आपने खड़ी बोली की ओर रुख किया और बड़ी फड़कती हुई कविताएँ लिखने लगे। 'खड़ी बोली' की कविता का तर्ज़ आपने मुंशियाना ही रखा है। उर्दू की बह्र में तो ये प्रायः लिखते ही हैं, फ़ारसी, अरबी के चलते शब्द भी बहुत मौजूँ रखते हैं। खड़ी बोली की अधिकतर कविताएँ इनकी वीर रस की हैं जिनमें बड़े ही जोशीले भाषण हैं। इनके इस ढंग के वीररसात्मक तीन काव्य निकले हैं— 'वीरक्षत्राणी', 'वीरबालक' और "वीर-पंचरत्न" जिनमें कुछ पौराणिक और ऐतिहासिक वीर व्यक्तियों की वीरता के चरित्र बड़ी फड़कती हुई भाषा में लिखे गए हैं। लाला

साहब हिन्दी-साहित्य के अच्छे मर्मज्ञ हैं। बहुत से प्राचीन काव्यों की टीका करके इन्होंने बड़ा भारी उपकार किया है। भक्ति और शृंगार की इनकी पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति-चमत्कार की बड़ी विशेषता रहती है। इनकी कविताओं के दोनों तरह के नमूने नीचे देखिए—

सुनि मुनि कौसिक तें साप को हवाल सब,
बाढ़ी चित करुना की अजब उमंग है।
पद रज डारि करे पाप सब छारि,
करि नवल सुनारि दियो धामहू उतंग है।
'दीन' भनै ताहि लखि जात पतिलोक
ओर उपमा अभूत को सुझानो नयो ढंग है।
कौतुकनिधान राम रज की बनाय रज्जु,
पद तें उड़ाई ऋषि पतनी पतंग है॥

वीरों की सुमाताओं का यश जो नहीं गाता।
वह व्यर्थ सुकवि होने का अभिमान जताता॥
जो वीर-सुयश गाने में है ढील दिखाता।
वह देश के वीरत्व का है मान घटाता॥
~~सब वीर क्रिया करते हैं सम्मान कलम का।~~
वीरों का सुयशगान है अभिमान कलम का॥

इनकी फुटकल-कविताओं का संग्रह "नदीमे दीन" में निकला है।

पंडित रूपनारायण पांडेय ने यद्यपि व्रजभाषा में भी बहुत कुछ कविता की है, पर इधर अपनी खड़ी बोली की कविताओं के लिये ही वे अधिक प्रसिद्ध हैं। उन्होंने बहुत ही उपयुक्त विषय कविता के लिये चुने हैं और उनमें पूरी रसात्मकता लाने में समर्थ हुए हैं। उनके विषय के चुनाव में ही भावुकता टपकती है; जैसे, दलित कुसुम, बन-विहंगम, आश्वासन। उनकी कविताओं का संग्रह "पराग" के नाम से प्रकाशित हो चुका है। पांडेय जी की "वन विहंगम" नाम की कविता में हृदय की विशालता और सरसता का बहुत अच्छा परिचय मिलता है। 'दलित कुसुम' की अन्योक्ति भी बड़ी हृदय-ग्राहिणी है। संस्कृत और हिंदी दोनों के छंदों में खड़ी बोली को उन्होंने बड़ी सुघड़ाई से ढाला है। यहाँ स्थानाभाव से हम दो ही पद्य उद्धृत कर सकते हैं—

अहह! अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से?
प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से?
पर दुख-सुख तू ने, हा! न देखा न भाला।
कुसुम अधखिला ही हाय! यों तोड़ डाला।

बन बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में एक कपोत कपोती कहीं।
दिन रात न एक को दूसरा छोड़ता, ऐसे हिले मिले दोनों वहीं॥
बढ़ने लगा नित्य नया नया नेह, नई नई कामना होती रहीं।
कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं॥

इस खड़ी बोली की खड़खड़ाहट के बीच व्रजभाषा के दो रसिक जीव भी अपना मधुर आलाप सुनाते रहे और लोग चाह से सुनते रहे। एक थे पंडित सत्यनाराण कविरत्न और दूसरे हैं श्री वियोगी हरि।

पंडित सत्यनारायण जी कविरत्न अपने व्रज की एकांत भूमि में बैठे व्रज की सरस पदावली में मग्न रहे। इन्होंने नंददास आदि कवियों के ढंग पर बहुत से पदों की रचना की है जिनमें कहीं कहीं देश की नई पुकार की गूँज भी मिली हुई है। व्रजभाषा के सवैया पढ़ने का ढंग इनका ऐसा चित्ताकर्षक था कि सुननेवाले मुग्ध हो जाते थे। व्रजभूमि और श्रीकृष्ण के प्रेम में ये लीन रहते थे। अंगरेजी की ऊँची शिक्षा पाकर भी ये अपनी चाल इतनी सादी रखते थे कि लोग आश्चर्य करते थे। साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर ये मुझे इन्दौर में मिले थे। वहाँ की काली मिट्टी देख ये मुझ से बोले—"यह मिट्टी हमारे कन्हैया थोड़े ही खाते"। इनका एक विचित्र काव्यमय जीवन था। इनके कुछ पदों से बड़ी गहरी खिन्नता टपकती है; जैसे, "भयो क्यों अनचाहत को संग?" वाले पद में। इनके 'भ्रमरदूत' का कुछ अंश देखिए—

श्रीराधावर निज-जन-बाधा सकल नसावन।
जाकौ व्रज मनभावन, जो व्रज को मनभावन॥
रसिक-सिरोमनि मनहरन, निरमल नेह निकुंज।
मोद-भरन उर सुख-करन, अविचल आनँदपुंज॥
रँगीलो साँवरो।

नारी-शिक्षा अनादरत जे लोग अनारी।
ते स्वदेश अवनति-प्रचंड-पातक-अधिकारी॥
निरखि हाल मेरो प्रथम लेहु समुझि सब कोइ।
विद्या-बल लहि मति परम अबला सबला होइ॥
लखौ अजमाइ कै॥

श्रीवियोगी हरि व्रजभूमि, व्रजभाषा और व्रजपति के अनन्य उपासक हैं। ऐसे प्रेमी रसिक जीव इस रूखे ज़माने में बहुत कम दिखाई पड़ते हैं। इन्होंने अधिकतर पुराने कृष्णोपासक भक्त कवियों की पद्धति पर बहुत से रसीले पदों की रचना की है जिन्हें पढ़कर आजकल के रसिक भक्त भी "बलिहारी है!" बिना कहे नहीं रह सकते। अपनी अनन्य प्रेमधारा से सिर निकाल कर कभी कभी ये देश की दशा पर भी दृष्टिपात करते हैं। अभी हाल में आपने "वीरसतसई" नामक एक बड़ा काव्य दोहों में लिखा है जिसमें भारत के प्रसिद्ध प्रसिद्ध वीरों की प्रशस्तियाँ हैं। इस पर साहित्य सम्मेलन से इन्हें १२००) का पुरस्कार मिला है। इसके कुछ दोहे देखिए—

पावस ही में धनुप अब, नदी तीर ही तीर।
रोदन ही में लाल दृग, नौरस ही में वीर॥
जोरि नावँ सँग 'सिंह' पद करत सिंह बदनाम।
ह्वैहौ कैसे सिंह तुम करि सृगाल के काम?॥
या तेरी तरवार में नहिं कायर अब आव।
दिल हू तेरो बुझि गयो वामें नेक न ताव॥

तृतीय उत्थान

द्विवेदी जी के प्रभाव से जिस प्रकार के गद्यवत् और इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) पद्यों का खड़ी बोली में ढेर लग रहा था, उसके विरुद्ध प्रतिवर्त्तन (Reaction) होना अवश्यम्भावी था। इस तृतीय उत्थान के पहले ही उसके लक्षण दिखाई पड़ने लगे। कुछ लोग खड़ी बोली की कवितामें कोमल पदविन्यास तथा कुछ अनूठी लाक्षणिकता और मूर्त्तिमत्ता के लिये आकुल होने लगे। इसके अतिरिक्त जिस दबी हुई और अशक्त भाषा में भावों की व्यंजना होने लगी थी, उससे भी सन्तोष नहीं था। कल्पना को ऊँची उड़ान, भाव की वेगवती अनर्गल व्यंजना और वेदना के अधिक विवृत स्वरूप की आकांक्षा भी बढ़ने लगी। पर इसके साथ ही बिल्कुल पुराने ढंग की ओर पलटना भी लोग नहीं चाहते थे जिसमें परंपरागत (Conventional) वाच्य उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक आदि की प्रधानता हो गई थी। वे मूर्त्तिमत्ता अवश्य चाहते थे, पर वाच्य अलंकारों के रूप में नहीं, लक्षणा के रूप में, जैसी कि अंगरेज़ी की कविताओं में रहती है। इसी प्रकार तथ्यों के सादृश्य-विधान के लिये भी परिष्कृत रुचि के अनुसार 'दृष्टांत' आदि का स्थूल विधान वांछित न था; अन्योक्ति-पद्धति ही समीचीन समझ पड़ती थी।

इन सब आकांक्षाओं की चटपट पूर्त्ति के लिये कुछ लोगों ने इधर उधर आँखें दौड़ाईं। कोमल पद-विन्यास के लिये तो बँगला काफ़ी दिखाई पड़ी। साथ ही रवींद्र बाबू के रहस्यवाद की रचनाएँ भी सामने आ रही थीं जिनमें अन्योक्ति-पद्धति पर बहुत ही मार्मिक मूर्त्तिमत्ता थी। रही अनूठी लाक्षणिकता, वह अंगरेज़ी-साहित्य में लबालब भरी दिखाई पड़ी। वेदना की विवृति के लिये उर्दू साहित्य बहुत दूर नहीं था। फल यह हुआ कि जो जिधर दौड़ा, वह उधर ही।

'प्रतिवर्त्तन' का सुसंगत और उचित रूप इस तृतीय उत्थान के कुछ पहले ही बा० जयशंकर प्रसाद की रचनाओं में दिखाई पड़ने लगा था। वेदना की विवृति थोड़ी बहुत मूर्त्तिमत्ता के साथ उनकी कविताओं में आने लगी थी। पर और लोग जो इधर उधर दौड़ लगाने लगे हैं,उसके कारण एक विलक्षण साहित्यिक दृश्य हमारी हिंदी में खड़ा होता दिखाई दे रहा है। लाक्षणिकता लाने के लिये कुछ लोगों ने अंगरेज़ी-कविता का पल्ला पकड़ा है और उसकी लाक्षणिक पदावलियों का ज्यों का त्यों अनुवाद करके हिंदीवालों को चमत्कृत करने का प्रयत्न करने लगे हैं। कहीं "अतीत का स्वप्न अखिल" है, कहीं "स्वप्निल आभा"। कहीं "स्वर्ण-स्वप्न" है, कहीं "कनक-छाया"। इसी प्रकार अंगरेज़ी के विशेषण विपर्य्यय अलंकार की भी बड़ी खींच है। इन विलक्षणताओं से युक्त जो कविता होती है, वह 'छायावाद' की कविता

कहलाती है; और साधारणतः लोग ऐसी सब कविताओं को 'रहस्यवाद' के अंतर्गत समझा करते हैं। पर असल में अधिकतर का प्रकृत 'रहस्यवाद' से कोई संबंध नहीं। रहस्यवाद की वास्तविक कविता का हिंदी-जगत् को अवश्य स्वागत करना चाहिए। जैसे कविता के और कई विभाग हैं, वैसे ही एक 'रहस्यवाद' का होना भी परम आवश्यक है। पर यह कहना कि 'रहस्यवाद' की कविता वर्तमान युग की एक मात्र कविता है, लोगों को भ्रम में डालना है। अंगरेज़ी के वर्तमान कवियों में रहस्यवाद की कविता लिखनेवाले कितने हैं?

इस तृतीय उत्थान में 'प्रतिवर्त्तन' की गहरी आवश्यकता थी, इसमें तो कोई सन्देह नहीं। हम चाहते हैं कि प्रतिवर्त्तन का आरम्भ हो, पर अपने स्वतंत्र ढंग पर। इधर उधर की लपक झपक से काम न चलेगा। 'प्रतिवर्त्तन' का होना 'रहस्यवाद' की कविताओं में ही नहीं, और प्रकार की कविताओं में भी आवश्यक है। पर वह नक़ल के रूप में न हो। हिंदी में लाक्षणिक शक्ति किसी भाषा से कम नहीं है। इसके भीतर स्वतंत्र व्यंजन-प्रणालियों का विकास बहुत अच्छी तरह हो सकता है।

रामचंद्र शुक्ल



Printed by G. K. Gurjar, at Sri Lakshmi Narayan Press, Benares City.